आर्य डाइरेक्टरी

अर्थात्

संवत् १९९७ विक्रमी की आर्य जगत् की
प्रगतियों का विवरण

प्रकाशक—

मन्त्री, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,

देहली।

प्रथम संस्करण

सृष्टि संवत् १९७२९४९०४२
विक्रम संवत् १९९८
दयानन्दाब्द ११७

मूल्य
अजिल्द १।)
सजिल्द १॥)

मुद्रक—
ला० सेवाराम चावला, चन्द्र प्रिण्टिङ्ग प्रेस,
नया बाजार, देहली।

प्रारम्भिक शब्द

आर्यजगत् की चिरकाल से यह मॉग चली आती थी कि सभा की ओर से प्रति वर्ष 'आर्य डाइरेक्टरी' का प्रकाशन हो जिस में वर्ष भर की आर्य-जगत् की प्रगति का सविस्तर वर्णन हो। कई कारणों से यह विचार शीघ्र कार्य में परिणत नहीं हो सका। इस वर्ष ही इसका शुभ प्रारम्भ हो सका।

'आर्य डाइरेक्टरी' का उद्देश्य यह है कि इसमें आर्य समाज की प्रत्येक प्रगति व कार्य-क्रम का संक्षिप्त ऐतिहासिक वर्णन व पिछले वर्ष का सविस्तार वर्णन हो। इस उद्देश्य से आर्य-जगत् की विविध प्रतिनिधि सभाओं, स्थानीय समाजों व संस्थाओं के नाम प्रश्नावलि भेजी गई। इन प्रश्नावलियों के उत्तर देने में यद्यपि हमें आशानुकूल सहयोग तो नहीं मिला, तथापि प्रारम्भ की दृष्टि से यह सर्वथा पर्याप्त है।

इस से पूर्व भी 'आर्य डाइरेक्टरी' का प्रकाशन होता रहा है। वह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय था। परंतु सभा ने इस 'डाइरेक्टरी' के प्रकाशन में किसी आर्थिक लाभ को दृष्टि में न रखकर उपयोगिता को अपने सम्मुख रखा है। इस डाइरेक्टरी में आर्य समाज के आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण देते हुए वर्तमान संगठन और उसके भीतर व बाहर की आर्य संस्थाओं का विवरण दिया गया है। आर्य समाज के शिक्षा, शुद्धि, संगठन तथा अन्य सेवा-कार्य एवं इन कार्यों को करनेवाली संस्थाओं का विवरण है। इसके साहित्य और प्रकाशन संस्थाओं का नामोल्लेख है। रक्षा कार्य के लिए बने हुए आर्य वीरदलों की सूची है। और साथ ही आर्य समाज के सिद्धान्तों, नियमों तथा मन्तव्यों का वर्णन, आर्य विवाह कानून का मसौदा और इससे सम्बद्ध आवश्यक फार्म, आर्यवीरदल के नियम, आर्य जगत् के अतिथि भवन आदि शीर्षकों के नीचे आर्य-जगत् के सम्बन्ध में विविध जानकारी दी गई है। आर्य-जगत् के प्रसिद्ध नेताओं और कार्य-कर्ताओं का नाम, धाम पता व उनके कार्य का परिचय देनेका विचार इस वर्ष अपूर्णता के भय छोड़ना पड़ा।

इस प्रकार सभा के प्रथम प्रयास के रूप में 'आर्य डायरेक्टरी' पाठक के सम्मुख है। हम जानते हैं कि इसमें अभी कई प्रकार की न्यूनतायें हैं, परन्तु भविष्य में इन त्रुटियों को दूर करने की भी हम आशा रखते हैं।

आर्य डाइरेक्टरी

हमें भरोसा है कि आगामी वर्ष के लिये आर्य समाजें और संस्थायें जहाँ हमें और अधिक सहयोग देंगी, वहां आर्य भाई वैयक्तिक रूप से भी अधिक से अधिक सूचना पहुँचाने में सभा की सहायता करेंगे।

कागज़ की मँहगाई आदि के कारण व्यय बहुत बढ़ गया है और अधिक व्यय न बढ़ने देने के लिये चित्रों का इसमें प्रायः अभाव ही रहा है। यह त्रुटी आगामी वर्ष दूर करने का ध्यान रखा जायगा।

आर्य भाइयों से भी प्रार्थना है कि वे जो त्रुटियाँ देखें उन से हमें सूचित करते रहें जिस से भविष्य में उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

इस डाइरेक्टरी के लेखन व सम्पादन में पं० रामगोपाल जी विद्यालङ्कार सम्पादक 'वीर अर्जुन' तथा पं० हरिश्चन्द्र जी विद्यालङ्कार ने विशेष सहायता दी है, जिसके लिये वे धन्य-वाद के पात्र हैं।

—प्रकाशक

विषय-सूची

आर्य पर्वों की सूची

(सार्वदेशिक सभा द्वारा स्वीकृत)

क्रम सं०	नाम पर्व	चान्द्र तिथि	सौर तिथि	अंग्रेज़ी तिथि
१.	मकर संक्रान्ति		मकर संक्रान्ति	१३।१।१९४१
२.	वसन्त पंचमी	माघ सुदी ५	१९।१०।९७	१।२।४१
३.	सीताष्टमी	फाल्गुण वदी ८	७।११।९७	१९।२।४१
४.	दयानन्द जन्म दिवस	,, ,, १३	१२।११।९७	२४।२।४१
५.	लेखराम तृतीया	,, सुदी ३	१७।११।९७	१।३।४१
६.	बसन्त नवसस्येष्टि (होली)	,, ,, १५	२९।११।९७	१४।३।४१
७.	नव सम्वत्सरोत्सव	चैत्र शुदी प्रतिपदा	१४।१२।९७	२८।३।४१
८.	आ० स० स्थापना दिवस			
९.	रामनवमी	चैत्र शुदी ९	२३।१२।९७	६।४।४१
१०.	हरि तृतीया (तीज)	श्रावण शुदी ३	११।४।१९९८	२७।७।४१
११.	श्रावणी उपाकर्म	श्रावण शुदी १५	२२।४।९८	७।८।४१
१२.	सत्याग्रह बलिदान स्मारक दिवस			
१३.	कृष्णाष्टमी	भाद्रपद वदी ८	३०।४।९८	१५।८।४१
१४.	विजय दशमी	आश्विन सुदी १०	१४।६।९८	३०।९।३१
१५.	दयानन्द निर्वाण दिवस (दीपावली)	कार्तिक वदी १५	३।७।९८	२०।१०।४१
१६.	श्रद्धानन्द बलिदान दिवस		पौष ९	२४।१२।४१

नोट संख्या १—चान्द्र तिथि के घट बढ़ जाने से अँग्रेजी तिथि में परिवर्तन हो सकता है।

नोट संख्या २—सौर वर्ष वैसाख से आरम्भ होता है। सौर तिथिया ज्ञान मण्डल काशी के पंचांग के अनुसार दी गई हैं।

श्री महात्मा नारायणस्वामी जी महाराज

आप सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के जन्म दाताओं में से हैं। आप ८ वर्ष तक सभा के मन्त्री और १४ वर्ष तक प्रधान रहे। इस वर्ष भी आप ही सभा के प्रधान हैं।

श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज

आप सन् १९२८ ई० से सार्वदेशिक सभा के प्रतिष्ठित सदस्य हैं। सन् १९३६ से आप सभा के कार्यकर्त्ता प्रधान हैं।

आर्यसमाज का संक्षिप्त परिचय

स्थापना

आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १९३२ विक्रमी तदनुसार ७ अप्रैल सन् १८७५ ईस्वी बुधवार को बम्बई में महर्षि दयानन्द सरस्वती के कर-कमलों से हुई थी। इन छियासठ वर्षों में समाज ने बहुत उन्नति करली है। इस समय भारत में आर्यसमाजों की संख्या २००० से ऊपर और बरमा, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका, बगदाद, फिजी आदि में भी कईसौ हैं। सन् १९३१ की जन-गणना के अनुसार भारतवर्ष भर में आर्यसमाज के अनुयायियों की संख्या ९,९०,२३३ थी। सन् १९४१ की जन-गणना में आर्यसमाज के अनुयायियों की पृथक् संख्या प्रकाशित नहीं हुई तथापि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इस वर्ष यह संख्या ४० लाख से कुछ ऊपर ही है, कम नहीं। नीचे लिखे अङ्क आर्यसमाज की संख्या-वृद्धि की प्रगति के द्योतक हैं।

आर्यों की संख्या-वृद्धि के अङ्क निम्न प्रकार हैं :—

वर्ष	पुरुष	स्त्री	योग
१८८१	में पृथक् गणना नहीं की गई		
१८९१	२२६२४	१७३२८	३९९५२
१९०१	५२०३१	४०३८८	९२४१९
१९११	१३७५८०	१०५८९५	२४३४४५
१९२१	२५९८८५	२०७६९३	४६७५७८
१९३१	४७९६४	४४२२६८	९९०२३३
१९४१	आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा को प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इस जन-गणना में आर्यों की संख्या ४० लाख से कम नहीं है।		

इन अङ्कों को 'रेखाचित्र' में निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है:—
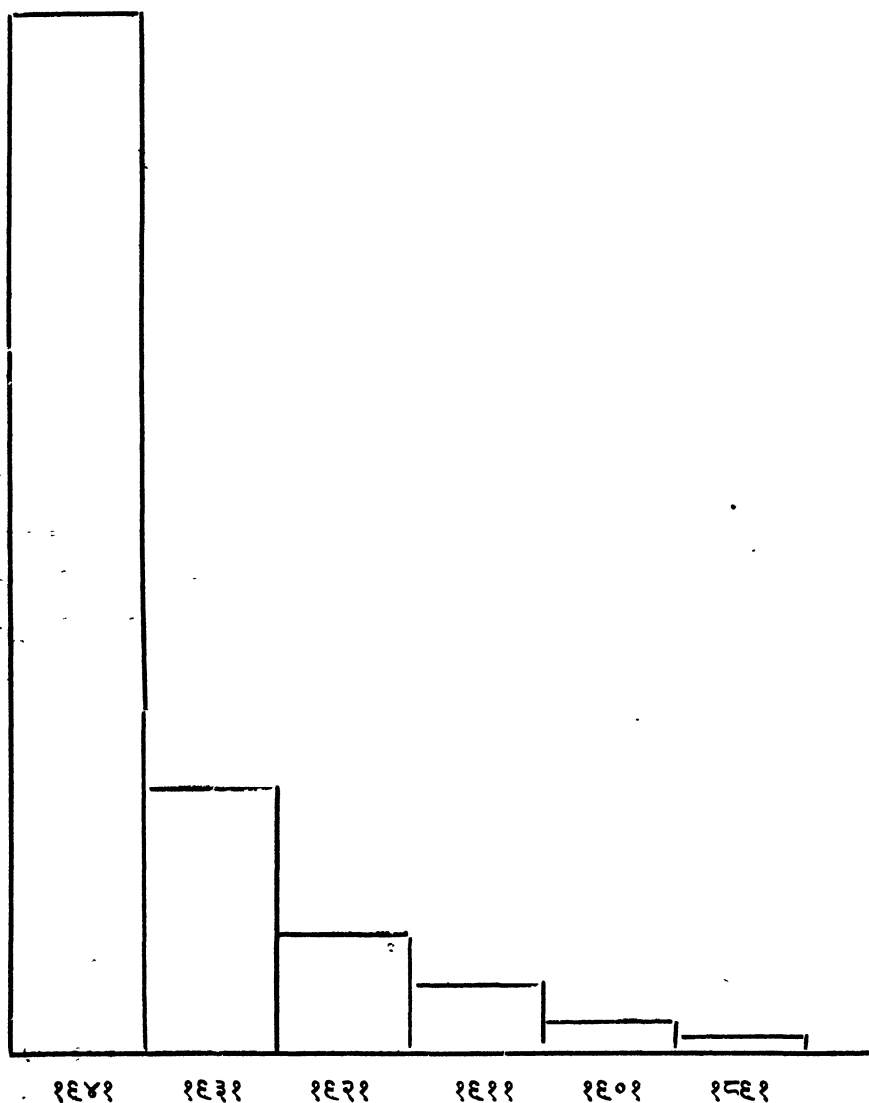
भारत से बाहर के आर्यसमाजियों की संख्या निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है।

प्रवर्तक

दयानन्द का बाल्यकाल का नाम मूलजी था। १४ वर्ष के मूलजी ने शिवरात्रि को बड़े भक्ति भाव से शिवदर्शन के लिए व्रत रखा। सबके सो जाने पर भी उसकी आँखें शिवदर्शन की लालसा में खुली रहीं। परन्तु शिवजी की पाषाण-मूर्ति पर चूहों को खिलवाड़ करते देख उसका माथा ठनका। पूछने पर उसे संतोषजनक उत्तर न मिला और सच्चे शिव की खोज में मूल जी घर-बार छोड़ संन्यासी हो गये।

अन्त में 'जिन खोजा तिन पाइयां' की लोकोक्ति चरितार्थ हुई। प्रज्ञाचक्षु दण्डी स्वामी विरजानन्द के रूप में सच्चा पथ-प्रदर्शक गुरु पाकर स्वामी दयानन्द को संतोष हुआ और योग्य शिष्य पाकर गुरु विरजानन्द को प्रसन्नता। "वैदिक आर्ष धर्म को छोड़ कर जनता भटक रही है; अपने जीवन के शेष भाग को वेद प्रचार में लगा दो।" शिक्षा की समाप्ति पर गुरु ने यही दक्षिणा चाही। बस; ऋषि दयानन्द के इस प्रचार का ही फल आर्य समाज है।

"वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त महर्षियों ने जो कुछ माना है वही मेरा मन्तव्य है, मेरा कोई नवीन कल्पना या मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है।" यह है स्वामी दयानन्द का विश्वास। इससे स्पष्ट है कि वे किसी नये धर्म की सृष्टि नहीं करना चाहते थे, केवल वैदिक शिक्षा को सत्य रूप में प्रकट करना ही उनका उद्देश्य था। इसीलिये अपने उद्देश्य से मिलती-जुलती समाजों,— ब्राह्म-समाज और प्रार्थना समाज के नेताओं से मिलकर उन्होंने यह प्रयत्न किया कि उन्हें कोई नया समाज स्थापित न करना पड़े, परन्तु उसमें अपना मूल उद्देश्य वेदों का प्रचार—पूरा न होते देख उन्हें 'आर्य समाज' की स्थापना करनी पड़ी।

आर्य समाज के नियम

इस समाज के निम्न १० नियम हैं, जो इसकी स्थापना के समय निर्धारित किये गये।

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि कर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

(४) सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार कर करना चाहिये।

(६) संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्योद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सब से प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

(९) प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

सदस्यता

आर्य समाज में प्रविष्ट होने और सदस्य रहने के लिये सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के निश्चय के अनुसार उपरोक्त दस नियमों के साथ उन सिद्धान्तों का भी जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में लिखे हैं, मानना और उन पर आचरण करना आवश्यक है।

मुख्य आधार

जैसा कि तीसरे नियम से स्पष्ट है, आर्य समाज का मुख्य आधार ईश्वरोक्त, सत्य विद्याओं से युक्त ऋक्, यजुः, साम और अथर्व। ये चार वेद-पुस्तकें हैं। सत्यासत्य के निर्णय के लिये आर्य समाज उन्हें स्वतः प्रमाण मानता है।

वैदिक साहित्य

चार वेदों के अतिरिक्त ऋषिकृत अन्य वैदिक सासित्य की प्रमाणिकता सत्यासत्य के निर्णय में वहीं तक है, जहाँ तक कि वह मूल वेद-संहिताओं से विरुद्ध नहीं है। उक्त साहित्य के मुख्य ग्रन्थ निम्न हैं—

चार ब्राह्मण—ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ क्रमशः ऋक्, यजुः, साम और अथर्व के कुछ स्थलों के व्याख्यान और मन्त्र भाग के विनियोग को जतलाने वाले ग्रन्थ हैं।

१० उपनिषदें—ईश, केन, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक। इन उपनिषदों का विषय अध्यात्म विद्या और तत्सम्बन्धी हैं।

छः वेदांग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये छः वेदों के अङ्ग हैं।

उपांग—ऋषिकृत पूर्व मीमांसा (जैमिनी), उत्तर मीमांसा-वेदांत (व्यास), वैशेषिक (कणाद), न्याय (गौतम), योग (पतंजलि), और सांख्य (कपिल)। इन छः दर्शनों को भी आर्यसमाज प्रमाण स्वीकार करता है। साधारणतया तत्त्व ज्ञान के ये छओं दर्शन

परस्पर विरुद्ध विचारसरणि के द्योतक माने जाते हैं, परन्तु आर्य समाज, ऋषि दयानन्द के मतानुसार इनके विचारों का समन्वय करता है। विभिन्न समयों में ये विभिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, परन्तु उनका लक्ष्य एक ही है।

चार उपवेद—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गाधर्ववेद और अथर्ववेद।

मनुस्मृति—राजा व प्रजा के नागरिक अधिकारों और कर्तव्यों का द्योतक ग्रन्थ है। आर्य समाज अन्य प्रचलित १०८ से अधिक स्मृतियों में से मनुस्मृति को अधिक प्रामाणिक मानता है।

संस्कार आदि के प्रदर्शक गृह्य सूत्रों में से गोभिल, शौनक, आश्वलायन और पाराशर सूत्रों को आर्य समाज मौलिक मानता है।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ—महर्षि दयानन्द कृत निम्न ग्रन्थों को आर्य समाज प्रामाणिक मानता है।

(क) सप्तम मण्डल के ७२ वें सूक्त तक का ऋग्वेद का भाष्य।

(ख) सम्पूर्ण यजुर्वेद भाष्य।

(ग) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

(घ) सत्यार्थप्रकाश।

(ङ) संस्कारविधि।

(च) आर्याभिविनय।

(छ) आर्योद्देश्यरत्नमाला।

(ज) व्यवहारभानु।

(झ) गोकरुणानिधि।

आर्य समाज के मन्तव्य

१. आर्य समाज तीन पदार्थों को अनादि मानता है—ईश्वर, जीव और प्रकृति।

(क) ईश्वर एक और सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है (देखो नियम सं० २)।

(ख) जीव अनेक एवं इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ तथा नित्य हैं।

(ग) जीव और ईश्वर परस्पर भिन्न और व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक एवं पिता-पुत्र आदि सम्बन्ध युक्त हैं।

(घ) प्रकृति जड़ है, जो नाना द्रव्यों के रूप में दीख पड़ती है।

२. जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है।

३. **पाप-पुण्य**—विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्य भाषणादि सत्य व्यवहार करना पुण्य और इससे विपरीत पाप कहलाता है।

४. **स्वर्ग-नरक**—जीव को उसके लिये पुण्य के फल स्वरूप विशेष सुख और सुख की सामग्री प्राप्त होना ही स्वर्ग है। और इसी प्रकार पाप कर्म के फल स्वरूप विशेष दुःख और दुःख की सामग्री प्राप्त होने का नाम नरक है। स्वर्ग-नरक किन्हीं लोक या देश विशेष का नाम नहीं है।

पुनर्जन्म—जीव अपने कर्मानुसार नाना योनियों में बार-बार जन्म लेते हैं; शरीर

धारण करना जन्म, और शरीर से वियोग होने का नाम मरण कहाता है।

मुक्ति—सब बुरे काम और जन्म-मरणादि दुःख सागर से छूट कर सुख रूप परमेश्वर को प्राप्त हो सुख ही में रहना मुक्ति कहलाता है। ज्ञान-कर्म फल होने से यह भी सान्त है।

स्तुति—ईश्वर के गुणों का कीर्तन, श्रवण और ज्ञान—इससे ईश्वर में प्रीति और उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना आदि फल होते हैं।

प्रार्थना—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण के लिए प्रीति और पुरुषार्थ का होना आदि इसके फल हैं।

उपासना—परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार होना उपासना कहलाती है।

पूजा—ज्ञानादि गुणयुक्त चेतन का यथायोग्य सत्कार करना ही पूजा है। इसलिए जड़ मूर्ति आदि पदार्थों की पूजा हो ही नहीं सकती।

महायज्ञ—प्रतिदिन प्रातः सायं ब्रह्म यज्ञ (संध्या और स्वाध्याय), देवयज्ञ (अग्निहोत्र) पितृयज्ञ, जीवित गुरु, (माता-पिता आदि पितरों की सेवा) भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ का विधान है।

संस्कार १६ हैं। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि।

अन्त्येष्टि संस्कार, मृतशव का अग्नि में सुगन्धित घृतादि सामग्री से दाह करना है। इसके पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। मृतक के निमित्त पिंडदान, श्राद्धादि तर्पण करना आर्यसमाज नहीं मानता।

विशेष इष्टि और यज्ञ—ब्राह्मण ग्रन्थों और गृह्य सूत्रों में वर्णित अश्वमेधादि विशेष यज्ञ भी हैं।

साप्ताहिक सत्सङ्ग, सभा आदि— प्रत्येक आर्य समाज की ओर से प्रति रविवार को प्रातःकाल (प्रायः) सामूहिक प्रार्थना, हवन और उपदेश आदि होते हैं। इनमें सम्मिलित होना प्रत्येक आर्य का कर्त्तव्य है।

आश्रम—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं अर्थात् मनुष्य के जीवन की चार अवस्थायें।

वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण प्रत्येक मनुष्य को उसके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार प्राप्त होने चाहिए, जन्म से किसी वर्ण विशेष से सम्बद्ध रहना आर्य समाज स्वीकार नहीं करता।

कार्य-क्षेत्र

वैयक्तिक उन्नति

आर्यसमाज निरे-पिरे आत्मिक संस्कारों से ही व्यक्ति और समाज को उन्नति के

शिखर पर चढ़ा देने का स्वप्न नहीं देखता। आत्मिक उन्नति के साथ-साथ अपितु उससे भी पहले वह शारीरिक और मानसिक संस्कार और विकास को भी उन्नति के लिये आवश्यक सीढ़ी समझता है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये देश भर में आर्यसमाज के शिक्षणालयों का एक विशाल जाल-सा फैल गया है। स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् उनकी स्मृति में आर्यसमाज लाहौर ने जून १८८६ में दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज की स्थापना की। आज यह एक महान् वृक्ष के रूप में फलीभूत हो रहा है जिसकी शाखा-प्रशाखायें जहाँ-तहाँ दीख पड़ती हैं।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

इससे भी बढ़कर आर्यसमाज ने अपने शिक्षाप्रणाली के प्राचीन आदर्श को भी कोरी कल्पना के क्षेत्र से बाहर ला खड़ा किया और सन् १६०१ में महात्मा मुंशीराम जो (स्वामी श्रद्धानन्द जी) के नेतृत्व मे हरिद्वार से ३ मील दूर गंगा के किनारे प्राचीन ऋषि-आश्रम सरीखा गुरुओं का आश्रम खोलकर उस प्राचीन प्रणाली को क्रियात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। इस प्रकार का यह पहला प्रयत्न आर्यसमाज का ही था। उसके पश्चात् उसकी देखा-देखी और भी कई आश्रम पद्धति (Residential) के शिक्षणालय देश में खुल गये हैं। इन शिक्षणालयों का विशेष विवरण यथा प्रसंग पृथक् दिया गया है।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में भी आर्यसमाज ने बड़ा काम किया है। आज से पच्चीस तीस वर्ष पूर्व तक भी "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का समर्थन देश में प्रायः सर्वत्र सुन पड़ता था। आर्यसमाज उसका आरम्भ से ही विरोधी रहा है।

सामाजिक

यों तो व्यक्ति की उन्नति के साथ-साथ ही समाज भी उन्नत होता है, परन्तु कई ऐसी रूढ़िया समाज में प्रचलित हो जाती हैं जिनके विरुद्ध प्रचार करके उनका तोड़ना भी सुधारक सस्थाओं का कर्तव्य होता है। आर्यसमाज ने स्वभावतः इस दिशा में कार्य किया। उदाहरणतः विवाहों के अवसर पर वेश्यानृत्य, और आतिशबाजी में अपव्यय करसा एक प्रथा बन चुकी थी। ग़रीब को ऋण लेकर भी वह पूरी करनी पड़ती थी। पहले-पहल आर्यसमाजियों ने इसे तोड़ने का साहस किया। दहेज की प्रथा के कारण कितनी ही बालिकायें अविवाहित रह जाती थीं—या बूढ़ों से ब्याह दी जाती थीं, जिसके कारण नाना प्रकार के अनाचार, होते थे। विवाह के अतिरिक्त नामकरण, मुंडन आदि अनेक संस्कारों पर भी अपव्यय किया जाता था। आर्यसमाज ने इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई—आज जनता में इन सब प्रथाओं के सम्बन्ध में वैसी कट्टरता नहीं रही।

इस के अतिरिक्त जन्मना जाति-पाति छूआ-छूत आदि को लेकर हिन्दू जाति में भेद-भाव इतना बढ़ा हुआ था कि सारी जाति बिखरी पड़ी थी। किसी भी समाज में योग्यता और प्रवृत्ति के अनुसार श्रमविभाग होना तो एक वैज्ञानिक बात है ही, परन्तु उसमें ऊँच-नीच की भावना समाज के संगठन को बिगाड़ देती है। आर्यसमाज ने गुण, कर्म और स्वभाव को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होने का आधार मानकर कल्पित छूआ-छूत और भेद-भाव को मिटाने का यत्न किया है। मांस, मदिरा आदि त्याज्य पदार्थों को सबके लिये त्याज्य माना है। अछूत माने जाने वाली जातियों को निःसंकोच अपने समाज में प्रविष्ट कर समानता का दर्जा दिया है। लोभ-लालच या बहकावे में आकर विधर्मी बने हुओं को भी प्रसन्नता से अपनाया है और इन सबके लिये शुद्धि की प्रथा प्रचलित की है। इन कार्यों के लिये दयानन्द दलितोद्धार सभा, दयानन्द दलितोद्धार मंडल होशियारपुर, साल्वेशन मिशन, अखिल भारतीय शुद्धि सभा आदि अनेक सभायें और उनकी शाखा सभायें कार्य कर रही हैं। इनका विस्तृत विवरण भी आगे के पृष्ठों में मिलेगा।

महिला संरक्षण

आर्यसमाज ने जहाँ स्त्री-शिक्षा आरम्भ करके स्त्रियों के अधिकार की रक्षा की है, और पर्दा प्रथा के विरुद्ध प्रचार कर उन्हें जीवन-प्रकाश दिया है, वहाँ बाल-विवाह, बहुपत्नी-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन कर अपनी भावी सन्तान की भी रक्षा की है। साथ ही इन कुप्रथाओं के कारण पीडित विधवाओं और अनाथों की रक्षा का उपाय भी किया है। विधवा के लिये यद्यपि नियोग की प्रथा ही सन्तानोत्पत्ति की शास्त्रीय प्रथा है, परन्तु आज-कल उसके अनुकूल वातावरण देखकर विधवा विवाह को आपद्धर्म के रूप में समाज ने विहित मानकर उसका प्रचार किया है।

इसके अतिरिक्त अनाथालय, वनिताश्रम, धर्मार्थ औषधालय आदि लोकोपकारी संस्थायें भी आर्यसमाज के कार्य का एक बड़ा भाग है। १८९९-१९०० के अकाल में अनाथ हिन्दू-बच्चों की रक्षा का भार समाज ने अपने हाथ में लिया और लगभग १७०० बच्चों की रक्षा की। कागड़ा, बिहार और क्वेटा के भारी भूकम्पों में भी समाज ने सहायता कार्य किया। प्लेग आदि स्थानीय आपत्तियों में आर्यसमाज सेवा कार्य से कभी पीछे नहीं रहता।

आर्यकुमार सभायें

आर्यकुमार सभाओं द्वारा जहाँ कुमारों की मानसिक और शारीरिक उन्नति हो रही है वहाँ उनसे बनी हुई सेवा-समितियां जहाँ-तहाँ मेलों आदि में भूले-भटके स्त्री-पुरुषों और

बालकों की मदद करती हैं तथा प्रबन्ध में सहायता देती हैं। आर्यवीर-दल की एक विशाल योजना आर्यसार्वदेशिक सभा के हाथ में है। वह इस दिशा में और भी अधिक संगठित काम कर सकेगा।

राजनीति

यद्यपि आर्यसमाज पारिभाषिक अर्थों में राजनीति संस्था नहीं है, तथापि इसके धर्म का लक्षण और इसके उद्देश्य इतने व्यापक हैं कि आर्यसमाज और आर्यसमाजी देश की राजनीति से अछूते नहीं रह सकते। 'स्वराज्य' की स्पष्ट शब्दों में 'सुराज' से बढ़कर प्रशंसा करने वाले आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द ही थे। देश-भक्ति आर्यसमाज का विशेष लक्ष्य रहा है। अपनी देश-भक्ति के उत्साह के कारण ही इसके कई नेताओं को समय समय पर राज-अधिकारियों के क्रोध का निशाना बनना पड़ा है। स्वतन्त्रता के लिये जब कभी कोई संगठित प्रयत्न किया गया, आर्यसमाजियों ने उसमें प्रमुख भाग लिया। सन् १९२१, और सन् १९३१ के अखिल भारतीय कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन में आर्य-सत्याग्रहियों की बड़ी संख्या रही। वस्तुतः आर्यसमाज का संगठन और उसके संगठन के नियम विशुद्ध प्रजातन्त्र के सिद्धान्त पर निर्मित हैं, इसलिये आर्यसमाजियों में प्रजातन्त्र से न केवल प्रेम होना अपितु उसके लिये क्षमता होना भी स्वाभाविक है।

धर्मयुद्ध

सुधारक संस्था होने के कारण जन्म से ही आर्यसमाज का अन्य धार्मिक संस्थाओं से संघर्ष रहा है। सबसे पहले तो इसे अपने हिन्दू-भाइयों के संघर्ष में आना पड़ा, यह संघर्ष कुप्रथाओं के विरोध के कारण रहा। हिन्दुओं के अतिरिक्त ईसाई और मुसल्मान भी आर्यसमाज को अपना विरोधी कहते हैं। वस्तुतः आर्यसमाज ने उन पर कभी पहले आक्रमण नहीं किया। ईसाई और मुसल्मान वेदों पर सदा से आक्रमण करते रहे। आर्यसमाज ने उनको उत्तर दिया। आत्मसंरक्षण का यह कार्य सामाजिक क्षेत्र में शुद्धि द्वारा प्रकट हुआ। इस संघर्ष में आर्यसमाज के कितने ही उत्साही कार्यकर्ताओं का वध भी किया गया।

इसके अतिरिक्त आर्यसमाज को कई बार संगठित राज-शक्ति के संघर्ष में भी आना पड़ा है। पहले-पहल सन् १९०९ में पटियाला दरबार ने ८४ आर्यसमाजियो पर विद्रोही होने का अभियोग लगाया और उन्हें जेलखानों में डाल दिया। यह उनके आर्यसमाजी होने का दण्ड था। सामाजिक नेताओं ने इसका उत्तर दिया और आर्यसमाज विद्रोही होने के दोष से मुक्त होगया।

सन् १९१८ में धौलपुर दरबार ने आर्यसमाज मन्दिर छीन कर अपने विरोध का परिचय दिया। परन्तु वह मामला भी शीघ्र

हल होगया। परन्तु हैद्राबाद निजाम सरकार से संघर्ष बहुत बढ़ गया। निजाम सरकार ने आर्य धर्म प्रचारकों को रियासत में प्रविष्ट होने से रोक दिया, वहाँ मन्दिर और हवन कुंड बनाने पर भी पाबन्दियां लगायी गयीं। ६ वर्ष तक लिखा पढ़ी होती रही, कुछ फल न निकला। अन्त में सत्याग्रह करना पड़ा।

इस सत्याग्रह में लगभग १२००० सत्याग्रही जेल गये। अट्ठाईस सत्याग्रही जेल में ही संशयास्पद स्थिति में मरे। सारे हिन्दू संसार में हलचल मची। अन्त में निजाम सरकार ने राजनीतिक सुधारों के रूप में आर्यसमाज की मांगे स्वीकार कर लीं।

आर्य समाज के इस संक्षिप्त परिचय के पश्चात् हम इसके वर्तमान संगठन का परिचय देंगे।

वर्तमान संगठन

प्रवेश

ऊपर लिखा जा चुका है कि आर्यसमाज का संगठन विशुद्ध प्रजातन्त्रवाद के आधार पर किया गया है। १८ वर्ष की आयु में कोई भी वयस्क व्यक्ति आर्यसमाज के नियमों में वर्णित उद्देश्यों को और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में वेदों के आधार पर लिखे गये मन्तव्यों को मानने और उनके अनुकूल आचरण करना स्वीकार करने पर आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकता है।

सभासद्

वैदिक सिद्धान्तों के आधार पर निश्चित और उपनियमों में वर्णित सदाचार की मर्यादा को कम से कम एक वर्ष तक पालन करते रहने पर कोई भी 'आर्य' आर्य सभासद् बन सकता है। परन्तु सभासद् रहने के लिए आपका शतांश अथवा १५०) वार्षिक धन समाज को देना और साप्ताहिक सत्संगों में उपस्थित रहना आवश्यक है। इन नियमों के साथ कोई भी वयस्क व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो, किसी वर्ण अथवा जाति से सम्बन्ध रखता हो, आर्यसमाज का सभासद् बन सकता है।

सार्वभौम सभा में प्रतिनिधित्व

इन प्रारम्भिक सभासदों के चुने गये प्रतिनिधि प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा बनाते हैं। और इन प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं के प्रतिनिधि मिलकर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सभासद् बनते हैं। इस प्रकार यह सार्वभौम सभा प्रारम्भिक सभासदों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। प्रान्तीय और सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभाओं के संगठन के अपने अपने नियम हैं जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।

आर्यसमाज का यह संगठन सभासदों को पूर्ण सामाजिक समानता प्रदान करता है। कई विचारकों ने एक धार्मिक संस्था के लिये ऐसी समानता को दोष युक्त माना है। उनका कथन है कि सिद्धान्त और धर्ममर्यादा के प्रश्नों पर सब सभासदों की सम्मति एक-सी मान्य नहीं होनी चाहिये। परन्तु आर्य समाज के उपनियमों में इसके उपाय विद्-

मान है। विशेष कार्यों के लिये विशेषज्ञों की उपसमिति नियत करने का छोटे-से-छोटे आर्यसमाज को अधिकार है। इसी आधार पर धर्मार्यसभा, न्याय सभा आदि का संगठन पिछले वर्षों में किया गया है। कई प्रान्तों में इन उपसमितियों को पर्याप्त सफलता मिल रही है। इधर धर्मार्यसभा और इस सभा के निर्णयों के आधार पर सार्वदेशिक सभा सभासदों की नैतिक सदाचरण की मर्यादा पर विशेष बल दे रही है। इसका जितना अधिक पालन किया जा रहा है, प्रारम्भिक सभासदों की कर्तव्यभावना उतनी ही ऊँची होती जा रही है और इस प्रकार आर्यसमाज के अंगों उपांगों के अधिकाधिक स्वस्थ होते जाने से आर्यसमाज रूपी शरीर भी उतना ही अधिक स्वस्थ एवं शक्तिशाली बनता जा रहा है।

सङ्गठन की पूर्णता

किसी समाज के सदस्य को जो-जो सामाजिक आवश्यकतायें हो सकती हैं— समाज का संगठन उन सब को पूरा करता है। वैयक्तिक उन्नति के लिये, स्वास्थ्य साधन की आवश्यकता है, तो यहाँ आर्यकुमार सभाएँ विद्यमान हैं। मानसिक उन्नति के लिये विद्यालय, गुरुकुल, कन्या गुरुकुल आदि संस्थायें विद्यमान हैं। आत्मिक उन्नति के लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम खुल गये हैं। साप्ताहिक तथा आध्यात्मिक धार्मिक उपदेश आदि पर्व आदि पर होने वाले सत्संगिक सामाजिक मेल-जोल का अवसर देते हैं। इन तथा अन्य अवसरों पर होने वाले सभा-सम्मेलनों में आर्य सभासद् अपने वैयक्तिक और सामूहिक समस्याओं पर विचार कर सकते हैं और उनको दूर करने के लिए वैयक्तिक या सामूहिक प्रयत्न कर सकते हैं। ऐसे अवसरों पर हुए विचार विनिमय का ही परिणाम अनेक अनाथालय, विधवाश्रम वनिताश्रम आदि संस्थाएँ है। आर्यवीर दल तथा अन्य सेवकदल भी इसी विचार धारा के परिणाम हैं। आर्यसमाज और आर्य-समाजियों की नागरिक कठिनाइयां भी हैं, ये कठिनाइया दो प्रकार की हो सकती हैं, एक ऐसी जिनका सम्बन्ध केवल आर्यसमाजियों या आर्यसमाजों से हो। कहना नहीं होगा कि ऐसी कठिनाइयों के लिए सर्व प्रकार का वैध आन्दोलन करने का साधन आर्यसमाज के संगठन के भीतर विद्यमान है। हैदराबाद निजाम राज्य में आर्यों पर जो विपत्ति आई थी वह इसी प्रकार की थी। आर्यसमाज के संगठित प्रयत्न ने यह सिद्ध कर दिया कि आर्यसमाज अपने संगठन के भीतर रहकर ऐसी कठिनाइयों के लिए न केवल आन्दोलन कर सकता है अपितु इन कठिनाइयों को दूर भी कर सकता है। अब प्रश्न रह जाता है, उन समस्याओं का जिनका सम्बन्ध केवल आर्यों, आर्य समाजियों और आर्यसमाज से ही नहीं अपितु इनके हिन्दू, मुसलमान,

ईसाई आदि नाना धर्मावलम्बी हिन्दुस्तानी भाइयों से है। यह स्पष्ट है कि ऐसी कठिनाइयों का हल अकेला आर्यसमाज नहीं कर सकता। यह ठीक है कि ऋषि दयानन्द के अनुसार एक धर्म, एक भाषा, आदि ऐक्य के प्रसार करना ही आर्यसमाज का उद्देश्य है, परन्तु जब तक ऐसी एकता नहीं हो जाती तब तक नाना धर्म और जातियों की नागरिक समस्याओं का हल किसी ऐसी संस्था के द्वारा ही हो सकता है जो इन सबका प्रतिनिधित्व करती हो। आर्यसमाज अपने सभासदों व सहायकों व अनुयायियों का प्रतिनिधित्व कर सकता है और कर रहा है। आर्य विवाह कानून ऐसे ही एक प्रयत्न का परिणाम है।

न्याय सभाओं की स्थापना भी इसी दिशा में एक और प्रयत्न है। यदि इन सभाओं को सफलता मिली तो इससे न केवल आर्यसमाजियों की नैतिक और सामाजिक उन्नति होगी अपितु इसका प्रभाव दूसरे पड़ोसियों पर भी पड़ेगा।

अब प्रसंगवश सार्वदेशिक और प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संक्षिप्त परिचय और उनके वर्तमान कार्य का विवरण दिया जायेगा।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

स्थापना

सभा की स्थापना सन् १६०८ ईस्वी में हुई और सन् १८६० ई० के एक्ट सं० २१ के अनुसार २५ अगस्त सन १६१४ ई० को रजिस्ट्री हुई।

मुख्य कार्यालय

सभा का मुख्य कार्यालय श्रद्धानन्द बलिदान भवन नया बाज़ार देहली में है।

उद्देश्य

(१) वैदिक धर्म के योग्य उपदेशक बनाने के लिए एक महाविद्यालय स्थापित करना। (२) आर्यावर्त तथा अन्य देश देशान्तरों में आवश्यकतानुसार वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबन्ध करना। (३) प्रान्तिक आर्य प्रतिनिधि सभाओं के पुरुषार्थ को संयुक्त करना तथा उनके पारस्परिक विवादों और उनके विरुद्ध पुनर्निवेदनों (अपीलों) का अंन्तिम निर्णय करना। (४) ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों की वास्तविक लिपि के अनुसार उनकी यथातथ्य रक्षा करना और इस बात पर दृष्टि रखना कि उनमें कोई भाग प्रक्षिप्त तो प्रविष्ट नहीं किया गया। (५) धर्म सम्बन्धी पुस्तकों का एक वृहत् पुस्तकालय सर्व साधारण के लाभार्थ स्थापित करना (६) वैदिक धर्म की उन्नति तथा वृद्धि और रक्षा के उपायों को प्रयोग में लाना।

निर्माण व्यवस्था

सभा के निम्न ५ प्रकार के सदस्य होते हैं:—

(१) प्रत्येक सम्बद्ध आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रतिनिधियों में से ५ प्रतिशत प्रतिनिधि (परन्तु अधिक से अधिक ७ और कम से कम २)। (२) ५० से अधिक आर्य सभासदों वाले आर्य समाजों अथवा २५० सभासदों से अधिक सभासदों वाले आर्य समाज-समुदायों का एक-एक प्रतिनिधि। (३) ५००) दान देनेवाले आर्य सभासद्, अथवा ५०००) दान देने वाले आर्यपुरुष आजीवन सदस्य होंगे। (४) १००)-१००) देने वाले १० आर्य सभासदों का एक प्रतिनिधि। (५) साधारण सभा से स्वीकृत प्रतिष्ठित सभासद्।

इस वर्ष १३ प्रतिनिधि सभायें इस सभा में सम्मिलित रहीं। उनके नाम और उनके प्रतिनिधि सदस्यों की संख्या प्रत्येक के सामने निम्न प्रकार दी जाती हैं:—

नाम सभा	प्रति० सदस्य की संख्या
(१) आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब	७
(२) ,, ,, संयुक्त प्रांत	७
(३) ,, ,, राजस्थान	६
(४) ,, ,, बिहार	५
(५) ,, ,, बंगाल	७
(६) ,, ,, मध्य प्रदेश	३
(७) ,, ,, निजाम राज्य	२
(८) ,, ,, सिंध	४
(९) ,, ,, बम्बई	×
(१०) ,, ,, नेटाल	×
(११) आर्य प्रतिनिधि सभा फिजी	×
(१२) ,, ,, मौरिशस	×
(१३) ,, ,, सुरीनाम डच गायना	×
	४१

इनमें से निम्न प्रतिनिधि सभाओं व अन्य आर्य समाजों के निम्न महानुभाव इस वर्ष प्रतिनिधि सभासद् रहे—

पंजाब—(१) पं० भीमसेन विद्यालङ्कार (२) पं० जगन्नाथ निरुक्तरत्न (३) बा० शालिग्राम (४) म० सन्तलाल बी० ए० (५) ला० नोतनदास (६) म० कृष्ण (७) प्रो० शिवदयालु।

संयुक्त प्रान्त—(१) बा० उमाशंकर वकील (२) पं० धुरेन्द्र शास्त्री (३) डाक्टर बाबूराम एम० ए० (४) पं० शिवदयालु (५) प्रो० महेन्द्रप्रताप शास्त्री (६) पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय (७) बा० पूर्णचन्द।

राजपूताना—(१) कुंवर चाँदकरण शारदा (२) कुँवर जालिमसिंह (३) पं० भगवान् स्वरूप (४) स्वामी व्रतानन्द संन्यासी (५) पं० जयदेव विद्यालङ्कार (६) लाला शिवचरणलाल।

मध्यप्रान्त—(१) श्री घनश्यामसिंह गुप्त (२) श्री जयनारायणलाल ( ) पं० पन्नालाल व्यास।

बिहार—(१) पं० वेदव्रत वानप्रस्थी (२) ठा० ब्रजनन्दनसिंह (३) पं० बद्रीनारायण (४) पं० वासुदेव शर्मा (५) पं० महादेव शरण।

बङ्गाल—(१) बा० मेहरचन्द (२) पं० दीनबन्धु शास्त्री (३) पं० सुरेन्द्रनाथ विद्यालङ्कार (४) श्री विष्णुदास वासल (५) पं० नन्दकिशोर विद्यालङ्कार (६) पं० अयोध्याप्रसाद (७) पं० हरिगोविन्द।

सिन्ध—(१) प्रो० ताराचन्द गाजरा (२) पं० उदयभानु (३) म० गंगाराम (४) म० भोलाराम।

निजामराज्य—(१) पं० विनायकराव विद्यालङ्कार बैरिस्टर (२) पं० बंशीलाल वकील।

दीवानहाल आर्य समाज—(१) प्रो० सुधाकर एम० ए० (२) लाला देशबन्धु एम० एल० ए० (३) श्री देशराज चौधरी।

गुरुदत्तभवन लाहौर आर्यसमाज—पं० ज्ञानचन्द बी० ए० (२) पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार।

नियमानुसार वे आर्य समाज जिनके आर्य सभासदों की संख्या ५० या अधिक हो और जो प्रतिवर्ष इस सभा को दशांश दें, वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं। इस वर्ष गत वर्ष की नाईं निम्न दो आर्य समाजों का सभा में प्रतिनिधित्व रहाः—

नाम समाज	प्रतिनिधियों की संख्या
(१) दीवान हाल	३
(२) आर्यसमाज गुरुदत्त भवन लाहौर	२

प्रतिष्ठित और आजीवन सदस्य

इस वर्ष निम्न महानुभाव सभा के प्रतिष्ठित और आजीवन सदस्य रहे।

प्रतिष्ठित

(१) श्री० महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज
(२) ,, स्वामी स्वतन्त्रानन्द ,,
(३) ,, ,, ब्रह्मानन्द ,,
(४) ,, ,, सत्यानन्द ,,
(५) ,, रायसाहब मदन मोहन जी सेठ

आजीवन

(१) श्री० म० वेद मित्र जी
(२) ,, बा० ज्योति स्वरूपजी
(३) ,, पं० गंगाप्रसादजी रिटायर्ड चीफजज
(४) ,, ला० नारायणदत्तजी
(५) श्री० ला० ज्ञानचन्दजी (देहली)
(६) ,, ,, रलाराम ,, ,,
(७) ,, ,, गुलराज गोपाल ,, गुप्त

दुख है कि गत नवम्बर मास में श्री० दीवान तुल्जाराम जी की मृत्यु से सभा उनकी सदस्यता के लाभ से वंचित हो गई।

इस वर्ष के अन्त में यह सभा १३ प्रतिनिधि सभाओं और दो आर्य समाजों के ४६ प्रतिनिधि सदस्यों, ५ प्रतिष्ठित और ८ आजीवन कुल ५८ सदस्यों का समुदाय थी।

(२) सभा के अधिकारी और अन्तरङ्ग सदस्य

गत वर्ष की अपेक्षा कार्य विवरणान्तर्गत वर्ष में अधिकारियों और अन्तरंग सदस्यों में क्या अन्तर रहा था, यह प्रकट हो जाय, इसलिए दोनों वर्षों के अधिकारियों तथा अन्तरंग सदस्यों के नाम नीचे दिए जाते हैं।

गत वर्ष के अधिकारी

(१) प्रधान श्रीयुत घनश्यामसिंह जी
(२) उपप्रधान ,, पं० गंगाप्रसादजी
(३) ,, ,, स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी
(४) ,, ,, रा.सा. मदनमोहन सेठ
(५) मन्त्री ,, प्रो० सुधाकरजी
(६) उपमन्त्री ,, पं० गंगाप्रसादजी
(७) कोषाध्यक्ष ,, ला० नारायणदत्तजी
(८) पुस्तकाध्यक्ष ,, ला० ज्ञानचन्द्जी

कार्य विवरणान्तर्गत वर्ष के अधिकारी

(१) प्रधान श्रीयुत घनश्यामसिंह जी
(२) उपप्रधान ,, स्वामी स्वतंत्रानंद ,,
(३) ,, ,, राय बहादुर पं० गंगा प्रसाद ,, रिटायर्ड चीफ जज
(४) ,, ,, रायसाहिब मदनमोहन जी सेठ
(५) ,, ,, म० कृष्ण ,,
(६) मन्त्री ,, प्रो० सुधाकर ,,
(७) उपमन्त्री ,, पं० गंगा प्रसाद ,, उपाध्याय
(८) कोषाध्यक्ष ,, श्री ला० नारायणदत्त ,,
(९) पुस्तकाध्यक्ष ,, ,, ,, ज्ञानचन्द ,,

इन निर्वाचित अधिकारियों के अतिरिक्त श्री पं० ज्ञानचन्द जी बी० ए० 'आर्य सेवक' उपमन्त्री के रूपमें सभा का कार्य कर रहे हैं।

नोट—श्री प्रधान जी की कांग्रेस के सत्याग्रह में जेल यात्रा के कारण गत दिसम्बर मास से श्री स्वामी स्वतन्त्रानंद जी महाराज कार्यकर्त्ता प्रधान के रूप में कार्य कर रहे हैं।

गत वर्ष के अन्तरंग सदस्य

(१) श्री पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री (संयुक्तप्रांत)
(२) ,, प्रो० महेन्द्र प्रतापजी शास्त्री ,,
(३) ,, कुं० चाँदकरणजीशारदा (राजस्थान)
(४) ,, पं० भगवान स्वरूप जी ,,
(५) ,, ,, महादेव शरण जी (बिहार)
(६) ,, बा० हरिगोविंद ,, बंगाल
(७) ,, ,, पूर्णचन्द्रजी (प्रवासियों के प्रति)
(८) ,, पं०वंशीलाल ,, (हैद्राबाद राज्य से सम्बन्धित)
(९) ,, ला० देशबन्धु जी (समाजों के प्रतिनिधि)
(१०) ,, दीवान तुलजाराम ,, (साधारण)
(११) ,, म० नारायण स्वामी जी ,,
(१२) ,, प्रो० शिवदयालु ,, (पंजाब)
(१३) ,, म० कृष्ण ,, ,,

कार्य विवरणान्तर्गत वर्ष के अन्तरंग सदस्य

(१९४०-४१)

(१) श्री प्रो० ताराचन्द जी गाजरा (सिंध)
(२) , महात्मा नारायण स्वामी जी
(३) ,, बा० पूर्णचन्द्र ,,
(४) ,, ला० देशबन्धु ,,
(५) ,, पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री (संयुक्त प्रांत)
(६) ,, प्रो० महेन्द्र प्रतापजी शास्त्री ,,
(७) ,, कुं० चांदकरणजी शारदा(राजस्थान)
(८) ,, पं० भगवान स्वरूप जी ,,
(९) ,, ,, महादेव शरण ,, (बिहार)
(१०) ,, प्रो० शिव दयालु ,, (पंजाब)
(११) ,, पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार ,,
(१२) ,, पं०वंशीलाल ,, (हैद्राबाद राज्य)

सभा की सम्पत्ति

देहली नगर में परेड के मैदान के सामने २५०००) के मूल्य का 'सार्वदेशिक भवन' नामक सभा का एक रहायशी मकान है।

जो सभा को स्व० श्री ज्योतिप्रसाद जी द्वारा दान में प्राप्त हुआ था। ग़ाजियाबाद में सभा की ४३ बीघे ज़मीन भी है जो १०००) में नीलाम में क्रय की गई थी। इसके अतिरिक्त सभा ने वह मकान जिसमें स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान हुआ था १६०००) में रग्घूमल ट्रस्ट (कलकत्ता) से क्रय किया था। इस पर ६०००) सभा ने और व्यय करके इसमें कोलोनेड इत्यादि की वृद्धि करदी है। ऋृषिकेश में 'वैदिकाश्रम' भी सभा की सम्पत्ति है।

सभा की संस्थाएँ

इस सभा के आधीन सीधे कोई खास संस्था नहीं है। ऋृषिकेश का 'वैदिक आश्रम' इस सभा की सम्पत्ति है, परन्तु उसका प्रबन्ध ज्वालापुर वानप्रस्थाश्रम की देखरेख में होता है। इस आश्रम में साधु आकर ठहरते हैं, आश्रम की ओर से उनमें वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता है।

केशवराव आर्य हाई स्कूल

केशवराव आर्य हाई स्कूल की स्थापना २० जुलाई १६४० को पं० गोपालराव साहिब एडवोकेट हैदराबाद बोरगाँवकर के कर कमलों से हुई।

पं० अवधबिहारी लाल जी एम. ए. बी. एल. हैडमास्टर नियुक्त किये गये। ११ अध्यापक और १ क्लर्क नियुक्त किये गये, परन्तु आवश्यकता न होने के कारण दो अध्यापको को हटा दिया गया। कुछ दिन के पश्चात् तेलगू पढ़ाने के लिये एक अध्यापक की आवश्यकता जान पड़ी और ५-८-४० को एक तेलगू टीचर की नियुक्ति हुई। सितम्बर मास में आँन्ध्र विश्व विद्यालय के एक ग्रेजुएट ने अपनी सेवायें स्कूल के अर्पण करने की प्रार्थना की, तेलगू पढ़ाने के लिये उन्हें अधिक अच्छा जानकर पूर्वोक्त तेलगू टीचर को हटाकर १८-६-४० को उनको नियुक्त कर लिया गया। १६ नवम्बर १६४० को श्री शेरसिंह एम० ए० बी० टी० मुख्याध्यापक नियुक्त हुए। इस समय स्कूल में मुख्याध्यापक के अतिरिक्त ६ अध्यापक १ क्लर्क और २ चपरासी काम कर रहे हैं।

अध्यापक सूची निम्न है:—

सर्व श्री जी. वी. सुब्वाराव बी० ए०, म० कृष्णदत्त एफ. ए., म० वैंकटराव वैद्य एफ. ए., म० देवकीनन्दन राव एफ. ए., म० गंगाराम, म० अम्बादास राव, म० जे. एन. जोशी, म० एम. एस. कुलकरणी, म० एम. जी. देशपांडे, म० विद्याभूषण ड्राइङ्ग मास्टर।

छात्र संख्या का ब्योरा निम्न प्रकार है—

जुलाई	४५
सितम्बर	१०८
नवम्बर	१२३
जनवरी	१३४
अगस्त	१०६

अक्टूबर	११६
दिसम्बर	१२४
फरवरी	१३७

कक्षायें मिडिल तक हैं। प्राइमरी विभाग में हिन्दी और मिडिल में अंग्रेजी माध्यम है।

धर्म शिक्षा सभी कक्षाओं में हिन्दी भाषा में दी जाती है और वैदिक सिद्धांत का काफी ज्ञान बच्चों को कराया जाता है। सम्मिलित-ड्रिल प्रतिदिन होती है और वाद-विवाद सभा की भी व्यनस्था की गई है जिससे बच्चों की बोलने की शक्ति बढ़ेगी। महीने में २-३ बार कबड्डी और अन्य खेल खिलाये जाते हैं। 'सहयोग-भण्डार" की स्थापना की गई है, इससे बच्चों का व्यावहारिक ज्ञान बढ़ेगा।

भवन

२० सितम्बर १९४० को माननीय श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त स्पीकर मध्य प्रांतीय असैम्बली और प्रधान सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा ने अपने कर कमलों से स्कूल की आधार शिला रक्खी। भवन बन रहा है। इस समय स्कूल पंडित विनायकराव जी बार० एट० ला० की कोठी में है।

आय व्यय

स्कूल को दान व फीस इत्यादि से ११८३॥|≥)७ पाई की आय हुई तथा २४९३॥|=)८ पाई का व्यय हुआ।

इस प्रकार १३०९॥|=)५ पाई की कमी रही जो श्री पं० विनायकराघ जी से धन लेकर पूरी की गई। सभा ने इमारत के लिए २५०००) स्कूल को दिया है और इस समय १००) मासिक हैडमास्टर का वेंतन देरही है।

हाई स्कूल की मंजूरी के लिये प्रार्थना-पत्र निज़ाम सरकार के शिक्षा विभाग के 'डायरेक्टर' को भेजा हुआ है। जून १९४१ से यह स्कूल हाई स्कूल हो जायेगा। छात्रों की बहुत संख्या में आने की आशा है।

उपदेशक विद्यालय शोलापुर

सभा के निश्चयानुसार १ वर्ष तक चलने के पश्चात् शोलापुर का उपदेशक विद्यालय बंद कर दिया गया। ३६ छात्र परीक्षा में बैठे थे जिनमें से उत्तीर्ण छात्रों में से २५ आर्यप्रतिनिधि सभा निज़ाम राज्य के अधीन उपदेशक पद पर लगाये गये। विद्यालय पर सभा का ६२६४=) व्यय हुआ। प्रसन्नता है कि सभा का यह परीक्षण जैसी आशा थी, सफल हुआ है। विद्यालय के संयुक्त आचार्य जी राज गुरु धुरेन्द्र जी शास्त्री तथा पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय रहे। पं० बंशीलाल जी ने बड़ी तत्परता और मनोयोग से स्कूल के संचालन में योग दिया है।

सभा का मुख पत्र

'सार्वदेशिक' नामक मासिक हिन्दी पत्र इस सभा का मुख पत्र है, वार्षिक मूल्य २) है।

प्रचारक

इस सभा के आधीन निम्न प्रकार से

लगभग ११३ प्रचारक कार्य कर रहे हैं:—

१. कर्नाटक व साउथ कनाडा	४
२. टामिल नाड	×
३. आंध्र	२
४. महाराष्ट्र	२
५. मध्यप्रान्त व मध्य भारत	२
६. हैद्राबाद राज्य	१००
७. गढ़वाल	३

प्रचार का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है:—

प्रचार

प्रचार समिति हैदराबाद राज्य तथा दक्षिण भारत में प्रचार कार्य आदि के लिए इस सभाने 'दक्षिण प्रचार समिति नामक' एक उपसमिति नियुक्त की हुई है, जिसके सदस्य इस प्रकार हैं:—

हैदराबाद में श्री पं० वंशीलाल जी के निरीक्षण में कार्य होता है तथा हैदराबाद तथा दक्षिण भारत के समस्त प्रचार कार्य के सभा की ओर से श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय अध्यक्ष तथा निरीक्षक रहे।

१. श्री माननीय घनश्यामसिंहजी गुप्त।
२. श्री महात्मा नारायण स्वामी जी।
३. ,, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी।
४. ,, पं० वंशीलाल जी।
५. ,, लाला देशबन्धु जी।
६. ,, पं० विनायकराव जी।
७. ,, पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय (संयोजक)।
८. ,, लाला खुशहालचन्द जी।
९. ,, लाला देवीचन्द जी।
१०. ,, प्रो० सुधाकर जी।
११. ,, लाला नारायणदत्त जी।
१२. ,, पं० वेदव्रत जी।
१३. ,, म० कृष्ण जी बी. ए.।

हैद्राबाद राज्य में निम्न प्रचारक कार्य कर रहे हैं:—

१. श्री पं० जयदेव जी वेदालङ्कार।
२. श्री पं० केशवार्य जी।
३. ,, ,, नारायण जी रेड्डी।
४. ,, ,, कर्मवीर जी।
५. ,, ,, हरिश्चन्द्र जी।
६ ,, ,, रामनाथ जी।
७. ,, ,, वेदव्रत जी।
८. ,, ,, धर्मवीर जी।
९. ,, ,, ज्ञानेन्द्र जी।
१०. ,, ,, श्रीराम जी।
११. ,, ,, शंकर रेड्डी जी।
१२. ,, माधवराव जी।
१३. ,, सत्यदेव जी।
१४. ,, नरसिंहराव जी।
१५. ,, महेश्वर जी।
१६. ,, पं० जयदेव जी।
१७. ,, ,, रुद्रदेव जी।
१८. ,, ,, भद्रदेव जी।

१९. ,, ,, हनुमन्तराव जी।
२०. ,, ,, साम्बमूर्ति जी।
२१. ,, ,, महेन्द्र प्रताप जी शास्त्री।
२२. ,, अवधविहारीलाल जी।
२३. ,, मनोहरलाल जी।
२४. ,, बल्देव जी।
२५. ,, वीरेन्द्र जी।
२६. ,, सत्यव्रत जी।
२७. ,, शंकरदेव जी।
२८. ,, लक्ष्मीकान्त जी।
२९ ,, श्री रामचन्द्र जी।
३०. ,, भास्करदेव जी।
३१. ,, नरहरि गोरे जी।
३२. ,, रामचन्द्र जी सिद्धान्त रत्न।
३३. ,, विद्यानन्द जी वेदालङ्कार।
३४. श्री पं० वीरभद्र जी।
३५. ,, ,, गणपतलाल जी।
३६. श्री शिवचन्द्र जी।
३७. ,, भीमसेन जी।
३८. ,, श्री बापूराव जी।
३९. ,, गोपालदेव जी।
४०. श्री गणेशचन्द्र जी।
४१. ,, ओ३म्प्रकाश जी।
४२. ,, लक्ष्मणराव जी।
४३. ,, वीरभद्रमल्ल जी सिद्धान्तरत्न।
४४. ,, नरहरि जी धारूर।

ये प्रचारक श्री पं० वंशीलालजी वकील, हाईकोर्ट मन्त्री आर्य प्रतिनिधि सभा हैद्राबाद स्टेट की अध्यक्षता में हैद्राबाद स्टेट में प्रचार करते हैं।

कलम परगणा के उपदेशक तथा अध्यापक

कलम परगणा में १० उपदेशक, १४ अध्यापक और ७ अध्यापिकायें कार्य कर रही हैं। यहाँ १२ दैनिक तथा ३१ रात्रि पाठशालाएँ कार्य कर रही हैं। कन्या पाठशालाएँ ७ हैं।

इसके अतिरिक्त बम्बई, महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश, बरार, और मद्रास प्रान्त में निम्न प्रचारक कार्य कर रहे हैं:—

बम्बई

(१) श्री पं० लक्ष्मणराव ओघले।
(२) ,, स्वामी विद्यानन्द जी।

मध्य प्रदेश

(१) श्री पं० क्षितीशकुमार जी।
(मध्यप्रान्त आर्य प्रतिनिधि सभा की अध्यक्षता में)
(२) श्री पं० ज्ञानेन्द्र सूफी जी।
(३) श्री पं० वाचस्पति जी।

मद्रास

आन्ध्र—(१) पं० मदनमोहन विद्याधर जी।
(२) श्रीराम हरिप्रसाद जी।
(३) ,, लक्ष्मीनारायण जी।
(पं० मदनमोहन जी की अध्यक्षता में)
(४) श्री पं० गोपदेव जी।

तामिलनाड—(१) श्री शिवचन्द्र जी।
(२) ,, पं० धर्मकाम जी।
(३) ,, ,, तामिलनाड जी।

कर्नाटक—(१) श्री पं० धर्मदेव जी।
(२) ,, ,, सुधाकर जी।

मलाबार—(१) श्री साधु शिवप्रसाद जी।
(२) ,, पं० अभयदेव जी।
(३) ,, ,, अंशुनाथ जी।
(विद्यावाचस्पति पं० धर्मदेवजी कीअध्यक्षता में)

गढ़वाल

(१) श्री पं० अशोककुमार ज़ी।
(२) ,, पं० खुशहालसिंह जी।
(३) ,, ,, गोपालसिंह जी।
(४) ,, ,, रघुवरदयाल जी।
(पं० अशोककुमार जी वेदालंकार की अध्यक्षता में)

अलमोड़ा

(१) पं० शान्तिस्वरूप जी।

नोट—(१) श्री ज्ञानेन्द्र सूफी ने मध्यप्रदेश में ६ अप्रैल १६४१ तक कार्य किया। इसके पश्चात् उनकी सेवाएँ समाप्त हो गईं।

(२) श्री कन्हैया जी ने तामिलनाड में दिसम्बर के मध्य तक कार्य किया।

(३) श्री लक्ष्मीनारायणजी ने सितम्बर १६४० के मध्य तक कार्य किया।

संथाल

(१) पं० नित्यानन्द जी।
(२) श्री रामचन्द्र जी।
(३) श्री प्रेमलाल जी।
(४) ,, कृष्णसिंह जी।
(५) ,, सूर्यनारायण जी।

सिन्ध

श्री स्वामी विश्वानन्द जी।

राजपूताना

श्री पं० विद्यासागर जी।

बंगाल

श्री पं० विद्यासागर जी।
(आर्य प्रतिनिधि सभा राजपूताना की अध्यक्षता में)

अवैतनिक—
(१) श्री नारायण स्वामी जी।
(२) श्री. स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी।
(३) श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय।
(४) श्री पं० गोपदेव जी।
(५) श्री स्वामी विद्यानन्द जी।

आन्ध्र

नई समाजें

इस प्रान्त में तनाली और बरहामपुर में २ पुरानी समाजें थीं। इस वर्ष २ नई समाजें नलोर तथा पालपरू में स्थापित की गईं।

शुद्धियाँ

२ शुद्धियाँ हुईं। एक साधारण और और दूसरी में स्त्री-पुरुष दोनों डाक्टर थे। दोनों का विवाह कराया गया। इसके अतिरिक्त १५ ईसाई परिवारों की शुद्धि की गई।

साहित्य

इस वर्ष निम्न १२ पुस्तकें तिलगु में प्रकाशित हुईं:—

१. आर्यसमाज क्या है ?
२. आर्य गृहिणी
३. ईशोपनिषद्
४. केनोपनिषद्
५. धर्म्म यु कल्पित
६. अवतारवाद मीमांसा
७. मूर्तिपूजा
८. वैष्णवमत मीमांसा
९. युवकों का कर्तव्य
१०. तुम्हारी भाषा क्या है ?
११. तुम कौन हो ?
१२. तुम्हारा धर्म्म क्या है ?

श्री पं० गोपदेव जी तिलगु में साहित्य-निर्माण का कार्य करते हैं। इस वर्ष निम्न पुस्तकें लिख कर छपाई गईं।

१. यज्ञोपवीत
२. देवी-देवता
३. वैदिक सन्ध्या

तामिलनाड

त्रिचनापल्ली में आर्यसमाज है। किन्तु यह जनवरी १९४१ में ही खोला गया है। प्रचार का क्षेत्र कटपाड़ी में तैयार किया जा रहा है।

मदुरा कान्फ्रेंस

इस वर्ष यहाँ दिसम्बर मास में श्री महात्मा नारायण स्वामी जी की अध्यक्षता में प्रथम दक्षिण भारत आर्य सम्मेलन किया गया। इस सम्मेलन का प्रभाव बहुत अच्छा रहा। मदुरा में आर्यसमाज की स्थापना हो गई है। इसके अतिरिक्त उसलम पट्टी में १ समाज स्थापित हुई। ऋषि-बोधोत्सव समारोह पूर्वक मनाया गया। ३० सदस्य मदुरा तथा २० उसलम पट्टी के बनाए गए। मदुरा में कालेज के विद्यार्थियों की क्लासें खोली गईं। नगर के उच्च राज्याधिकारियों तथा प्रमुख नागरिको को अंग्रेजी साहित्य दिया गया। कोचीन राज्य के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री तथा केन्द्रीय असेम्बली के भूतपूर्व प्रधान श्री शणमुखम चेट्टी तथा सर पी० टी० राजन भूतपूर्व मिनिस्टर मद्रास सरकार को आर्यसमाज का साहित्य भेंट किया गया।

शुद्धि

डोडप्पानाचकाई में ३ ईसाई परिवारों की, जिनमें १५ व्यक्ति थे शुद्धि की गई

और ३०० परिवारों को ईसाई होने से बचाया गया।

कर्नाटक

नए आर्यसमाज

इस वर्ष कर्नाटक और केरल प्रान्तों में निम्न स्थानों पर आर्यसमाजों की स्थापना की गई:—

कर्नाटक

१. मण्डला २. दौड्ड वैल्लाआ
३. शिमोगा (मैसूर राज्य)

केरल

१. कोट्टयम (ट्रावन्कोर राज्य)
२. पायोनूर (उत्तर मलाबार)

साहित्य

निम्न पुस्तकें कनडी में प्रकाशित हुईं:—

१. जनगणना और हमारा कर्तव्य (अंग्रेज़ी)

२. जनगणना और हमारा कर्तव्य (मलयालम)

३. ईश्वर का स्वरूप (कनडी ७०००)

१. दयानन्द की सूक्तिया, २. वेदों में ईश्वर का स्वरूप ३. श्रद्धानन्द का बलिदान ४. वैदिक त्रैतवाद और हमारा धर्म नामक पुस्तकें कनड़ी में अनुवादित हुईं।

संस्कार

७०. यज्ञोपवीत, ३. विवाह, २. नामकरण, १ गृह प्रवेश, और १ सीमन्तोंनयन संस्कार हुआ।

शुद्धि

बंगलौर आर्यसमाज में गुलाम अहमद मुसलमान की शुद्धि की गई और बंगलौर छावनी में एक ईसाई महिला का शुद्धि संस्कार कराके उसका वैदिक विवाह कराया।

सम्मेलन

ट्रावन्कोर रियासत के वर्कला स्थान पर हुए सर्व धर्म सम्मेलन में आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व किया गया तथा वैदिक धर्म्म की दृष्टि से भ्रातृत्व तथा विश्व बन्धुत्व (International Fellowship) का प्रतिपादन किया गया।

सेवा कार्य

बंगलौर में 'आर्य सेवा मन्दिर' की गत अगस्त मास में स्थापना की गई है। २८ फरवरी तक इनमें ८१० रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई।

दक्षिण कनारा

नई समाजें

इस वर्ष प्रान्त में १ समाज स्थापित हुआ। इससे पूर्व १. मंगलौर, २. कार्कल, ३. उडुपी, तथा ४. हिरियडक ४ स्थानों पर समाजें थीं।

शुद्धि

मंगलौर समाज में २ ईसाइयों और

१ मुसलमान की और कार्कल में १ ईसाई युवक की शुद्धि की गई।

साहित्य

वैदिक धर्म प्रचार संघ मंगलौर की ओर से १० पुस्तकें प्रकाशित हुईं तथा १६ ट्रैक्ट तैयार किए गए।

मलाबार

समाजें

इस समय मलाबार के इस भाग में निम्न आर्यसमाजें हैं:—

१. पायोनूर, २. होसदुर्ग, ३. कन्नानोर, ४. कालीकट, ५. वाडागरा, ६. किज़ूमू, ७. इदक्काड।

शुद्धि

१०० ईसाईयों की शुद्धि की गई। २ थियाओं को जो मुसलमान हो गये थे, शुद्ध करके वैदिक धर्म में दीक्षित किया गया।

साहित्य

मलयालम में निम्न पुस्तकें तैयार की गईं:—

१. वैदिक सन्ध्या और भजन
२. धार्मिक पुनरुज्जीवन पुस्तक माला सं० २ और ४
३. वैदिक सूक्तियाँ
४. वॉयस आव् आर्यावर्त्त

दक्षिण भारत आर्य प्रतिनिधि सभा मद्रास

पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय के प्रयत्न से इस वर्ष मद्रास में दक्षिण भारत आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। दक्षिण भारत की १२ समाजों के २६ प्रतिनिधियों ने इस सभा में भाग लिया। मद्रास प्रान्त में कुल ६३ समाजें हैं।

महाराष्ट्र प्रचार

महाराष्ट्र प्रान्त, निजाम राज्य का मराठा भाग और बम्बई (उपनगर सहित) महाराष्ट्र प्रचार का कार्य क्षेत्र रहा।

नई समाजें

प्रचार के प्रारम्भ में इस प्रान्त में निम्न आर्य समाजें थीं:—

१. कोल्हापुर, २. पूना, ३. अहमदनगर, ४. येवला, ५. मनमाड, ६. नासिक, ७. भगूर, ८, कल्याण, ६. नांदगाँव, १०. जलगाँव, ११. चालीसगाँव।

नई समाजें

बम्बई के बसई तथा पूना में २ नए समाजों की स्थापना हुईं।

शुद्धियाँ

१४ अक्तूबर १६४० में ४ ईसाई परिवारों और जनवरी १६४१ में १ मुस्लिम परिवार की जिसमें ५ व्यक्ति थे, शुद्धि की गई। कुल १४ शुद्धियां हुईं।

साहित्य

१. शुद्धि प्रार्थना पत्र, २. प्रमाण पत्र, विवाह पुनर्विवाह प्रार्थना तथा प्रमाण-पत्र, ४, आर्यसमाज के नियम ५. स्वास्थ्य-

सन्देश, ६. जगदीश प्रार्थना, ७. जनगणना ट्रैक्ट, ८. ईश्वरस्वरूप, ६. तुकाराम उपदेश आदि ट्रैक्ट तैयार हुए। १. गो करुणानिधि, २. व्यवहार भानु, तथा ३. संस्कार विधि का मराठी में अनुवाद तैयार है। कोल्हापुर में इसके प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है।

गोंड जातियों में प्रचार

मध्यप्रान्त में आर्यसमाज का प्रचार बहुत कम है। लोगों से मिल जुल कर रुचि पैदा की जा रही है। जो लोग आर्यसमाज की ओर झुक रहे हैं उनमें उत्साह दीख पड़ता है। भिन्न २ स्थानों पर आर्यसमाज से सहानुभूति रखने वाले सज्जन मिल रहे हैं; खासकर रीवां राज्य और नागौद राज्य में। लोग आर्यसमाज से डरते भी हैं। कुछ लोग तो यहां तक कहने लगे कि यदि राज्य की ओर से घोषित हो जाये कि आर्यसमाज में रहना जुर्म नहीं, तो वे आर्यसमाज में आने को तैयार हैं।

गोंड लोगों में तथा जंगली लोगों में आर्यसमाज के लिये भ्रमोत्पादक प्रचार फैला हुआ है। वे आर्यसमाज को गो-मांस-भक्षी, हिन्दू-न-मुसलमान, और राम कृष्ण का विरोधी समझते हैं। मुसलमानों तथा ईसाईयों ने इनमें अपना अड्डा जमा लिया है। जब लोगों के मन से आर्यससाज के प्रति उनके झूठे भ्रम को दूर किया गया तो वे आर्यसमाज की ओर झुकाव दे रहे हैं।

सनातनी लोगों में प्रचार की शैली बदल कर कार्य किया गया। लोगों पर यहां उपदेशों का अच्छा प्रभाव रहा।

लोगों से मिलने जुलने से बड़ा लाभ हुआ। लोगों की सहानुभूति आर्यसमाज की ओर उत्पन्न की जारही है। फलस्वरूप सतना और मुकुरिया टोला में आर्यसमाजें स्थापित हो गई हैं। १ बंगाली परिवार को ईसाई होने से बचाया गया। ४ स्त्रियों और एक लड़के की मुसलमानों से रक्षा की गई।

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी तथा श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की प्रचार यात्राएँ

श्री महात्मा नारायणस्वामी जी

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने इस सभा की प्रार्थना पर गत नवम्बर और दिसम्बर मास में हैदराबाद राज्य तथा दक्षिण भारत की प्रचार यात्राएँ कीं और समाज कार्य का निरीक्षण भी किया। सभा श्री स्वामी जी महाराज की इस अमूल्य सेवा के लिए धन्यवाद देती है। श्री स्वामी जी निम्न स्थानों पर गयेः—

हैद्राबाद राज्य

१. हैद्राबाद दक्षिण, २. निजामाबाद, ३. उदगीर, ४. अहमदपुर, ५. लातूर,

६. उस्मानाबाद, ७. कलम, ८. तुलजापुर ६. शोलापुर।

दक्षिण भारत

१. मद्रास, २. बंगलौर, ३. मैसूर, ४. चंचनकाटी, ५. मंगलौर, ६. कारकल, ७. उडपी, ८. कन्नानौर, ६. कालीकट।

श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी का दौरा

दिसम्बर सन् ४० में श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी कार्यकर्ता प्रधान सभा ने बंगाल और आसाम के समाजों में प्रचारार्थ भ्रमण किया। आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल आसाम के कार्य का निरीक्षण किया तथा प्रचार सम्बन्धी आवश्यक निर्देश दिये। श्री स्वामी जी महाराज की बंगाल आसाम प्रचार की विस्तृत योजना सभा के विचाराधीन है।

साहित्य प्रचार

स्वामी जी के निम्नाँकित ग्रन्थों की निम्नांकित भाषाओं में अनुवाद कराया गया:—

१. मरहठी—सत्यार्थप्रकाश २. संस्कारविधि ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ४. गो करुणानिधि ५. व्यवहार भानु।

२. कनाडी—सत्यार्थप्रकाश २. संस्कार विधि ३. आर्याभिविनय।

३. तामिल—सत्यार्थप्रकाश २. संस्कार विधि।

४. मलयालम—सत्यार्थप्रकाश।

५. तैलगू—सत्यार्थ प्रकाश २. संस्कार विधि ३. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

६. बँगला—सत्यार्थप्रकाश।

७. गुजराती—सत्यार्थ प्रकाश।

८. संस्कृत—सत्यार्थप्रकाश।

६. अङ्गरेज़ी—सत्यार्थ प्रकाश ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका।

१०. फ्रेंच—सत्यार्थ प्रकाश।

११. उर्दू—सत्यार्थप्रकाश, २. संस्कार विधि।

विदेश प्रचार

समय समय पर सभा की ओर से अफ्रीका, डच, और ब्रिटिश गायना, अमेरिका, सिंगापुर, मौरीशश, फिजी आदि में प्रचारार्थ उपदेशक भेजे जाते हैं। इस वर्ष उपयुक्त प्रचारकों के अभाव में यह कार्य नहीं हो सका।

आर्य समाज स्थापना दिवस

इस वर्ष सभा ने अन्तरंग सभा तिथि १५-१२-४० के निश्चय सं १० के अनुसार आर्यसमाज स्थापना दिवस की तिथि चैत्र शुक्ला ५ के स्थान में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा निश्चित की है और यह परिवर्तन आर्यसमाज बम्बई के शिला लेख तथा पुरानी रिपोर्ट के आधार पर जिसका फ़ोटो मंगाया गया था किया गया है।

इस सभा ने प्रान्तीय सभासदों की सम्मति से इस दिवस की आय को अपनी स्थिर आय का साधन नियत किया हुआ है। यह दिवस इस वर्ष पहले की अपेक्षा अधिक

समारोह और सफलता के साथ मनाया गया तथा सभा की अपील का पहले की अपेक्षा उत्साहजनक स्वागत हुआ । इस वर्ष इस दिवस की सभा का १२२८) रु० आय हुई है।

सत्याग्रह बलिदान स्मारक दिवस

हैद्राबाद आर्य सत्याग्रह के हुतात्माओं की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से सभा के निश्चययानुसार श्रावण शुक्ल १५ तदनुसार १७ अगस्त १९४० को 'सत्याग्रह बलिदान दिवस' समस्त आर्य जगत् में मनाया गया। सभा ने प्रति वर्ष श्रावणी पर्व के साथ इस दिवस के मनाया जाने का निश्चय किया है ।

शहीदों का स्मारक

सभा ने इन शहीदों का पुण्य स्मारक बनाने के लिये दो निश्चय किये थे। एक तो यह कि किसी केन्द्रीय स्थान में उनका बृहत् स्मारक बनाया जाय और दूसरा यह कि आर्य-समाजों, आर्य संस्थाओं, और सभाओं में पीतल की पट्टिकाएँ रक्खी जाँय जिनमें उनके नाम, निवास स्थान, पिता का नाम, मृत्यु स्थान, मृत्यु तिथि इत्यादि आवश्यक विवरणों का उल्लेख हो। पीतल की पट्टिकाएँ तय्यार हो गई हैं और समाजों द्वारा मंगाई जा रही हैं। प्लेट का मूल्य २४) है।

शहीदों के परिवारों को सहायता

इस वर्ष सभा १५८) मासिक की सहायता शहीदों तथा अन्य बन्दियों और पीड़ितों के परिवारों को देती रही ।

मन्दिर निर्माण

हैदराबाद राज्य में मन्दिर निर्माण के लिए श्री प्रधान जी ने अपील की थी जिसके परिणाम स्वरूप निम्न प्रतिज्ञायें तथा नक़द दान प्राप्त हो चुका है।

दानी सज्जन अथवा समाज का नाम	प्रतिज्ञातराशि	प्राप्तराशि
नई मंडी मुजफ्फर नगर	२५००)	
फैजाबाद	५००)	
फीरोजाबाद	१००)	१००)
मेरठ	५२५)	
आ० उपप्रतिनिधि सभा बिजनौर गढ़वाल प्रान्त	१०००)	५००)
आर्य समाज मैनपुरी	५००)	१५०)
देहरादून	१०००)	
उरई	१००)	
हरदोई	५००)	१९८॥)
नैनीताल	५००)	
काशीपुर	२५)	२५)
मुरादाबाद	५००)	५००)
मुजफ्फर नगर	१०००)	२५०)
श्री हरिदत्त जी शास्त्री मुरादाबाद	१०००)	
श्री आ० स० बच्छोवाली लाहौर	२०००)	२०००)
आ. स. बच्छोवाली लाहौर	१०००)	

हैदराबाद सत्याग्रह समिति अमृतसर	५००)	५००)
आ. स. दीवान हाल देहली	२०००)	
आ० स० पेशावर छावनी	१०००)	६२६-)॥
,, ,, कैथल	५००)	
,, ,, क्वेटा	५००)	३५६≋)
,, ,, जलन्धर सिटी	२०००)	१५००)
,, सावनबाजार लुधियाना	५००)	१५०)
,, ,, मौडल टाउन लाहौर	५००)	५००)
ला० गोविन्दराम जी आर्य समाज गुजरांवाला	१०००)	
आ. स. श्रीनगर	२००)	२००)
शिमला लोअर बाजार	२५०)	२५०)
आ. स. पानीपत	५००)	२७६-)
आर्य समाज नाभा		१०)
आर्य समाज जोगेन्द्रनगर		४६॥)
श्री धर्मचन्द्र जी अमृतसर		५००)
श्री महाशय कृष्ण जी लाहौर	५००)	
श्री लाला नारायणदत्त जी नई देहली	५००)	
श्री रल्लाराम जी नई देहली	५००)	
श्रीदीवान रामप्रतापजी लाहौर	५००)	
श्रीमती सुलोचना देवी जी ,,	५००)	५००)
श्री धुरेन्द्र शास्त्री	३०००)	
आर्य समाज जोधपुर	१००)	
आ. स. हिन्डौन	१००)	७५)
आ. स. देवास	२५०)	१५०)
आ.स. बांसकृपालनगर बीकानेर		५)
आ. स. शाहपुरा	३००)	३००)
आ. स. मऊ छावनी		५०)
आ. स. अमरावती	५००)	
आ. स. विलासपुर	५००)	
आ. स. झरिया	५००)	५००)
आ. स. नगर नौशा		८)
आ. स. माटुङ्गा	५००)	२५०)
आ. म. बैंकोक (स्याम)	५००)	५००)
आ. स. लाशो	२५०)	
आ. स. दानापुर		३४॥)
आ. स. राजनपुर		२५)
आ. स. भुराली		५)
	३१२००)	११३४७-)॥

निम्न समाजों से सहायता के लिये प्रार्थना पत्र आये हैं।

		धन दिया
१. आर्य समाज हुमनाबाद	१०००)	
२. ,, ,, नलगीर	५००)	
३. ,, ,, उदगीर	१०००)	४२८॥-)
४. ,, ,, करीम नगर	१०००)	५००)
५. ,, ,, लातूर	१०००)	
६. ,, ,, चाकूर	५००)	५००)
७. ,, ,, निलंगा	५००)	
८. ,, ,, हैदराबाद	१०००)	
६. ,, ,, चन्द्रिकापुर	१०००)	
१०. आर्य समाज औरंगाबाद		
११. ,, ,, शालीबंडा		

१२. ,, ,, मुरुम १०००)
१३. ,, ,, हिंगौली १०००)
१४. ,, ,, गुरुमुरककल ५००) ५००)
१५. ,, ध्रुवपेठ हैदराबाद २०००) १०००)
१६. ,, किशनगंज अना० ५००)
१७. ,, समाज साकोल १०००)

जन गणना

उद्देश्य

सन् १६३१ की जन गणना में आर्य्य-समाजियों की संख्या वास्तविक संख्या से बहुत कम अंकित हुई थी अतः १६४१ की जन-गणना में आर्यों की संख्या और प्रत्येक हिन्दू से जन गणना में अपनी गणना ठीक-ठीक अंकित करानेके उद्देश्य से सभा ने व्यवस्थित रूप से प्रयत्न करने का निश्चय करके श्री पं० ज्ञानचंद जी की अध्यक्षता में इस कार्य को जनवरी १६४० में प्रारम्भ कर दिया। समस्त प्रान्तिक सभाओं को भी आदेश किया गया कि वे भी इस कार्य को अपनी वर्ष की प्रगतियां में मुख्य स्थान में और इसके लिए पूरा-पूरा आन्दोलन करें। फलतः समस्त प्रान्तीय सभाओं ने अपने यहाँ जन गणना कार्य के लिए पृथक् विभाग खोलकर कार्य किया और अपने प्रचारकों इत्यादि को जन गणना होने तक इस कार्य के अर्पण रक्खा।

सभा की ओर से विज्ञप्तियों तथा समाचार पत्रों द्वारा समय समय पर आर्य जनता का मार्ग-प्रदर्शन किया जाता रहा। सभा ने ८ विज्ञप्तियां प्रकाशित कराके हज़ारों लाखों व्यक्तियों में स्वयं तथा आर्यसमाजों द्वारा वितीर्ण कराईं। उन विज्ञप्तियों का सार इस प्रकार है :—

(१) इस विज्ञप्ति के द्वारा जन गणना के सम्बन्ध में आर्यों के कर्तव्य का बोध कराया गया और अपील की गई कि आर्यों की ठीक-ठीक संख्या अंकित किए जाने के कार्य में अपना पूरा-पूरा योग दें।

(२) इस विज्ञप्ति के द्वारा कोष्ठकों की पूर्ति का प्रकार बतलाया गया कि धर्म के कोष्ठक में 'वैदिक धर्म' फ़िरके के कोष्ठक में 'आर्य', ज़ात कोष्टक में 'कुछ नहीं' तथा भाषा के खाने में हिन्दी लिखी जाय। आर्य भाईयो को यह भी बतलाया गया कि 'आर्यों' की संख्या का योग हिन्दुओं के बृहद् योग में सम्मिलित किया जाता है।

(३) इस विज्ञप्ति के द्वारा आर्य भाईयों से अपील की गई कि इस जन गणना में आर्यों की संख्या ५० लाख हो जाय यह उनका लक्ष्य होना चाहिए। आर्य-जगत् को प्रेरणा की गई कि जन गणना की समाप्ति तक जन गणना कार्य को अपने कार्य का मुख्य अंग बनाएँ।

साथ ही कार्य-क्रम का निर्देश किया गया।

(४) इस बार भारत सरकार ने अपनी पुरानी प्रथा का परित्याग करके 'फिरका' का कोष्ठक उड़ा दिया था अतः आर्य-समाजों के मार्ग प्रदर्शन के लिये यह विज्ञप्ति निकालकर उन्हें बतलाया गया कि 'धर्म्म' के कोष्ठक में 'वैदिक धर्म', 'नस्ल, कबीला, जात' के कोष्टक में 'आर्य' और 'भाषा' के कोष्ठक में 'हिन्दी' लिखाई जानी चाहिए। प्रारंभिक जनगणना दिसम्बर में तथा अंतिम २७-२८ फरवरी और १ मार्च को होगी, इसका भी उल्लेख किया गया।

(५) यह विज्ञप्ति विज्ञप्ति सं० ४ का संक्षिप्त रूप था। इसके द्वारा कोष्ठको के प्रश्न तथा आर्यों की ओर से भरे जाने वाले उत्तर अंकित किये गये थे तथा प्रत्येक आर्य नर नारी से प्रेरणा की गई थी कि वह सभा द्वारा निश्चित उत्तर अंकित कराएँ।

सरकार से पत्र व्यवहार

इसी बीच में भारत सरकार से यह आश्वासन प्राप्त किया गया कि 'धर्म' नस्ल, कबीला और जात के कोष्टक में व्यक्ति जो लिखावेंगे गणकों द्वारा वही अङ्कित किया जायगा। इस आश्वासन से आर्य तथा हिन्दू मात्र को परिचित कराए जाने का पूर्ण उद्योग किया गया। अधिकतर प्रान्तों में सरकार की ओर से यह निश्चय किया गया था कि हिन्दी और उर्दू बोलने वालों की भाषा 'हिन्दुस्तानी' लिखी जाय। इस सभा की ओर से सरकार से निवेदन किया गया कि हिन्दी बोलने वालों को हिन्दी लिखने की आज्ञा दे। संयुक्त प्रान्त, बिहार और मध्य प्रदेश ये तीनों प्रान्त हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्त हैं। इन प्रान्तों में 'हिन्दुस्तानी' अङ्कित किये जाने के विरुद्ध घोर आन्दोलन खड़ा हुआ और इस आन्दोलन का नेतृत्व आर्य समाज ने किया। फलतः 'हिन्दुस्तानी' लिखाये जाने की आज्ञाएँ प्रान्तीय सरकारों ने वापस ले लीं और लोगों को 'भाषा' अङ्कित कराने की भी स्वतन्त्रता मिल गई। इस अवसर पर सभा ने विज्ञप्ति सं० ७ निकाली। इसमें प्रेरणा की गई थी कि—

प्रश्न सं० १८ (मातृ भाषा) के उत्तर में अपनी मातृ भाषा लिखवानी चाहिए। जो हिन्दी जानते और बोलते हों उन्हें 'हिन्दी' भाषा अवश्य लिखानी चाहिए। प्रश्न सं० १९ (अन्य भाषा) के कोष्टक में जिनकी मातृ भाषा बंगाली, मराठी, तामिल इत्यादि थीं, उन्हें 'हिन्दी' लिखाने की प्रबल प्रेरणा की गई। साथ हो प्रश्न सं० २० (लिपि) के उत्तर में देवनागरी वा हिन्दी लिखाने का निर्देश किया गया। इस विज्ञप्ति में अछूत कहे जाने वाले भाइयों

की सुधि लेने और सभा के निर्देश उन तक पहुँचाने की आर्य मात्र से अपील की गई ।

संथाल परगणा

पहले संथाल, मुंडा, उरांव इत्यादि आदिवासियों को धर्म विहीन (ला मज़हब) अंकित किया जाता था और जो पर्व वे मनाते थे उनके आधार पर हिन्दू-मुस्लिम तथा ईसाई धर्म में उनकी गणना होती थी। इस वर्ष हिन्दुओं और आर्यों की ओर से इसका घोर विरोध किया गया। इस सभा ने भारत सरकार से पत्रव्यवहार करके उन्हें अपनी इच्छानुसार धर्म और जाति लिखाने की स्वतन्त्रता दिलवाई।

हिन्दू सभा से विवाद

नस्ल, कबीला और जाति के कोष्ठक में 'आर्य्य' लिखाने की सभा की उपयुक्त आज्ञाओ और निर्देशो के विरुद्ध हिन्दू महासभा के प्रधान माननीय सावरकर जी ने जनवरी में एक वक्तव्य निकाल कर आर्य भाइयो को प्रेरणा की कि वे 'आर्य' के स्थान में 'हिन्दू' ही लिखाएँ जिससे हिन्दुओं की संख्या कम न हो और इस वक्तव्य का आधार यह भय बतलाया कि भविष्य में कहीं सरकार सिखों की न्याईं आर्यों की गणना पृथक् न करने लग जाय। श्री सावरकर जी ने जो अपनी स्थिति ग्रहण की थी, उससे आर्यसमाज सहमत न था। इससे सहमत होना सिद्धान्ततः १८८१ से लेकर अब तक की अपनी ६० वर्ष की प्रथा और ऋषि दयानन्द के आदेश की अवहेलना करना था। साथ ही जब कानून की दृष्टि में आर्य हिन्दू हैं, जनगणना में उनका योग हिन्दुओं के योग में सम्मिलित होता है और आर्यसमाज ने कभी हिन्दुओं से पृथक् राजनीतिक अधिकार नहीं मांगे, तब किसी प्रकार के भय की आशंका हो भी नहीं सकती थी। परिणामतः आर्यसमाज को अपनी स्थिति स्पष्ट करनी पड़ी। सभा की स्थिति के परिज्ञानार्थ जनता में ट्रैक्टादि वितरण कराए गए। दुःख यह है कि 'हिन्दू' लिखाने के आन्दोलन में स्वयं कुछ आर्यों और आर्यसमाज की जिम्मेवार संस्थाओं ने भी भाग लिया।

जन गणना सम्बन्धी कार्य को अन्तिम प्रगति देने के उद्देश्य से भारत की समस्त आर्यसमाजों में २३ फर्वरी को जन गणना दिवस मनाया जाना निश्चित करके, ८वीं विज्ञप्ति प्रचारित की गई। प्रसन्नता है यह दिवस आशानुरूप सफलता के साथ मनाया गया।

इस जन गणना में जहा तक आर्यों की जन गणना के अंकित किये जाने का सम्बन्ध है, अधिकारियों और गणकों द्वारा की गई अनेक अनियमताओं की शिकायतें प्रकाश में आई हैं और सभा कार्यालय में पहुंची हैं। उनका संक्षिप्त विवरण पृथक दिया गया है।

इन शिकायतों की सूचना यथा समय भारत सरकार के जन गणना विभाग तथा सम्बन्धित अधिकारियों को दे दी गई है। इन अनियमताओं के होते हुए भी, जन गणना में अंकित होने वाले आर्यों की संख्या पहली जन गणना के मुकाबले में कई गुनी अधिक होगी। देखना है कि यह संख्या कहाँ तक ठीक अंकित हुई है।

सभा का इस कार्य पर ४०५४) व्यय हुआ है। और जहाँ तक कार्य हुआ है उसका विवरण इस प्रकार हैः—

१. हैद्राबाद राज्य में लगभग १०० से अधिक प्रचारकों और कार्यकर्ताओं ने कार्य किया।

२. आंध्र, तामिलनाड, कर्नाटक और केरल में १६ उपदेशक तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने कार्य किया।

३. छोटा नागपुर में १० प्रचारक लगे हुए थे।

४. दक्षिण मलावार में श्री नारायण स्वामी जी के शिष्यों की जो अस्पृश्य समझे जाते हैं, लगभग ४० लाख संख्या है। जन गणना में 'आर्य' लिखाए जाने के सम्बन्ध में लाला शिवप्रसाद जी की देख रेख में इनलोगों में सफल कार्य हुआ।

५. गढ़वाल इत्यादि के पहाड़ी इलाकों में अनेक अन्य कार्यकर्ताओं के अतिरिक्त ५ प्रचारकों ने कार्य किया।

६. पंजाब के हरियाना प्रान्त तथा यू० पी० के मेरठ डिवीजन में २० प्रचारक कार्य पर लगे हुए थे।

इसके अतिरिक्त संयुक्त प्रान्त, राजस्थान, मध्य प्रदेश, पंजाब, बंगाल और बम्बई इत्यादि प्रान्तीय सभाओं के लगभग १५० प्रचारक और अन्य कार्यकर्ताओं ने आन्दोलन में उल्लेखनीय कार्य किया। हमें प्रसन्नता है कि भारत की २००० आर्यसमाजें और उनके लाखों सभासदों और सहायकों ने अपने कर्तव्य का प्रशंसनीय रीति से पालन किया।

शिकायतें

विविध प्रान्तों से जन गणना की भिन्न २ शिकायतें प्राप्त हुई हैं। उनके निराकरण के लिये प्रान्तीय सरकारों तथा भारतीय सरकार से पत्रव्यवहार हो रहा है। विभिन्न प्रान्तों से आई शिकायतों का रूप इस प्रकार थाः—

संयुक्त प्रान्त—

१. मातृ भाषा हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी लिखी जाने की सूचना प्रकाशित हुई जो बाद में लिखा पढ़ी और आन्दोलन के पश्चात् बदल दी गई।

२. पटवारियों तथा गणकों ने आर्यों को आर्य न लिख कर हिन्दू लिखा।

३. ग्रामों में पटवारियों ने गणना घर पर बैठ कर ही कर ली।

४. कहीं २ जन गणना में अधिकारियों ने भी आर्य लिखाये जाने में बाधा डाली।

पंजाब—

१. हिन्दुओं तथा आर्यों की संख्या कम लिखी गई।

२. गणना पैंसिल से सादा कागजों पर हुई।

३. हिन्दुओं के लिये छपे पैड कम दिये गये। अतः गणना सब की न हो हो सकी।

४. आर्यों को कहीं २ मुसलमानों ने पीटा।

५. सिक्खों ने आर्यों की गणना न की और उन्हें सिक्ख लिखा।

६. मातृ भाषा उर्दू लिखी गई।

विहार, बंगाल प्रान्त और बम्बई—

१. आर्यों को हिन्दू लिखा गया।

देहली प्रान्त—

१. भाषा उर्दू लिखी गई

२. आर्यों की गणना पूरी नहीं लिखी गई।

३. पैंसिल से सादे कागजों पर गणना लिखी गई जो बाद में बदली जा सकती थी।

राजस्थान—

१. १।। भीलों को हिन्दू न लिख कर भील ही लिखा गया।

२. गणक बहुत से स्थानों पर गये ही नहीं।

हैदराबाद राज्य

१. राज कर्मचारियों ने आर्य न लिखने का आदेश पटवारियों तथा गणकों को दिया।

२. भाषा हिन्दी नहीं लिखी।

मध्यप्रान्त—

१. आर्य शब्द के खाने को खाली छोड़ा गया।

२. भाषा पहिले हिन्दुस्तानी लिखी गई परन्तु बाद को हिन्दी ही लिखी गई।

विहार—

१. आर्यों को हिन्दू लिखा गया।

—०—

विविध उपसमितियाँ

धर्मार्य सभा

यह सभा सार्वदेशिक सभान्तर्गत है। यह धर्म सम्बन्धी विषयो पर व्यवस्था देती हैं। यह सन् १६२८ से स्थापित है। इस सभा में ५४ सदस्य हैं। इसके अधिकारी व अन्तरंग सदस्यो की सूची इस प्रकार हैः—

अधिकारी

१. श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज, रामगढ़ जि० नैनीताल (यू० पी०),

२. श्री स्वा० स्वतन्त्रानन्द जी, दयानन्दमठ दीना नगर, जि० गुरुदासपुर (पंजाब); मन्त्री।

३. प्रो० सुधाकर जी एम० ए० १२, टोडरमल रोड नई देहली, उपमंत्री।

अन्तरङ्ग सदस्य

१. श्री स्वामी व्रतानन्द जी महाराज, गुरुकुल चित्तौड़ (मेवाड़)।
२. स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, गुरुदत्त भवन लाहौर (पंजाब)।
३. श्री पंडित नारायणदत्त जी, आर्य-समाज, बिरला लाइन्स देहली।
४. पं० ज्ञानचन्द्र जी आर्य सेवक, बी० ए० सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा श्रद्धानन्द बलिदान भवन, देहली।
५. श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० चीफ जज (रिटायर्ड) टेहरी सी. पट. बाजार मेरठ (सं० प्रान्त)
६. श्री गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए० कला प्रेस प्रयाग, (सं० प्रान्त)
७. श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती, आर्यसमाज देहली शाहदरा (देहली)
८. श्रीमती विद्यावती जी विशारदा। १३ बारहखम्बा रोड, (नई देहली)।

न्याय विभाग सम्बन्धी उपसमिति

सभा ने इस वर्ष आर्यसमाज में न्याय विभाग बिल्कुल पृथक् बनाने का सिद्धान्त स्वीकार करके, विस्तृत योजना बनाने का कार्य निम्न महानुभावों के सुपुर्द किया है:—

(१) श्री महात्मा नारायण स्वामी जी।
(२) श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी।
(३) श्री रायबहादुर पं० गंगाप्रसाद जी रिटायर्ड चीफ जज।

सभा की १३ अक्तूबर सन् ४० की अन्तरङ्ग सभा की बैठक में उक्त समिति की रिपोर्ट प्रस्तुत होकर विस्तृत नियम बनाने का कार्य श्रीमान् जस्टिस जयलाल जी के सुपुर्द हुआ था। जस्टिस महोदय से नियमों का ड्राफ्ट प्राप्त हो चुका है और उन पर प्रांतीय सभाओं की सम्मतियां प्राप्त की जा रही हैं। निम्न सभाओं की सम्मतियां प्राप्त हो चुकी हैं:—

(१) संयुक्त प्रान्त
(२) बम्बई
(३) बंगाल
(४) बिहार

वर्धा शिक्षा विषयक उपसमिति

२७-१-४० की अन्तरंग सभा की बैठक में 'वर्धा शिक्षा प्रणाली' के आधीन जो पाठ्य पुस्तकें निर्मित हुई हैं उनका हिन्दी भाषा, संस्कृति और इतिहास पर जो प्रभाव पड़ सकता है उसके सम्बन्ध में क्रियात्मक आलोचना तैयार करने का कार्य निम्न महानुभावों की उपसमिति के आधीन हुआ था:—

(१) श्री मा० घनश्यामसिंह जी गुप्त
(२) ,, ला० देशबन्धु जी
(३) ,, प्रो० महेन्द्रप्रताप जी

(४) ,, पं० वेदव्रत जी

(५) ,, प्रो० सुधाकर जी (संयोजक)

इस सम्बन्ध में आवश्यक साहित्य प्राप्त करने का यत्न किया जा रहा है। श्री प्रधान घनश्यामसिंह जी जेल में इस योजना को तैयार करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

—०—

कुछ समस्यायें

१. गढ़वाल की डोला-पालकी समस्या

इस वर्ष गढ़वाल के आर्य भाइयों के सन्मुख एक सामाजिक समस्या उनकी बरातों में डोला-पालकी न चलने देने के सम्बन्ध में उपस्थित हुई। थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् ५ बरातें रोकी गईं।

गढ़वाल के आर्य भाइयों की सहायतार्थ सभा की ओर से पं० महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री, पं० ज्ञानचन्द जी बी० ए० और पं० शिवदयालु जी गये। सम्प्रति सभा की ओर से पं० अशोककुमार जी, पं० खुशहालसिंह जी और पं० गोपालसिंह जी वहां कार्य कर रहे हैं। इस समस्या का पूरा विवरण अन्यत्र दिया गया है।

२. पाकिस्तान योजना

'पाकिस्तान' अथवा भारत विभाजन की योजना देश के धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हितों के लिए घातक है, यह बात प्रायः सर्वसम्मत हो चुकी है। इस सभा ने अपने ३० मार्च सन् १९४१ के वार्षिक साधारण अधिवेशन में इस योजना का निम्न प्रस्ताव द्वारा विरोध किया:—

"पवित्र भारतभूमि को हिन्दू और मुस्लिम दो प्रदेशों में विभाजित करने का कतिपय क्षेत्रों से जो विचार उठा है उसे यह सभा बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखती है।

इस सभा की सम्मति में यह योजना अशुद्ध है और न केवल राजनीतिक उन्नति के लिए घातक है वरन् धार्मिक सांस्कृतिक और सामाजिक हितों के लिए भी हानिकारक है। मुस्लिम लीग के इस दावे का कि भारत के मुसलमान पृथक् राष्ट्र हैं और हिन्दुओं तथा अन्यों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह फल होगा कि भारत के प्रान्तों के विभाजन के असीम दावे पेश होंगे और देश की आबादी टुकड़ों में बंट जायगी। इस सब से निश्चय ही देश में अशान्ति फैलेगी और अन्त में गृह-युद्ध छिड़ जायगा। अतः सभी समझदार व्यक्तियों और उत्तरदायित्व पूर्ण संस्थाओं का—भले ही वे राजनीतिक हों या अन्य कोई हों—कर्त्तव्य है कि वे इस योजना का पूर्णतया विरोध करें।

पिछले अनुभव से सिद्ध है कि मजहब के आधार पर बनी हुई मुस्लिमलीग जैसी सरकारों के आधीन दूसरों का धर्म, संस्कृति और समाज व्यवस्था सुरक्षित नहीं रह सकती। अतः सार्वदेशिक सभा यह अनुभव करती है कि आर्यसमाज तथा अन्य

संस्थाएँ भले ही वे राजनीतिक हों या धार्मिक, भारतवर्ष को हिन्दू और मुस्लिम विभागों में बाँटे जाने के इस प्रकार के सब प्रयत्नों का विरोध करने के लिए बाधित होंगी।"

३. आर्यसमाज व राजनीति

दुर्भाग्य से देश में अन्धी साम्प्रदायिकता ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया है जैसा कि कतिपय साम्प्रदायिक संस्थाओं और उनके नेताओं की प्रगतियों और वक्तव्यों से ज़ाहिर है कि सर्व साधारण हिन्दू अपने को, अपने धर्म और संस्कृति को खतरे में अनुभव करने लग गया है। हिन्दू धर्म और संस्कृति की रक्षा करना आर्यसमाज का एक विशिष्ट कर्तव्य है। अतः इस सभा की २८-१-४० की अन्तरङ्ग सभा ने समस्त स्थिति पर विचार करके, आवश्यक योजना बनाने का कार्य निम्न महानुभावों की एक उप-समिति के आधीन किया था:—

(१) श्री कृष्ण जी (संयोजक)
(२) श्री मदनमोहन जी सेठ
(३) श्री ला० देशबन्धु
(४) श्री पं० वेदव्रत
(५) श्री बा० पूर्णचन्द्र

आर्य वीर दल

सभा ने आर्य वीर दल के संगठन का कार्य निम्न महानुभावों की एक उपसमिति के आधीन किया हुआ है:—

(१) श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज।
(२) श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी।
(३ श्री लाला देशबन्धु जी।

इस वर्ष इस कार्य को बढ़ाने और उन्नत करने का यत्न किया गया। डोरली और देहली में दो शिक्षक केन्द्र खोले गये। जिनमें से ५० शिक्षक तय्यार होकर निकले। इस कार्य पर इस वर्ष ३३०६॥≥)॥ व्यय हुआ। भारत के प्रत्येक प्रान्त में आर्य वीरदल के आन्दोलन को जीवित जाग्रत करने के उपाय हो रहे हैं। हरियाना प्रान्त में भारी संख्या में भरती की गई है। कुल सैनिकों की संख्या जिनकी विभिन्न प्रान्तों में भरती की गई १६३२ है।

आर्य वीर दल के कार्य में श्री पं० शिवदयालु जी तथा श्री सूबेदार टेकचन्द जी ने सभा को प्रशंसनीय योग दिया है।

श्री पं० ज्ञानचन्द जी तथा श्री पं० शिवदयालु ने बिहार, यू० पी०, बम्बई, हैदराबाद तथा राजस्थान आदि प्रान्तों का इस कार्य के निमित्त सफल दौरा किया।

आर्य वीर दल की सूची

पंजाब

जिला हिसार १.सिरसा आर्य वीर संख्या **५०है**।
रि० जींद १.मुसलाना आर्यवीर संख्या **१५ है**।
रि० पटियाला १. नरवाना ,, ,, २० है।
,, २. नारनौल ,, ,, १५ है।

जिला	स्थान	आ० वीर सं०
मुजफ्फरगढ़	१. झुग्गीवाला	१५
	२. कोटअट्टू	१२
	३. अलीपुर	३०
करनाल	१. करनाल	२०
कांगड़ा	१. नूरपुर	४८
,,	२. मण्डी नगर	१२०
होशियारपुर	१ शामचौरासी	५०
,,	२. दसूहा	१५
जालन्धर	१. फिल्लौर	२३
संयुक्त प्रान्त		
मुरादाबाद	१. चन्दौसी	१०
सहारनपुर	१. खेड़ाअफ़गन	६
देहरादून	१. देहरादून	१५०
बिजनौर	१. न्हटौर	२०
मैनपुरी	१. जसराणा	१५०
,,	२. कुसमरा	१४
गढ़वाल	१. पौड़ी	१०६
झांसी	१. नगरा	३३
,,	२. मऊसामीपुर	१८
खीरी	१. मुहम्मदी	४४
राजस्थान		
उदयपुर	१. छोटी सादड़ी	३५
जयपुर	१. टमकौर (बिसाऊ)	१०
,,	२. मण्डावा	४६
भरतपुर	१. भरतपुर	११
ग्वालियर	१. मनावर	१२
	२. ग्वालियर सिटी	७२
सिरोही	१. आबूरोड	२३

जिला	स्थान	आ० वीर सं०
इन्दौर	१. गौतमपुरा	७
भूपाल	१. सीहोर	२४
बिहार		
आरा	१. आरा	३५
मुजफ्फरपुर	१. वैरगिनिया	२५
भागलपुर	१. भागलपुर	१७
मुंगेर	१. बारो (बरौनी जंकशन)	६
पलामू	१. गठवा	२०
दरभङ्गा	१. जयनगर	२३
मध्यप्रान्त		
आमला	१. बैतूलबाज़ार	११
सागर	१. रहेली	३०
बंगाल तथा आसाम		
कलकत्ता	१. मल्लिक बाज़ार	१२
२४ परगना	१. कांचरा पाडा	१५
मैमनसिंह	१. मेलका बाज़ार	५०६

जिसमें २४५ देवियाँ हैं।

गृहविहीन जाति रक्षा मंडल

पूर्व इतिहास

३ जुलाई सन् १९३९ ई० को श्री बा० श्यामलाल जी मन्त्री आर्यसमाज शहर मेरठ ने अपने आर्य मित्रों तथा वैदिक-धर्म प्रचार सभा मेरठ के अधिकारियों की सम्मति से कंजर (ठया) जाति के गृह विहीनों के सुधार कार्य के लिए पं० रघुवीरदत्त जी को प्रेरित किया और ३००) रु० वैदिक धर्म जिला प्रचार सभा मेरठ के कोष से ऋण रूप सहायतार्थ दिये।

८१९।।।-)।। दान द्वारा प्राप्त करके और १२८६।)।। अन्य कई सज्जनों से ऋण लेकर अर्थात् कुल २४०६=) की राशि से कार्य आरम्भ हुआ। ११८ कंजर परिवारों को मुसलमान कसाइयों के २५) प्रतिशत मासिक ब्याज वाले ऋण को चुकवा कर सब परिवारो को एकत्रित करके लिहसाड़ी गेट मेरठ में एक भूमि नौ रुपये मासिक किराये पर लेकर इनकी एक बस्ती बसाई गई। सुधार के लिए एक स्कूल व व्यायामशाला स्थापित की। स्कूल में दिन के समय बच्चों को तथा रात्रि में बड़ों को धार्मिक शिक्षा और लाठी आदि चलाने का कार्य सिखाया जाने लगा। पानी के लिए एक हाथ कूप और प्रार्थना करने के लिये एक छप्पर डलवा दिया गया। यह सब लोग सिरकियों में ही रखे गये। लगभग नौ मास और १० दिन इस आश्रम की देख-रेख तथा सब लोगों के खान-पान के लिए व्यवस्था आदि का प्रबन्ध एक समिति द्वारा होता रहा। समिति ने सब सहायकों की सम्मति से यह कार्य अप्रैल १९४० से सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली के सुपुर्द कर दिया। इस समय इस समिति पर १०६६।)।।। ऋण था। शेष ५२०)। कंजरों से वापिस आने पर ऋण चुकाया जा चुका था।

नाम परिवर्तन

श्रीमती सार्वदेशिक सभा ने कंजर सहायक निधि मेरठ के स्थान पर 'गृह विहीन जाति रक्षा मण्डल' नाम रखा और भारतवर्ष भर की खानाबदोश जाति में कार्य करना अपना लक्ष्य बनाया। इसके अध्यक्ष पं० रघुवीरदत्त जी नियत हुए।

लगभग १० मास में निम्न लिखित कार्य हुआ:—

शाखाओं की स्थापना

१. सहारनपुर—श्री पं० शीतलप्रसाद जी विद्यार्थी, शान्ति प्रिंटिंग प्रेस सहारनपुर, अधिष्ठाता।

२. मुजफ्फरनगर—श्री ला० मीरीमल जी, नई मण्डी मुजफ्फरनगर, अधिष्ठाता।

३. मेरठ—प्र० बा० कालीचरण जी लालकूरती मेरठ। मन्त्री बा० ब्रह्मस्वरूप जी एम० ए० वकील मेरठ।

४. मवाना—ला० हरस्वरूप जी रईस मवाना अधिष्ठाता।

५. कायमगंज—ठा० राधाकृष्ण जी, एग्रीकलचर डि० कायमगंज जि०फर्रुखाबाद, अधिष्ठाता।

६. फर्रुखाबाद—श्री पं० कृष्णदत्त जी चतुर्वेदी, मंत्री आर्यसमाज फर्रुखाबाद, अधिष्ठाता।

७. मैनपुरी—श्री बा० वीरेन्द्रकुमार जी, भारती, अधिष्ठाता।

८. शिकोहाबाद—श्री पं० रामलाल जी शर्मा, अधिष्ठाता।

९. कम्पिल—श्री ला० किशनचन्द जी रईस कम्पिल, जि० फरूखाबाद, अधिष्ठाता।

१०. कैराना—श्री बा. दातारामजी, मन्त्री आर्यसमाज कैराना मुजफ्फरनगर, अधिष्ठाता।

११. सर्धना—चौ० सुनहरासिंह जी सर्धना जि० मेरठ, अधिष्ठाता।

१२. थानाभवन—ला० गोर्धनदास जी थाना भवन जि० मुजफ्फरनगर अधिष्ठाता।

१३. तीतरों—ला० धर्ममित्र जी रईस तीतरों जि० सहारनपुर, अधिष्ठाता।

१४. अगवानपुर—श्री पं० रामस्वरूप जी वैद्य अगवानपुर जि० मेरठ, अधिष्ठाता।

मेरठ, मैनपुरी, सहारनपुर, कायमगंज, मुजफ्फरनगर, मवाना और फरूखाबाद का कार्य विशेष सराहनीय रहा।

प्रचार कार्य

इस मण्डल की ओर से अप्रैल से दिसम्बर १९४० तक २३ गृह विहीन जातियों में आर्य संस्कृति और आर्य धर्म का प्रचार, संस्कार, पंचायत और संगठन के लिए भ्रमण किया गया। इसके अतिरिक्त इन जातियों के गोत्र. वंश, व्यवसाय आदि का इतिहास का भी संग्रह किया गया है। प्रत्येक जाति के रस्म व रिवाज, भाषा, भेष, भूषण और व्यवहार आदि का भी अध्ययन किया गया है। इस प्रकार १४१ स्थानों में बसी २३ जातियों के १७६३ परिवारों के सम्पर्क में आकर ११५ संस्कार और १३२ पंचायतें एकत्र की गईं।

सम्मेलन

(१) जिला सहारनपुर में श्री पं० शीतल प्रसाद जी विद्यार्थी अधिष्ठाता शाखा सहारनपुर के उद्योग से साहसी जाति के लोगों का १७ नवम्बर १९४० को ग्राम मखदूमपुर परगना मंगलौर में साहसी राजपूत सम्मेलन बड़े समारोह से हुआ। इस जाति के लोगो को उत्साहित करने के लिए साहसी राजपूत भजनावली शान्ति प्रिंटिङ्ग प्रेस सहारनपुर में प्रकाशित करके बाटी गई। म० राजाराम जी वर्मा साहसी राजपूत सहारनपुर के भजन और इतिहास सब जनता ने पसन्द किया। जरायम पेशे से बचाने के लिए जातीय पंचायत की स्थापना की गई।

(२) जिला मैनपुरी में श्री वीरेन्द्रकुमार जी भारती अधिष्ठाता शाखा मैनपुरी के उद्योग से आर्य समाज मैनपुरी में १ व २ फरवरी १९४१ को गृह विहीन जतीय सम्मेलन बड़े समारोह से मनाया गया। श्री बाबू पूर्णचन्द्र जी एडवोकेट आगरा के सभापतित्व में सब कार्य सम्पन्न हुआ। गृह विहीन जातियों की ४ पाठशालाओं के बच्चों ने अपने खेल दिखाये और अनेक प्रस्ताव पास किये गये, यह सम्मेलन अपने ढंग का निराला ही था।

मण्डल के अवैतनिक उत्साही प्रचार कार्य कर्ता

१. श्री पं० गोकुलचन्दजी बिजनौर यू. पी.।
२. श्री ठा. दुनियासिंहजी आ. स. मैनपुरी।
३. श्री बा० राधाकृष्ण जी इन्सपेक्टर ऐग्री कलचर डि० कायमगंज।
४. श्री पं० शीतलप्रशाद जी शान्ति प्रिण्टिङ्ग प्रेस सहारनपुर।
५. श्री पं० रामस्वरूप जी वैद्य अगवानपुर मेरठ।
६ श्री पं० रामदत्तजी शान्त चंदौडी पोस्ट लावड़, मेरठ।
७. श्री पं० रामचन्द्रजी शर्मा ब्रह्मपुरी मेरठ।
८. श्री पं० परमानन्द जी।
६ श्री पं० आचार्य श्यामजी पाराशर एम.ए.
१०. श्री बा. ब्रह्मस्वरूप जी एम. ए. वकील मेरठ।
११. श्री बा. श्यामलाल जी रामनगर मेरठ।
१२. श्री बा. जयदेवसिंहजी एडवोकेट मेरठ।
१३. श्री बा. कालीचरणजी लालकुर्ती मेरठ।
१४. श्री बा. गोविन्दसिंहजी कचहरीरोड मेरठ
१५. श्री बा. जयप्रकाशजी शर्मा हरिनगर मेरठ
१६. श्री ला. रेवतीप्रसादजी जैन ब्रह्मपुरी मेरठ
१७. श्री ला. बृजनाथ राजन कैसरगंज मेरठ।
१८. श्री ला. मुरारीलालजी वकील मेरठ।
१६. श्री ला. हरप्रसाद जी लावड़ मेरठ।
२०. श्री ला. सकटूमल जी वहसूमा मेरठ।

कार्यालय

इस वर्ष कार्यालय में १३२२३ पत्र आए तथा ४०६५१ पत्र गए। २० विज्ञप्तियां प्रकाशित हुई। सभा में इस वर्ष ४ लेखक और २ चपरासी कार्य करते रहे। पं० ज्ञानचन्द जी कार्यालय मन्त्री का कार्य भी करते रहे। मुख्य लेखक श्री रघुनाथप्रसाद पाठक रहे और पं० प्रेमचन्द जी, म० निरंजनलाल जी व म० लक्ष्मणकुमार जी लेखक का कार्य करते रहे।

१

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब

स्थापना

सन् १८८५ ई० में हुई।

कार्यालय

गुरुदत्त भवन लाहौर में है।

इस सभा के आधीन लगभग ७०० के करीब आर्यसमाज हैं। इनमें से ५०० अच्छी अवस्था में हैं। इनमें २०६ आर्य-समाजों के ३५१ प्रतिनिधि इस वर्ष सभा में सम्मिलित रहे।

अधिकारी

प्रधान—रा० ब० दीवान बद्रीदास जी, उप-प्रधान—सर्वश्री पं० विश्वम्भरनाथ जी, रा० सा० अमृतराय जी, और म० कृष्ण जी। मन्त्री—मा० गुरुदित्ताराम जी वान-प्रस्थी। पुस्तकाध्यक्ष—ला० आनन्दशील जी। कोषाध्यक्ष—ला० नोतनदास जी।

अन्तरङ्ग सभा

अन्तरङ्ग सभा के २२ सदस्य रहे। वर्ष भर में ६ बैठकें हुईं।

आर्य विद्या सभा

आर्य विद्या सभा की ७ बैठकें हुईं। इस सभा के आधीन सभा के गुरुकुल, गुरुकुल कांगड़ी, कन्या गुरुकुल देहरादून आदि संस्थायें हैं।

पंजाब शिक्षा समिति

इस समिति के साथ १० हाई स्कूल, ४२ मिडिल स्कूल, ४८ प्राइमरी स्कूल तथा ६ अन्य संस्थायें सम्बद्ध हैं। इसके प्रधान ला० शिवदयालु जी और मन्त्री ला० मूल-राज जी हैं। पं० जयदेव जी विद्यालंकार निरीक्षक ने इस वर्ष ८० पाठशालाओं का निरीक्षण किया।

उपदेशक

८६ के लगभग वैतनिक उपदेशक व भजनीक रहे। एवं ५ सज्जन अवैतनिक प्रचार-कार्य करते रहे।

दयानन्द सेवा सदन

इस वर्ष इसके तीन सदस्य रहे, (१) पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार, मुख्या-धिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी। (२) डा० राधाकृष्ण जी एम० बी० बी० एस० और (३) पं० ज्ञानचन्द जी बी० ए०, उप-मन्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा।

सम्पत्ति

सभा का वर्तमान कोष २५ लाख के

लगभग है, जिसमें से १६ लाख गुरुकुल निधि और ६ लाख वेद-प्रचार निधि का है।

विविध समिति और संस्थायें

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी

इस वर्ष इसके मुख्याधिष्ठाता पं० सत्यव्रत जी विद्यालङ्कार रहे।

कन्या गुरुकुल देहरादून

कन्या गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता ८-१२-६६ तक आचार्य रामदेव जी रहे। उनका स्वर्गवास हो जाने पर श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी सभा उप-प्रधान कन्या गुरुकुल के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

इन दोनों संस्थाओं का विस्तृत विवरण शिक्षा संस्थाओं के प्रकरण में दिया गया है।

वेद-प्रचार समिति—

(१) म० कृष्ण जी (प्रधान)
(२) ला० सन्तलाल जी (अधिष्ठाता)
(३) ला० नन्दलाल जी
(४) श्रीमान् निरंजननाथ जी
(५) पं० भीमसेन जी मन्त्री

वेद-प्रचार की आय ३३०४१≋)

वेद-प्रचार की सब निधियों की आय ४०७६६।-)॥

वेद-प्रचार विभाग का व्यय ३६४२६≋)

वेद-प्रचार कार्यालय में—

दो लेखक काम करते हैं वर्ष में १००२७ पत्र बाहर भेजे गये।

१८ मण्डल बनाकर काम किया गया।

वार्षिकोत्सव २१३ हुए।

उपदेशकों ने ३००० (तीन हजार) संस्कार कराये।

वैतनिक उपदेशक— ४१

,, भजनोपदेशक— २७

अवैतनिक उपदेशक तथा संन्यासी महात्मा— ५०

नई आर्यसमाजें बनीं— १४

पंजाब वैदिक पुस्तकालय—

संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

स्थायी सदस्य— ३६

साधारण सदस्य वर्षारम्भ में— ३१

वर्ष के अन्त पर— २७

पुस्तकों की संख्या वर्षारम्भ में— १६०६१

वर्षान्त पर— १६४८३

पढ़ने वालों ने वर्ष में पुस्तकें देखीं— १०७४२

वाचनालय में ६ दैनिक १६ साप्ताहिक, १८ मासिक, ४ त्रैमासिक और एक चौमासिक पत्र आते हैं।

पुस्तकाध्यक्ष—ला० अर्जुनदेव जी हैं।

आर्य्य-विश्रामशाला—

सं. १९९६ में ६०० व्यक्तियों ने विश्राम करने का लाभ उठाया।

श्री चमूपति-साहित्य-विभाग—

इस वर्ष ऋभु देवता नामक ग्रन्थ

प्रकाशित किया गया। इसके अतिरिक्त "वैदिक रथ" और "महिष"देवता ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वैदिक कोष का तीसरा भाग छप गया है। एक और कोष भी तैयार कराया जा रहा है। इस वर्ष स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज का लिखा "निरुक्त का मूल वेद में" छपवाया गया और निम्न ट्रैक्ट भी छपवाये गये:—

(१) बानर और राक्षस मनुष्य थे !

(२) Cow Protection

(३) ऋषि दयानन्द के उपकार

(४) वैदिक धर्म की इम्तियाज़ी खसूसियत (उर्दू)

(५) आर्य्यसमाज (उर्दू)

इस विभाग के अधिष्ठाता स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी रहे।

मुख्य कार्यालय में—

निम्न कर्मचारी काम करते रहे:—

मुख्य लेखक	१
गणक	४
लेखक	३
दायाद्य निरीक्षक	१

कार्यालय में प्राप्त पत्रों की संख्या ४५६५ और

भेजे गये पत्रों की संख्या २३४६१ है।

दयानन्द उपदेशक विद्यालय—

अधिष्ठाता—म० कृष्ण जी और
आचार्य—पं० प्रियव्रत जी रहे।

३५ विद्यार्थी शिक्षा पाते रहे।

आर्य विद्यार्थी आश्रम—

अधिष्ठाता—श्री प्रो० शिवदयालु जी एम० ए०।

अध्यक्ष—पं० विश्वनाथ जी एम०ए० शास्त्री रहे।

आश्रमवासियों की औसत संख्या ६० के लगभग रही।

श्री दीवानचंद स्मारक सैदपुर संस्थायें—

स्वर्गीय ला० दीवानचंद जी ठेकेदार देहली के दान से ३ वर्षों से सैदपुर में औषधालय, पाठशाला तथा जंजघर चल रहे हैं। डा० भद्रसेन जी वहां के अध्यक्ष हैं। बाह्य रोगियों की संख्या २११३० रही। प्रतिदिन की कुल हाजरी की औसत ७० और नये बीमारों की औसत ३६ रोजाना रही। इस वर्ष ४३३ आपरेशन किये गये। चिकित्सालय में प्रविष्ट होकर इस वर्ष ६५ रोगियों ने विशेष लाभ उठाया।

दयानन्द दलितोद्धार सभा—

प्रधान ला० रोशनलाल जी, मन्त्री पं० यशपाल जी सिद्धान्तालङ्कार, कोषाध्यक्ष ला० गुरुदित्तामल जी थे। १६ प्रचारक भिन्न भिन्न स्थानों में दलितों में प्रचार करते रहे। अछूतों के बच्चों को पढ़ाने के लिये ७ पाठशालाएँ खुली हैं, जिनमें २६० बालक पढ़ते हैं। गुरुदत्त भवन में दर्ज़ी-श्रेणी खुली हैं जिसमें २५ दलित बालक सीना पिरोना सीखते हैं।

गुरुकुल बेट सोहनी

अधिष्ठाता सभा-मंत्री और आचार्य स्वामी रुद्रानन्द जी रहे।

इस विद्यालय में केवल ५) मासिक शुल्क लिया जाता है। गत वर्ष २३ विद्यार्थी पढ़ते रहे।

गुरुकुल के प्रबन्ध के साथ २ स्वामी रुद्रानन्द जी चन्दूलाल इस्टेट का भी प्रबन्ध करते हैं।

दयानन्द मथुरादास कालेज मोगा

गत वर्ष कालेज में १५ अध्यापक एक डिमांस्ट्रेटर, दो लिब्रोरिटरी असिस्टैण्ट और एक क्लर्क कार्य करते रहे।

विद्यार्थियों की संख्या श्रेणीवार निम्न प्रकार रही—

नवम श्रेणी ७७,

दशम श्रेणी ५८,

फर्स्ट ईयर ११३,

और सेकण्ड ईयर ६०।

एफ़० ए० की परीक्षा में आठ विद्यार्थी प्रथम डिवीज़न में पास हुए। दशम श्रेणी में ५६ विद्यार्थी परीक्षा में बैठे—४६ उत्तीर्ण हुए और इनमें १७ विद्यार्थी प्रथम डिवीजन में पास हुए।

अधिष्ठाता श्री प्रो० शिवदयाल जी और आचार्य श्री राजेन्द्रकृष्णकुमार जी रहे।

डी. ए. वी. हाई स्कूल मिन्टगुमरी

६१४ विद्यार्थी शिक्षा पाते रहे।

१६३६ की मैट्रिक की परीक्षा में ६० विद्यार्थियों ने भाग लिया, जिसमें ५७ उत्तीर्ण हुए और इनमें २७ प्रथम विभाग डिवीज़न और २६ विद्यार्थी द्वितीय विभाग में पास हुए और यूनिवर्सिटी के ४ इनाम प्राप्त किये। वरनाकूलर फ़ाइनल में ६ विद्यार्थी भेजे गये जो सब के सब उत्तीर्ण हुए। पुस्तकालय में ४१५७ पुस्तकें हैं। भवन अपना है। स्कूल विभाग में १६ अध्यापक वर्ग कार्य करते हैं।

अधिष्ठाता ला० अर्जुनदेव जी और मुख्य अध्यापक ला० लालचन्द जी हैं।

न्याय सभा

सभा द्वारा समाजों के झगड़े निपटाने के लिये न्याय सभा स्थापित है, जिसमें निम्न सदस्य हैं—

१. श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज २. श्री मास्टर गुरदित्ताराम जी ३. लाला सन्तलाल जी ४. पं० विश्वम्भरनाथ जी ५. श्रीमान् निरञ्जननाथ जी ६. ला० नंदलाल जी ७. रा. सा. अमृतराम जी ८. श्री पंडित भीमसेन जी ६. श्री मास्टर रामलाल जी।

शोक समाचार

इस वर्ष निम्न सज्जन हम से जुदा हो गये—

(१) ला० भगवानदास जी लाहौर छावनी
(२) ला. रामकृष्णजी भूतपूर्व प्रधान सभा
(३) डा० धर्मवीर जी
(४) ब्र० देशराजजी सुपुत्र ला० दौलत-रामजी

(५) ला० राधाकृष्णजी मिंटगुमरी
(६) आचार्य रामदेव जी
(७) रायबहादुर श्री ला० बेलीराम जी।

२

आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त

स्थापना तिथि

इस सभा की स्थापना २६ दिसम्बर १८८६ ई० में हुई।

मुख्य कार्यालय

इस सभा का कार्यालय नारायण स्वामी भवन, ५ हिल्टन रोड लखनऊ (यू० पी०) में है।

इस वर्ष सभा से सम्बद्ध ५८० समाजों से ४२० प्रतिनिधि सभा में सम्मिलित हुए। इनमें से ३१६ साधारण अधिवेशन में उपस्थित रहे। इस वर्ष २२५ समाजों के उत्सव मनाये गये।

अधिकारी

प्रधान—

१. राय साहिब बा० मदनमोहन जी सेट, एम० ए० एल० एल० बी० रिटायर्ड जज बुलन्द शहर (यू० पी०)।

उपप्रधान—

१. श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी, कन्या गुरुकुल हाथरस, पोस्ट मासनी, जिला अलीगढ़ (यू. पी.)।

२. श्री रतनलाल जी बी. ए. एल. एल. बी. डी. एल. आर. लखनऊ (यू. पी.)।

३. श्री लक्ष्मीदत्त जी (डाक्टर) नामनेर आगरा (यू. पी.)।

४. श्री प्रो० महेन्द्र प्रताप जी शास्त्री, ए. ए. डी. ए. बी. कालेज देहरादून (यू. पी.)

५. श्री सेठ रामगोपाल जी आर्य, मऊ-नाथ भंजन ज़िला आजमगढ़ (यू. पी.)।

६. श्री पंडित गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम. ए. एल. टी. कलाप्रेस, प्रयाग (यू. पी.)

मन्त्री

१. श्री कालीचरण जी, लालकुर्ती, मेरठ (यू. पी.)।

उपमन्त्री

१. श्री पंडित रामदत्त जी शुक्ल एम. ए. एल. एल. बी. लखनऊ (यू. पी.)।

२. श्री जयदेवसिंह जी बी. ए. एल. एल. बी. एडवोकेट, मेरठ।

३. श्री करणसिंह जी छोंकर, डेम्पियर नगर, मथुरा (यू. पी.)।

४. श्री पंडित हरिदत्त जी चतुर्वेदी, आर्य समाज सिकन्दरपुर जिला बलिया (यू. पी.)।

५. श्री पंडित हरिदत्त जी शास्त्री, वैद्य, आर्य समाज गंज मुरादाबाद (यू. पी.)।

६. श्री नाहरसिंह जी ज़मीदार ग्राम

सांदलपुर पो० शाहपुर मड़राक जिला अलीगढ़ (यू. पी.)।

कोषाध्यक्ष

श्री जगन्नाथ प्रसाद जी टंडन, रिटायर्ड मैनेजर, इलाहाबाद बैंक, लखनऊ (यू. पी.)।

सहायक कोषाध्यक्ष

श्री पं० रामचन्द्र जी तिवारी, गणेशगंज लखनऊ (यू. पी.)।

पुस्तकाध्यक्ष

श्री रामेश्वरदयाल जी अध्यापक, गुरुकुल वृन्दावन ज़िला मथुरा (यू. पी.)।

अन्तरङ्ग सदस्य

(१) श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० रिटायर्ड चीफ जज सीपट बाजार मेरठ (यू० पी०)

(२) ,, पं० रामबिहारी जी तिवारी, गणेशगंज लखनऊ (यू० पी०)

(३) ,, राजगुरु पं धुरेन्द्र जी शास्त्री न्यायभूषण, लखनऊ (यू० पी०)

(४) ,, बा० पूर्णचन्द जी बी० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट आगरा (यू० पी०)

(५) ,, पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार आर्यसमाज देहरादून (यू० पी०)

(६) ,, साहू शिवचन्द्र जी, रईस व बैंकर व जमींदार, सराय तरीन मुरादाबाद (यू० पी०)

(७) श्री रामकिशोर जी एम० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट हरदोई (यू० पी०)

(८) ,, मथुराप्रसाद जी प्रधान आर्यसमाज, बहराइच (यू० पी०)

(९) ,, कृष्णदेव प्रसाद जी गौड़ एम० ए० एल० टी० डी० ए० बी० कालेज बनारस (यू० पी०)

(१०) ,, शान्ति प्रसाद जी, आर्यसमाज सीपरी बाजार झाँसी (यू० पी०)

(११) ,, विद्याधर जी चतुर्वेदी, बी० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट फरुखाबाद (यू० पी०)

(१२) ,, गजाधर प्रसाद जी, रिटायर्ड आडीटर, अल्मोड़ा (यू० पी०)

(१३) ,, म० श्रीराम जी पेंशनर, माईथान आगरा (यू० पी०)

(१४) ,, अक्षवरनाथ जी, आर्यसमाज, आजमगढ़ (यू० पी०)

(१५) ,, रामप्रसाद जी आर्य, जमींदार आर्यसमाज मेंडू, जिला अलीगढ़ (यू० पी०)

(१६) ,, फुलनसिंह जी बी० ए० एल० एल० बी० अध्यक्ष आर्यसमाज शिकोहाबाद, जिला मैनपुरी (यू० पी०)

(१७) ,, आचार्य बृहस्पति जी शास्त्री, वेद शिरोमणि, वैद्य मुजफ्फरनगर (यू० पी०)

(१८) ,, रायसाहिब मोतीलाल जी बी० ए० ऐल० ऐल० बी० प्लीडर, सदर बाजार मेरठ, (यू० पी०)

(१६) ,, कृष्णानन्द जी एम० ए० बी० टी० प्रोफेसर, डी० ए० वी० कालेज बनारस (यू० पी०)

(२०) श्रीमती हीरादेवी जी, दुर्गाभवन सदर, मेरठ (यू० पी०)

(२१) श्री प्रभुदयाल जी आर्य, आर्जसमाज गाजीपुर (यू० पी०)

(२२) ,, होतीलाल जी ओवरसीयर, देवरिया, जिला गोरखपुर (यू० पी०)

(२३) ,, धर्मपाल जी विद्यालंकार, जमींदार, आर्यसमाज, बदायूं (यू० पी०)

(२४) ,, विश्वम्भरनाथ जी तिवारी, आनन्द बाग कानपुर (यू० पी०)

(२५) ,, रामचन्द्र जी मित्तल, बी० ए० ठेकेदार, सदर, मेरठ (यू० पी०)

सम्पत्ति

सभा के अधीन लगभग ३॥ लाख की चल और अचल सम्पत्ति है।

उपदेशक

१० उपदेशक तथा ६ भजनीक वैतनिक एवं ४६ सज्जन अवैतनिक प्रचार का कार्य करते हैं।

आधीन संस्थाएं

१. गुरुकुल-वृन्दावन—

गुरुकुल वृन्दावन में इस समय ६१ ब्रह्मचारी शिक्षा पा रहे हैं। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता श्रीयुत बाबू कर्णसिंह जी छोंकर हैं। उनकी अनुपस्थिति में पं० रामेश्वरदयालु जी सिद्धान्त शिरोमणि कुल की देख रेख का कार्य करते हैं। गुरुकुल का विस्तृत विवरण पृथक् देखिये।

२. आर्यनगर बस्ती लखनऊ—

आर्य नगर बस्ती लखनऊ के अधिष्ठाता श्रीयुत पं० रासबिहारी जी तिवारी हैं। इसमें आजकल ३३५ स्त्री-पुरुष और बच्चे हैं। गत वर्ष से ये लोग सम्मिलित कृषि करने लगे हैं। इन्हें मुफ्त जमीन मिली हुई है। सरकार ने इस वर्ष नहर का महसूल भी माफ कर दिया है। भूमि को सुधारने और उपजाऊ बनाने के लिये गवर्नमेंट ने २२०००) दिये हैं। इससे १० जोड़ी अच्छे बैल खरीदे गये हैं। गवर्नमेंट ने एक एग्रीकलचर इन्सपेक्टर तथा ३ कामदार इस कार्य के निरीक्षण के लिए अपनी ओर से नियुक्त कर दिये हैं। कृषि के अतिरिक्त कपड़ा बुनने का कारखाना है जहां ये लोग कपड़ा बुनते हैं।

शिक्षा—

आर्यनगर निवासियों के बच्चों की शिक्षा के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड लखनऊ ने अपनी ओर से एक प्राइमरी स्कूल स्थापित किया है जिसमें ७० विद्यार्थी हैं। इसका

कुल व्यय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड लखनऊ देता है।

औषधालय—

नगर में एक औषधालय स्थापित है। इसमें एक डाक्टर और एक कम्पाउण्डर कार्य करते हैं।

अन्य सम्बद्ध संस्थायें

सभा के अधीनस्थ इन संस्थाओं के अतिरिक्त निम्न लिखित संस्थाओं का सम्बन्ध आर्य जगत् से है।

१. गुरुकुल—

ज्वालापुर, सिकन्दराबाद, विरालसी, डोरली, आर्योला, बदायूं, अयोध्या, गोरखपुर, देवरिया, हापुड़, मेरठ।

२. कन्या गुरुकुल—

हाथरस, हरिद्वार।

३. दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज—

कानपुर, देहरादून, बनारस (इण्टर मीडिएट)।

४. दयानन्द ऐंग्लो वैदिक हाई स्कूल—

इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, अलीगढ़, बड़ौत, बरेली, बुलन्दशहर, अनूपशहर, मुजफ्फरनगर, गाजीपुर, उरई।

५. आर्य ऐंग्लो वैदिक स्कूल—

आजमगढ़, उझियानी, सहसवान, महोबा, सिकन्दरपुर, फैजाबाद, झांसी, बांदा, रुड़की, फरुखाबाद।

६. कन्या पाठशालाएं—

देहरादून, मंसूरी, सहारनपुर, तीतरों, रुड़की, भगवानपुर, नगला-खतौली, मेरठ लालकुर्ती, मेरठ सदर, मेरठ शहर, मवाना कलां, गाजियाबाद, फलावदा, सरधना, मुरादनगर, दूधली, मुजफ्फरनगर, खुर्जा, अनूपशहर, मथुरा, भूड़बरेली, मैनपुरी, बढ़ापुर, नजीबाबाद, चांदपुर, भोजपुर, नगीना, मुहम्मदपुर, देवमल, गजरौला, फरुखाबाद, धामपुर, बदायूं, बिसौली, इस्लामनगर, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, बिन्दकी, इटावा, रानीमण्डी-प्रयाग, सीपरी बाजार झांसी, हमीरपुर, बनारस, मिर्जापुर, गाजीपुर हलद्वानी, रामनगर, लखनऊ, समेसी, टाँडा, हरदोई, लखीमपुर बहराइच, मुरादाबाद, अमरोहा, बान्दा, नवाबगंज, महाराजपुर, कोटा, चूहड़पुर, झांसी।

अन्य पाठशालाएँ

बिजनौर, चरथावल, मुजफ्फरनगर, मुस्करा, बारहबंकी, उरावर, हल्दौर, सोनखेड़ा, पिपलापुरी, पूरनपुर, सीतापुर, ठाकुरद्वारा, तिलहर, मऊनाथ भंजन, फैजाबाद, कालाकांकर, अमैठी, लालकुर्ती मेरठ, दलित रात्रि पाठशाला, फतेहपुर, अछूत पाठशाला आजमगढ़, जौनपुर, मेरठ छावनी, मुगलसराय।

संस्कृत पाठशालाएँ—

मेहदावल, नरदौली, भूड़बरेली, दाता-

गंज, मूसानगर, रूद्रपुर, किरठल, बनारस, वासपत।

अनाथालय—

आगरा, बरेली, लखनऊ, गंज मुरादाबाद, शाहजहांपुर, आजमगढ़, अलमोड़ा, सीतापुर, कालाकांकर, मिरजापुर पड़रौना, कोटद्वार, देहरादून।

विधवाश्रम—

आगरा. बरेली शाहजहांपुर, बनारस, प्रयाग, आजमगढ़, बलिया।

औषधालय—

धनौरा, जौनपुर, बिल्हौर, कटरा प्रयाग, लखनऊ, बरमपुर, दयानन्द परोपकारी औषधालय समेसी, सिमौर, मोहनलाल औषधालय टिटौटा-वीरगांव (बुलन्दशहर)।

व्यायाम-शाला—

सिटी लखनऊ, फतेहपुर, गणेशगंज लखनऊ।

दस्तकारी संस्थाएं—

आर्यसमाज टेलरिंग स्कूल लखनऊ, खुर्जा डी० सी० इन्डस्ट्रीयल स्कूल।

आर्यसेवक मण्डल—

आगरा।

वेद-प्रचार, शुद्धि, दलितोद्धार आदि कार्य

सभा ने संयुक्त प्रान्त को १८ हिस्सों में विभाजित कर वेद-प्रचार का कार्य किया है अर्थात् १८ मण्डल वेद प्रचार के बना करके प्रचार का कार्य किया है। प्रत्येक मण्डल का एक मण्डलाधीश बनाया गया है और उन मण्डलाधीश महोदय के पास सभा से एक-एक प्रचारक प्रचारार्थ भेज दिया गया है ताकि प्रत्येक मण्डल में वेद-प्रचार का कार्य भली भाँति चल सके। इस तरह से प्रान्त के प्रत्येक हिस्से में वेद का प्रचार होता है। सभा प्रत्येक वर्ष श्रावणी से जन्माष्टमी तक संयुक्तप्रान्त की प्रत्येक समाज में वेद-प्रचार-सप्ताह मनाने की योजना भेजा करती है। और इस सप्ताह में ७ दिन बराबर वेदों की कथा समाजों में हुआ करती है। इस कथा से लाखों मनुष्य अपने जीवन को सफल बनाते हैं।

मेलों में वेद-प्रचार

यह कार्य प्रति वर्ष होता है। मेला—मिश्रिख, कीर्तिकी गंगास्नान पर अनूपशहर, गढ़मुक्तेश्वर, सोरों, बिठूर, कानपुर, ददरी, तिगड़ी, घाट पर वैदिक धर्म का प्रचार होता है, इस प्रचार से लाखों मनुष्य फायदा उठाते हैं। यह प्रचार १-१ सप्ताह तक होता रहता है।

शुद्धि—

सभा ने शुद्धि विभाग एक पृथक् विभाग बना दिया है। इसके अधिकारी इस

वर्ष आगरा निवासी श्री डा० लक्ष्मीदत्त जी शर्मा हैं। इस वर्ष यों तो सारे प्रान्त में ही शुद्धि का कार्य हुआ लेकिन जिला मैनपुरी, अलीगढ़, बदायूं, सम्भल, मुरादाबाद, मथुरा, बिजनौर, बनारस आदि स्थानों में शुद्धि का प्रचार अच्छा हुआ, इस कार्य में बा० श्रीराम जी आगरा, पं० बिहारीलाल जी शर्मा शास्त्री काव्यतीर्थ, कुंवर सुखलालसिंह जी आर्य मुसाफिर, श्री स्वामी परमानन्द जी महाराज, ठा० रिसालसिंह जी, पं० लाल-बहादुर जी, स्वामी विरक्तानन्द जी, स्वामी परामुक्तवानन्द जी ने बहुत सहयोग दिया।

दलितोद्धार—

का कार्य सभा के उपदेशकों ने ही इस वर्ष किया, जिसमें पं० वेदानन्द जी उपदेशक का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इस वर्ष फर्रूखाबाद, मैनपुरी, एटा, इटावा की दलित जातियों में विशेषकर प्रचार कराया गया। पूज्य मालवीय जी के आदेशानुसार ४ मास के लिये उपर्युक्त जिलों में उप सभा मैनपुरी के आधीन पं० वेदानन्द जी उप-देशक सभा को भेज कर दलित जातियों में विशेष रूपेण प्रचार कराया गया।

कालेज, स्कूलों में वेद-प्रचार

सभा के अवैतनिक उपदेशकों ने इस वर्ष डी० ए० वी० कालेज देहरादून, कानपुर, डी० ए० वी० हाई स्कूल, लखनऊ, बनारस, मुजफ्फरनगर, अनूप शहर आदि स्थानों में वेद-प्रचार का कार्य किया।

ग्राम प्रचार

सभा के उपदेशकों, प्रचारकों ने इस वर्ष ७८० ग्रामों में ग्राम प्रचार का कार्य किया। इसके अतिरिक्त मेरठ की आर्य स्त्री समाज ने, तथा जिला बुलन्दशहर की तीन समाजों ने लगभग ४०० ग्रामों में प्रचार का कार्य किया। इनके नाम ये हैं:—

ग्राम प्रचारिणी सभा—निमचाना, अरनियां, टिटौटा—वीरगांव।

जिला अलीगढ़ की उपसभा ने भी जिला अलीगढ़ में ग्राम-प्रचार का कार्य किया।

प्रेस और समाचार पत्र

'भगवान् दीन आर्य भास्कर प्रेस' सभा की निजी सम्पत्ति है। इसकी लागत ६१४१॥।-) है।

मुख पत्र—

'आर्य मित्र है' जो ४४ वर्षों से आर्य जगत् की सेवा कर रहा है।

न्याय सभा

इस वर्ष निम्नलिखित स्थानों के विवादास्पद होने का न्याय सभा के सदस्यों ने निर्णय किया—

१—आर्यसमाज बरेली।

२—आर्यसमाज बुलन्दशहर।

३—वनिता आश्रम मेरठ।

४—वेद संस्थान के कर्मचारियों का वेतन सम्बन्धी विषय।

इस सभा के निम्न सज्जन सदस्य हैं—

(१) श्री रायबहादुर पं० गंगाप्रसाद जी रिटायर्ड चीफ जज हरिद्वार।

(२) श्री म० श्यामसुन्दरलाल जी एडवोकेट मैनपुरी।

(३) श्री म० प्यारेलाल जी रिटायर्ड जज मेरठ।

(४) श्री रायसाहिब बाबू मोतीलाल जी गर्वनमेंट एडव्रोकेट मेरठ।

(५) श्री महा० पूर्णचेन्द्र जी एडवोकेट आगरा।

३

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा

स्थापना तिथि

इस सभा की स्थापना सन् १८८८ ई० में अजमेर में हुई और रजिस्ट्री १३ अक्टूबर सन् १८६६ ई० में हुई।

मुख्य स्थान

इस सभा का मुख्य स्थान अजमेर में है।

अधिकारी

प्रधान—कुँवर चाँदकरण जी शारदा।

उप प्रधान—१. श्री बा० कुँवर लाल जी वापना एडवोकेट जयपुर।
२. श्री बा. मोहनलालजी जोधपुर।
३. श्री बा. गिरजासहायजीग्वालियर
४. श्री पं० जयदेवजी विद्यालङ्कार।
५. श्रीमती गुलाब देवी जी।

मन्त्री—पं० भगवानस्वरूप जी न्याय भूषण।

उपमन्त्री—१ श्री बा. कृष्ण वर्माजी एडवोकेट
२. श्री बा. जयभगवानजी शर्मा।
३. श्री बा. जगरूप जी।

कोषाध्यक्ष—श्री लाला चाँदमल जी चंडक।

अन्तरङ्ग सदस्य

१. श्री प्रो० घीसूलाल जी एडवोकेट अजमेर
२. श्री बा. शिवचरणलाल जी अजमेर
३. श्री बा. शोभाराम जी एडवोकेट नीमच
४. श्री बा. जयदेव जी धूत व्यावर
५. श्री पं० बिहारीलाल जी सिहोर
६. श्री पं० रामचन्द्र जी शर्मा जयपुर
७. श्री बा. रामस्वरूप जी आर्य फुलेरा
८. श्री बा. गूजरमल जी जौहरी लश्कर।
९. श्री बालकृष्ण जी बांदीकुई
१०. श्री बा. गणेशनारायणजी सोमणि जयपुर
११. श्री गोकुललाल जी आर्य शाहपुरा
१२. श्री डा० मानकरण जी शारदा
१३. श्री पं० दीपचन्द्र जी नारायणगढ़

१४. श्री बा. लालचन्द जी नागौर
१५. श्री स्वा० व्रतानन्द जी महाराज
१६. श्री बा. आत्माराम जी जोधपुर
१७. श्रीमती सिद्ध कुंवर बाई जी

सम्बन्धित आर्य समाजों की संख्या

इस सभा में २०५ समाजें प्रविष्ट हैं।

सभा की सम्पत्ति

सभा की अचल सम्पत्ति आर्य समाजों के मन्दिर व भूमि मकान आदि सभा के नाम रजिस्टर्ड हैं। अजमेर नगर में सभा की भूमि और मकान हैं, उसका अनुमानतः मूल्य लगभग तीन, चार हजार रुपये होगा। दयानन्द सरस्वती भवन (लगभग ३००००) की इमारत) सभा की देख रेख में है।

सभा के आधीनस्थ संस्थाएँ

इस प्रान्त में समाजों के आधीन सभा की देख रेख में अनेक स्कूल, कन्या पाठशालाएँ आदि चल रही हैं। गुरुकुल चित्तौड़ (मेवाड़) एक प्रबन्ध कर्तृ सभा के आधीन कार्य करता है। इसी प्रकार अनाथालय अजमेर, मुरार (ग्वालियर) और इन्दौर में हैं। श्री राजस्थान वनिता आश्रम अजमेर तथा इसी प्रकार जयपुर और इन्दौर आदि में हैं।

सभा का मुख-पत्र

यह सभा हिन्दी में एक साप्ताहिक पत्र 'आर्य मार्तण्ड' प्रकाशित करती है।

उपदेशक

इस सभा में ७ वैतनिक प्रचारक तथा ४० अवैतनिक प्रचारक हैं।

रचनात्मक-कार्य

शुद्धि तथा दलितोद्धार का कार्य समय समय पर आर्य समाजों द्वारा होता रहता है।

४

आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार

स्थापना

बिहार व बङ्गाल की संयुक्त आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना सन् १८९९ ई० में दानापुर के उत्सव के अवसर पर हुई थी। इसकी रजिस्ट्री आगे चलकर सन् १९११ ई० के जून में हुई। इसका कार्यालय दानापुर, पटना, रांची एवं कलकत्ते में रहा था। बिहार और बंगाल के आर्य महानुभावों ने उन दिनों बड़े परिश्रम और सहयोग से काम लिया था और दोनों प्रान्तों में वैदिक धर्म प्रचार की अच्छी व्यवस्था की थी। जब प्रतिनिधि सभा का कार्यालय

कलकत्ता चला गया—बिहार प्रान्त में प्रचार कार्य में कुछ शिथिलता सी आने लगी। उस समय तक बिहार में आर्यसमाजों की संख्या इतनी पर्याप्त हो चुकी थी कि उनका संगठन कर केन्द्रीभूत हो प्रान्त में अत्याधिक सुव्यवस्था के साथ प्रचार कार्य किया जा सकता था। इन्हीं सब विचारों पर दृष्टिपात करते हुये बिहार के आर्यों ने बिहार-बङ्गाल संयुक्त सभा से बिहार को २८ मार्च १६२६ ई० में पृथक् कर एक स्वतन्त्र बिहार आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना की। इस सभा की रजिस्ट्री ८ मई सन् १६२६ ई० को सन् १८६० ई० की २१वीं धारा के अनुसार हुई।

कार्यालय

इस सभा का कार्यालय बांकीपुर पटना में है।

अधिकारी

प्रधान—श्रीयुत डा० कार्तिकप्रसाद देव, मुंगेर।

उपप्रधान— ,, बा०. वैद्यनाथ प्रसाद बी० ए०, सीवान।

उपप्रधान— ,, ,, ब्रह्मदेवनारायण जी वकील, पटना।

उपप्रधान— ,, पं० महादेवशरण जी, दानापुर।

प्रधान मंत्री— ,, पं० वासुदेव शर्मा, पटना सिटी।

मन्त्री—श्रीयुत पं० बद्रीनारायण शर्मा, मुंगेर।

,, ,, पं० सिद्धेश्वर प्रसाद शर्मा, मोकामा।

,, ,, बा० रामचन्द्रप्रसाद जायसवाल, छपरा।

कोषाध्यक्ष—श्रीयुत बा० मेहता चूणामणि वर्मा, पटना सिटी।

लेखा निरीक्षक—श्रीयुत पं० ईश्वरदयाल शर्मा, पटना सिटी।

अन्तरङ्ग सदस्य

१—श्रीयुत बा० रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह, पटना।

२— ,, पं० वेदव्रत जी वानप्रस्थ, पटना।

३— ,, स्वामी रामानन्द जी संन्यासी।

४— ,, डा० दुखनराम जी।

५— ,, बा० राजेन्द्र प्रसादसिंह, आरा।

६— ,, ,, लालधरप्रसाद जी वकील, पटना।

७— ,, पं० केवलपति शर्मा, पटना सिटी।

८— ,, पं० त्रिवेणीदत्त शर्मा, मोकामा।

६— ,, बा० नवमीलाल जी वैद्य, पलामू।

१०— ,, बा० लक्ष्मीनारायण गुप्त, मुजफ्फरपुर।

११— ,, ,, जयगोविन्दलाल जी, खगड़िया।

१२— ,, ,, गौरीलाल जी, व्यापुर।

१३— ,, ,, रामनारायण जी मेहरा, दानापुर।

१४— ,, ,, नरेन्द्रनाथ जी गुप्त, भागलपुर।

१५— ,, ,, महावीर प्रसाद सिंह, गया।

१६— ,, ,, वैद्यनाथप्रसाद, साहबगंज।

१७— ,, डा० रामकृष्णप्रसाद, खुशरूपुर।

१८— ,, ,, इन्द्रप्रसाद, चनपटिंया।

१९— ,, ,, भरतसाह, दरभंगा।

२०— ,, स्वामी शिवानन्द तीर्थ, छोटानागपुर।

सम्बन्धित समाजों की संख्या

इस सभा में १५८ समाजें प्रविष्ट हैं।

सम्बन्धित संस्थायें

प्रान्तीय सभा की संरक्षता एवं देख रेख में निम्न संस्थाएँ चल रही हैं—

डी. ए. वी. कालेज सीवान (सारन)

यह कालेज इसी वर्ष स्थापित हुआ है और इसका सेशन आगामी जुलाई मास से आरम्भ हो जायगा। इस कालेज के प्रेसिडेण्ट श्री रायबहादुर ब्रजनन्दन सिंह जी, एक्स एक्साइज कमिश्नर आफ बिहार, और सेक्रेटरी श्री बा० वैद्यनाथ प्रसाद जी बी. ए. भूतपूर्व हेड मास्टर डी. ए. वी. हाई स्कूल सीवान।

डी. ए. वी. हाई स्कूल निम्न हैं—

१. दानापुर (पटना)
२. सीवान (सारन)
३. गोपालगंज (सारन)
४. झरिया (मान भूमि)

दयानन्द हाई स्कूल

१. मीठापुर (पटना)

वेद रत्न विद्यालय

१. मुस्तफ़ापुर (पटना)

गुरुकुल

१. वैद्यनाथ धाम (संथाल परगना)
२. हरपुर जान (सारन)
३. ब्रह्मचर्याश्रम देवघर (संथाल परगना)
४. आरा शाहाबाद

अनाथालय

१. दानापुर
२. मुङ्गेर
३. मोतिहारी

प्राइमरी पाठशालायें

संस्कृत पाठशाला	३
आर्य कन्या पाठशाला	८
हरिजन पाठशाला	७

वनिता आश्रम

बिहार प्रान्तीय हिन्दू वनिता आश्रम।

रचनात्मक कार्य

प्रचार

समाजों के उत्सव का क्रमबद्ध प्रोग्राम दशहरा के अवसर पर दानापुर से प्रारम्भ होता है

और दस मास तक बराबर चलता रहता है। परन्तु वर्षा काल में उत्सव बन्द रहते हैं, इस समय केवल प्रचार कार्य होता है। प्रान्त के समस्त समाजों के उत्सव सभा के आधीन सभा द्वारा एवं सभा की स्वीकृति से होते हैं। इस तरह प्रतिवर्ष १२५ से १५० तक उत्सव होते हैं।

उत्सव की कोटि चार विभागों में विभक्त कर दी गयी है। प्रथम कोटि के उत्सव में चार उपदेशक और तीन भजनोपदेशक। इस कोटि का शुल्क १२५) हैं। द्वितीय कोटी के उत्सव म तीन उपदेशक तथा दो भजनीक और शुल्क ८६॥) होता है। तृतीय कोटि के उत्सव में दो उपदेशक तथा दो भजनीक रहते हैं और शुल्क ६२) लिया जाता है। चतुर्थ कोटि के उत्सव में एक उपदेशक और एक भजनोपदेशक रहते हैं तथा शुल्क ३१) लिया जाता है।

उत्सवों के अतिरिक्त सभी प्रान्तो में लगने वाले प्रमुख मेलों में प्रचार करने का प्रबन्ध सभा करती है। सहायता स्वरूप मेला स्थान के जिला समाज तथा नजदीक के अन्य समाज से मदद लिया जाता है। हरिहर क्षेत्र (सोनपुर) मेला प्रचार का प्रमुख स्थान है। यहाँ लगातार १० दिनों तक अखण्ड प्रचार होता रहता है। इसके बाद राजगृह मेला, सिंहा मेला (आरा) आदि अन्य अन्य मेलों में प्रचार का प्रबन्ध रहता है।

इन प्रचारों के अतिरिक्त सभा द्वारा उन स्थानो में भी प्रचार का प्रबन्ध किया जाता है, जहाँ जहाँ समाज का सन्देश न पहुंचा हो। ऐसे स्थानों पर पहली वार समाज का संगठन कर दिया जाता है। इस तरह प्रतिवर्ष पाच-दस नये समाजों की स्थापना हो जाती है।

ग्राम-प्रचार का कार्य भी सभा द्वारा अति उत्तमतापूर्वक होता है। इस तरह देहातों में आर्यसमाज का संगठन होना आरम्भ हो गया है।

पहाड़ी एवं वन्य प्रदेश में प्रचार—

संथाल परगना तथा छोटा नागपुर बिहार का दक्षिणी भाग छोटानागपुर कमिश्नरी तथा संथाल परगना का जिला पहाड़ी एवं वनमय प्रदेश है। संथाल, भील, उराव, डों आदि जंगली जातियाँ यहाँ लाखों की संख्या में वास करती हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपना एक विस्तृत क्षेत्र बना रखा है। सभा की तरफ से यहाँ भी प्रचार का सुप्रबन्ध कर दिया गया है और श्री स्वामी शिवानन्द जी की तरह श्री पं० बद्रीनारायण जी शर्मा की देख रेख में संथालों में प्रचार कार्य हो रहा है।

संगठन और निरीक्षण

सभा की ओर से श्री साधु भजनानन्द जी द्वारा समाजों का निरीक्षण कार्य होता

है। स्वामी जी समाजों में घूम घूम कर निरीक्षण में ही व्यस्त रहते हैं। श्रीयुत पं० वेदव्रत जी तथा सभा के प्रधान मन्त्री श्रीयुत पं० वासुदेव जी शर्मा जिला समाजों और प्रमुख समाजों में घूम घूम कर संगठन आदि कार्यों पर ध्यान रखते हैं।

कार्यालय

इधर कई वर्षों से सभा का कार्यालय दानापुर में था—क्योंकि कार्यालय का अपना भवन पटना में बन रहा था। गत वर्ष १९४० ई० में कार्यालय का भवन लगभग ४००००) रु० में निर्माण हुआ है। श्री स्वर्गीय पूज्य स्वामी मुनीश्वरानन्द जी की स्मृति में इस भवन का नाम "श्री मुनिश्वरानन्द भवन" रखा गया है। इस भवन में प्रतिनिधि सभा का कार्यालय, आर्यसमाज बांकीपुर, आर्यकुमार सभा का पुस्तकालय, श्री श्रद्धानन्द अपर प्राइमरी स्कूल, आर्य कन्या मिडिल इंगलिस स्कूल स्थित है। इस भवन का उद्घाटन १०-८-१९४० को हुआ। इस भवन के निर्माण में श्री रायबहादुर व्रजनन्दनसिंह जी का प्रमुख हाथ रहा है।

आय व्यय

प्रतिनिधि सभा की आय समाजो के चन्दों, जो मुख्यतः तीन रूप में होता है, द्वारा होता है—उत्सव शुल्क, वेद-प्रचार फण्ड, दशांश आदि। इस तरह वार्षिक आय व्यय लगभग १००००) दस हजार रुपया हो जाता है।

कार्यालय

सभा में वार्षिक आने वाली चिट्ठियों की औसत संख्या लगभग ३००० तीन हजार एवं सभा से बाहर जाने वाली चिट्ठियों की औसत संख्या ५००० पाँच हजार होती है।

श्रीयुत बा० अच्युतानन्द जी आर्य लेखक के पद पर सभा में लेखक का कार्य सम्पादन करते हैं।

प्रकाशन एवं प्रचार विभाग का कार्य श्रीयुत चन्द्रपति प्रसाद जी 'चन्द्र' द्वारा सम्पादन होता है।

प्रकाशन

सभा द्वारा प्रत्येक तीसरे महीने एक पत्रिका निकलती है। इसके अलावा भी आवश्यकतानुसार सर्कुलर आदि द्वारा प्रकाशन कार्य किया जाता है।

इस वर्ष जनगणना सम्बन्धी कार्यों के कारण चार जनगणना सम्बन्धी सर्कुलर पत्र निकले।

संस्कार एवं शुद्धि आदि कार्य

सभा के उपदेशक एवं प्रचारक यथावसर विवाह, यज्ञोपवीत, मुन्डन, नामकरण आदि संस्कार में भाग लेते हैं। शुद्धि का कार्य भी बराबर चलता रहता है।

उत्सव एवं प्रचार विभाग

सभा की तरफ से अवैतनिक और वैतनिक दो प्रकार के उपदेशक कार्य करते हैं।

अस्थायी उपदेशक—जो अन्य प्रान्तों से आकर यथावसर प्रचारकार्य में भाग लेते हैं और दक्षिणास्वरूप प्राप्त करते हैं।

अवैतनिक उपदेशकों में अधिकांश संन्यासी और वानप्रस्थी गण हैं—श्री स्वामी नाभानन्द, श्री स्वामी भजनानन्द जी तथा श्रीयुत पं० वेदव्रत जी हैं।

वैतनिक उपदेशकों में श्रीयुत डा० रामभजन जी 'आर्य पुरोहित', श्री० पं० रामदेव जी शास्त्री, श्रीयुत पं० जगन्नाथजी शर्मा, श्री० चन्द्रपति प्रसादजी 'चन्द्र' वैदिक धर्म विशारद, श्री० ठा० इन्ददेवसिंह, श्री० ठा० नन्दलालजी, श्री० ठा० रामचन्द्र सिंह जी, श्रीयुत हरदेव नारायण शर्मा हैं।

प्रान्त के दक्षिणास्वरूप प्राप्त कर एवं अवैतनिक रूप में प्रचार कार्य में सहयोग देने वालों में—श्री० पं० महादेव शरण जी, सिद्धान्त विशारद, श्री पं० बद्रीनारायण जी शर्मा बी० ए०, श्री० पं० सिद्धेश्वर प्रसाद जी शर्मा, श्री० पं० श्यामजी शर्मा, श्री० पं० रामावतारजी शर्मा चतुष्टय, श्री० पं० विश्व नाथ शास्त्री, श्री० पं० मेधाव्रत जी व्याकरणाचार्य, श्री० पं० वासुदेव शास्त्री, श्री० स्वामी शिवानन्दजी तीर्थ, श्री० स्वामी जगदीश्वरानन्द, श्रीमती पंडिता संध्या-देवी, श्रीमती सुशीलादेवी स्नातिका हैं।

यथावसर प्रचारकार्य में सहयोग देने में श्री० राजगुरु पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री, श्रीयुत पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय एम०ए०, श्रीयुत पं० सुखदेवजी विद्यावाचस्पति, श्रीयुत पं० विद्यानन्दजी, श्री कुँवर सुखलालजी 'आर्य मुसाफिर' श्रीयुत प्रकाशचन्द्र जी 'प्रकाश' श्री० ठा० जोरावरसिंह, श्री० ठा० यशपालजी, श्री० कुँवर विश्वमित्र जी का हाथ रहता है।

स्त्री उपदेशिका में श्रीमती प्रभावती देवी श्रीमती सम्पत्तोदेवी आदि हैं।

आर्यवीर दल

प्रान्त के लगभग अधिकांश समाजों में आर्यवीर दल का संगठन है इसके प्रान्तीय प्रधान संयोजक श्री० पं० वेदव्रत जी वान-प्रस्थ हैं।

आर्य कुमार सभा

बिहार प्रान्तीय आर्यकुमार परिषद् के प्रधान श्री० पं० महादेवशरणजी, सिद्धान्त विशारद, प्रधान मन्त्री श्री डा० रामभजनजी "आर्य पुरोहित", प्रचार मन्त्री श्री० चन्द्रपति प्रसाद जी 'चन्द्र' वैदिकधर्म विशारद, प्राँत में कुमार सभा के संगठन कार्य में लगे हैं। मन्त्री श्रीयुत धर्मप्रियलालजी बी० ए० कुमार सभा के कार्यालय की देख-रेख में रहते हैं।

५

आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ

स्थापना

इस सभा की स्थापना नरसिंहपुर नगर में २७ दिसम्बर १८९९ ई० को श्री स्वामी आत्मानन्द जी की अध्यक्षता में हुई, और रजिस्टरी २९ मार्च सन् १९०७ को हुई।

मुख्य कार्यालय

पहले नरसिंहपुर और जबलपुर रहा, सन् १९३४ ई० से मुख्य कार्यालय नागपुर सदर बाज़ार में है।

आर्य समाजें

सभा से सम्बद्ध आर्य समाजों की संख्या १२५ है।

अधिकारी

प्रधान—श्री पं० चन्द्रगोपाल मिश्र एडवोकेट हरदा।

उपप्रधान—१ पं० श्रीधर शर्मा नरसिंहपुर,
२ पं० पन्नालाल व्यास खामगांव
३ पं० रामदत्त ज्ञानी बुरहानपुर,
४ श्री कृष्ण गुप्त न्यूकालोनी नागपुर।
५ स्वामी मसानियानन्द सदर बाजार नागपुर।

मंत्री—श्री के. सी. दुर्गप्पा सदरबाज़ार नागपुर

उपमन्त्री—प्रो० शंकरलाल पाली नागपुर।

पुस्तकाध्यक्ष—पं० रामचन्द्र आचार्य गुरुकुल होशंगाबाद।

अन्तरङ्ग सदस्य

श्री घनश्यामसिंह गुप्त एम० एल० ए० दुर्ग, जयनारायण श्रीवास्तव जबलपुर, गोपालसिंह वर्मा सागर, गोविन्दराव ठाकरे पथरोट, प्यारेलाल खंडवा, म० विनयकुमार अकोला, नवलकिशोर आर्य बैतूल, चुन्नीलाल वर्मा बी.ए. बी.टी. अमरावती, म० राधाकृष्ण इटारसी, डा० कृष्णकुमार चोपड़ा बिलासपुर, ठा० शेरसिंह साहित्यरत्न, होशंगाबाद।

सम्पत्ति

अचल सम्पत्ति का मूल्य लगभग एक लाख रुपया और चल सम्पत्ति लगभग दस हजार रुपये है।

संस्थाएँ

गुरुकुल हुशंगाबाद और सन् १९३८ ई० में स्थापित दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल नागपुर सभा के आधीन हैं।

प्रचार

इस वर्ष लगभग १३ महानुभाव वेद प्रचार का कार्य करते रहे। पं० क्षितिशकुमार

वेदालंकार, ठा० कुँवरपाल सिद्धान्त रत्न, व म० बहोरीलाल भजनोपदेशक सभा की ओर से कार्य कर रहे हैं। निम्न महानुभाव समय-समय पर प्रचार में सहायता करते रहे—

सर्व श्री पं० रामचन्द्र विद्यारत्न, पं० विद्यानन्द बी० ए०, पं० भारत भूषण अवस्थी, पं० पद्मदत्त आर्य, पं० सत्येन्द्रनाथ शास्त्री, म० गोविन्दराव ठाकरे, म० नामदेव सखाराम जुमले, स्वामी मसानियानन्द, स्वामी दित्यानन्द सरस्वती, पं० हृदयप्रकाश भारद्वाज, पं० पन्नालाल व्यास।

शुद्धि

इस वर्ष लगभग ५० शुद्धियाँ हुईं।

मुख पत्र

सभा का मुख पत्र मासिक "आर्यसेवक" है। इसके सम्पादक ठा० शेरसिंह साहित्य-रत्न हैं।

६

आर्य प्रतिनिधि सभा सिन्ध

स्थापना तिथि

इस सभा की स्थापना सन् १९१९ ई० में हुई।

मुख्य कार्यालय

इस सभा का मुख्य कार्यालय कराँची सदर में है।

अधिकारी

प्रधान—श्री म० तेजोमल जी कमल

उपप्रधान—प्रो० ताराचन्द जी गाजरा एम० ए०।

श्री सेठ चमनलाल जी कराँची।

श्री सेठ तोलाराम जी सक्खर।

मन्त्री—श्री म० मेहरचन्द जी

उपमन्त्री—श्री मा० फतहचन्द जी ढालूमल जी।

कोषाध्यक्ष—श्री म० भोलाराम जी।

पुस्तकाध्यक्ष—श्री पं० उदयभानु जी।

लेखानीरीक्षक—श्री म० गोविन्दराम चेला जी।

अन्तरङ्ग सदस्य

१. श्री ला० प्रकाशस्वरूप जी करांची
२. श्री म. दौलतराम जी हैद्राबाद (सिन्ध)
३. श्री म. रपरङ्ग वाणी जी सक्खर
४. श्री म. सेवाराम जी ,,
५. श्री म. जगतराम जी खैरपुर नाथनशाह
६. श्री म. साधुराम जी ,,
७. श्री म. झमेरमल जी थरडी महबत

८. श्री म. हासानन्द पमोमल लडकाना
९. श्री म बसन्तराम जी दाबू
१०. श्री सेठ इन्द्राज जी शिकारपुर (सिन्ध)
११. श्री प्रो० हासानन्द जी कीन्डयारों

प्रतिनिधियों की संख्या

इस सभा में समाजों के प्रतिनिधियों की संख्या ५८ तथा प्रतिष्ठित सदस्यों की संख्या ११ कुल ६९ है।

सम्बन्धित आर्यसमाजों की संख्या

इस में ५० समाजें प्रविष्ट हैं।

सभा के आधीन संस्थायें

इस सभा के आधीन एक बाजीगर स्कूल लड़काना में है।

सभा का मुख-पत्र

इस सभा की ओर से 'आर्य-सन्देश' पत्र निकलता था। परन्तु धनाभाव से गत १ वर्ष से बन्द है। अब इस पत्र को फिर चलाने का यत्न कर रहे हैं।

उपदेशक

इस सभा में ३ वैतनिक प्रचारक तथा १२ अवैतनिक प्रचारक हैं।

समाजों के उत्सवों की संख्या

इस वर्ष १३ समाजों के वार्षिक उत्सव हुए।

न्याय सभा

इस सभा की ओर से न्याय सभा की उप समिति बनी हुई है, परन्तु अब तक कोई कार्य नहीं हो सका है।

रचनात्मक कार्य

हैद्राबाद सत्याग्रह—

सिन्ध ने सत्याग्रह युद्ध में अपनी शक्ति के अनुसार भाग लिया। उस समय सभा के समस्त कर्मचारी तथा कार्यकर्ता अपना ध्यान इसी ओर दे रहे थे। इस समय सभा का सारे का सारा स्टाफ सत्याग्रह का ही सन्देश लोगों को सुनाया करता था। इस सम्बन्ध में जनता को उत्साहित करने के लिए मुख्य २ स्थानों पर कई कांफ्रेंसें की गईं। हमारे पास जो रिपोर्ट है उसके अनुसार ७५ सत्याग्रही जेल में गए थे।

वेद-प्रचार—

इस सभा की ओर से वैतनिक तथा अवैतनिक सहकारी प्रचारकों द्वारा सारी सिन्ध में वैदिक धर्म का प्रचार अच्छी प्रकार हुआ है। परन्तु इतना नहीं कि जितना साल के आरम्भ में आशा थी। इसका कारण सिन्ध का राजनैतिक वायु-मण्डल तथा सक्खर के फिसाद थे। इन फिसादों के कारण जल्सों का सिलसिला अकस्मात् बन्द हो गया। और सभा के मुख्य कार्यकर्ताओं को अपना ध्यान इसी फसाद की ओर देना पड़ा। दूसरा कारण धन का अभाव था, जिसकी पूर्ति करने के लिए

प्रो० ताराचन्द और पं० उदयभानु जी को बहुत समय तक सिन्ध से बाहर रहना पड़ा। उनकी अनुपस्थिति में प्रचार का कार्य कुछ शिथिल हो गया। इतना होते भी इस वर्ष में निम्नलिखित नगरों में जल्से हुए—

टन्डो अलहयार, कम्बर, बाउह, द्रोकरी, लाड्काणा, वारह, काजी आर्फ, मेहड़, थरड़ी महब्बत, खैरपुरनाथनशाह, बुटड़ा, शिकारपुर और सांघड़।

इस वर्ष सभा ने एक प्रचारक लस बेला रियासत में प्रचार करने के लिए शिवरात्री के अवसर पर भेजा जिसने उस रियासत में १५ दिन तक गांवों में अच्छा प्रचार किया।

सिन्ध से बाहर भी कुछ प्रचार हुआ। कलकत्ते में सिन्धी एसोसियेशन के सहारे टिनीकल गार्डन में प्रो० हासानन्द ने एक जबर्दस्त व्याख्यान द्वारा आर्य सिद्धान्तों का प्रचार किया और प्रो० ताराचन्द जी ने लखनऊ के फेअर सैनीमा में लेक्चर दिया। इसके अतिरिक्त कलकत्ते के बड़ा बाजार आर्यसमाज और लखनऊ के डी० ए० वी० स्कूल में और दूसरे कितने स्थानों पर भी प्रचार किया गया। प्रो० ताराचन्द ने बम्बई में भिन्न भिन्न स्थानों पर व्याख्यान दिया।

इस वर्ष सभा का सम्मेलन नवाबशाह में हुआ था जिसके प्रधान श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज थे। मुख्य सम्मेलन के अतिरिक्त निम्न उप-सम्मेलन भी हुए:—

(१) समाज सम्मेलन (२) शुद्धाहार सम्मेलन (३) हिन्दी सम्मेलन (४) दलितोद्धार सम्मेलन (५) शुद्धि सम्मेलन।

उपरोक्त जलसों तथा विशेष अवसरों पर प्रचार के अतिरिक्त सारे वर्ष में साधारण प्रचार होता रहा। इस प्रचार द्वारा कम से कम २०० गाँवों में प्रचार हुआ होगा। निम्न महानुभावों ने इस वर्ष प्रचार किया:—

१. स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज २. स्वामी सेवकानन्द जी महाराज ३. स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज ४. स्वामी ब्रह्मानन्द जी महाराज ५. श्री हर भजनलाल जी ६. योगी विट्ठलदास जी ७. पं० आत्माराम जी शास्त्री, अमृतसर ८. प्रो० ताराचन्द जी गाजरा ९. प्रो० हासानन्द जी १०. पंडित उदयभानु जी ११. म० झमटमल जी १२. भाई शीतलदास जी १३. म० कृष्ण जी १४. महता जैमिनिजी १५. हरिदत्तजी १६. म०गङ्गाराम जी एम०के० १७. म० भीमसेन जी १८. म० हीरानन्द जी १९. मास्टर सेवाराम जी २०. पं० ओंकारनाथ जी २१. म० खेमचन्द जी २२. म० चेतनदेव जी २३. म० अमर सिंह जी २४. म० प्रेमचन्द जी २५. भाई शिवनदास जी २६. श्री शैला बम्बई २७. म० तोलाराम जी २८. श्रीमती गङ्गा देवी २९. पं० माथुर शर्मा।

मेला प्रचार

इस वर्ष भी पहले की भांति प्रो० हासानन्द जी ने सिंध के मेलों पर प्रचार किया।

दलितोद्धार

इस कार्य के लिये एक विशेष समिति है जिसके मन्त्री म० हासानन्द जी लाड़काणा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। लाड़काणे में एक बाज़ीगर कालोनी बनाई गई है और एक पाठशाला भी है। इस समिति ने वर्ष के अन्दर पाच-छः सम्मेलन किये हैं। जिनमें सारे सिन्ध के बाज़ीगरों को निमन्त्रण दिया गया था। इसके अलावा नयोदेरा, पंजूदेरा तथा घोटकी आदि स्थानों में भी कार्य किया गया है। बाज़ीगरों के अलावा बाघड़ी भील आदि कौमों में भी कुछ काम किया गया है। दक्षिण सिंध में, थर और लाड़ में भी कुछ प्रचार किया गया है।

ग्राम प्रचार

ग्राम प्रचार तो सारा वर्ष होता रहा है। इस वर्ष कम से कम २०० गावों में प्रचार हुआ होगा और कम से कल ५०००० आदमियों तक आर्य समाज का संदेश पहुँचा होगा।

आर्य वीर दल

आर्य वीर दल स्थापन करने के उपाय किये गये और कई स्थानों पर वीर दल खुले भी परन्तु सरकारी प्रतिबन्ध के कारण वे बन्द हो गये। अब आर्य सेवक दल ही सेवा का कार्य कर रहे हैं।

जन गणना

सभा के प्रचारकों ने इस वर्ष इस कार्य पर विशेष ध्यान दिया।

पीड़ितों की सहायता

सक्खर ज़िला में मंज़लगाह के प्रश्न पर जो मुसलमानो की ओर से फ़िसाद हुआ था, उस समय जो भाई गावों से आकर शहरों में रहे थे, आर्य समाजों की ओर से उनकी सेवा करने में कोई कसर न रक्खी गई। इसी समय सिन्ध के और स्थानो मे भी फ़िसाद का डर था और किन्हीं स्थानो में कुछ हुआ भी जिन पर काबू पाया गया था। सभा से सम्बन्ध रखने वाले भाइयों ने निम्न प्रकार सेवा की।

१. फिसादी स्थानों से बहुत लोग शिकारपुर आ रहे थे जिनकी सहायता का प्रबन्ध शिकारपुर हिन्दू रिलीफ़ पंचायत कर रही थी और प्रो० ताराचन्द जी उस पंचायत से मिल कर कार्य कर रहे थे।

२. ख़ानपुर में वैद्यराज सुग्गाराम जी ने रुस्तम में म० चन्द्रपाल ने, हबीब कोट में एक पुराने आर्य समाजी और काग्रेसी ने, रतोदेरो में हकीम अर्जुनदास और म० परचाराम ने, घोटकी और हैदराबाद में वहां के समाजियों ने अच्छा कार्य किया।

साहित्य प्रचार

इस सभा की ओर से आर्य सदेश पत्र निकलता था जिसके द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया जाता था। अब आर्थिक अवस्था ठीक न होने के कारण वह पत्र स्थगित है। और तुरन्त ही उसे फिर जारी करने का विचार है। इस सभा की ओर से सिंधी सत्यार्थ प्रकाश भी छपाया गया है। सभा की ओर से शिकारपुर में एक सरस्वती पुस्तकालय है।

प्रकाशन का अन्य विवरण

पुराने ज़माने में मुख्य काम करने वाले बाबू बच्चाराम चटरजी, मास्टर हरीसिंह और श्रीयुत मनोहरलाल थे। उन्होंने लगभग एक सौ पुस्तकें प्रकाशित की थीं।

दूसरे युग में श्री महाशय दयाराम मुख्य कार्यकर्ता थे। उन्होंने कोई १२५ ट्रैक्स प्रकाशित किये। उसी ज़माने में महाशय देगुमल उर्फ़ स्वामी देवानन्द भी कार्य करते थे। पण्डित जीवनलाल जी ने इसी समय में सत्यार्थ प्रकाश के कुछ समुल्लासों को अनुवाद कर प्रकाशित कराया।

दो तीन साल के लिये हैदराबाद (सिन्ध) के आर्य साहित्य मण्डल तथा शिकारपुर के हरि सुन्दर सहायक मन्दिर ने भी बहुत अच्छा कार्य किया।

इस समय महाशय चेतन देव, महाशय गुरडिन्नामल तथा हकीम वीरूमल बहुत अच्छा कार्य कर रहे हैं।

७

आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई प्रदेश

स्थापना

इस सभा की स्थापना ३० दिसम्बर १९०२ ई० को हुई।

कार्यालय

इस सभा का मुख्य स्थान आनन्द जिला खेड़ा में है।

अधिकारी

प्रधान—श्री० गिरजाशंकर निर्भयरामजी

उपप्रधान—(१) सोमा भाई जेठा भाई जी

" (२) श्री० नगीनदासजी कागड़िया

मन्त्री—श्री० वापु भाई कुबेरदासजी आर्य

अधिष्ठाता वेद प्रचार—श्री० पं० ज्ञानेन्द्रजी सिद्धान्त भूषण

कोषाध्यक्ष—(१) कलिदास कुवेरदासजी आर्य

(२) अम्बालाल प्रभुदास चौकसी

(३) रणछोड़ भाई व्हेरी भाई

अन्वेशक—श्री० दामोदरदास चुन्नीलाल आर्य

अन्तरंग सदस्य

१.	श्री० नर्मदा शंकरजी	वलसाड़
२.	,, पं० लक्ष्मणरावजी ओप्पले	बम्बई
३.	,, मायाशंकरजी	आणंद
४.	,, डा० मदनजितजी	वलसाड़
५.	,, फूलाभाई मथुर भाई	त्रणोल
६.	,, गीला भाई मथुर भाई	त्रणोल
७.	,, प्रभानसिंहजी वर्मा	अड़ास

प्रतिनिधियों की संख्या

इस सभा के प्रतिनिधियों की संख्या ६१ है, इसमें कार्य करने वाली समाजों के प्रतिनिधियों की संख्या ३६ है।

सम्बद्ध समाजों की संख्या

इस सभा में ६२ समाजे प्रविष्ट हैं, इनमें से ३६ समाजे कार्य कर रही हैं शेष शिथिलावस्था में हैं। इन आर्य समाजों के आर्य सभासदों की संख्या १३११ है।

सम्पत्ति

इस सभा की सम्पत्ति सब मिलाकर लगभग ३००००) की है जिसमें प्रेस, पुस्तकें, सामान, रोकड़ आदि हैं। 'आर्य प्रकाश' प्रेस की अपनी इमारत है जिसकी लागत ७१६८) हैं।

वार्षिक आय

इस सभा का दशांश ८६।-)।।। व कुल आमदनी ४५३६।-)१० पाई है। व्यय ५७१६।)१० पाई है।

सभा की संस्थाएँ

इस सभा की ओर से 'बम्बई प्रदेश आर्य विद्या सभा' की नियुक्ति की गई है। यह १८६१ के २१ वें एक्ट के अनुसार रजिस्टर्ड है। इस सभा के अधीन बम्बई के समीप घाट कोपर में निम्नलिखित संस्थाएँ चल रही हैं—

(१) बाल मन्दिर।

(२) प्राथमिक पाठशाला।

(३) हाई स्कूल।

(४) विद्याश्रम जिसमें लड़के रहते हैं और यहां धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध है।

प्रेस

सभा का अपना प्रेस "राय जी पूँजा आर्यप्रकाश प्रेस' है जिसकी लागत ६०००) की है।

सभा का मुख-पत्र

सभा का मुख-पत्र गुजराती भाषा में साप्ताहिक 'आर्यप्रकाश' निकलता है। यह पत्र ३७ वर्ष से निकल रहा है। इसके लिए १५०००) का स्थिर फण्ड है। इसमें हिन्दी भाषा को भी स्थान दिया जाता है।

उपदेशक

इस सभा में ४ उपदेशक, १ भजनीक वैतनिक तथा १ उपदेशिका तथा ६ उपदेशक अवैतनिक हैं।

समाजों के उत्सवों की संख्या

गत वर्ष १६ स्थानों पर उत्सव किये गऐ हैं। इसके अतिरिक्त सभा प्रति वर्ष 'आर्य धर्म परिषद्' करती है जो बड़े शहरों और कस्बों में होती है।

रचनात्मक कार्य

हैदराबाद सत्याग्रह

सत्याग्रह के समय में सत्याग्रह निधि में मुंबई प्रदेश की जनताकी ओर से ३६२२७।।-) इसमें से सभा की ओर से १८४१६।।।=)।। एकत्रित किये गये थे। इस प्रान्त से २४१ सत्याग्रही गए थे। 'हैदराबाद सन्देश' पत्रिका द्वारा जनता को समाचार दिए जाते थे।

वेद प्रचार

उपदेशकों द्वारा होता है और प्रतिवर्ष समाजों के उत्सव एक साथ होने की व्यवस्था की जाती है।

दलितोद्धार

दलितों के लिए ग्रामों में व्याख्यान, ट्रैक्ट, एवं पत्रिका द्वारा प्रचार किया जाता है।

जन गणना

आर्य प्रकाश द्वारा एवं पत्रिकाओं द्वारा एवं व्याख्यानों द्वारा किया गया।

साहित्य प्रचार

सभा ने पुस्तक प्रकाशन विभाग और विक्रय विभाग रखा है। बिना मूल्य के भी पुस्तकें वितरण की जाती हैं।

८

आर्यप्रतिनिधि सभा बंगाल व आसाम

स्थापना

इस सभा की स्थापना १५ मार्च १६३० ई० को हुई। इसका पूर्व नाम आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व बिहार था।

मुख्य कार्यालय

इस सभा का मुख्य कार्यालय २४।२, कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता में है।

अधिकारी

प्रधान—श्री हरिगोविन्द जी गुप्त

उप प्रधान—श्री सभापतिराय जी।

(२) ,, विजन विहारी मडल जी।

(३) ,, पं० शारदाप्रसन्न जी वेदशास्त्री।

(४) ,, गोपीकागोवल्लभ गोस्वामी जी बी. एल.।

प्रधान मन्त्री—श्री मेहरचन्द जी धीमान्।

स० मन्त्री— श्री बीरूराम जी मैनी।

(२) ,, सजनीकान्त सामन्त।

(१) ,, प्रतापचन्द जी शर्मा बी० एल० ।
प्रचार मन्त्री— श्री नलिनबिहारीलाल जी बी० ए० ।
(२) ,, वट्टोकृष्ण वर्मन जी ।
(३) ,, प्रफुल्ल कुमार जी भुईया ।
अर्थ मन्त्री— श्री पं० लक्ष्मीनारायण जी शर्मा ।
कोषाध्यक्ष—श्री म. रखाराम जी गम्भीर ।
पुस्तकाध्यक्ष—श्री म. नित्यानन्द जी ।
लेखा निरीक्षक—श्री गंगाप्रसाद जी भोतिका, एम. ए. ।

अन्तरङ्ग सदस्य

(१) श्री सुरेन्द्रनाथ जी पंडित ।
(२) ,, ज्योतिप्रसाद जी जाना ।
(३) ,, व्रजेश्वरराय जी ।
(४) ,, राखालदास जी विद्याभूषण ।
(५) ,, चारूचन्द्रसेन गुप्त बी. ए. ।
(६) ,, अनिलकृष्णदत्त जी बी. ए. ।
(७) ,, अतुलकृष्ण जी चौधरी बी. एल. ।
(८) ,, उमाकान्तदास जी ।
(९) ,, भगवतचन्द्र जी विद्याभूषण ।
(१०) ,, पं० जगदीशचन्द्र जी हिमकर ।
(११) ,, ,, सीताराम जी मिश्र ।
(१२) ,, बा० लक्ष्मीप्रसाद जी ।
(१३) ,, पं० अयोध्याप्रसाद जी बी० ए० ।
(१४) ,, कामताप्रसाद जी ।
(१५) ,, वद्रीप्रसाद जी निगम ।
(१६) ,, म. सीताराम जी वानप्रस्थ ।
(१७) ,, विश्वनाथसिंह जी ।
(१८) ,, राधाप्रसादसिंह जी ।
(१९) ,, सुखुराम जी ।
(२०) ,, लक्ष्मणदास जी ।
(२१) ,, बनमाली जी पारेख ।
(२२) ,, गंगाप्रसाद जी ।
(२३) ,, सन्तराम जी ।
(२४) ,, राजगोविन्द जी तिवारी ।
(२५) ,, चन्द्रमाप्रसाद जी ।
(२६) ,, शिवशङ्करसिंह जी ।
(२७) ,, जोगेश्वरसिंह जी ।
(२८) ,, वद्रीनारायण जी शर्मा ।
(२९) ,, रामेश्वरप्रसाद जी गुप्त ।
(३०) ,, शीतलसिंह जी ।
(३१) ,, सेवाराम जी वाचा ।
(३२) ,, कृष्णप्रधान जी ।
(३३) ,, पं० दीनबन्धु जी वेद शास्त्री ।

प्रतिनिधियों की संख्या

इस सभा के प्रतिनिधियों की संख्या ४५० है ।

सम्बन्धित आर्य समाजों की संख्या

इस सभा में ३०० समाजें प्रविष्ट हैं । इन समाजों के आर्य सभासदों की संख्या २०२२३ है ।

सभा के अधीनस्थ संस्थाएँ

इस सभा के आधीन आर्य विद्यालय, आर्य महा विद्यालय, आर्य कन्या विद्यालय भवानीपुर में है।

वार्षिक दशांश (आय)

सन् १९६६-६७ के दशांश की आय १०००) है।

सभा का मुख-पत्र

सभा का कोई अपना निजी पत्र नहीं है, परन्तु इसकी संरक्षकता में बँगला में 'आर्य' नामक पत्र चलता है इससे सभा का प्रचार अच्छी तरह से होता है। हिन्दी में "जाग्रति" दैनिक और साप्ताहिक पत्र हैं, ये 'पत्र' श्री मिहिरचन्द जी धीमान् की संरक्षकता में चलते हैं।

उपदेशक

इस सभा में २० उपदेशक तथा एक भजनीक है।

समाजों के उत्सवों की संख्या

इस वर्ष ५० समाजों के उत्सव हुए।

न्याय सभा

इस सभा में न्यायसभा बनी हुई है जिनके सदस्य निम्न सज्जन हैं:—

१. श्री पं० अयोध्याप्रसाद जी बी. ए.।
२. श्री बीरूराम जी।

रचनात्मक कार्य

हैदराबाद सत्याग्रह

सत्याग्रह के धर्म्म युद्ध में १० जत्थे, जिन में २४५ सत्याग्रही थे, गए।

वेद प्रचार

सभा के अन्तर्गत समाजों के अधिवेशनों पर सभा के उपदेशक बराबर वेद प्रचार करते हैं। ३५०० के लगभग शुद्धि करके दलित भाइयों का उद्धार किया गया। सभा के उपदेशक ग्राम ग्राम में बराबर प्रचार करते रहते हैं।

प्रतिवर्ष सोदपुर गोपाष्टमी मेला और खिदरपुर भू-कैलाश में सभा की ओर से तथा खिरदपुर आर्य समाज के तत्वाधान में सभा के प्रचारकों द्वारा प्रचार होता है। अन्तर्जातीय विवाह सभा की देखरेख में कलकत्ता समाज में अकसर होते रहते हैं।

आर्य वीर दल

सभा के आधीन निम्नलिखित समाजों में 'आर्य वीर दल' स्थापित हैं:—

१. सलकिया, हावड़ा २. मल्लिक बाज़ार, कलकत्ता ३. बालीगंज, कलकत्ता ४. काकवाड़ा ५. कांचड़ापाड़ा।

जन गणना

प्रचार में सभा के उपदेशक भजनीकों में टोली बना कर ग्रामों, पार्कों, वाड़ी आदि में ज़ोर दार प्रचार कार्य बड़ी लगन तथा धुन से किया। सभा के द्वारा एक लाख बँगला तथा हिन्दी में विज्ञप्तियाँ नं० २ जनता में वितीर्ण की गईं। 'साहित्य प्रचार' में कुछ छोटी छोटी पुस्तिकाएँ छपवा कर बांटी गई हैं।

पीड़ितों की सहायता

सुल्तानपुर में बाढ़ पीड़ितों को १००) की सहायता दी गई।

९

आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद स्टेट

स्थापना

यह सभा ता० ४ अप्रैल १९३१ ई० को स्थापित हुई।

कार्यालय

इसका कार्यालय बेगम पेठ, हैदराबाद दक्षिण है।

अधिकारी

प्रधान—श्री पं० विनायकरावजी बार.एट-ला.
उपप्रधान—(१) श्री दत्तात्रेय जी वकील।
(२) श्री पं० शेषराव जी वकील
मन्त्री—श्री पं० बंसीलाल जी वकील।
उपमन्त्री—(१) श्री पं० नरेन्द्र जी वकील
(२) श्री पं० रघोत्तम जी वकील

अन्तरङ्ग सदस्य

(१) श्री पं० शेषराव जी वकील निलंगा
(२) ,, निवर्ति रेड्डी जी वकील अहमदपुर
(३) ,, दिगम्बर राव जी वकील लातूर
(४) ,, गणपतरावजी वकील कथलेकलम
(५) ,, वापुराव जी मास्टर धाराशिव
(६) ,, बाल कृष्ण जी बोलारम
(७) ,, भद्रदेव जी नलगुण्डा
(८) ,, शालीग्राम जी वकील ध्रुवपेठ, हैदराबाद (दक्षिण)
(९) ,, पन्नालाल जी नेत्र वैद्य हिंगोली
(१०) ,, हीरामनराव जी उदगीर
(११) ,, सूरजचन्द्र जी वी० ए० एल० एल० बी० वकील।

प्रतिनिधियों की संख्या

इस सभा से सम्बन्धित आर्य समाजों के प्रतिनिधियों की संख्या जिनसे यह सभा बनी है ५५ है।

सम्बन्धित आर्य समाजों की संख्या

इस सभा में १९६ समाजें प्रविष्ट हैं। इन समाजों के आर्य सभासदों की संख्या लगभग ५००० है।

सम्पत्ति

इस सभा की अचल सम्पत्ति लगभग एक लाख रुपये की है और चल सम्पत्ति अनुमानतः ३००००) की है।

सभाधीन संस्थाएँ

इस सभा के अधीन एक कन्या गुरुकुल बेग़म पेठ हैदराबाद (दक्षिण) में है।

प्रेस

इस सभा के पास एक आर्य प्रिंटिंग प्रेस शोलापुर में है। इसका अनुमानतः मूल्य ८०००) है।

मुख-पत्र

सभा की ओर से हिन्दी में एक साप्ताहिक पत्र 'आर्य सन्देश' प्रकाशित होता है।

उपदेशक

इस सभा में ३३ उपदेशक हैं।

समाजों के उत्सवों की संख्या

इस वर्ष ५० सभाओं के उत्सव हुए।

न्याय सभा

इस सभा में न्याय सभा बनी हुई है, परन्तु कार्य कुछ नहीं हुआ है।

रचनात्मक कार्य

सारे मिलों में प्रचार कराया गया। २००० अछूतों को 'आर्य' बनाया गया। २ स्थानों पर मेलों में प्रचार कराया गया। ५० स्थानों पर आर्य वीर दलों की स्थापना की गई।

विशेष कार्य

कई मुसलमान परिवारों के निमन्त्रण पर सभा के उपदेशकों ने उनके घर पर जाकर वैदिक धर्म का उपदेश दिया।

१०

आर्य प्रतिनिधि सभा मौरिशस

स्थापना

इस सभा की स्थापना शनिवार २७ नवम्बर सन् १९२६ को हुई और रजिस्टरी सन् १९२७ में हुई।

कार्यालय

सभा के मुख्य कार्यालय का पता पोर्ट लूईस, जैकब स्ट्रीट नं० २ है।

समाजें और सभासद्

सम्मिलित आर्यसमाजों की संख्या ३० और उनके सभासदों की संख्या ४०० है।

पदाधिकारी

इस वर्ष निम्न पदाधिकारी रहेः—

प्रधान—श्री गु० दलजितलाल।

उप-प्रधान—१ श्री महेश सरदार।

२ श्री महादेव आदित्य

मन्त्री—श्री मोहनलाल मोहित।

उप-मन्त्री—श्री राजकरण लक्ष्मण।

कोषाध्यक्ष—श्री ई० मुचेन।

उप-कोषाध्यक्ष—श्री रा० सोनागी।

अन्तरङ्ग सदस्य

सर्वश्री म० राजकुमार रामदीन, म०

द्वारिकावेदु, म० हरिलाल रघुपत, म० रामशरण गुलाम।

प्रतिष्ठित सदस्य

सर्व श्री म० रामदेव, म० महादेव रामा, म० रामनारायण, म० भवनाथ, म० राम स्वरूप रोमगति, म० जयकृष्ण।

निरीक्षक

श्री शुकदेव भिखारी और श्री केवलशोरी

सम्पत्ति

अचल सम्पत्ति लगभग ३० हजार रुपये की लागत की है।

उपदेशक

इस सभा के अधीन ४ वैतनिक और ६ अवैतनिक उपदेशक कार्य करते रहे। श्रीमती भगवती देवी धर्मपत्नी पं० गयासिंह भी अवैतनिक उपदेशिका का कार्य करती हैं।

संस्थायें

१. अम्भावती कन्या पाठशाला रिशमार (ग्लाक प्रान्त)—इस कन्या पाठशाला में लगभग २५ या ३० कन्यायें मातृभाषा (हिन्दी) की शिक्षा पा रही हैं साथ ही साथ सिलाई की शिक्षा भी दी जाती है। अध्यापिकाओं का वेतन तथा पाठशाला का अन्य व्यय भी पाठशाला के जन्मदाता श्री वि० हनुमान जी प्रदान करते हैं। इसके लिये उनकी ओर से एक ट्रस्ट स्थापित है। पाठशाला की भूमि एवं भवन भी उन्हीं ने बनवाया है जिसकी रजिस्टरी सभा के नाम है।

२. बोनाकेई पाठशाला (ग्लाक प्रान्त) इस पाठशाला में १०० पर्यन्त छात्रायें हिन्दी भाषा एवं धार्मिक शिक्षा पा रही हैं। अध्यापक पं० हरिकृष्ण जी विशारद हैं। पाठशाला सार्वजनिक दान से चल रही है।

३. कन्या पाठशाला ओमेनी (प्लेन्युलियम प्रान्त)—इसमें २५ बालिकायें हिन्दी भाषा और सिलाई की शिक्षा पा रही हैं। इसका व्यय भार भी सार्वजनिक कोष पर है।

४. कन्या पाठशाला-मराठी रेन्यो-वाक्वा (प्लेन्युलियम प्रान्त)—यहाँ लगभग ३० छात्रायें हिन्दी भाषा तथा सिलाई-शिक्षा पाती है। पाठशाला जनता-जनार्दन के सहारे से चल रही है।

५. कांकाबाल क्युपिटा-पाठशाला (प्लेन्युलियम प्रान्त)—इसमें ४० बालक हिन्दी भाषा की शिक्षा पाते हैं, पाठशाला का खर्च जनता पर है।

६. कन्यायें पाठशाला-बुआशेरी साबान—यहा ६० पर्यन्त बालक एवं बालिकाएँ हिन्दी भाषा और सिलाई कार्य की शिक्षा पा रही हैं। पाठशाला सार्वजनिक दान से चल रही है।

उपर्युक्त पाठशालाओं का प्रबन्ध स्थानीय विद्या कमेटियों द्वारा होता है और प्रत्येक स्थानीय विद्या कमेटी के कार्यों की देखरेख का प्रबन्ध श्री आ० प्रतिनिधि सभा के आधीन है।

उपर्युक्त पाठशाओं के अतिरिक्त आर्य भाषा की उन्नति के लिये प्रायः प्रत्येक शाखा-समाज में रात्रि पाठशाला प्रचलित है।

मुख्य रचनात्मक कार्य

सभा के वेद-प्रचार मण्डल द्वारा सामान्य रूप से प्रचार कार्य हो रहा है, गत वर्ष विवाह संस्कार तथा कथा, यज्ञ, संस्कार आदि लगभग २०० पर्यन्त हुए। प्रचार के प्रभाव से विधर्मी भाइयों की शुद्धि भी प्रति वर्ष १० से २० की संख्या में हुआ करती है। और दलित दल का तो अब नाम निशान भी इस प्रदेश में नहीं रहा। पूर्व में यत्किञ्च जो था, वह सब आर्य समाज के प्रचण्ड प्रभाव से नष्ट हो चुका और अन्तर्जातीय विवाह का श्रीगणेश तो मर्यादा रूप में आर्य समाज ने ही किया था; परन्तु अब सनातनी-पौराणिक भाई तो यहाँ तक बढ़ गये हैं कि वे आपस में भेद-भाव को छोड़ कर तेली-तम्बोली और कायस्थ कोइरी के विवाह का चर्चा चलाने लगे हैं।

भाषा और साहित्य—यह एक ऐतिहासिक सचाई है कि मौरीशस प्रदेश में आर्य समाज के प्रचार-प्रभाव से आर्य भाषा और देवनागरी लिपि की तरफ जनता की अभिरुचि बढ़ने लगी और इस समय प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि आर्य समाज अल्प संख्या में रह कर भी इस आर्थिक-संकट समय में भी दो दो प्रेस-पत्र चला रहा है, साथ ही हिन्दी भाषा की अनेक दिवस एवं रात्रि पाठशालाएँ चल रही हैं। आर्य समाज अपनी सामान्य स्थिति में रह कर भी यहाँ की सारी हिन्दू संस्थाओं से अधिक शक्तिशाली है।

समाचार पत्र व प्रेस

१. सभा का अपना 'श्रद्धानन्द प्रेस' है लागत मूल्य ३००० तीन हज़ार है।

२. सभा का मुख पत्र आर्य वीर है, जो हिन्दी और अंग्रेज़ी का साप्ताहिक है।

११

आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका

क्षेत्र

यह सभा केन्या, उगन्डा, जंजीवार और टांगानिका प्रदेशों की आर्य समाजों की प्रतिनिधि सभा है।

स्थापना

इसकी स्थापना अगस्त् सन् १९२० में हुई।

मुख्य कार्यालय

इस सभा का रजिस्टर्ड मुख्य कार्यालय केन्या उपनिवेश के नैरोबी नगर में है।

सम्पत्ति

अचल सम्पत्ति का मूल्य लगभग ६ लाख शिलिंग है।

अधिकारी

इस सभा के प्रधान श्री म० ए० प्रीतम जी, उपप्रधान श्री एच० बी० शर्मा, प्रधान मन्त्री म० प्रभुदयाल और कोषाध्यक्ष म० रामरखा हैं। सर्वश्री बी० आर० शर्मा, बी० आर० देसाई, बी० आर० भल्ला, डा० पुरी और डा० कपिल अंतरंग सदस्य हैं।

सम्मिलित समाजें

सम्मिलित समाजो के सभासदों की संख्या ५०० के लगभग हैं।

प्रचारक

म० बद्रीनाथ आर्य, म० ईश्वरदास विशारद, श्री डी. बी. देसाई, श्री एम. एम. वर्मा, श्री बी. आर. भल्ला और श्री के. डी. कपिला अवैतनिक प्रचार का कार्य करते रहे।

उत्सव

इस वर्ष ४ समाजों के वार्षिकोत्सव हुए।

हैदराबाद सत्याग्रह

साधारण प्रचार के अतिरिक्त सभा द्वारा लगभग १० हजार शिलिंग धन हैदराबाद सत्याग्रह की सहायतार्थ आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा को भेजा गया।

अन्य महत्वपूर्ण सभायें—

निम्न महत्वपूर्ण सभायें सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बद्ध नहीं हैं:—

१

श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर

स्थापना

फाल्गुण शुक्ला ५ मङ्गलवार सम्वत् १९३९ विक्रमी तदनुसार ता० १३ मार्च सन् १८८३ ई० को महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने स्वीकार पत्र के अनुसार इस सभा की स्थापना की।

कार्यालय

अजमेर में है।

पदाधिकारी

प्रधान— ....

उप प्रधान— रा० ब० लाला मूलराज एम० ए०।

मन्त्री— दीवान बहादुर हरविलास शारदा।

सदस्य

सदस्यों की संख्या २१ है इनके नाम निम्न हैं:—

१. पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए०।
२. श्रीमान् राजाधिराज साहब श्री उम्मेदसिंहजी बहादुर शाहपुराधीश।
३. श्रीमान् एच० एच० महाराजा राणा साहिब सर राजेन्द्रसिंह जी बहादुर झालावाड़ नरेश।
४. श्री पं भगवत्दत्त जी लाहौर।
५. ,, ला० गुलराजगोपाल जी।
६. ,, मास्टर कन्हैयालाल जी।
७. श्रीमान् नारायण स्वामी जी।
८. ,, प्रो० घीसूलाल जी एडवोकेट।
९. ,, डा० मानकरण जी शारदा।
१०. ,, रा० सा० मदनमोहन जी।
११. ,, प्रो० सुधाकर जी।
१२. ,, कुँवर चाँदकरण जी शारदा।
१३. ,, केपटिन दुर्गानारायणसिंह जी राजा तिरवा।
१४. ,, बा० चुन्नीलाल जी।
१५. ,, आनन्दप्रिय जी बड़ौदा।
१६. ,, पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।
१७. ,, रा० ब० डाक्टर मथुरादास जी लाहौर।
१८. ,, राजा ज्वालाप्रसाद जी बिजनौर।
१९. ,, आनरेबल बख्शी टेकचन्द जी जज हाईकोर्ट लाहौर।

२०. ,, रा० ब० ला० बद्रीदास जी लाहौर।

सम्बद्ध सँस्थायें

१. वैदिक यन्त्रालय—

यह प्रिंटिंग प्रेस है। महर्षि कृत सब ही ग्रन्थ यहीं मुद्रित होते हैं। इसकी स्थापना सन् १८७६ ई० में हुई थी। इस समय राजपूताने में सब से बड़ा प्रिन्टिङ्ग प्रेस है। टीटागढ़ पेपर मिल्स कलकत्ता, डेकन पेपर मिल्स पूना का राजपूताना की एजेन्सी है तथा गेंजेज़ प्रिंटिङ्ग इंक फैक्टरी कलकत्ता की भी एजेन्सी है।

यहां पर हस्तलिखित ग्रन्थों की फोटो लेने की मशीन है इसके द्वारा महर्षि के हस्तलिखित ग्रन्थों के कुछ फोटो लिये गये हैं।

२. वैदिक पुस्तकालय—

इसकी दो शाखाएँ हैं:—

(१) बिक्री विभाग में महर्षि कृत समस्त ग्रन्थों का प्रकाशन व बिक्री होती है। सर्व प्रथम इस पुस्तकालय ने ही सत्यार्थ प्रकाश व संस्कार विधि के सस्ते संस्करण ।) व =) के निकाले थे। यहां अब अन्य प्रकाशकों की वैदिक धर्म सम्बन्धी पुस्तकें भी विक्रियार्थ रखी हैं।

(२) पुस्तकालय। इसमें संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं की पुस्तकें लगभग ३००० संगृहीत हैं और प्रतिवर्ष पुतस्कें मंगाई जाती हैं। इस पुस्तकालय में कोई भी आकर पुस्तकें देख सकता है। किसी प्रकार का शुल्क नहीं है।

सम्पत्ति

चल तथा अचल का मूल्य लगभग १५३०००) रु० है।

वार्षिक आय

लगभग ४०००) रु० है।

यन्त्रालय

वैदिक यन्त्रालय का अनुमानिक मूल्य १२००००) है।

रचनात्मक कार्य

प्रचार कार्य यह सभा उपदेशकों तथा पुस्तकों के सस्ते संस्करणों द्वारा करती है।

श्रीमती परोपकारिणी सभा ने श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की अर्द्ध शताब्दी वि० संवत् १९९० ई० सन् १९३३ में अजमेरनगर में मनाई थी। उसमें आर्यवर्त व अफ्रीका, वर्मा आदिसे करीब एक लाख आर्य एकत्रित हुए थे। स्वामीजी महाराज की स्मृतिमें Commemoration Volume (कममोरेशन वोल्यूम) जिसमें देश भर के विद्वानों और महान् पुरुषों के लेख श्री स्वामी जी के विषय में हैं, प्रकाशित किया और श्री स्वामी जी महाराज के ग्रन्थों का शताब्दि संस्करण छपवाया।

२

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पञ्जाब, सिन्ध व बिलोचिस्तान

स्थापना

१ जून सन् १८६२ ई० को इस प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई। पंजाब में कालेज विभाग के आर्य समाजों की शिरोमणि सभा है।

कार्यालय

म० हंसराज भवन, हंसराज रोड लाहौर में है।

उद्देश्य

१. धर्म सम्बन्धी पुस्तकों का पुस्तकालय स्थापित करना, २. वैदिक धर्म प्रचार का प्रबन्ध, ३. ट्रेक्ट तथा पुस्तक प्रकाशन, ४. आर्यसमाज की भलाई के साधन सोचना और उनपर आचरण करना, ५. विधवा, दीन, अनाथादि की सहायता करना।

सम्बद्ध समाजें व उनके प्रतिनिधि

रिपोर्ट के अनुसार वर्ष के आरंभ में १२२ सम्बद्ध आर्य समाजों के १०२ प्रतिनिधियों ने वार्षिक साधारण अधिवेशनमें भाग लिया, वर्ष में २८ आर्य समाजें और सम्बद्ध हुईं।

पदाधिकारी

वर्ष के आरम्भ में निम्न महानुभाव पदाधिकारी निर्वाचित हुए—

प्रधान—ला० खुशहाल चन्द 'खुर्सन्द'।

उपप्रधान—१. प्रिंसिपल महेरचन्दजी लाहौर, २. ला०केशोराम रईस बागवानपुर

मन्त्री—प्रो० दीवानचन्द्र शर्मा लाहौर।

उपमन्त्री—ला० वृजलाल बी० ए० एल० एल० बी०, ला० रामदास एडवोकेट व पं० परमानन्द शास्त्री।

कोषाध्यक्ष—पं० विश्वम्भरनाथ कनागत।

अन्तरङ्ग सदस्य

अन्तरङ्ग सभा के सदस्यों की संख्या १४ है।

कार्यक्षेत्र तथा वेदप्रचार

सभा के कार्य का क्षेत्र केवल पंजाब और बलूचिस्तान ही नहीं है, अपितु अन्य प्रान्तों में भी सभाकार्य कर रही है।

उत्सव

इस वर्ष (१ दिसम्बर सन् १६३६ से ३० नवम्बर १६४० तक) लगभग ६० आर्य समाजों के उत्सवों में सभा के उपदेशकों ने भाग लिया।

उपदेशक व भजनीक

इस वर्ष लगभग ४८ उपदेशक व भज-

नीक सभा के अधीन कार्य करते रहे। अवैत-निक कार्य कर्ता इनसे अतिरिक्त है।

हरियाणा में सहायता

जिला हिसार के अकाल पीडित क्षेत्र में सभा की ओर से सहायता कार्य किया गया। क्षेत्र को १६ केन्द्रों में विभक्त कर जिला हिसार के १०९, जीन्द के ४२ और बीकानेर रियासत के ६ ग्रामों को सहायता दी गई। इस प्रकार लगभग ८-१० हजार व्यक्तियों को सहायता पहुंची।

आसाम

प्रचार का मुख्य केन्द्र आर्यसमाज गोहाटी, तेजपुर व शिलांग ही रहे। इन समाजों के अधीन एक-एक हिन्दी पाठशाला चल रही है। सभा की ओर से आसाम प्रांत में दयानन्द मुक्ति मिशन चल रहा है जिसके अन्तर्गत शुद्धि और अनाथ रक्षा का कार्य आरम्भ हो गया है। अनाथ बालक-बालिकाओं के लिये दयानन्द सेवा सदन स्थापित है। जिसमें इस वर्ष १३ बालक-बालिकायें हैं। सभा की ओर से श्री विश्वनाथ त्यागी कार्य करते रहे।

दूसरे उपदेशक पं० योगेश्वर ने आर्य समाज तेजपुर, नौगांव और नूरवारी ही स्टेट में प्रचार कर शुद्धि, संस्कार, हिन्दी प्रचार आदि का कार्य किया।

मालाबार

म० कर्मचन्द भल्ला और ठा० बुधसिंह इस प्रान्त में कार्य करते रहे। शुद्धि संस्कार, आदि के अतिरिक्त मलयालम भाषा के दो ट्रैक्ट बंटवाये गये। कुल २४ शुद्धियां हुईं।

मध्यभारत के भील

सभा के उपदेशक पं० देवप्रकाश द्वारा लगभग १३२५ भील वैदिक धर्म में प्रविष्ट हुए।

बिहार

इस वर्ष म० रत्नलाल धीर के प्रचार का परिणाम छपरा में उत्तर बिहार हिन्दू वनिताग्राम की स्थापना हुई। हिन्दू वनिताश्रम दानापुर में इस वर्ष ११९ स्त्रियाँ प्रविष्ट हुईं।

दक्षिण भारत

सभा की हैदराबाद निधि से पं० श्रीराम व पं० गोपाल हैदराबाद दक्षिण में प्रचार कार्य कर रहे हैं। इस निधि से २००) मासिक की छात्रवृत्तियाँ हैदराबाद निवासी विद्यार्थियों को दी जाती हैं। ये दयानन्द कालेजों व अन्य संस्थाओं में शिक्षा पा रहे हैं।

गढ़वाल

यहाँ १३ वर्ष से "दयानन्द हाई स्कूल पौड़ी" (गढ़वाल) खुला हुआ है। इसके प्रबन्ध के लिये एक स्थानीय सभा है।

म० हंसराज वैदिक साहित्य विभाग

स्वर्गीय म० हंसराज जी की स्मृति में इस विभाग की स्थापना हुई है जो धर्म प्रचारक कमिटी की तरह काम करेगा। इस विभाग की ओर से धार्मिक पुस्तकों की बिक्री का कार्य हो रहा है।

संस्थाएँ

दयानन्द दलितोद्धार मण्डल पञ्जाब, होशियारपुर—

इस मण्डल की स्थापना श्री लाला देवीचन्द एम० ए० ने सन् १६२५ में की। इस समय सन् १६३३ से इसके प्रधान ला० रामदास प्रिन्सिपल दयानन्द कालेज होशियारपुर हैं। मण्डल के अधीन ४ स्कूल हैं, जिनमें २११ बालक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

मण्डल के अधीन लगभग २२ प्रचारक काम करते रहे। ४७२५ शुद्धियाँ हुई हैं।

कांगड़ा वैली वेद प्रचारट्रस्ट सोसाइटी कांगड़ा

इस सोसाइटी से जिले की सब आर्य-समाजें, गुरुदत्त एंग्लो वैदिक हाई स्कूल कांगड़ा व गुरुदत्त मिडिल स्कूल सल्पाना का सम्बन्ध रहा।

दयानन्द चैरीटेबल मेडिकल मिशन काँगड़ा—

इस मिशन की स्थापना सन् १६३५ में हुई। इस समय इसके आधीन २ चिकित्सालय चल रहे हैं। इस वर्ष दोनों चिकित्सालयों से लगभग ३०००० रोगियों ने लाभ उठाया।

म० हसराज हाई स्कूल भटिंडा—

इस वर्ष यह अपने भवन में आया है, जिस पर २०-२५ हजार व्यय हुआ है।

सिन्ध वेद प्रचारिणी सभा (कराची)—

इस सभा के प्रधान प्रिंसपल राम-सहाय व मन्त्री पं० गुरुदत्त शर्मा रहे। पं० ब्रह्मदत्त ने कराची खैरपुर, नाथनशाह और लाकाना आदि प्रान्तों में प्रचार किया।

आर्य अनाथालय मुलतान—

प्रबन्ध स्थानीय समिति करती है। इसके प्रधान व अनाथालय के मैनेजर रा० सा० ला० परमानन्द हैं। इस वर्ष अनाथो की संख्या ६७ रही।

सभा के समाचार पत्र

मुख पत्र—

सभा का मुख पत्र "आर्य गजट" उर्दू साप्ताहिक है। दूसरा पत्र "आर्य जगत्" हिन्दी का मासिक पत्र है।

३

आर्य प्रतिनिधि सभा ब्रह्मा

कार्यालय

इस सभा का मुख्य कार्यालय १६६ ब्रिगेनडेट रंगून में है।

सभा के अधिकारी

प्रधान—श्री लाला जगतराम जी सुपरवाइज़र
उपप्रधान—१ श्री पं० परमानन्द जी बी. ए.
२. श्री लक्ष्मणदासजी वर्मा वकील
३. श्री बा. हंसराजजी ओवरसियर
मन्त्री—श्री ए. के. भारद्वाजजी बी. ए. बी. टी.
उपमन्त्री—श्री म० रामनिवास जी
आडीटर—श्री म० संसारचन्द्र जी
सभासद्—श्री डाक्टर गुरुदत्त सरीन जी

सम्बन्धित आर्य समाजों की सूची

इस सभा में २५ समाजें प्रविष्ट हैं।

सभा की सम्पत्ति

इस सभा का लगभग १००००) की लागत का अपना भवन है।

संस्थायें

इस सभा के आधीन एक अनाथालय है जो कि मांडले में है। इसमें लगभग ४० बालक बालिकायें आश्रय पा रहे हैं। इस शुभ कार्य के लिये गत वर्ष अधिवेशन के समय पर दान वीर सेठ ईश्वरदास जी तथा श्री लाजपतरायजी ने अपना एक विशाल भवन जिसकी लागत लगभग १००००) सभा को दान दिया है। इसकी एक अलग कमेटी है और वही उसका कार्य संचलन करती है।

रचनात्मक कार्य

हैदराबाद सत्याग्रह

इस सभा ने हैदराबाद सत्याग्रह में काफी सहयोग दिया। ब्रह्मदेश की हिन्दू जनता में सत्याग्रह का प्रचार करने के लिये एक हिन्दी साप्ताहिक तथा एक अंग्रेज़ी का साप्ताहिक पत्र निकाला था और इसके फल स्वरूप लगभग १० सहस्र रुपया तथा दो जत्थे भेजे गये थे। प्रथम जत्थे का नेतृत्व सभा के सहायक मन्त्री पं० रामनिवास जी मिश्र ने अपने ऊपर लिया था और दूसरे जत्थे का नेतृत्व पं० रामनाथ जी शर्मा अध्यापक डी. ए. वी. स्कूल मचीना ने लिया था। दोनों जत्थों में २२ सज्जन थे।

वेद प्रचार

अभी तक पं० रामविहारी शास्त्री सभा का प्रचार कर रहे थे, पर अब उनकी सेवायें स्थानीय आर्य समाज ने प्रचारक के रूप में

ले ली हैं। अतएव सभा ने भारतवर्ष से एक विद्वान् प्रचारक शीघ्र मँगाने का निश्चय किया है, जिसके लिये लिखा पढ़ी हो रही है। ब्रह्मी लोगों में भी प्रचार करने का सभा का प्रथम ध्येय है। श्री अक्कृतिमा भिक्षु जी की स्पीच तथा आर्य धर्म संघ के प्रस्ताव लगभग पाँच पत्रों में वर्मी भाषा में छपवा कर मुख्य मुख्य पोंगी, चाँवो, मठों तथा बरमा के अन्य स्थानों में, जहाँ कि आर्यधर्म के चाहने वालों की संख्या है, बंटवाया गया है।

बौद्ध भाइयों में वैदिक धर्म के प्रचार करने का कार्य सभा यथाशक्ति कर रही है। प्रचार के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए सभा ने प्रथम आर्य धर्म संघ १९३७ ई० में तथा द्वितीय आर्य धर्म संघ सन् १९४० ई० में आयोजित किये गये थे। द्वितीय आर्य धर्म संघ में तो बहुत बड़ी सफलता प्राप्त हुई। इस संघ के प्रधान बौद्ध धर्म के एक बड़े भारी प्रतिष्ठित भिक्षु अचक्रपाल अग्गासहाय पंडित जी थे जिनका धार्मिक प्रभाव बौद्ध भाइयों में बहुत ज़बर्दस्त है। इस संघ में भारतवर्ष से बाबा राघवदास जी तथा कुँवर चांदकरण जी शारदा भी पधारे थे। इसकी सफलता का सारा श्रेय हिन्दू जाति के बड़े शुभचिन्तक श्रीयुत सेठ जुगुलकिशोर जी बिड़ला को है।

साहित्य प्रचार

सत्यार्थप्रकाश का बरमी अनुवाद सारनाथ बरमा बौद्ध मन्दिर के महन्त पूज्यवर भिक्षु अक्कृतिमाजी द्वारा किया गया है जिसके छपाने का प्रबन्ध किया ज रहा है।

आर्य समाज का विस्तृत कार्य क्षेत्र

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा विभिन्न प्रांतीय प्रतिनिधि सभाओं के कार्य का विवरण देने के पश्चात् हम यहां आर्यसमाज के विस्तृत कार्य क्षेत्र का विवरण और इस कार्य क्षेत्र में कार्य करने वाली विभिन्न आर्य समाज संस्थाओं का विवरण देंगे।

वेद प्रचार

आर्य समाज का मुख्य कार्य वेद प्रचार है। इस सम्बन्ध में प्रतिनिधि सभाओं और सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा ने जो कार्य गत वर्ष किया है उसका विवरण पहले पृष्ठों में आ चुका है। इस मुख्य कार्य के साधन भूत अंग शिक्षा प्रसार, अस्पृश्यतानिवारण आदि हैं। उपरोक्त प्रतिनिधि सभाओं तथा विभिन्न आर्य समाजों के अधीन अनेक संस्थायें इन कार्यों में लगी हुई हैं। यहां हम वेद प्रचार के पूर्व इतिहास पर कुछ प्रकाश डाल विस्तृत कार्य क्षेत्र के इन अंगों का विवरण देंगे।

पूर्व इतिहास

आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् उसको ऋषि दयानन्दकी संरक्षकता का सौभाग्य केवल ½ वर्ष पर्यन्त ही प्राप्त रहा। सम्वत् १९४० वि० (३० अक्तूबर सन् १८८३) की दीपावली के दिन ऋषि निर्वाण पद को प्राप्त हुए।

परन्तु इस थोड़े से समय में ही प्रायः कोई ऐसा कार्य क्षेत्र या कार्य की दिशा नहीं रह गई थी जिस ओर ऋषि ने अपने क्रियात्मक आचरण या ग्रन्थ अथवा पत्रादि लेखन में इशारा न दिया हो।

प्रारम्भ में ऋषि के प्रचार का मुख्य साधन व्याख्यान, विज्ञापन और साहित्य द्वारा प्रचार था। शास्त्रार्थ उस युग का एक आवश्यक अंग था। पुराने संस्कृतज्ञ पंडितों की अनावश्यक धाक को नष्ट करने के लिये यह आवश्यक था कि ऋषि जैसा वेदों का विद्वान् सत्य निर्णय के लिये उन्हें ललकारे और उन्हीं की भाषा में उनकी अज्ञता को प्रकट करे। धीरे-धीरे यह जनता की रुचि का विषय बनता गया। शिक्षित और अर्ध शिक्षित जनता अपने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं के लिये ऋषि के पथ प्रदर्शन की प्रतीक्षा में रहने लगी। इसी समय ऋषि ने सर्व साधारण की भाषा में सत्यार्थप्रकाश रचा और अन्य अनेक उपयोगी ग्रन्थ बनाये। आर्य समाज की स्थापना के पश्चात् वैदिक धर्म के प्रचार के कर्त्तव्य की ओर ऋषि

अपने अनुयायी सभासदों का ध्यान आकर्षित करने लगे। फिरोजपुर का अनाथालय उनकी प्रेरणा का ही फल था।

आपने गौ तथा अन्य उपयोगी पशुओं की रक्षा के लिये घोर प्रयत्न किया, सरकारी अधिकारियों से मिले उन्हें इस महान् कार्यका महत्व समझाया। आपकी इच्छा थी कि कम से कम दो करोड़ भारतीयां के हस्ताक्षर से एक प्रार्थनापत्र गोरक्षा के लिये सम्राज्ञी विक्टोरिया की सेवा में उपस्थित किया जाय। आपके निर्देश पर रिवाडी में गो शाला भी स्थापित हुई। आपकी अभिलाषा थी कि केवल भारत में ही नहीं भारत से बाहर भी गाय, बैल और भैंस आदि उपयोगी पशुओं की हत्या बन्द हो जाय। उन्हीं दिनों आर्य भाषा को राजकीय कार्यों के लिये प्रयुक्त किया जाने के आन्दोलन में आपने आर्य समाज को कर्त्तव्य की स्मृति दिलवाई।

प्रेस और प्रचार का अटूट सम्बन्ध है इस बात को भी आप भली भांति अनुभव करते थे। अपने ग्रन्थों के प्रचार के लिये तो अपना प्रेस होना आवश्यक ही था। आपने वैदिक यंत्रालय इसी हेतु खोला—जो पहले बनारस रहा, फिर प्रयाग और उसके पश्चात् से अजमेर में है। स्वामी जी के ग्रन्थो के अतिरिक्त अनेक आवश्यक विज्ञापन भी इसमें जब-तब प्रकाशित होते थे।

स्वदेश की उन्नति और सुधार में विदेशी शासन कहाँ तक सहायक हो सकता है, आप इस मर्यादा को भली भाति अनुभव करते थे—आपने सत्यार्थप्रकाश आदि के लेख तथा कुछ पत्रों में अपने भाव प्रकट किये हैं, परन्तु स्वामी जी ऋषि दयानन्द के पश्चात प्रचार का कार्य पहले तो उनके शिष्यों और उनमें भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों पर पड़ा, यद्यपि प्रारम्भ के इस युग में प्रत्येक आर्य समाजी अपने आपको वैदिक धर्म का प्रचारक मानता था, परन्तु उनका यह उत्साह रूढ़ियों को भिन्न-भिन्न करने और निर्भयता से अपनी पुरानी रूढ़ि ग्रस्त बिरादरियों के मुकाबले तक ही सीमित था। अभी भक्त लोग सिद्धान्तों के विद्वान् नहीं थे।

धीरे-धीरे प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं का संगठन हुआ। सन् १८८६ में पंजाब और पश्चिमोत्तर तथा अवध प्रदेश (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) में प्रतिनिधि सभाओं का संगटन हुआ। इसी प्रकार सन् १८८८ ई० में राजस्थान व मालवा, फिर सन् १८६६ में मध्य प्रान्त व बगाल-बिहार में और सन् १६०२ में बम्बई में प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाये स्थापित हो गईं। ये सभायें ही अब स्वामी जी का प्रतिनिधित्व कर रही थीं।

सभाओं ने नियम पूर्वक वेद प्रचार निधि की स्थापना कर योग्य विद्वान् उपदेशकों की वृत्ति का प्रबन्ध कर मौखिक और लिखित प्रचार की प्रणाली आरम्भ की। स्वामी जी ने

भी स्वा० सहजानन्द और पं० गयाप्रसाद को इसी प्रकार समाजों की अनुमति से प्रचारक नियुक्त किया था।

ऋषि दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् प्रारम्भ में आर्य नेताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ कि आर्य सन्तान को संस्कृत और अंग्रेजी द्वारा पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्याओं का ज्ञान दिया जाय, ताकि वे सच्चे वैदिकधर्मी बनें। इसलिए आर्यसमाज की उस समय की सारी शक्ति, इसके नवयुवकों का तप और त्याग शिक्षा की उन्नति में लग गया। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि सीधा वेद प्रचार सर्वसाधारण जनता में वेद की शिक्षाओं का प्रसार, ऋषि का विशेष उद्देश्य था। आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने अपने यहाँ 'वेद प्रचार निधि' की स्थापना की और अब इसके लिए धन एकत्रित होने लगा तथा नियमपूर्वक उपदेशक नियत होने लगे। अस्पृश्यता निवारण, पर्दे का विरोध, पथभ्रष्टों का प्रायश्चित अथवा शुद्धि आदि सभी दिशाओं में प्रचार का विस्तार होने लगा। आज वेद प्रचार का कार्य इतना विस्तृत हो चुका है कि उपरोक्त सभी आन्दोलनों का अपना अपना पृथक पृथक् इतिहास है।

वैदिक आदर्शानुकूल शिक्षा का अभाव अभी खटकता रहा। परन्तु ऋषि द्वारा निर्दिष्ट गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की ओर नेताओं का ध्यान गया। सन्तति को छुटपन से ही शहर और बस्ती के वातावरण से दूर गुरुओं के समीप रख वेदादि शास्त्रों के अध्ययन करना तथा सदाचार निर्माण की व्यवस्था का प्रबन्ध यद्यपि नई बात थी, परन्तु आर्यसमाज का आदर्श यही था। प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं ने अपने प्रारम्भिक वर्षों में लगभग सन् १९१७-१८ ई० तक इस प्रणाली को सफल बनाने का भरसक प्रयत्न किया। इस संस्था के क्रमिक विकास पर हम अन्यत्र प्रकाश डालेंगे।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली के परीक्षण का इतने वर्षों तक का परिणाम देख कर अब समाज के नेताओं ने एक बात और अनुभव की। उन्होंने देखा कि परिपक्व बुद्धि के धर्म प्रचारकों की शिक्षा का आर्यसमाज के पास कोई प्रबन्ध नहीं है। गुरुकुल खोलने से पहिले लाहौर में और फिर जालन्धर में पंजाब प्रतिनिधि सभा का एक उपदेशक विद्यालय सन् १८९१ से सन् १९०६ तक चलता रहा था। गुरुकुल की ओर सभा का ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण वह आगे उन्नति न कर सका। अब सभा ने फिर उसी प्रकार के उपदेशक विद्यालय की आवश्यकता अनुभव की। सन् १९२५ ई० में मथुरा में श्रीमद् दयानन्द जन्म शताब्दि मनाई जाने वाली थी। सभा ने इसी अवसर पर एक विद्यालय खोलने का निश्चय किया।

गुरुकुल कांगड़ी की पद्धति से किंचित् भिन्न परन्तु गुरुकुल स्वामी दर्शनानन्द जी द्वारा स्थापित सिकन्दराबाद, ज्वालापुर महाविद्यालय आदि रहे। इनमें जहां अंग्रेजी शिक्षा का अभाव रखा गया वहाँ शिक्षा के अतिरिक्त भोजनाच्छादन का शुल्क भी नहीं लिया जाता रहा। स्वभावतः ऐसे विद्यालयों को आर्थिक कष्ट में से गुजरना पड़ा।

एक तीसरे प्रकार के भी गुरुकुल हैं। इनके संचालकों का विचार है कि आर्यसमाज के विद्वान् व्याख्याता बनाने के लिए भावी सन्तति को ऋषि निर्दिष्ट आर्य ग्रन्थों का ही अध्यापन करवाना चाहिये।

श्रीमद्दयानन्द शताब्दि महोत्सव से पूर्व सरकारी विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध शिक्षा की उपयोगिता की ओर फिर से सभाओं का ध्यान गया। अब इन्हों ने गुरुकुलों के अतिरिक्त ऐसे स्कूल और कालेज भी खोले।

इन सब संस्थाओं का विवरण हम यथा स्थान इसी प्रकरण में देंगे।

सन् १९२५ ई० में मथुरा शताब्दि महोत्सव हुआ। इस समय से सब आर्यसमाजों की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक सभा अपने पैरों पर खड़ी हुई। प्रान्तीय सभाओं का प्रचार कार्य भी पहिले से अधिक संगठित हो रहा था। देश के सुदूर प्रान्तवर्ती और पर्वतमय प्रान्तों में जहा वेद धर्म का सन्देश नहीं पहुंच सका था, तथा विदेशों में वैदिक धर्म के प्रचार का संगठित कार्य सार्वदेशिक सभा की ओर से आरम्भ हुआ।

इस भूमि के पश्चात् अब हम देखेंगे कि शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज क्या कार्य कर रहा है।

शिक्षण क्षेत्र तथा संस्थाएँ

प्रथम प्रयत्न

ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन काल में ही वैदिक शिक्षण की आवश्यकता को अनुभव किया था। फरुखाबाद और काशी में उन्हीं के निर्देश पर संस्कृत पाठशालायें खुली थीं। स्वामी जी के पत्रों में इन पाठशालाओं की पाठविधि में अनेक निर्देश मिलते हैं। सन् १८८२ में इन आर्य समाचार पत्रों में एक उपयुक्त वैदिक शिक्षणालय की आवश्यकता पर लेख प्रकाशित होते देखते हैं। इसके पश्चात् अगले ही वर्ष ऋषि निर्वाण हो गया। आर्य पुरुषों ने इस अवसर हर ऋषि की स्मृति में एक वैदिक शिक्षणालय खोलने का आन्दोलन उठाया।

उस समय यह उचित समझा गया कि वैदिक शिक्षा के साथ-साथ राज भाषा और पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा का भी प्रबन्ध किया जाय। प्रस्तावित दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज का यही उद्देश्य स्थिर किया गया। आर्य जनता ने इसका स्वागत किया और ला० हंसराज (पीछे से महात्मा हंसराजजी) जैसे उत्साही युवक के त्याग ने इसे सुगम बना दिया। सन् १८८६ ई० में लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल की स्थापना हो गई।

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली

परन्तु शीघ्र ही इस स्कूल की पाठविधि के प्रति कार्यकर्ताओं में असन्तोष उत्पन्न होने लगा। मनस्वी पं० गुरुदत्त जी एम० ए० जो अन्त तक कालेज के लिए धन की अपील करते रहे, स्कूल और कालेज में संस्कृत-व्याकरण की उपेक्षा के कारण असन्तुष्ट रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १८६८ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने 'गुरुकुल' की विस्तृत योजना तैयार की। इधर पश्चिमोत्तर (वर्तमान संयुक्त प्रान्त) के सिकन्दराबाद स्थान पर, स्वामी दर्शनानन्द जी के प्रचार के फलस्वरूप यद्यपि गुरुकुल खुल गया, परन्तु प्रथम विस्तृत और स्थिर योजना बनाने का श्रेय आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को ही है।

इस योजना के अनुसार गुरुकुल की स्थापना पहले गुजरांवाला में सन् १६०१ में हुई। पश्चात् वह हरिद्वार निकट गंगापार, बिजनौर निवासी मुन्शी अमनसिंह जी द्वारा प्रदत्त कांगड़ी ग्राम की भूमि में आ गया।

गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक प्रातः स्मरणीय महात्मा मुन्शीरामजी थे। उन्होंने इसके लिए न केवल प्रारम्भ में ३० सहस्र

रुपया एकत्र करने तक घर में प्रवेश न करने की प्रतिज्ञा की अपितु अपना तन, मन, धन सभी कुछ न्योछावर कर दिया। आप इन्हीं दिनों पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान थे। पीछे से गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता रहे। प्रथम आचार्य पं० गंगादत्तजी बने। सन् १९०७ ई० में गुरुकुल में महाविद्यालय श्रेणियां आरम्भ हो गई। पं० गंगादत्तजी इस समय पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। वे ज्वालापुर में महाविद्यालय ज्वालापुर के नाम प्रसिद्ध गुरुकुल में चले गये। इसके पश्चात् प्रो० रामदेवजी महात्मा मुशीराम जी के दायें हाथ रहे। सन् १९१२ ई० में यहां से दो ब्रह्मचारी स्नातक परीक्षा में उत्तीर्ण हो कार्य क्षेत्र में आये। सन् १९१७ ई० में जब कि महात्मा मुन्शीरामजी संन्यासाश्रम में प्रविष्ट हो विस्तृत कार्य क्षेत्र में आये तब गुरुकुल शिक्षाप्रणाली की अवस्था इस प्रकार थी। पंजाब में, मुल्तान, कुरुक्षेत्र, देहली तथा मटिंडू (जिला रोहतक) वृन्दावन, सिकन्दराबाद, इरपुरजान, होशंगाबाद, शाताकुञ्ज (बम्बई) वैद्यनाथ धर्म आदि स्थानों पर गुरुकुल खुल चुके थे। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली इतनी लोकप्रिय हो चुकी थी केवल आर्यसमाज ही नहीं, अपितु सनातनी, जैन और ईसाई तक भी इस प्रणाली को अपनाकर इस ढंग के शिक्षणालय खोलने लगे।

गुरुकुल कांगड़ी की सफलता के कारण अनेक विदेशियों और राजकर्मचारियों का ध्यान गुरुकुल शिक्षाप्रणाली की ओर आकर्षित हुआ। शहरों के कोलाहल से दूर, हिमालय की एक उपत्यका के एक सघन बन में स्थित इस तपोवन का दृश्य जनता के लिए आकर्षक था। अमीर-गरीब, ऊँच-नीच का यहाँ कोई भेद नहीं था। श्रीयुत् मायरेन फेल्पस, सी० एफ० एन्ड्र्यूज़ आदि शिक्षा विशारदों ने समाचार पत्रों में इस प्रणाली पर लेख लिखे। ग्रेट ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री रेम्जे मैकडोनल्ड ने लिखा कि "मैकाले के पश्चात् भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो सबसे महत्वपूर्ण और मौलिक प्रयत्न हुआ है वह गुरुकुल है।" श्री० श्रीनिवास शास्त्री ने गुरुकुल को देखकर यह विचार बनाया कि महाविद्यालय विभाग में भी भारतीय भाषायें शिक्षा का माध्यम हो सकती हैं।

संयुक्त प्रान्त के लेफ्टनेन्ट गवर्नर, सर जेम्स मेष्टन और भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड आदि सरकारी अधिकारी भी समय समय गुरुकुल अवलोकनार्थ पधारे और उन्होंने इसकी प्रणाली पर से संतोष प्रकट किया।

इस प्रकार गुरुकुल संस्थायें भारतीय संस्कृति का गढ़ और राष्ट्रीय शिक्षा का केन्द्र रहीं। इन संस्थाओं के विद्यार्थियों, अध्यापकों

और स्नातकों ने न केवल दुर्भिक्ष, भूकम्प आदि के समय सेवा कार्य में ही भाग लिया, अपितु राष्ट्रीय और धार्मिक आन्दोलनों में सत्याग्रह में भी पूरा भाग लिया। गुरुकुल आर्य समाज आन्दोलन का प्रतिमूर्ति बन रहा था।

गुरुकुल ने आर्यसमाज को वेदों के विद्वान्, भाष्यकार और व्याख्याता दिये हैं। प्रचार कार्य में गुरुकुल के स्नातकों ने सभा का बड़ा हाथ बटाया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में गद्य, पद्य, काव्य, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान आदि सभी विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ स्नातकों ने लिखे हैं। पत्र-सम्पादन के तथा अन्य सार्वजनिक सेवाओं के क्षेत्र में भी गुरुकुल के स्नातकों ने गुरुकुल और आर्य समाज का गौरव बढ़ाया है।

गुरुकुल संस्थाओं का गतवर्ष का विवरण निम्न प्रकार है :—

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी हरिद्वार

स्थापना और स्थान

इस गुरुकुल की स्थापना सन् १९०१ में गुजरांवाला में हुई और वहाँ से सन् १९०२ में गंगा के पार कांगड़ी ग्राम की भूमि में प्रतिष्ठित हुआ। सन् १९२४ की बाढ़ में पुराने भवन नष्ट हो गये। इसके पश्चात् इसका स्थान फिर परिवर्तित हुआ और सन् १९३० में यह गंगा के इस पार ज्वालापुर के निकट नहर के तट पर स्थित है। इसका पता—डा० खा० गुरुकुल काँगड़ी, जिला सहारनपुर है।

विश्वविद्यालय

गुरुकुल एक विश्वविद्यालय है। इसके अधीन गुरुकुल भूमि में ही, वेद महाविद्यालय, साधारण महा विद्यालय तथा आयुर्वेदिक महाविद्यालय, ये तीन महाविद्यालय हैं। इन तीनों महाविद्यालयों में इस वर्ष ६० विद्यार्थी रहे।

विद्यालय विभाग की ५ कक्षायें गुरुकुल भूमि ज्वालापुर में ही हैं। इनमें छात्रों की संख्या १८६ रही।

६टी से दसवीं तक की श्रेणियाँ, इसके एक अंगीभूत गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ (देहली) में हैं। यह गुरुकुल देहली से १२ मील दूर पर स्थित है। इन श्रेणियों में गत वर्ष १३३ छात्र रहे।

शाखायें

इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालय की निम्न शाखायें इस वर्ष कार्य करती रहीं। इनका

विवरण पृथक् दिया गया है। गुरुकुल मुलतान कुरुक्षेत्र, मटिण्डू, सूपा, रायकोट, कमालिया, भटिण्डा, और झज्झर।

कन्या गुरुकुल देहरादून भी इसी विश्वविद्यालय का एक अंग है।

आर्य-विद्या-सभा

गुरुकुल विश्वविद्यालय के प्रबन्ध के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने विद्या सभा की नियुक्ति सन् १९३५ से की हुई है।

अधिकारी

गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार और आचार्य श्री स्वामी अभयदेव जी रहे।

शिक्षकवर्ग

इनके अतिरिक्त निम्न सज्जन वेद और साधारण महाविद्यालयों में उपाध्याय का कार्य करते रहे। १. श्री लालचन्द जी एम० ए० (इंग्लिश) २. पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार (वेद) ३. श्री नन्दलाल जी एम०ए० (पाश्चात्य दर्शन) ४. श्री वागीश्वर जी विद्यालंकार (संस्कृत, हिन्दी) ५. पं० केशवदेव जी वेदालंकार (अर्थ शास्त्र) ६. पं० फकीर चन्द जी एम० एस० सी० (विज्ञान) ७. पं० सुखदेव जी न्याय वाचस्पति (दर्शन), ८. पं० वेदव्रत जी विद्यालंकार (इतिहास) ९. पं० जगन्नाथ जी विद्यालंकार (विज्ञान)।

आयुर्वेद महाविद्यालय—

इस विभाग में, पं० धर्मदत्त जी, डा० राधाकृष्ण जी, डा० इन्द्रसेन जी, पं० नित्यानन्द जी व पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय का कार्य करते रहे।

विद्यालय विभाग—

गुरुकुल कांगड़ी स्थित विद्यालय विभाग के मुख्याध्यापक श्री विश्वनाथ जी विद्यालंकार रहे। इनके साथ निम्न ६ अध्यापक कार्य करते रहे—पं० विष्णुदत्त जी विद्यालंकार, पं० रामनाथ जी विद्यालंकार, पं० भद्रसेन जी, पं० सुरेन्द्रनाथ जी विद्यालंकार, पं० महेशानन्दजी, पं० प्रकाशचन्द जी विद्यालंकार, पं० मुकुन्दलाल जी, पं० मोखासिंह जी, पं० ओम्प्रकाश जी।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ—

यह गुरुकुल, गुरुकुल काँगड़ी का ही एक भाग है। यहाँ ५वीं से १०वीं तक की श्रेणियाँ रहती हैं। गत वर्ष इस गुरुकुल के मुख्याध्यापक श्री गोपाल जी बी० ए० रहे। अन्य अध्यापक सर्वश्री पं० महामुनिजी विद्यालंकार, पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति, पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार, पं० आनन्दस्वरूप जी विद्यालंकार, पं० धर्मराज जी विद्यालंकार, पं० जगन्नाथप्रसाद जी, पं० हरिवंशकुमार जी, पं० कृष्णराव जी रहे।

शिक्षा विधि

विद्यालय विभाग—

यह विभाग १० वर्षों में बाँटा गया है। इस अन्तर में संस्कृत साहित्य, व्याकरण, धर्म शिक्षा, आर्य भाषा, अंग्रेजी, इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान (रसायन और भौतिकी) विषयों की शिक्षा, मातृभाषा (हिन्दी) माध्यम द्वारा दी जाती है।

महाविद्यालय विभाग—

इस विभाग में विद्यार्थी चार वर्ष निवास करता है। वेद महाविद्यालय और साधारण महा विद्यालय में वेद वेदान्तो और दर्शन व उपनिषद् शास्त्रों तथा संस्कृत और हिन्दी साहित्य के विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन के साथ साथ इतिहास, अर्थ शास्त्र, पाश्चात्य दर्शन, रसायन औद्योगिक रसायन, और कृषि इन विषयों में से किसी एक ऐच्छिक विषय के अध्यापन का प्रबन्ध है।

आयुर्वेद महाविद्यालय—

इस विभाग में प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र के साथ साथ आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा पद्धतियों—एलोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा आदि की तुलनात्मक शिक्षा दी जाती है। चिकित्सालय में रोगियों की चिकित्सा का क्रियात्मक अभ्यास भी कराया जाता है।

गुरुकुल की अपनी आयुर्वेदिक फार्मेसी है; जिससे न केवल विद्यार्थी विशुद्ध औषधि प्रस्तुत करने की क्रियात्मक शिक्षा लेते हैं अपितु विशुद्ध औषधियों के प्रचार से आयुर्वेद शास्त्र की उन्नति और उसमें विश्वास उत्पन्न करने का भी श्रेय गुरुकुल को प्राप्त होता है।

शिल्प शिक्षा—

साबुन, फिनायल और प्रत्येक प्रकार की स्याहियाँ बनाने का कार्य भी सिखाया जाता है। सैनिक शिक्षा नहीं दी जाती।

व्यायाम शिक्षा—

दो मल्ल, मल्ल युद्ध और जिमनाष्टिक के खेलों की शिक्षा के लिये नियुक्त हैं।

सम्पत्ति

चल और अचल सम्पत्ति अनुमानतः पच्चीस लाख रुपये की है।

आय व्यय

प्रारम्भ से अब तक (संवत् १९९६ तक) ४१९४०१८) रु० व्यय हुआ।

संवत् १९९६ में १४४२१३) आय और १४८९८५) व्यय हुआ।

शुल्क

शिक्षा निःशुल्क है। छात्रोंसे भोजनाच्छादन के व्यय मध्ये निम्न प्रकार शुल्क लिया जाता है:—

पहिली से पांचवी श्रेणी तक १४) मासिक

छठी से दसवीं श्रेणी तक १८) मासिक।

११वीं से १४वीं श्रेणी तक २२) मासिक

स्नातक संख्या

अब तक ३८२ विद्यार्थी स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं।

परीक्षायें और उपाधियाँ

विश्वविद्यालय की ओर से एक शिक्षा पटल नियुक्त है जो उपाधि परीक्षाओं का प्रबन्ध करता है। वेद महाविद्यालय के स्नातकों को वेदालंकार, साधारण महाविद्यालय के स्नातकों को विद्यालङ्कार और आयुर्वेद महाविद्यालय के स्नातकों को आयुर्वेदालङ्कार की उपाधि प्रदान की जाती है।

स्नातकोत्तर परीक्षा

स्नातकोत्तर परीक्षा के लिये दो वर्ष और विश्वविद्यालय में रहना पड़ता है। इस परीक्षा के उत्तीर्ण करने पर विभिन्न विषयों में 'वाचस्पति' की उपाधि मिलती है।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल का अपना एक बृहत् पुस्तकालय है। जहाँ अनेक दैनिक, साप्ताहिक व मासिक, देश-विदेश के पत्र-पत्रिकायें आती हैं। गोशाला भी विद्यमान है। 'गुरुकुल' नामक हिन्दी साप्ताहिक प्रकाशित होता रहा।

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी

यह फार्मेसी बहुत बड़े पैमाने पर विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियाँ प्रस्तुत करती है जिनका खूब प्रचार है।

२

गुरुकुल कुरुक्षेत्र

स्थापना

थानेसर के समीप कुरुक्षेत्र जंकशन से ३ मील दूर पर कुरुक्षेत्र भूमि में यह गुरुकुल प्रथम वैशाख सम्वत् १९६९ से स्थापित है। यहां का जलवायु अत्युत्तम है। थानेसर के स्व० लाला ज्योतिप्रसाद जी ने १००००) रु० नक़द और १०४८ बीघा भूमि पंजाब प्रतिनिधि सभा के नाम रजिस्टर्ड कर इस गुरुकुल को स्थापित करवाया था। आरम्भिक आचार्य पं० विष्णुमित्र जी रहे।

शिक्षक वर्ग व शिक्षा विधि

स्थानीय मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य का कार्य पं० सोमदत्तजी विद्यालङ्कार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त श्री ईश्वरदत्त जी सि० अ०, श्री विक्रमजी, पंडित रघुवीर जी शास्त्री, मा० कौशलचन्द्र जी, मा० पूर्णचन्द्र जी, मा० विक्रमादित्य जी, मा० वरुणदेवजी बी० ए०, मा० रामभरोसे जी, व पं० आत्मानन्द जी आयुर्वेदालङ्कार कार्य करते रहे, जो शिक्षा तथा प्रबन्ध में आचार्य के योग्य सहायक हैं। श्री श्रद्धाराम जी कार्यालयाध्यक्ष रहे।

शिक्षा की पाठविधि गुरुकुल कांगड़ी के अनुकूल है। व्यायाम व ड्रिल की शिक्षा भी नियम पूर्वक दी जाती है।

सम्पत्ति

लगभग सवा लाख रुपये की लागत के भवन और २४०० बीघा भूमि

है। १००००) नक़द जमा है।

आय व्यय

सम्वत् १९९६ में शुल्क आदि की आय का सर्वयोग २७९६५)रु० और व्यय २६९७१) रुपया हुआ। दान की आय लगभग ५०००) रुपया हुई।

शुल्क

छात्रों से शुल्क निम्न प्रकार लिया जाता है:—

प्रथम श्रेणी से पांचवीं श्रेणी तक १२) मासिक।

छठी श्रेणी से आठवीं श्रेणी तक १६) मासिक।

छात्र संख्या

गत वर्ष आठवीं श्रेणी तक विद्यार्थियों की संख्या १२१ रही। आठवीं श्रेणी के पश्चात् विद्यार्थी गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस वर्ष नवम श्रेणी भी यहीं खोल दी गई है।

स्नातक संख्या

इस गुरुकुल से पढ़ कर गुरुकुल कांगड़ी जाने वाले विद्यार्थियों में से अब तक ७० विद्यार्थी स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके।

गोशाला

इसमें १०० पशु हैं।

वाटिका

गुरुकुल की अपनी वाटिका है जिसका विस्तार १० बीघा है।

३

गुरुकुल महाविद्यालय रायकोट

स्थापना

गुरुकुल रायकोट को खुले आज २२ वर्ष समाप्त हो चुके हैं। यह संस्था रायकोट (ज़िला लुधियाना) में आबाद है। इसकी स्थापना श्री पूज्य १०८ स्वा० गंगागिरि जी महाराज ने आश्विन कृष्णा द्वादशी सम्वत् १९७६ में की है। और इसकी आधारशिला स्वर्गीय श्री स्वा० श्रद्धानन्द जी महाराज के कर कमलों से रखी गई है। यहाँ का जल-वायु अत्यन्त शुद्ध और स्वास्थ्य कर है।

शिक्षा

पहिले गुरुकुल कांगड़ी से सम्बन्ध चतुर्थ श्रेणी तक किया गया था। सम्वत् १९८५ विक्रमी में यही सम्बन्ध अष्टम श्रेणी तक बढ़ा दिया गया। अष्टम श्रेणी तक की पढ़ाई गुरुकुल कांगड़ी की पाठविधि के अनुसार होती है। अष्टम श्रेणी के पश्चात् जो छात्र किसी कारणवश गुरुकुल कांगड़ी में न जाना चाहें उनकी पढ़ाई को पूर्ण करने के लिये हमारी अपनी पाठविधि के अनुसार चौदहवीं श्रेणी तक शिक्षा दी जाती है। तथा इसके साथ २ पंजाब, बनारस, जयपुर की सरकारी यूनीवर्सिटियों की सरकारी परीक्षाएँ मध्यमा, विशारद, शास्त्री, प्रभाकर इत्यादि भी दिलाई जाती हैं। साथ ही केवल इंगलिश लेकर मैट्रिक भी पास करवाई जाती है।

प्रबन्ध

गुरुकुल-संचालन का भार श्री पूज्य स्वा० गंगागिरि जी महाराज पर ही है। उनके सहयोग के लिये एक 'गुरुकुल-प्रबन्ध-समिति' के रूप में "स्नातक मण्डल" भी है। इसके प्रधान पं० परमानन्द शास्त्री और मन्त्री विद्यानिधि अर्जुनदेव जी हैं। श्री स्वामी गङ्गागिरि जी संस्थापक के अतिरिक्त इस समिति के १३ और सदस्य हैं।

शिक्षक वर्ग

१. श्री पूज्य १०८ श्री स्वामी गंगागिरि जी महाराज 'आचार्य' व मुख्याधिष्ठाता।

२. महन्त श्यामगिरि जी महाराज कृषि व उद्यानाध्यक्ष।

३. श्री पं० परमानन्दजी 'शास्त्री' 'विद्यामार्त्तण्ड' मुख्य संरक्षक व प्रधानाध्यक्ष।

४. श्री पं० अर्जुनदेव जी 'विद्यानिधि' 'हिन्दी भूषण' धर्मशिक्षा व व्याकरणाध्यापक गोशालाध्यक्ष औषधालयाध्यक्ष।

५. श्री पं० व्रतपाल जी 'शास्त्री' साहित्य व्याकरणाध्यापक व भण्डाराध्यक्ष, संरक्षक।

६. श्री म० नित्यानन्द जी बी० ए० इतिहास भूगोल आंग्लभाषाध्यापक, कार्यालयाध्यक्ष।

७. श्री मा० जयदेव जी बी० ए० गणित विज्ञानाध्यापक व संरक्षक।

८. श्री मा० तुलसीदेव जी 'संगीत भूषण' संगीताध्यापक व संरक्षक।

९. श्री ब्र० हेमचन्द्रजी 'साहित्योपाध्याय' पुस्तकालयाध्यक्ष व सहायकाध्यापक।

१०. श्री हर्षवर्धन जी 'साहित्योपाध्याय' व सहायकाध्यापक।

११. श्री ब्र० विद्याप्रकाश जी 'मध्यमा', सहायकाध्यापक।

१२. श्री ब्र० शिवदत्त जी 'मध्यमा', सहायकाध्यापक।

१३. श्री ब्र० भोजदत्त जी 'भ्रमर' वाचनालयाध्यक्ष।

१४. श्रीयुत वानप्रस्थी जी (संरक्षक)।

१५. श्री लाला शादीराम जी 'वानप्रस्थी'

इनके अतिरिक्त १० अन्य वैतनिक सेवक हैं।

छात्र संख्या व शुल्क

वर्तमान में यहाँ पर ५० छात्र हैं, १२ श्रेणियाँ हैं। साथ साथ बाहिर की सरकारी परीक्षाएं दिलवाते हैं। संगीत का पूर्ण इन्तज़ाम है। पढ़ाई की फीस नहीं ली जाती है। भोजन व्यय १०) मासिक चतुर्थ तक तथा १२ मासिक उससे ऊपर लिया जाता है। पुस्तकें तथा अन्य सब खर्च गुरुकुल बर्दाश्त करता है। सर्व विषयों की पढ़ाई बाकायदा कराई जाती है। आलेख्य-विज्ञान का भी प्रबन्ध है। छात्रों के शारीरिक व्यायाम और मनोरञ्जन के लिए एक उत्तम पक्का तालाब है जो कि रहट द्वारा भरा जाता है।

यहाँ पर छात्रों की ज्ञान वृद्धि के लिए एक उत्तम पुस्तकालय है। इस समय पुस्तकालय में २००० के लगभग सर्व भाषाओं की पुस्तकें हैं। पुस्तकालय के साथ एक वाचनालय भी है जिसमें १५ समाचार पत्र सर्व भाषाओं के आते हैं।

सभाएं

ब्रह्मचारियों की 'वाग्वर्द्धिनी' 'विद्या विनोदनी' तथा 'कवि सम्मेलन' ३ सभाएं हिन्दी संस्कृत की हैं।

सैनिक शिक्षा

छात्रों को फौजी-शिक्षा की ट्रेनिङ्ग देने के लिये 'राष्ट्रीय-स्वयं-सेवक-संघ' से बाकायदा शिक्षा प्राप्त श्री पं० व्रतपाल जी शास्त्री छात्रों को बाकायदा ट्रेनिंग देते हैं।

छात्रों को शिल्प की शिक्षा देने के लिये शिल्प विद्यालय भी खुला हुआ है।

तैरना, कुश्ती, छलांगें, हाकी, वालीवाल, लाठी, लेज़म, कवायद, भाला चलाना, रस्साकशी आदि विविध शारीरिक क्रीड़ाएँ छात्रों से कराई जाती हैं।

संगीत विद्यालय

गुरुकुल में एक संगीत विद्यालय भी खुला हुआ है। संगीत शिक्षक श्री मा. तुलसीदेव जी 'संगीत-भूषण' हैं जो एक ट्रेण्ड अध्यापक हैं। आप आर्य संगीत महाविद्यालय जालंधर के योग्य स्नातक हैं। थोड़े ही काल में संगीत सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान छात्रों ने प्राप्त कर लिया है।

गोशाला

इस गुरुकुल में एक गोशाला भी है जिसमें ४० पशु हैं। इस गोशाला का उद्देश्य अच्छी नस्ल की गाएँ तथा बैल तय्यार करना है।

उद्यान तथा कृषि

गुरुकुल का अपना अत्युत्तम बाग़ है जिसमें मालटे, सन्तरे, चकोंतरे, नारंगियाँ, केले, फालसे, अंजीर, अंगूर, अनार, अमरूद, अलूचे, नींबू तथा मिट्ठे हैं। सब फल ब्रह्मचारियों को यथा समय खिला दिये जाते हैं। बेचे नहीं जाते हैं। तीन मास तक लगातार ताज़ा फल खाने का सौभाग्य इस गुरुकुल में छात्रों को प्राप्त है। इसके अतिरिक्त सब्जी सर्व प्रकार की ताज़ी इतनी हो जाती है कि हमें शहर पहुँचानी पड़ती है। इस वर्ष सड़क के पार नाली निकाल कर उत्सव वाले मैदान में बढ़िया आमों का बाग़ लगाया गया है।

कृषि का काम भी गुरुकुल में होता है क्योंकि यह संस्था ग्रामों में है। जब तक पशु पालन व खेती बाड़ी की शिक्षा का आदर्श ग्रामीणों में उपस्थित नहीं किया जाता तब तक ग्राम सुधार स्वप्न मात्र है।

स्नातक मण्डल

यूँ तो अनेक छात्र इस गुरुकुल से

शिक्षा प्राप्त कर गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक बन चुके हैं तथा अपने घरों पर कार्य कर रहे हैं। परन्तु यहाँ बाकायदा स्नातक बन कर जिन्होंने उपाधियाँ प्राप्त की हैं, उनमें से कुछ नाम निम्न प्रकार हैं—इस गुरुकुल के सभी स्नातक प्रायः बड़े २ शिक्षणालयों में अध्यापन कार्य पर नियुक्त हैं या उपदेशक हैं। स्वतन्त्र व्यवसाय भी अच्छे पैमाने पर कर रहे हैं।

(१) श्री पं० मुनीश्वरदेव जी 'सिद्धान्त मार्त्तण्ड' महोपदेशक आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब)।

(२) ,, ,, अर्जुनदेव जी विद्यानिधि 'वैद्य-राज' तथा अध्यापक गुरुकुल रायकोट।

(३) ,, ,, परमानन्द जी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' मुख्याध्यापक गुरुकुल म० वि० रायकोट।

(४) ,, ,, चन्द्रपाल जी 'वेदान्त शास्त्री' 'दर्शन मार्तण्ड' (काशी)।

(५) ,, ,, बलदेव 'कृष्ण' 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' मु० अ० संस्कृत विभाग, पब्लिक हाईस्कूल जालन्धर।

(६) ,, ,, सत्यप्रकाश जी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' (दिवंगत)।

(७) ,, ,, भारतमित्र जी विद्यामार्त्तण्ड। मु० अ० हंसराज हाई स्कूल भटिण्डा।

(८) ,, ,, देवेन्द्रनाथ जी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' मु० अ० गुरुकुल मटिण्डू।

(९) ,, ,, धर्मदेवजी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' मु० अ० सं० वि० —
M. D. H. C. Moga.

(१०) ,, ,, व्रतपाल जी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' अध्यापक गुरुकुल रायकोट।

(११) ,, ,, चन्द्रकेतु जी 'विद्याभूषण' 'जम्मू' स्वतन्त्र व्यवसाय।

(१२) ,, ,, विश्वमित्र जी 'विद्या मार्त्तण्ड' 'प्रभाकर' सम्पादक "आर्यजगत्" लाहौर।

(१३) ,, ,, सोमदत्त जी 'आयुर्वेद मार्त्तण्ड' वैद्य।

(१४) ,, ,, ब्रह्मदत्त जी 'शास्त्री' 'विद्या मार्त्तण्ड' (सरोआ)।

औषधालय

गुरुकुल रायकोट के प्रतिष्ठित स्ना० श्री पं० अर्जुनदेव जी वि० नि० वैद्यराज की देख रेख में गुरुकुल का परोपकारी औषधालय सार्वजनिक रूप में अच्छा काम कर रहा है। ग्रामीण जनता को मुफ्त औषध दी जाती है। हमारे औषधालय की च्यवनप्राश—दाक्षारिष्ट—द्राक्षासव—सुरमा—सर्प औषध—इत्यादि उत्तम उत्तम औषधियों ने अच्छा नाम हासिल किया है। वर्ष में ५००० के लगभग ग्रामीण जनता को उत्तम तथा स्वास्थ्यप्रद औषधि मुफ्त दी जाती है।

सम्पत्ति

गुरुकुल की स्थिर सम्पत्ति ५८२५०) रु० और अस्थिर सम्पत्ति ५५००) के लगभग है।

आय-व्यय

सम्वत् १९९६ वि० में आय १३७१०)॥ और व्यय १३५८१।=)॥ हुआ।

४

गुरुकुल मुल्तान

स्थापना

गुरुकुल कांगड़ी के इस शाखा गुरुकुल की स्थापना १० फरवरी सन् १९०६ ई० को हुई।

स्थान

मुल्तान (पंजाब) शहर स्टेशन से ३ मील दूर ताराकुण्ड के समीप स्थित है। डाकखाना मुल्तान है।

प्रबन्ध

प्रबन्ध के लिये स्थानीय सभा नियत है।

शिक्षा

गुरुकुल कांगड़ी की पाठ्यविधि के अनुसार ८ म श्रेणी तक शिक्षा दी जाती है।

अधिकारी

पं० विष्णुमित्र जी मुख्याध्यापक हैं।

५

गुरुकुल मटिंडू

स्थापना

यहाँ के प्रसिद्ध आर्य पुरुष चौ० पीरूसिंह के उद्योग से सं० १९७२ विक्रमी में स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी के कर कमलों से इस शाखा गुरुकुल की स्थापना हुई।

स्थान

देहली भटिंडा लाइन के सॉपला स्टेशन से लगभग १२ मील दूर स्थित है। डाकखाना खरखौदा जिला रोहतक है।

प्रबन्ध

प्रबन्ध के लिए स्थानीय कमेटी नियत है। १००) रु० एक साथ देने वाले सज्जन इसके सदस्य हो सकते हैं।

अधिकारी

पं० निरंजनदेव जी विद्यालंकार मुख्याध्यापक हैं।

शिक्षा

गुरुकुल कॉंगड़ी की पाठ्यविधि के अनुसार ८ म श्रेणी तक शिक्षा दी जाती है। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुकुल कॉंगड़ी में प्रविष्ट हो सकता है। शिक्षा निःशुल्क है।

सम्पत्ति

लगभग २००००) रु० के मूल्य की सम्पत्ति है। प्रतिवर्ष लगभग २०००) दान की आय हो जाती है।

६

गुरुकुल झज्जर

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना प० विश्वम्भर नाथ जी के प्रयत्न और श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के कर कमलों से संवत् १६७२ में हुई।

स्थान

रोहतक स्टेशन से २३ मील या देहली से ४० मील पक्की सड़क का मार्ग है। डाकखाना झज्झर है।

प्रबन्ध

स्वामी ब्रह्मानन्द जी की देख-रेख म कार्य चल रहा है। यह गुरुकुल भी कॉंगड़ी विश्वविद्यालय की एक शाखा है।

प्रबन्ध के लिए एक कमेटी गुरुकुल सभा के नाम से बनी हुई है। इसके अधीन प्रबन्धकर्त्री सभा है। मुख्याधिष्ठाता व आचार्य श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी हैं।

शिक्षा

प्रथम से ६ श्रेणी तक गुरुकुल कॉंगडी की शिक्षा पद्धति और इसके पश्चात् उपदेशक विद्यालय लाहौर की पाठ विधि के अनुसार सिद्धान्त भूषण तक पढ़ाई होती है। कुछ वैद्यक भी पढ़ाई जाती है।

सम्पत्ति

७०००) नकद व लगभग १६०००) के भवन व अन्य सामान है।

आय व्यय

संवत् १६६६ वि० में आय ४१६६॥-) और व्यय ३६६५॥≈)॥ हुआ।

७

गुरुकुल शिल्पविद्यालय भटिंडा

इस गुरुकुल की स्थापना १२ नवम्बर सन् १६२७ को हुई। आर्यसमाज भटिंडा की देख रेख में चल रहा है। भटिंडा जंकशन से १ मील की दूरी पर स्थित है।

८

गुरुकुल कमालिया

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना १ म वैशाख सं० १६८४ वि० को हुई।

प्रबन्ध

आर्यसमाज कमालिया के प्रबन्ध में है। म० सुखदयाल जी मुख्याधिष्ठाता रहे।

स्थान

शहर कमालिया (एन० डब्ल्यू० आर०) से १॥ मील दूरी पर स्थित है।

शिक्षा

गुरुकुल कांगड़ी की शाखा है। वहाँ की पाठविधि के अनुसार ८ म श्रेणी तक की शिक्षा दी जाती है।

९

गुरुकुल बेटसोहनी

स्थापना

संवत् १९८६ में कार्तिक अमावस्या के दिन स्थापना हुई।

प्रबन्ध

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के आधीन है। इसका विस्तृत विवरण प्रतिनिधि सभा विवरण में दिया गया है।

१०

गुरुकुल भैंसवाला

स्थापना

२३ मार्च सन् १९२० को हरियाने के प्रसिद्ध नेता भक्त फूलसिंह जी के प्रयत्न से यह गुरुकुल स्थापित हुआ।

स्थान

रोहतक (एन. डब्ल्यू. आर.) से लगभग १२ मील दूर पर स्थित है।

प्रबन्ध

प्रबन्ध के लिये स्वतन्त्र कमेटी है।

शिक्षा

सरकारी संस्कृत परीक्षायें और निजी परीक्षायें दिलवाई जाती हैं।

अधिकारी

आचार्य श्री हरिश्चन्द्र जी हैं। भक्त फूलसिंह जी संस्थापक हैं।

सम्पत्ति

४० बीघे भूमि तथा ७००००) रु० की लागत के भवन हैं।

११

गुरुकुल पोठोहार चोहाभक्तां

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना सं० १९६७ में हुई। पं० मुक्तिराम जी उपाध्याय इसके आचार्य हैं।

स्थान

इस गुरुकुल का स्थान रावलपिण्डी जिले के चोहाभक्तां से ३ मील दूर पर है।

सम्पत्ति

१२५ बीघे के लगभग भूमि है।

शिक्षा

संस्कृत की उच्च शिक्षा व सरकारी परीक्षायें दिलवाई जाती हैं।

१२

गुरुकुल गुजराँवाला

स्थापना

सन् १९०२ ई० में गुरुकुल के हरिद्वार में चले जाने पर इसका रूप बदला गया।

प्रबन्ध

एक ट्रस्ट के अधीन है।

शिक्षा

पंजाब विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा तक शिक्षा दी जाती है—साथ में संस्कृत और धर्म शिक्षा का भी प्रबन्ध है।

स्वर्गीय ला० रलाराम जी व राय ठाकुरदत्त धवन आदि इसके कार्यकर्ता रहे।

सम्पत्ति

२५०००) की लागत के मकान हैं। ३००००) वार्षिक व्यय फीस से पूरा होता है।

१३

गुरुकुल जेहलम

स्थापना

२५ मार्च सन् १९३२ को स्थापित हुआ।

स्थान

जेहलम (पंजाब) से १॥ मील दूर स्थित है।

शिक्षा

गुरुकुल पोठोहार की शाखा है। उसी के अनुसार पाठ विधि है। मुख्याध्यापक श्री शिवकुमार शास्त्री हैं।

शुल्क

५) मासिक लिया जाता है।

संयुक्तप्रान्त—

१४

गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन

स्थापना

इस संस्था की स्थापना का प्रारम्भ सिकन्दराबाद में श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज द्वारा किया गया। उस समय प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। एक स्थानीय समिति इसका संचालन करती थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बन्ध

परन्तु प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक कठिनाइयों के कारण प्रबन्धक समिति ने गुरुकुल को संयुक्त प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा को सौंप देने की इच्छा प्रकट की और ३१-७-१९०५ की अन्तरंग सभा ने उसे स्वीकार कर लिया। तदनुसार १ दिसम्बर सन् १९०५ ई० से यह संस्था आर्य प्रतिनिधि सभा में आ गई।

स्थान परिवर्तन

स्थान तथा प्रबन्ध की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए सभा को गुरुकुल का स्थान परिवर्तन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अतएव २९-६-१९०७ की अन्तरंग सभा के निश्चयानुसार ता० १७ दिसम्बर १९०७ को गुरुकुल सिकन्दराबाद से उठ कर फरुखाबाद में श्री द्वारिकाप्रसाद जी रईस के उद्यान में आ गया। फरुखाबाद में अन्य

सब सुविधा होते हुए भी गुरुकुल के पास अपना निजी कोई स्थान न था, जहाँ स्थायी रूप से उसके सचालन का प्रबन्ध किया जा सके। अतएव उपयुक्त स्थान के प्रबन्ध की समस्या सभा के सामने बनी ही रही।

ऋषिशिक्षास्थल में

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के उद्भावक ऋषि दयानन्द की शिक्षा स्थली मथुरा पुरी इस प्रान्त का प्रमुख स्थान है, अतएव सभा ने मथुरा के आस पास किसी उपयुक्त स्थान में ही स्थायी रूप से गुरुकुल को स्थापित करने का निश्चय किया।

राजा महेन्द्रप्रताप

स्थानानुसन्धान के इस प्रयत्न में श्री कुं० हुकमसिंह जी रईस आगरा द्वारा सभा का सम्बन्ध देशभक्त श्रीमान् राजा महेन्द्रप्रताप जी के साथ हुआ और उन्होंने अनेक निषेध और बाधाओं के होते हुए भी अत्यन्त उदारतापूर्वक १५०००) की लागत का अपना विस्तृत उद्यान और पक्की कोठी गुरुकुल की स्थापना के लिये बिना किसी शर्त के सदा के लिये सभा को समर्पित कर दिये।

वृन्दावन में

राजा साहब की इस उदारता के फलस्वरूप ता० १६ दिसम्बर १६११ को गुरुकुल फरुखाबाद से उठा कर वृन्दावन में स्थायी रूप से स्थापित कर दिया गया और इस ब्रजभूमि में श्री मुं० नारायण प्रसाद जी (श्री महात्मा नारायण स्वामी जी) के सतत परिश्रम एवं कार्य तत्परता से गुरुकुल भलीभाति फूला फला।

प्रबन्ध

वर्तमान समय में इसके प्रबन्ध के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से एक गुरुकुल प्रबन्ध कर्त्री सभा नाम की एक प्रबन्ध समिति स्थापित है। इस समिति की देख रेख में उसके द्वारा नियुक्त मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य ये दो प्रमुख स्थानीय अधिकारी सभा की नीति के अनुसार संस्था का संचालन करते हैं। इनमें से शिक्षा विभाग आचार्य के आधीन है और शेष समस्त कार्य मुख्याधिष्ठाता के अधिकार में है।

भूतपूर्व अधिकारी

गुरुकुल के सभा के हाथ में आने के बाद से निम्न लिखित १५ महानुभाव मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य के रूप में इस संस्था की सेवा कर चुके हैं।

१. स्व० श्री पं० भगवान दीन जी।
१. श्री महात्मा नारायण प्रसाद जी। (वर्तमान पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज)।
३. श्री प्रो० ज्वालाप्रसाद जी एम० ए०।
४. श्री कुं० हुकमसिंह जी भूतपूर्व एम० एल० सी०।

५. श्री पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए० भूतपूर्व डिप्टी कलेक्टर, रिटायर्ड चीफ जज, टेहरी स्टेट ।

६. श्री पं० शिवनारायण जी शुक्ल, बी० ए० एल० एल० बी० ।

७. श्रीं प्रो० धर्मेन्द्रनाथ जी, तर्क शिरोमणि, एम०ए०, एम० ओ० एल० ।

८. श्री मा. आत्माराम जी राज्य-रत्न, रिटायर्ड इन्स्पैक्टर आफ स्कूल्स ।

९. श्री पं० नन्दकिशोर जी ।

१०. श्री बा० रामदीन जी आर्य ।

११. श्री महात्मा श्रीराम जी ।

१२. श्री पं० बृहस्पति जी वेदशिरोमणि ।

१३. श्री स्वर्गीय पं० घासीराम जी, एम० ए० एल० एल० बी० ।

१४. श्री पं० विष्णुदत्त जी शास्त्री, एम० ए० ।

१५. श्री बा० रामचन्द्र जी रिटायर्ड एस० डी० ओ० ।

१६. श्री कुं० चेतरामसिंह जी रिटायर्ड कोर्ट इन्स्पैक्टर ।

वर्तमान अधिकारी

वर्तमान समय में निम्नांकित महानुभाव इन पदों पर कार्य कर रहे हैं:—

मुख्याधिष्ठाता—

श्री कुं० कर्णसिंह जी छोंकर गवर्नमेंट कन्ट्रेक्टर ।

आचार्य—

श्री पं० विश्वेश्वर जी, सिद्धान्त शिरोमणि, दर्शन विशेषज्ञ ।

शिक्षा काल

गुरुकुल का शिक्षा काल १४ वर्ष का है, जो १० वर्ष और ४ वर्ष के दो भागों में विभक्त है । प्रारम्भिक १० वर्ष की शिक्षा का विभाग विद्यालय विभाग कहलाता है और अन्तिम चार वर्ष का महाविद्यालय विभाग है ।

इस प्रकार विद्यालय विभाग की दस श्रेणियां और महाविद्यालय विभाग की चार, कुल चौदह श्रेणियों या १४ वर्षों में गुरुकुल की शिक्षा सम्पूर्ण होती है ।

शिक्षा

इन चौदह वर्षों में विद्यार्थियों को वेद, वेदांग सहित समस्त संस्कृत साहित्य, आंग्ल-भाषा, आर्य भाषा, इतिहास, अर्थ शास्त्र, राजनीति, धर्म विज्ञान, दर्शन, आयुर्वेद आदि जीवनोपयोगी समस्त विषयों की उच्च शिक्षा देने का प्रबन्ध है ।

विद्यालय—

इनमें से संस्कृत, आर्य भाषा, आर्य सिद्धान्त, गणित, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा प्रारम्भ से ही होती है, परन्तु आंग्ल भाषा की शिक्षा षष्ठ श्रेणी से प्रारम्भ होती है । दशम श्रेणी तक व्याकरण, साहि-

त्य के ज्ञान के साथ लगभग मैट्रिक तक के गणित, इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी का ज्ञान विद्यार्थी को हो जाता है। और आर्य सिद्धांत (धर्म शिक्षा) इससे अलग रही। विद्यालय विभाग की शिक्षा समाप्ति पर बाहरी विद्वानों द्वारा अधिकारी परीक्षा होती है जिसको उत्तीर्ण करने पर विद्यार्थी महाविद्यालय में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त करता है।

महाविद्यालय—

इस विभाग में वैदिक साहित्य एवं आंग्ल भाषा का अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य है। उनके अतिरिक्त निम्नांकित ऐच्छिक विषयों में से किसी एक विषय का विशेष अध्ययन विद्यार्थी को करना होता है।

ऐच्छिक विषय—

१. वेद।
२. आयुर्वेद।
३. सिद्धान्त (तुलनात्मक धर्म विज्ञान)।
४. तर्क, पौरस्त्य तथा पाश्चात्य दर्शन।
५. राज शास्त्र, इतिहास, राजनीति और अर्थ शास्त्र।
६. साहित्य, संस्कृत, आर्यभाषा, अंग्रेजी, साहित्य।

उपाधि—

महाविद्यालय की शिक्षा समाप्त होने पर विद्यार्थी स्नातक बनता है। स्नातक होते समय ऐच्छिक विषय के नाम सहित "शिरोमणि" की उपाधि प्रदान की जाती है, जैसे वेदशिरोमणि, आयुर्वेदशिरोमणि आदि।

शारीरिक शिक्षा—

इस मानसिक शिक्षा के साथ साथ ब्रह्मचर्य के नियमानुसार विद्यार्थी को शारीरिक उन्नति के लिये नाना प्रकार के व्यायामों के साथ साथ लाठी, तलवार, धनुष-बाण, आदि भारतीय पद्धति की सैनिक शिक्षा दी जाती है, जिसका प्रदर्शन उत्सवों पर प्रायः किया जाता है।

शिक्षक वर्ग

विद्यालय, महाविद्यालय की शिक्षा के लिए आवश्यकतानुसार प्रत्येक विषय के योग्य शिक्षक रहते हैं। सम्प्रति निम्नांकित शिक्षक महानुभाव इस संस्था में कार्य कर रहे हैं—

१. श्री विश्वेश्वर जी सिद्धान्त शिरोमणि, आचार्य।
२. श्री उमाशंकर जी आयुर्वेदाचार्य।
३. श्री लल्लूराम जी व्याकरणाचार्य।
४. श्री शंकरदेव जी साहित्याचार्य।
५. श्री रामेश्वर जी सिद्धान्त शिरोमणि धर्मशास्त्राचार्य।
६. श्री प्रो० शिवदयालु जी बी० ए० एल० एल० बी०, आंग्लभाषाध्यापक।
७. श्री विनयकुमार जी काव्यतीर्थ साहित्योपाध्याय।
८. श्री शिवशर्मा जी साहित्योपाध्याय।

९. श्री जोधसिंह जी आर्यभाषाध्यापक।
१०. श्री श्यामलाल जी गणिताध्यापक।
११. श्री यमुनाप्रसाद जी आर्य भाषाध्यापक।
१२. श्री डा. एन. गंगोली एल. एम. एफ. शारीरिकविज्ञानाध्यापक।

प्रवेश

नवीन ब्रह्मचारियों का प्रवेश प्रतिवर्ष दिसम्बर तथा जौलाई में होता है। प्रवेश समय विद्यार्थी की आयु कम से कम आठ वर्ष और अधिक से अधिक ११ वर्ष होनी चाहिये। विद्यार्थी स्वस्थ और सदाचारी होना चाहिये।

शिक्षा निःशुल्क

गुरुकुल की शिक्षा के लिए कोई शुल्क नहीं है अर्थात् अध्यापकों के वेतन आदि का व्यय केवल दान से चलता है।

भोजनादि व्यय—

प्रत्येक ब्रह्मचारी के भोजन वस्त्रादि का समस्त व्यय ब्रह्मचारी के संरक्षकों को देना होता है जिसका विवरण इस प्रकार है:—

कक्षा १–५ तक	१२) प्रति मास
कक्षा ६–१० तक	१६) प्रति मास
कक्षा ११–१४ तक	२०) प्रति मास

आश्रम व्यवस्था

गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी का आश्रम में रहना और ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करना अनिवार्य है। आश्रम, प्रति २५ विद्यार्थियों का एक एक आश्रम रहता है। उस आश्रम के विद्यार्थियों की देख रेख तथा सहायता के लिए एक २ संरक्षक रहता है जो आवश्यकतानुसार विद्यालय में भी शिक्षण कार्य करते हैं। और आश्रम में ब्रह्मचारियों के अध्ययन में विशेष रूप से सहायता देते हैं। इस समय इस विभाग में निम्न महानुभाव कार्य कर रहे हैं—

१. श्री गंगादत्त जी, मुख्य संरक्षक।
२. श्री शिवचैतन्य जी, संरक्षक।
३. श्री जोरावरदत्त जी, ,,

आय-व्यय

इस संस्था का व्यय लगभग ५०,०००) रुपया वार्षिक है जिसमें लगभग आधा धन शुल्क से और आधा धन दान से प्राप्त होता है। सन् १९२१ से १९४० तक के बीस वर्षों का कुल आय व्यय इस प्रकार है:—

आय	१०३४००६॥)॥
व्यय	९५१०८५॥≥)।

छात्र संख्या

अब तक इस संस्था में कुल १०३२ छात्रों ने शिक्षा प्राप्त की जिनमें से अब तक सम्पूर्ण शिक्षा समाप्त करके कुल ६८ स्नातक निकले जो देश के विभिन्न भागों में प्रचार कार्य, शिक्षा कार्य, लेखन कार्य तथा आयुर्वेदिक व्यापार के कार्य में लगे हुए हैं। इस

समय १०० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

आयुर्वेदिक प्रयोगशाला

गुरुकुल में २४ वर्ष से आयुर्वेदिक प्रयोगशाला ब्रह्मचारियों को चिकित्सा, विज्ञान एवं औषध निर्माण की व्यावहारिक शिक्षा देने के लिये स्थापित है और श्री उमाशंकर जी द्विवेदी आयुर्वेदाचार्य की अध्यक्षता में हर प्रकार की औषधियाँ शास्त्रीय ढंग से तैयार की जाती हैं। इससे सम्बद्ध धर्मार्थ औषधालय में बाहर के लोगों की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध है।

गुरुकुल की सम्पत्ति

अचल सम्पत्ति का मूल्य जो गुरुकुल के काम आ रही है, २०००००) रु० है।

अचल सम्पत्ति का मूल्य जिससे वार्षिक आय होती है और जो गुरुकुल से बाहर है १०००००) रु० है।

स्थायी स्टाक का मूल्य १००००) रु० है तथा बैंकों तथा सिक्योरिटीज के रूप में ७५०००) रु० जमा है।

१५

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर

स्थापना

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का आरम्भ स्व० श्री बा० सीताराम जी ने अपना एक बंगला और उपवन एवं लगभग २२०००) की सम्पत्ति दान देकर किया। म० वि० के संस्थापक तार्किक-शिरोमणि श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्द जी थे। यह स्थापना वैशाख (अक्षय तृतीया) सं० १९६४ विक्रमी में हुई।

स्थान-परिचय

ज्वालापुर (हरिद्वार) के पास बड़ी नहर के किनारे ज्वालापुर स्टेशन से दक्षिण की ओर ६ फर्लाङ्ग की दूरी पर रेलवे पुल के पार लगा हुआ गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर स्थित है। यह स्थान जलवायु की उत्तमता के लिहाज़ से दूर तक प्रसिद्ध है।

प्रबन्ध

महाविद्यालय सभा के आधीन है जिसकी रजिष्ट्री ८ महानुभावों के हस्ताक्षरों सहित ३० जून सन् १९०८ ई० को हुई।

इसके अधिकारी निम्न लिखित हैं:—

अधिकारी

प्रधान—श्री पं० शिवदत्त जी काव्यतीर्थ भिषगाचार्य अमृतसर।

उपप्रधान—१. रायसाहब श्री ला० मथुराप्रसाद जी एम. एल. सी. रईस, रुड़की।

२. श्री पं० रामचन्द्र जी रिटायर्ड इंजीनीयर लखनऊ।

३. श्री बा० केशवशरण जी रईस मवाना कलां मेरठ।

मन्त्री—श्री पं० शंकरदत्त जी शर्मा एम. एल. ए. मुरादाबाद।

उपमन्त्री—श्री पं० हरिशंकर जी शास्त्री न्यायतीर्थ।

मुख्याधिष्ठाता—आयुर्वेद वेदान्ताचार्य श्री आचार्य हरिदत्त जी शास्त्री सप्ततीर्थ बी० ए०।

आचार्य—श्री पं० नरदेव जी शास्त्री वेदतीर्थ

कुलपति—श्री १०८ स्वामी आनन्दतीर्थ जी महाराज।

अन्तरङ्ग सदस्यों की संख्या १८ है।

छात्र संख्या

इस समय इस महाविद्यालय में २५० ब्रह्मचारी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

सम्पत्ति

महाविद्यालय के पास इस समय १॥ लाख के लगभग स्थायी सम्पत्ति है।

स्नातक वर्ग

महाविद्यालय से २०० के लगभग स्नातक शिक्षा प्राप्त करके निकाल चुके हैं जो देश धर्म और जाति की सेवा में संलग्न हैं।

१६

गुरुकुल सिकन्दराबाद

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना सन् १८९८ ई० में हुई।

स्थान

देहली से ३५ मील पर ई. आई. आर. के दनकौर स्टेशन के समीप स्थित है।

प्रबन्ध

एक स्थानीय कमेटी इसका प्रबन्ध करती है। इसके प्रधान श्री ठा० गंगासहाय जी और मन्त्री म० प्रतापसिंह जी हैं।

अधिकारी

अधिष्ठाता श्री देवशर्मा व पं० बालमुकन्द अवैतनिक उपदेशक हैं।

शिक्षा

संस्कृत साहित्य व दर्शन शास्त्रों में आचार्य तक की परीक्षा दिलाई जाती है। व्यायाम के रूप में कुश्ती, कसरत आदि कराई जाती है।

छात्र संख्या

१० कक्षायें हैं और इनमें गतवर्ष ५७ छात्र रहे।

शुल्क

३) तीन रुपये मासिक है।

सम्पत्ति

चल-अचल सम्पत्ति १००००) रु० के लगभग है।

वार्षिक आय-व्यय

लगभग २५००) वार्षिक आय-व्यय होता है। दान की गत वर्ष की आय ५००) रु०

हुई। प्रारम्भ से अब तक १ लाख रुपये के लगभग व्यय हुआ है।

स्नातक संख्या

अब तक १०० (एक सौ) के लगभग विद्यार्थी स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं। ये प्रायः उपदेशक, अध्यापक व वैद्य आदि के रूप में कार्य कर रहे हैं।

१७

दयानन्द महाविद्यालय गुरुकुल डोरली

स्थापना

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सम्वत् १९८१ विक्रम को स्थापना हुई।

स्थान

मेरठ से लगभग १॥ मील पर स्थित है।

अधिकारी

प्रबन्ध के लिये स्थानीय कमेटी है। इसके निम्न अधिकारी हैं।

प्रधान—श्रीयुत चौधरी मुख्तारसिंह जी, मैनेजर दौराला शुगर वर्क्स भूतपूर्व एम. एल. ए. (सेन्ट्रल)।

मन्त्री तथा मुख्याधिष्ठाता—श्री पं० शिवदयालु जी, मन्त्री अखिल भारतीय राजार्य सभा (मेरठ)।

आचार्य—विद्याभूषण श्री पं० लेखराम जी शास्त्री।

कोषाध्यक्ष—श्री लाला हरनामदास जी केसरगंज मेरठ।

छात्र संख्या

७६ है और श्रेणियाँ सम्प्रति १२ हैं।

शिक्षक वर्ग

१. श्री पं० लेखरामजी शास्त्री आचार्य।

२. विद्यावारिधि श्री पं० श्रीनिवास जी शास्त्री सांख्ययोग-वेदान्त व्याकरणतीर्थ, न्याय शास्त्री आचार्य।

३. श्री मा० ओंकारसिंह जी बी. ए. एल. एल. बी.।

४. श्री मा० नारायणदेव जी साहित्य विशारद, ५. विद्यावारिधि श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी विद्यावारिधि, ६. श्री पं० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्र प्रभाकर, विद्यावारिधि ७. श्री पं०यतीन्द्र कुमार जी शास्त्री प्रभाकर।

इनके अतिरिक्त बड़े छात्र एक २ घण्टा पढ़ाते हैं।

शिक्षा

वैदिक-साहित्य, दर्शन, संस्कृत-साहित्य, संस्कृत-व्याकरण, धर्म शिक्षा, आर्य भाषा, गणित, इतिहास, भूगोल, राजनीति, अर्थ-शास्त्र, आंग्ल भाषा।

पाठविधि—

वैदिक साहित्य, संस्कृत-साहित्य तथा

संस्कृत व्याकरण और दर्शन का पाठ्यक्रम गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस की पाठविधि के आर्ष भाग को लेकर तथा ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट पाठविधि के अनुसार बनाया गया है। शेष विषयों में गुरुकुल कागड़ी, काशी विद्यापीठ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षा के पाठ्य क्रम से सहायता ली गई है। आंग्ल भाषा में वर्तमान काल में प्रचलित पद्धति का अनुसरण किया है।

इस प्रकार इस महाविद्यालय की पाठविधि अपनी एक पृथक् पाठविधि बन गई है।

सैनिक शिक्षा—

लाठी, तलवार, भाला, शिक्षण के साथ सैनिक कवायद भी सिखाई जाती है।

शिल्प शिक्षा—

कपड़ा बुनना, बैंत की कुर्सियाँ, टोकरी आदि बनाना सिखाया जाता है। सिलाई का भी प्रबन्ध किया गया गया है।

व्यायाम शिक्षा—

व्यायाम शिक्षण के लिये उत्तम प्रबन्ध तथा आवश्यक डम्बल, चैस एक्स पैण्डर, गोला, रस्सा, वालीवाल, हाकी, फुटबाल आदि व्यायाम का सामान भी विद्यमान है।

सम्पत्ति

चल सम्पत्ति नहीं के बराबर है। अचल सम्पत्ति में भूमि, भवन, कूप, बाग आदि हैं जिनका मूल १५६५०) रु० है।

वार्षिक आय-व्यय

गत वर्ष १४२८६॥=)॥। आय और १४२४६॥=)॥ व्यय हुआ इसमें शुल्क सम्मिलित है। अबतक कुल व्यय १०८१०४॥-)॥। हुआ है।

शुल्क

शिक्षा का कोई शुल्क नहीं लिया जाता केवल भोजन व्यय ५) रु० तथा ६) रु० मासिक लिया जाता है। कुछ छात्र भोजन व्यय भी नहीं देते हैं। कुछ २॥) और ३) रु० मासिक पर भी प्रविष्ट किये जाते रहे हैं।

स्नातक संख्या

अब तक दस स्नातक निकले हैं। इनमें से चार ४ स्नातक इसी गुरुकुल में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। एक वैद्यक की परीक्षा देकर चिकित्सा कर रहे हैं एक मेरठ के एक स्कूल में संस्कृताध्यापक हैं। अन्य चार ४ अभी और उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं।

१८

आर्य महाविद्यालय किरठल जि० मेरठ

स्थापना

यह संस्था ८ मई सन् १९२० ई० में श्री स्वामी विचारानन्द जी "मौजी" द्वारा उद्घाटित की गई। सन् १९२९ ई० तक

यह एक साधारण संस्कृत पाठशाला ही थी, तदनन्तर तर्कवाचस्पति श्री पं० जगदेव जी शास्त्री सिद्धान्त भूषण के सतत एवं अनथक परिश्रम से यह धीरे धीरे चहुंमुखी उन्नति की ओर अग्रसर हुई।

श्री चौधरी कूड़ेसिंह जी किरठल, श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, तथा श्री चौ० नरपतिसिंह जी नंगला इन तीन महानुभावों ने तन मन के अतिरिक्त पर्याप्त धन राशि देकर संस्था की उन्नति में मुख्य सहायता की है।

स्थान

मेरठ के समीप है।

अधिकारी व शिक्षक

कुलपति—श्री पं० जगदेवजी शास्त्री, सिद्धांत-भूषण।

मुख्याधिष्ठाता—वेदवाचस्पति श्री पं० रघुवीर सिंह जी शास्त्री।

प्रधान—श्री चौ० शङ्करसिह जी गुराणा।

मन्त्री—श्री चौ० होशयारसिंह जी "जिवाना"

६ शिक्षक कार्य कर रहे हैं।

शिक्षा क्रम

यहां बहुत ही साधारण व्यय में बनारस एवं पञ्जाब की शास्त्री आदि परीक्षायें, अखिल भारतीय आयुर्वेद विद्या पीठ की उच्चतम आयुर्वैदिक परीक्षायें, समस्त वैदिक वाङ्मय के अनिवार्य अध्यापन के साथ साथ दिलाई जाती हैं। जलवायु नीरोग तथा स्वास्थ्यवर्धक है। आश्रम एवं व्यायामादि का प्रबन्ध अत्युत्तम है।

छात्र संख्या

इस समय ६० है। पर्याप्त संख्या में उत्तीर्ण स्नातक विभिन्न क्षेत्रों में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं।

सम्पत्ति

३००००) तीस हजार की लागत के विशाल भवन तथा २५ बीघे भूमि दो कूपों के सहित है। इसकी सब सम्पत्ति श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी० के नाम रजिस्टर्ड है।

१६

गुरुकुल आर्योला और वैदिक संघ बरेली

गुरुकुलाश्रम पद्धति का यह विद्यालय विद्या सभा बरेली के प्रबन्ध में है। यहां संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी की शिक्षा के साथ साथ कृषि, गो पालन, बुनाई आदि की शिक्षा भी दी जाती है। विद्या सभा एक रजिस्टर्ड संस्था है।

अधिकारी

विद्या सभा के प्रधान डा० श्यामस्वरूप जी सत्यव्रत हैं।

छात्र संख्या

इस समय २० ब्रह्मचारी शिक्षा पाते हैं, शुल्क नहीं लिया जाता।

सम्पत्ति

६०००) रु० के लगभग की लागत के भवनों के अतिरिक्त १४० बीघा भूमि है।

गोशाला

इसमें १२ गायें हैं।

पुस्तकालय

इसमें ७००० पुस्तकें हैं।

प्रेस

गुरुकुल का अपना प्रेस है जिसकी लागत लगभग ३०००) रु० है। चार प्रचारक सभा की ओर से कार्य करते रहते हैं।

२०

गुरुकुल काशी योग मण्डल

इसकी स्थापना सं० १९८३ विक्रमी में हुई। योग की शिक्षा दी जाती है।

२१

गुरुकुल सूर्यकुंड (बदायूं)

स्थापना

इसकी स्थापना सन् १९०३ में स्वामी दर्शनानन्द जी ने की।

स्थान व शिक्षा

बदायूं (ई० आई० आर०) के समीप स्थित है। यहां बनारस की संस्कृत परीक्षाओं और आयुर्वेद परीक्षा का प्रबन्ध है।

२२

गुरुकुल अयोध्या

श्री त्यागानन्द जी कुलपति के उद्योग से स्थापित हुआ। यह स्थान फैजाबाद (ई० आई० आर०) के निकट प्राचीन अयोध्या के समीप है।

२३

गुरुकुल गोरखपुर

इसकी स्थापना सन् १९३२ ई० के लगभग स्वामी त्यागानन्द जी ने की।

२४

गुरुकुल बिरालसी

इस गुरुकुल की स्थापना सन् १९०६ ई० में स्व० स्वामी दर्शनानन्द जी ने की थी। इस समय श्री सुमेरसिंह जी काली कमली वाले संचालक हैं। यह स्थान मुजफ्फर नगर ज़िले में है।

राजस्थान

२५

गुरुकुल चित्तौड़

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना विजयादशमी संवत् १९८४ को हुई। इस स्थापना का श्रेय गुरुकुल के आचार्य श्री स्वामी व्रतानन्द जी महाराज (पूर्व युधिष्ठिर विद्यालंकार) को है। आप गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक हैं। गुरुकुल में पढ़ते हुए आपने पढ़ा कि महर्षि दयानन्द जी चित्तौड़ में गुरुकुल खोलना चाहते थे। आपने तभी से यह संकल्प किया जो संवत् १९८४ विक्रमी में पूर्ण हुआ।

स्थान

चित्तौड़ (बी. बी. एण्ड. सी. आई. रेल्वे) स्टेशन के समीप यह गुरुकुल विद्यमान है।

अधिकारी

श्री स्वामी व्रतानन्द जी आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता हैं।

शिक्षा

श्री महर्षि दयानन्द लिखित पाठ विधि के अनुसार वेद वेदांग, उपांग, उपनिषद्, संस्कृत साहित्य, आर्यभाषा, अंग्रेजी, व्याकरण, गणित, भूगोल, इतिहास, आलेख्य और आयुर्वेद आदि की शिक्षा दी जाती है।

सैनिक शिक्षा—

यहाँ सैनिक शिक्षा भी दी जाती है।

व्यायाम शिक्षा—

पृथक् व्यायाम शिक्षक नियत है। लाठी, लेज़िम, कुश्ती, कबड्डी, दण्ड, बैठक और योगासनों का प्रति दिन अभ्यास होता है।

सम्पत्ति

चल और अचल सम्पत्ति लगभग २७०००) रु० की है।

आय-व्यय

गत वर्ष ६३५६।-) आय और ७१७६।) व्यय हुआ है। अब तक सारा व्यय ६५०००) हो चुका है।

दान

गत वर्ष ३४२८) रु० दान से प्राप्त हुआ।

शुल्क

मासिक १०) रु० भरण-पोषण का व्यय लिया जाता है।

बिहार

२६

गुरुकुल महाविद्यालय वैद्यनाथ धाम

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना सं० १९७६ वि० में हुई।

स्थान

सन्थाल परगना में स्थित है।

प्रबन्ध

बिहार प्रान्त निवासी सदस्यों की कमेटी के अधीन है।

छात्र संख्या

७० के लगभग थी। श्री देवव्रत जी वानप्रस्थी और श्री रामानन्द जी विशेष सहायता देते रहे हैं।

शिक्षक वर्ग

लगभग ६ अध्यापक कार्य करते रहे।

सम्पत्ति

स्थिरकोष २५०००) है। और ६० बीघा भूमि है। इसके अतिरिक्त विद्यालय, आश्रम, गोशाला, बाग, अस्पताल आदि की लागत लगभग २५०००) रु० है। बाग अस्पताल आदि की लागत लगभग २५०००) रु० है।

आय-व्यय

लगभग १२०००) वार्षिक आय-व्यय है।

२७

गुरुकुल हरपुर जान

स्थापना

इसकी स्थापना विजयादशमी सं० १९७३ बिक्रमी को हुई।

स्थान

जिला सारन में स्थित है। डाकखाना राजापट्टी है।

प्रबन्ध

एक कमेटी के अधीन है।

अधिकारी

पं० रामावतार जी आचार्य तथा कृष्ण-बहादुरसिंह जी मुख्याधिष्ठाता रहे हैं।

शिक्षा

स्वामी दयानन्द जी की पाठ विधि के अनुसार शिक्षा दी जाती है।

शिक्षक

६ अध्यापक कार्य करते हैं।

सम्पत्ति

१६ बीघे भूमि है। भवन पक्के बने हुए हैं।

आय-व्यय

लगभग २०००) वार्षिक आय-व्यय है।

मध्यप्रान्त

२८

मध्यभारत गुरुकुल होशंगाबाद

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना ६ अप्रैल सन् १९१२ ई० में हुई।

प्रबन्ध

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ के अधिकार में है।

शिक्षा

संस्कृत, हिन्दी व अंग्रेजी भाषा में पढ़ाई जाती हैं।

पाठविधि—

गुरुकुल काँगड़ी के अनुकूल है। उपदेशक श्रेणी भी पृथक् है।

सैनिक शिक्षा—

और शिल्पशिक्षा का भी प्रबन्ध है। शिल्प में सूत कातना और यज्ञोपवीत बनाने का कार्य सिखाया जाता है।

छात्र संख्या

गत वर्ष चतुर्थ श्रेणी तक २३ विद्यार्थी रहे। पांचवीं उपदेशक श्रेणी में विद्यार्थियों की संख्या ३ रही।

सम्पत्ति

अचल सम्पत्ति का मूल्य २५०००) रु० के लगभग और चल सम्पत्ति १००) है।

आय-व्यय

गत वर्ष आय २१७०≈)॥ और व्यय २०७१|||=) रु० हुआ। दान की आय १४४८॥≈)॥ हुई।

प्रारम्भ से अब तक सारा व्यय १ लाख रुपये के लगभग हुआ।

स्नातक

अब तक ५५ विद्यार्थी स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण कर चुके हैं। इनमें ५ उपदेशक, २० वैद्य और १० शिक्षक का कार्य करते हैं। शेष स्वतन्त्र कृषि आदि का कार्य करते हैं।

बम्बई

२६

गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम और गुरुकुल महाविद्यालय

आर्यन रोड, आणंद

स्थापना व पूर्ववृत्त

इस गुरुकुल की स्थापना सन् १६११ के लगभग हुई। इसका पूर्व नाम गुरुकुल शुल्कतीर्थ था। इसमें दो विभाग थे।

एक प्राचीन विभाग दूसरा अर्वाचीन विभाग। इस गुरुकुल को मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा नियत की हुई मुम्बई प्रदेश आर्य विद्या सभा चलाती थी। उपरोक्त सभा ने ता० ३०-४-३५ के दिन प्रस्ताव करके दोनों विभागों को अलग किया उसमें प्राचीन विभाग चरोत्तर प्रदेश आर्य समाज को सौंपा और अर्वाचीन विभाग बम्बई घाट कूपर में रखा। उसी दिन से गुरुकुल के प्राचीन विभाग को चरोतर प्रदेश आर्यसमाज

की नियत की हुई एक समिति चलाती थी किन्तु गुरुकुल के ठीक प्रकार से न चल सकने के कारण चरोत्तर प्र० आर्य समाज की ता० २७-३-३७ की साधारण सभा ने प्रस्ताव करके गुरुकुल में अध्यापक रख के जो अर्वाचीन प्राथमिक और माध्यामिक शिक्षण दिया जाता था उसे बन्द करके ब्रह्मचारियों को वह शिक्षण लेने के लिये शाला में भेजने का निश्चय किया और धार्मिक संस्कृत शिक्षण जो शाला में नहीं दिया जाता उसकी व्यवस्था के लिए आश्रम में अध्यापक रक्खे।

३०

गुरुकुल सूपा

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना सन् १९२४ ई० में हुई।

स्थान

बी. बी. एण्ड सी. आई. रेलवे के नवसारी स्टेशन के समीप सूपा नदी पर स्थित है।

प्रबन्ध

एक स्थानीय कमेटी के आधीन है।

शिक्षा

गुरुकुल कांगड़ी की शाखा है। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की पाठविधि के अनुसार शिक्षा दी जाती है।

शिक्षक वर्ग

पं० प्रियव्रत जी विद्यालङ्कार आचार्य रहे। अन्य ११ अध्यापक कार्य करते रहे।

सम्पत्ति

१९ एकड़ भूमि के अतिरिक्त, विद्यालय आदि के पक्के भवन हैं।

३१

गुरुकुल स्कूल सोनगढ़

स्थापना

इसकी स्थापना संवत् १९८८ विक्रम में शिवरात्रि के दिन श्री स्वामी शंकरानन्द जी द्वारा हुई।

स्थान

काठियावाड़ प्रान्त में एक मात्र गुरुकुल आश्रम है।

शिक्षा

पहले गुरुकुल कांगड़ी की पाठविधि के अनुसार शिक्षा दी जाती थी। अब आश्रम गुरुकुल पद्धति पर है। शिक्षा सरकारी स्कूलों की है।

सम्पत्ति

२ लाख की स्थिर सम्पत्ति, एवं १०० बीघा भूमि है। स्वर्गीय सेठ मनसुखलाल छगनलाल भवन निर्माण करवा गये हैं।

पुस्तकालय

२००० पुस्तकें हैं, ७० से अधिक समाचार पत्र आते हैं।

इनके अतिरिक्त गुरुकुल शाताक्रुज़ (बम्बई) मंडावर (रि० जोधपुर) (स्थापना कार्तिक सं० १९६६ वि०), गुरुकुल सुजान गढ़ (रि० बीकानेर) गुरुकुल आश्रम कोल्हापुर आदि गुरुकुल पद्धति के शिक्षणालय हैं। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण नहीं मिल सका।

३२

मद्रास

गुरुकुल आश्रम कंगेरी बंगलौर

स्थापना

इस गुरुकुल की स्थापना २६ फरवरी सन् १९३८ को हुई।

प्रबन्ध व अधिकारी

प्रबन्ध एक कमेटी के अधीन है। जिसके मन्त्री श्री ब्रह्मचारी रामचन्द्र जी हैं।

शिक्षा तथा पाठ विधि

मैसूर राज्य की मिडिल स्कूल परीक्षा के अनुसार शिक्षा दी जाती है। योगासन और सूर्य नमस्कार का अभ्यास करवाया जाता है।

छात्र संख्या

७२ है।

शिक्षकवर्ग

सर्वश्री वासुदेवराव, राघवनू, सुब्बराव, गोविन्दय्या, प्रियव्रत, मादय्या, और गुरुदत्त अध्यापक का कार्य करते रहे।

सम्पत्ति

२४०००) की अचल और २००००) की चल सम्पत्ति है।

आय-व्यय

गत वर्ष ६४६५≡)॥ आय और इतना ही व्यय हुआ।

आरम्भ से अब तक ४४०००) रु० व्यय हुआ।

दान से गत वर्ष ७५०६) रु० प्राप्त हुआ।

शुल्क

९० प्रतिशत छात्र निःशुल्क हैं। १० प्रतिशत से ५) मासिक शुल्क लिया जाता है।

इस गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों में से दो विद्यार्थी लाहौर में और ३ बंगलौर में उच्च शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। दो ग्रामोद्धार का कार्य कर रहे हैं।

३२

निज़ाम राज्य

गुरुकुल अनन्त गिरी हैदराबाद

स्थापना

सन् १९३८ ई० में इस गुरुकुल की स्थापना श्री बंसीलाल जी वानप्रस्थी के प्रयत्न से हुई। आप ही इसके सम्प्रति सञ्चालक हैं। इस समय ४४ छात्र है।

स्थान

यह गुरुकुल हैदराबाद से लगभग ५ मील की दूरी पर स्थित है।

—*—

उपदेशक विद्यालय

१

दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय व वैदिक आश्रम

स्थापना

दयानन्द कालेज मैनेजिंग कमेटी ने पहले एक उपदेशक श्रेणी आरम्भ की थी। सन् १९२५ तक इसका नाम दयानन्द वेद विद्यालय रहा। उसके पश्चात् इसका नाम दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हुआ। इसके प्रथम आचार्य पं० विश्वबन्धुजी एम.ए.एम. ओ. एल. शास्त्री हुए।

शिक्षा

पंजाब विश्वविद्यालय की संस्कृत परीक्षायें तथा अन्य संस्कृत परीक्षाओं के साथ साथ अपनी परीक्षायें भी दिलाई जाती रही हैं। कमेटी ने अब संस्कृत पढ़ाने की श्रेणियाँ तोड़ कर शास्त्री या एफ. ए. और बी. ए. विद्यार्थियों को उत्तम अध्यापक व प्रचारक बनाने की शिक्षा विधि तैयार की है।

——

२

उपदेशक महाविद्यालय गुरुदत्त भवन, लाहौर

स्थापना

ऋषि जन्म शताब्दि की स्मृति में पंजाब प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस महाविद्यालय का स्थापना सन् १९२५ ई० में की। श्री स्वामी सत्यानन्द जी महाराज ने धन संग्रह किया। प्रथम आचार्य श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी हुए।

इसका वर्तमान विवरण आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के विवरण में दिया गया है।

———

३

उपदेशक विद्यालय नरेला

स्थापना

ग्रामों में प्रचार करने की योग्यता वाले उपदेशकों की शिक्षा के लिए सार्वदेशिक

आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से इसकी स्थापना हुई है। प्रथम वार एक वर्ष के लिए यह खोला गया है, और देहली के प्रसिद्ध आर्य नेता ला० नारायणदत्त जी ठेकेदार ने सारा व्यय अपने जिम्मे लिया है। वैशाख संवत् १९९८ ई० में स्थापित हुआ।

प्रबन्ध

स्थानीय अधिष्ठाता पं० भगवानदेव जी हैं।

निःशुल्क शिक्षा

स्वामी जी कृत तथा अन्य सिद्धान्त के ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं। छात्र संख्या ११ है। इनके भोजनादि का सब व्यय विद्यालय की ओर से है।

व्यय

लगभग १००) मासिक व्यय हो रहा है।

इनके अतिरिक्त अनेक संस्कृत पाठशालायें, विद्यालय आदि विभिन्न समाजों के अधीन चल रहे हैं। उनका विवरण या नामोल्लेख उन उन समाजों के विवरण में किया गया है।

"श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ"

कार्यालय—लाहौर

स्थापना

क्रान्त दर्शी भगवान् दयानन्द ने आर्य जाति के हित तथा कल्याण के लिये अपनी दिव्य दृष्टि से पवित्र वैदिक सिद्धान्तों तथा रहस्यों का साक्षात् कर उन्हें हमारे सम्मुख रखा, और उनके प्रसार तथा प्रचार के लिये भगवान् दयानन्द ने अनार्ष ग्रन्थों का निराकरण कर हमें आर्ष ग्रन्थों के पठन, पाठन का आदेश दिया और हमारे सामने आदर्श "आर्ष शिक्षा प्रणाली" को उपस्थित किया।

ऋषि तथा उनके महत्वों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले विद्वानों ने संयुक्त प्रांत की "स्वर्ण जयन्ती" के अवसर पर 'मेरठ' में परस्पर मिलकर विचार किया कि ऋषि प्रदर्शित "आर्ष शिक्षा प्रणाली" को किस प्रकार से पुनरुज्जीवित किया जाए। अन्ततः विचार-विनिमय के पश्चात् उपर्युक्त विद्वानों ने निश्चय किया कि उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ऋषि के मन्तव्यों तथा उनकी प्रदर्शित आर्ष शिक्षा प्रणाली पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले ऋषि भक्त विद्वानों की एक "श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ" नामक संस्थाकी स्थापना की जाए। परिणाम स्वरूप मेरठ में ही 'दयानन्द विद्यापीठ' का निर्माण हो गया।

उसके कुछ मास पश्चात् उपर्युक्त विद्यापीठ का 'हापुड़' में दूसरा अधिवेशन हुआ जिसमें दयानन्द विद्यापीठ के उद्देश्यों, सदस्यों की योग्यता तथा प्रतिज्ञा, आर्ष पाठ-विधि की परीक्षाओं और उनके पाठ्य क्रम का निश्चय किया गया। तथा लगभग एक दर्जन भारत के प्रसिद्ध ऋषि भक्त आर्य विद्वानों ने निम्न प्रतिज्ञा करके पीठ का सदस्य बनना स्वीकार किया।

प्रतिज्ञा

मैं "ओम्" को साक्षी रखकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऋषि दयानन्द प्रदर्शित सब मन्तव्यों को मैं अक्षरशः सत्य मानता हूँ, तथा भविष्य में मानूँगा। और उनके अनुकूल आचरण करने के लिये सर्वदा उद्यत रहूंगा।

उद्देश्य

१. ऋषि प्रदर्शित आर्ष पाठ विधि को कार्य रूप में परिणत करना।

२. ऋषि दयानन्द के विचारों के प्रतिकूल उत्पन्न हुए वातावरण का निराकरण करके ऋषि प्रदर्शित मन्तव्यों की प्रामाणिकता सिद्ध करना।

३. उनका विश्व में प्रचार करना।

सदस्यों की योग्यता

पीठ के उद्देश्य से पूर्ण सहमत तथा उपर्युक्त प्रतिज्ञा करने वाले महानुभाव जो कम से कम सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के विद्वान् हों इस विद्या पीठ के सदस्य हो सकेंगे।

कार्य

दो तीन वर्ष के अल्प काल में ही पीठ ने कई महत्व पूर्ण कार्य किये हैं। पीठ का सबसे प्रथम "महत्व पूर्ण कार्य" यह है कि जितने भी भारतवर्ष में ऋषि प्रदर्शित आर्ष प्रणाली के अनुसार शिक्षा देने वाले गुरुकुल या विद्यालय हैं, उन्हें अपने आधीन संगठित करके उनके द्वारा ऋषि प्रदर्शित पाठ विधि के कार्य को भली प्रकार से सञ्चालित किया है। इस समय पीठ के आधीन निम्न गुरुकुल तथा विद्यालय पाठ विधि के उद्देश्य को पूर्ण कर रहे हैं—

१. श्री गुरुकुल चित्तौड़।
२. श्री विरजानन्द वैदिक विद्यालय अजमेर।
३. श्री दयानन्द वेद विद्यालय देहली।
४. श्री विरजानन्द आश्रम लाहौर।
५. श्री गुरुकुल हापुड़।
६. श्री घनश्याम दास वैदिक विद्यालय देवरिया।
७. श्री गुरुकुल "अहरोला" बरेली।

विद्यापीठ का दूसरा महत्व पूर्ण कार्य यह है कि ऋषि दयानन्द प्रदर्शित आर्ष पद्धति के अनुसार अष्टाध्यायी, महाभाष्य, साहित्य, दर्शन, निरुक्त तथा वेदों की व्याकरणोपाध्याय, व्याकरणाचार्य आदि आर्ष

परीक्षायें निर्धारित करके उन्हें अपने विद्यालयों में प्रचलित किया है। जिनका परिणाम आरम्भावस्था होते हुए भी बहुत सन्तोषप्रद निकला है।

विद्या पीठ का तीसरा महत्व पूर्ण कार्य ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के संशोधन का है। पीठ का विचार है कि ऋषि के ग्रन्थों पर जितनी भी शङ्कायें की जा सकती हैं, या अभी तक की जा रही हैं, उन सबका युक्ति तथा प्रमाणों से विद्यापीठ के विद्वानों द्वारा उत्तर दिया जाए, और उन प्रमाणों तथा युक्तियों को नीचे फुटनोट द्वारा स्पष्ट करके ऋषि के ग्रन्थों का संशोधित, सुन्दर तथा सस्ता संस्करण निकाला जाए। पीठ ने इस महत्व पूर्ण कार्य का "देवरिया" के अधिवेशन से सूत्रपात भी कर दिया है। यूँ तो पीठ के अभी तक मेरठ, हापुड़, देहली, वृन्दावन, अजमेर आदि स्थान में कई महत्व पूर्ण अधिवेशन हो चुके हैं। किंतु देवरिया से पहले अधिवेशनों में यह महत्व पूर्ण कार्य समय आदि की न्यूनता से प्रारम्भ नहीं हो सका था, किंतु देवरिया के अधिवेशन से यह कार्य प्रारंभ कर दिया गया है। ऋषिकृत ग्रन्थों में से सर्व प्रथम "सत्यार्थ प्रकाश" को लिया गया है। देवरिया अधिवेशन में उपस्थित पीठ के विद्वानों ने "सत्यार्थप्रकाश" पर होने वाली कतिपय शंकाओं को रखा तथा उन्हें नोट कर लिया। पीठ के अध्यक्ष महोदय ने उपस्थित विद्वानों से प्रार्थना की कि इस प्रकार की जो अन्य शंकाएँ उन्हें सत्यार्थ-प्रकाश पर हों या अन्य धर्मावलम्बी करते हों उन्हें पीठ के कार्यालय में भेज दें। शंकाओं आदि के संग्रह का कार्य पीठ ने श्रीमान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु परीक्षाध्यक्ष दयानन्द विद्यापीठ को सौंपा है।

अधिकारी

पीठ के गत तीन वर्षों में निम्न अधिकारी रहे हैं:—

प्रथम वर्ष

सभाध्यक्ष—श्रीमान् पं० रामावतार जी तीर्थ चतुष्टय आचार्य गुरुकुल हरपुरजान (बिहार)

संचालक—श्रीमान् पं० राजेन्द्र जी आचार्य दयानन्द वेदविद्यालय देहली।

निरीक्षक—श्रीमान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कुलपति विरजानन्द आश्रम लाहौर।

कोषाध्यक्ष—श्रीमान् स्वामी व्रतानन्द जी आचार्य गुरुकुल चित्तौड़।

द्वितीय वर्ष

सभाध्यक्ष तथा परीक्षाध्यक्ष—श्रीमान् पं० शंकरदेव जी उपाचार्य।

संचालक—श्रीमान् व्रतानन्द जी।

निरीक्षक—ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।

कोषाध्यक्ष—श्रीमान् पं० राजेन्द्र जी।

इस वर्ष

सभाध्यक्ष—श्रीमान् पं० रामावतार जी (बिहार)

संचालक—श्रीमान् पं० भद्रसेन जी आचार्य विरजानन्द वैदिक विद्यालय अजमेर।

निरीक्षक तथा परीक्षाध्यक्ष—श्रीमान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।

कोषाध्यक्ष—श्रीमान् पं० राजेन्द्र जी आचार्य।

जो सज्जन पीठ की नियमावली तथा आर्य परीक्षाओं की पाठ विधि मंगाना चाहें वे पीठ के कार्यालय पो० शाहदरा (मिल्स) लाहौर से मंगा सकते हैं। और यदि कोई संस्था सम्बन्धी या ऋषि परीक्षाओं सम्बन्धी आवश्यक बात पूछना चाहें तो वे परीक्षाध्यक्ष या सभाध्यक्ष से पूछ सकते हैं।

इस पीठ के अन्तर्गत विद्यालयों में से, गुरुकुल चित्तौड़ और गुरुकुल आर्यांला वैदिक संघ बरेली का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है। शेष का विवरण निम्न प्रकार है—

श्री विरजानन्द वैदिक विद्यालय अजमेर

यह विद्यालय ऋषि की निर्वाण भूमि अजमेर में महर्षि प्रदर्शित आर्ष शिक्षा प्रणाली का जो कि सदियों से लुप्त प्रायः हो चुकी है, पुनरुत्थान करने, तथा उपर्युक्त आदर्श शिक्षा प्रणाली के द्वारा ऋषि के पवित्र उद्देश्य को पूर्ण करने वाले वैदिक विद्वान् तथा वैदिक मिशनरी पैदा करने के लिए लगभग पाँच-छः वर्षों से खुला हुआ है। इस विद्यालय में अष्टाध्यायी महाभाष्य आदि आर्ष ग्रन्थों के पढ़ाने का सुप्रबन्ध है। विद्यार्थियों को स्वावलम्बी, सदाचारी तथा वैदिक धर्म के सेवक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया जाता है। श्रीमद्दयानन्द विद्यापीठ द्वारा निर्धारित अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निघण्टु, निरुक्त आदि आर्ष ग्रन्थों की व्याकरणोपाध्याय, व्याकरणाचार्य, निरुक्ताचार्य आदि आर्ष परीक्षायें भी दिलाई जाती हैं। विद्यार्थियों को शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। पुस्तकों व वस्त्रादि का प्रबन्ध भी विद्यालय की ओर से ही होता है। असहाय तथा निर्धन विद्यार्थियों के भोजन का प्रबन्ध भी यथाशक्ति विद्यालय की ओर से किया जाता है। विद्यार्थियों को नियमपूर्वक योगाभ्यास की भी शिक्षा दी जाती है।

दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल व कालेज
तथा
अन्य विद्यालय, पाठशाला आदि

सन् १८८६ ई० को लाहौर में प्रथम डी. ए. वी. स्कूल स्थापित हुआ। इसके प्रबन्ध के लिये पृथक् प्रम्बन्ध समिति बनी। इसके प्रधान ला० लालचन्द जी एम. ए. बने और मन्त्री बा० मदनलाल जी बी. ए. म० हंसराज जी ने जीवन दान दिया जो आदि प्रिंसिपल बने।

इस समय दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज सोसायटी के अधीन एक विद्यासभा इन कालेजों और स्कूलों का प्रबन्ध करती है। इस विद्यासभा के मन्त्री श्री बृजलाल बी. ए. एल. एल. बी. हैं। इस विद्यासभा के अधीन निम्न कालेज और स्कूल पंजाब में चल रहे हैं। हमें इनका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हो सका।

पंजाब

कालेज

१—दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज, लाहौर

स्थापना—सन् १८८६ ई०में हुई। सन् १८८६ ई० में एफ. ए., सन् १८६४ ई० में बी. ए. और १८६५ ई० में एम० ए० श्रेणी खुली।

शिक्षा—एम. ए., एम. एस. सी. तक तथा संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी भाषायें हैं।

प्रिंसिपल—श्री मेहरचन्द एम. एस. सी. हैं।

२—दयानन्द आयुर्वैदिक कालेज लाहौर

स्थापना—उपरिलिखित कालेज में ही सन् १६०१ ई० में आयुर्वेदिक श्रेणी खोली गई, जो पीछे से पृथक् कालेज बन गया। इसके आदि प्रिंसिपल श्री सुरेन्द्रमोहन बी. ए. आयुर्वेदाचार्य हैं। कालेज की अपनी फार्मेसी भी है।

३—दयानन्द एंग्लोवैदिक कालेज जालन्धर

स्थापना—११ अप्रैल सन् १६१८ ई० में खोला गया। इसके प्रिंसिपल श्री मेहरचन्द बी. ए. रहे।

४—दयानन्द एंग्लो वैदिक कालेज होश्यारपुर

स्थापना—सन् १८६८ ई० में यह हाई स्कूल के रूप में खुला। ला० रामप्रसाद बी. ए., ला० देवीचन्द जी एम. ए. और ला० रामदासजी बी.ए.बी.टी. इसके हेडमास्टर रहे। सन् १६२६ ई० से यह कालेज बना।

इसके प्रिंसिपल ला० रामदास जी बी. ए. बी. टी. हैं।

५. डी. ए. वी. कालेज शोलापुर

स्थापना—हैद्राबाद सत्याग्रह के पश्चात् सन् १९४० ई० में स्थापित हुआ। इसके प्रिंसिपल श्री गोवर्धन लालदत्त।

स्कूल

विद्यासभा के आधीन निम्न स्कूल हैं—

१. दयानन्द एंग्लोवैदिक हाईस्कूल, लाहौर, २. मिडिल स्कूल और उसकी शाखायें, ३. दयानन्द इंडिस्ट्रियल स्कूल, ४. दयानंद ब्राह्म महाविद्यालय, ५. दयानद आयुर्वैदिक कालेज, ६. दयानन्द टैक्निकल इंस्टिट्यूट तथा ७. दयानन्द मोडेल स्कूल (बच्चों के लिये) लाहौर ८. डी. ए. वी. नेशनल हाई स्कूल पेशावर, ९ डी. ए. वी. हाई स्कूल मुल्तान, १०. डी.ए.वी. हाई स्कूल अमृतसर, ११ डी. ए. वी. हाई स्कूल कंजरूर, १२. डी. ए. वी. हाई स्कूल बटाला, १३ डी. ए. वी. हाई स्कूल दसूया, १४ डी. ए. वी. हाई स्कूल पट्टी, १५ डी. ए. वी. हाई स्कूल शाहपुर, १६ डी. ए. वी. हाई स्कूल देहली, १७ डी. ए. वी. हाई स्कूल नई देहली, १८ एस. बी. ए. एस. हाई स्कूल शुजाबाद, १९ जी. एस. ए. एस. हाई स्कूल हाफिजाबाद, २० डी. ए. एस. हाई स्कूल लायलपुर, २१ ए. वी. ए. एस. हाई स्कूल एबटाबाद, २२ जी. ए. वी. हाई स्कूल काँगड़ा, २३. सी. ए. वी. हाई स्कूल हिसार, २४ ए.एम. हाई स्कूल अम्बाला, २५ ए. एस. मिडिल स्कूल पूंडरी, २६ डी. ए. वी. मिडिल स्कूल बहरामपुर, २७ डी. ए. वी. हाई स्कूल खानेवाल, २८ जी. ए. एस. मिडिल स्कूल अहमदपुर, २९ डी. ए. वी. प्राइमरी स्कूल तरन-तारन, ३० जी. ए. एस. मिडिल स्कूल सैलावा, ३१ एम. आर. आर्य स्कूल चूहड़मण्डी, ३२. बी. एम. आर्य मिडिल स्कूल नौनार।

३३ ए. एम. हाई स्कूल जालन्धर—

लाला मथुरादास बी० ए० बी० टी० हैडमास्टर हैं।

३४ डी. ए. वी. हाई स्कूल कादियाँ (जिला गुरुदासपुर)—

इस स्कूल को ला० कर्मचन्द की आर्थिक सहायता से ला० देवीचन्द जी एम. ए. ने सन् १९१९ ई० में स्थापित किया। इस समय ३९० विद्यार्थी हैं। आर्य विद्यार्थी आश्रम भी है। मुख्याध्यापक श्री प्रकाशदेव बी. ए. बी. टी. है। शिक्षा डी ए. वी. कालेज कमेटी के अनुसार है। गत बीस वर्षों में ५००००) रु० के लगभग व्यय हो चुका है।

आर्य शिक्षा समिति के कालेज व स्कूल

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से सन् १९२६ ई० में पंजाब आर्य शिक्षा समिति की स्थापना की। इस समिति का उद्देश्य

स्कूलों द्वारा वेद-प्रचार, तथा स्कूलों के लिए धर्म शिक्षा की पाठविधि का निर्माण कर उसका प्रचार करना है।

सम्वत् १६६६ ई० में इसके प्रधान श्री शिवदयाल जी एम. ए. और मन्त्री ला० मूलराज जी बी. ए. बी. टी. थे। पं० जयदेव जी विद्यालंकार समिति के अधीनस्थ स्कूलों के निरीक्षक हैं।

सम्वत् १६६५ ई० में इससे १ कालेज, १० हाई स्कूल, ८ मिडिल स्कूल, ५ प्राइमरी स्कूल तथा ५ अन्य स्कूल सम्बद्ध रहे। कन्या स्कूल इनसे पृथक् हैं।

कालेज

१. दयानन्द मथुरादास कालेज मोगा

इसका विवरण पंजाब प्रान्तीय सभा के विवरण में दिया गया है।

स्कूल

१. आर्य हाई स्कूल लुधियाना

स्थापना—स्कूल का उद्देश्य छात्रों की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का ध्यान रखना है।

स्कूल के साथ छात्रालय भी है जिसमें ६० छात्र रहते हैं। ६० में से ५ मुसलमान, ४० हिन्दू और ४५ सिक्ख हैं।

स्कूल में छात्रों की संख्या १६२२ है। इसमें से ३ ईसाई, १० हरिजन, १७१ मुसल्मान, २८८ सिक्ख और १२१० हिन्दू हैं।

भवन में पढ़ाई के लिये ३८ कमरे तथा अन्य कमरे हैं। शिक्षक वर्ग १४८ शिक्षकों का है।

गत मैट्रिक परीक्षा में १८० में से १६० विद्यार्थी उत्तीर्ण हुए।

प्रिंसिपल—श्री रामलाल जी हैं।

२. आर्य मेडिकल स्कूल लुधियाना

स्थापना—इस स्कूल की स्थापना सन् १६३४ ई० में हुई। संस्थापक डा० बी० डी० सोनी थे।

संस्थापक की मृत्यु के पश्चात् इसका प्रबन्ध आर्य हाई स्कूल की प्रबन्ध कर्त्री सभा (रजिस्टर्ड) के सुपुर्द हुआ।

यह स्कूल पंजाब मैडिकल कौंसिल द्वारा स्वीकृत है।

प्रबन्ध और आय-व्यय–प्रिंसिपल श्री डा० एच. एस. सिन्हा (एम. बी.) हैं। प्रबन्ध समिति के प्रधान रा. ब. लाला रंगीलाल एम. ए. रिटायर्ड जज और चीफ़ जस्टिस इन्दौर हैं। और मन्त्री श्री रामलाल बी० ए० हैं। १८ अन्य सदस्य हैं। स्कूल सब तरह के सामान भवन आदि से सुसज्जित है। इसकी गत वर्ष की आय ३४४१५=)। और व्यय ४१६२७।≶)।।। हुआ। छात्र संख्या ८६ रही।

दयानन्द चिकित्सालय—यह चिकित्सालय स्कूल के साथ सम्बद्ध है। इसमें बाह्य रोगियों की औसत प्रतिदिन २२०.५

और प्रविष्ट रोगियों की औसत प्रतिदिन २५.३ रही। इस पर सन् १९३८ में १४३८५≶)।।। व्यय हुआ।

३. के. आर. ए. एस. हाई स्कूल, भेरा (सरगोधा), ४. आर्य हाई स्कूल, भूपालवाल (स्यालकोट), ५. एन. डी. विक्टर हाई स्कूल, जालन्धर छावनी, ६. डी. ए. वी. हाई स्कूल, मिंटगुमरी। ७. डी. ए. वी. हाई स्कूल नूर-महल (जालन्धर)। ८. डी. ए. वी. हाई स्कूल नवाँ शहर (जालन्धर)। ९. के. सी. आर्य हाई स्कूल, स्यालकोट। १०. एस. आर. आर्य हाई स्कूल, पटियाला। ११. आर्य मिडिल स्कूल नवांशहर पुलवा (अमृतसर)। १२. आर्य मिडिल स्कूल रामामंडी (पटियाला)। १३. डी. ए. वी. मिडिल स्कूल, जतोई (मुजफ्फरनगर)। १४. एस. ए. एस. मिडिल स्कूल तौंसा (डेरा गाज़ी खां)। १५. डी. एस. मिडिल स्कूल, मोगा। १६. आर्य संस्कृत पाटशाला झुग्गीवाला (मुजफ्फरगढ़)। १७. आर्य संस्कृत पाठशाला काबरछा। १८. आर्य संस्कृत पाठशाला अलीपुर(मुजफ्फरगढ़)।

१९. **आर्य हाई स्कूल नवांशहर**—इसमें १० अध्यापक हैं और ५०० छात्र हैं।

२०. **हरिजन पाठशाला फिरोजपुर**—सन्१९३६ ई० में स्थापित हुई। ३०छात्र हैं।

२१. **बालक पाठशाला चम्बा गुरुदासपुर**—इसमें लड़के लड़कियाँ साथ पढ़ते हैं। १० युवतियां, ४ युवक और १० कन्याएँ तथा ६० बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं, दो अध्यापक हैं।

२२. **लब्भूराम द्वाबा हाई स्कूल जालन्धर**—यह हाई स्कूल सन् १८८९ ई० से स्थापित है। श्री कृपाराम जी हैड मास्टर हैं।

इनके अतिरिक्त पंजाब में **आर्य समाजों** के आधीन अनेक प्राइमरी व मिडिल पाठशालायें चल रही हैं। जिनका विवरण समाजों के विवरण के साथ दिया गया है।

संयुक्त प्रान्त

सयुक्त प्रान्त में ऐसे कालेज और स्कूलों के नाम इस प्रकार हैं:—

दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज

१. कानपुर, २. देहरादून, इन्टरमेडिएट ३. बनारस।

दयानन्द ऐंग्लो वैदिक हाई स्कूल

१. बनारस, २. इलाहाबाद, ३. लखनऊ ४. कानपुर, ५. आगरा, ६. अलीगढ़, ७. बडौत (मेरठ), ८. सरस्वती विद्यालय बरेली, ९. बुलन्दशहर, १०. अनूपशहर (जि. बुलन्दशहर), ११. मुजफ्फरनगर, १२. गाजीपुर, १३. उरई, १४. देहरादून।

दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूल

१. आजमगढ़, २. उझियानी (बदायूं) ३. सहसवान (बदायूं) ४. महोबा (हमीरपुर) ५. सिकन्दरपुर (अलीगढ़), ६. गोरखपुर,

७. फैजाबाद, ८. झाँसी, ६. बांदा, १०. रुड़की।

संस्कृत पाठशालायें

१. बेचन आर्य वैदिक संस्कृत विद्यालय मेहदाबल (झाँसी), २. संस्कृत पाठशाला, ३. नरदौली (बदायूं), ४. भूड़ बरेली, ५. दातागंज (बदायूं) ६. मूसानगर (कानपुर) ७. गोला गोकरणनाथ (खीरी), ८. निचलौल (गोरखपुर) ६. बलदेव आर्य संस्कृत पाठशाला मुरादाबाद, १०. रुद्रपुर (गोरखपुर), ११. संस्कृत महाविद्यालय आ० स० आगरा, १२. नित्यानन्द वेद विद्यालय बनारस, १३. वैदिक संस्कृत पाठशाला बांस्पत पो० आ० बिरौचा (गोरखपुर)।

अन्य पाठशालायें

१. बिजनौर, २. मुजफ्फरनगर, ३. प्राइमरी स्कूल बहादुराबाद (सहारनपुर), ४. देवनागरी पाटशाला हल्दौर (बिजनौर) ५. आर्य पाठशाला फलावदा (मेरठ) ६. मवाना कलां (मेरठ), ७. बदायूं, ८. मुस्कुरा (हमीरपुर), ६. बाराबंकी, १०. प्रेम पाठशाला मैनपुरी, ११. पाठशाला उरावर (मैनपुरी), १२. सोने खेड़ा (उन्नाव), १३. पिपलापुरी (मुजफ्फरपुर) १४. गोंडा, १५. वैदिक पाठशाला कुण्डरी कला (बिजनौर), १६. निताहर (शाहजहांपुर) १७. आर्य हिन्दी पाठशाला ठाकुर द्वारा (मुरादाबाद), १८. वैदिक पाठशाला सीतापुर, १६. दयानन्द पाठशाला (मऊनाथ भंजन), २० राज कर्ण वैदिक पाठशाला फैजाबाद, २१. श्रद्धानन्द विद्यालय कालाकंकर, २२. हिन्दी पाठशाला अमेटी (सुल्तानपुर), २३. दलित रात्रि पाठशाला फतहपुर, २४. अछूत पाठशाला आजम गढ़, २५. दयानन्द पाठशाला जौनपुर।

शिल्प विद्यालय

१. आर्यसमाज टेलरिंग स्कूल गणेशगंज लखनऊ, २. डी० सी० इंडस्ट्रियल स्कूल खुर्जा।

सरस्वती विद्यालय हाई स्कूल बरेली

शिक्षा—आर्य विद्या सभा बरेली के प्रबन्ध में यह विद्यालय चल रहा है। इसमें अनाथ तथा अछूतों के लिये निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध है। धर्म शिक्षा आवश्यक है। सिलाई, बुनाई और बढ़ईगिरी का भी प्रबन्ध है।

छात्र संख्या—५५० है और २६ अध्यापक कार्य करते हैं।

सम्पत्ति—२६०००) लागत का विद्यालय का भवन है।

कल्याणी पाठशाला बरेली

(अछूतों के लिए)

यह पाठशाला भी आर्य विद्या सभा बरेली के आधीन है। शिक्षा सब विद्यार्थियों के लिए निःशुल्क है। धर्म शिक्षा आवश्यक है।

१२०० विद्यार्थी हैं और १६ अध्यापक कार्य करते हैं।

१०२२५) रु० की लागत के ६ भवन पाठशाला के अपने हैं।

श्री नारायण स्वामी विद्यालय रामगढ़

स्थान

नैनीताल से २८ मील दूर रामगढ़ के रमणीय प्रदेश में यह विद्यालय स्थित है।

स्थापना

इस विद्यालय की स्थापना सन् १६४० ई० में हुई।

प्रबन्ध

प्रबन्ध श्री नारायण स्वामी विद्या सभा के अधीन है। जो एक रजिस्टर्ड संस्था है। कम से कम १) प्रतिमास या १००) एक बार दान देने वाले इसके सदस्य हो सकते हैं। प्रबन्ध कर्त्री सभा में सभा के निर्वाचित सदस्य, श्री नारायण स्वामी जी द्वारा मनोनीत ३ सदस्य, रामगढ़ आर्यसमाज के दो प्रतिनिधि, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली, और संयुक्त प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा के निर्वाचित एक-एक प्रतिनिधि इस प्रकार १५ सदस्य होते हैं।

अधिकारी

श्री नारायण स्वामी जी संरक्षक, श्री गंगाप्रसाद जी रिटायर्ड चीफ जज प्रधान, और श्री दीवानसिंह जी जिमीदार गाँव नामकाना जि० नैनीताल मंत्री हैं।

श्री मद्दयानन्द विद्यालय फ़िरोज़ाबाद

स्थापना

इस संस्था की स्थापना अभी पिछले वर्ष जुलाई में ही हुई है। इसलिए संस्था अभी अपने शिशु काल में ही है।

शिक्षा

इस वर्ष हिन्दी मिडिल की ५ वीं श्रेणी है। अपने शिशु काल में ही विद्यालय ने नगर में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। विद्यालय का भविष्य अति उज्ज्वल प्रतीत होता है।

शिक्षा की विशेषता

सरकारी परीक्षाओं की शिक्षा के अतिरिक्त प्रबन्ध कारिणी ने विद्यालय में धार्मिक और शारीरिक शिक्षा का प्रबन्ध किया हुआ है और अगले वर्षों में औद्योगिक शिक्षा का भी प्रबन्ध करने का विचार है। विद्यालय की स्थापना में आदर्श वादिता का सिद्धान्त है और जिसके लिये समाज की प्रबन्ध कारिणी पूरी तौर पर प्रबन्ध कर रही है। विद्यालय की विशेषतायें ये हैं:—

१ सरकारी शिक्षा के अतिरिक्त विद्यार्थियों को धार्मिक, सामाजिक और नागरिक शिक्षा द्वारा पूर्ण रूप से धार्मिक तथा योग्य नागरिक बनाना।

२ शारीरिक शिक्षा के द्वारा उनको स्वस्थ और बलवान बनाना।

३ विद्यालय के बालकों में समभाव

और भ्रातृभाव उत्पन्न करके उन्हें एक दूसरे के जीवन में सहायक बनाना। इस विद्यालय का द्वार प्रत्येक जाति के बच्चों के लिए बिना किसी भेद भाव के खुला हुआ है।

प्रबन्ध

इसका प्रबन्ध आर्य समाज फीरोजाबाद के सुयोग्य उप प्रधान डा० प्यारेलाल जी के हाथों में है। विद्यालय की प्रबन्ध कारिणी आर्य समाज फीरोजाबाद के वयोवृद्ध प्रधान रिटायर्ड स्टेशन मास्टर पं० कुँवरलाल जी की अत्यन्त आभारी है जिन्होंने विद्यालय को १०००) दान में देने का वचन दिया हुआ है और उन दान दाताओं की भी कि जिनके दान की छत्र छाया में विद्यालय की वाटिका दिन प्रतिदिन फूल फल रही है।

अधिकारी

विद्यालय की प्रबन्ध कारिणी में निम्न सज्जन हैं:—

१ पं० कुँवरलाल जी शर्मा रिटायर्ड स्टेशन मास्टर प्रधान आर्य समाज फीरोजाबाद, २ पं० श्यामलाल जी शर्मा रईस व म्युनिस्पिल कमिश्नर, ३ बाबू माधुरी प्रशाद जी, ४ मेहरे सूरजभान जी रईस व म्यूनिस्पल कमिश्नर, ५ डा० प्यारेलाल जी गहलौत एल० एम० पी० मैनेजर स्कूल, ६ पं० शिवसहाय जी तैलङ्ग रईस, ७ राजवैद्य मोतीलाल जी, ८ म० ओंकारदत्त जी आर्य समाज प्रबन्धक, ९ मास्टर युगुल किशोर जी, १० महाशय गौतम जी रईस।

डी. सी. इण्डस्ट्रियल स्कूल खुरजा

स्थापना

१ नवम्बर सन् १९२७ को हुई।

उद्देश्य

सर्व साधारण हिन्दुओं में तथा विशेष रूप से दलित जातियों में शिल्प एवं कला-कौशल का प्रचार करना।

शिक्षाकाल तथा प्रवेश

१. शिक्षा काल प्रति वर्ष १ जुलाई से ३० जून तक रहेगा। २. १२ वर्ष से अधिक आयु का विद्यार्थी जिसकी शिक्षा सम्बन्धी योग्यता उर्दू हिन्दी कक्षा ४ तक हो प्रविष्ट हो सकेगा। ३. प्रवेश बिना किसी विशेष कारण के केवल आरम्भ में होगा। ४. प्रवेश के लिये प्रार्थनापत्र स्कूल के अधिष्ठाता के पास ५ जुलाई से पूर्व आना चाहिये।

प्रबन्ध

आर्यसमाज खुरजा के अधीन है। श्री ब्रह्मस्वरूप मैनेजर व श्री भवानीप्रसाद जी हेडमास्टर हैं। स्कूल, बल्देव आश्रम मन्दिर आर्यसमाज में स्थापित है।

औजार

शिक्षा के लिये आवश्यक औज़ार और सामान जैसे लकड़ी, लोहा, सूत इत्यादि, विद्यार्थियों को मुफ्त इनाम के लिये दिया जायगा, परन्तु किसी विद्यार्थी को किसी वस्तु

को मकान पर ले जाने की आज्ञा न होगी।

पारितोषिक

विद्यार्थियों को वार्षिक परीक्षा के परिणाम, उपस्थिति तथा प्रतिदिन के कार्य की उत्तमता पर पारितोषिक देने का भी प्रबन्ध किया जाता है।

प्रमाण पत्र

विद्यार्थी को स्कूल का सम्पूर्ण पाठ्यक्रम समाप्त करके परीक्षोत्तीर्ण होने पर स्कूल की ओर से प्रमाणपत्र दिया जायगा। प्रमाण पत्र पर प्रधान तथा अधिष्ठाता स्कूल के हस्ताक्षर होंगे।

श्रेणी

नाम कक्षा	शिक्षा की अवधि
१. बढ़ई	२ वर्ष
२. लोहार	२ वर्ष
३. दरी, कालीन, निवाड़ आदि बुनना	१ वर्ष
४. दर्जी	२ वर्ष

विद्यार्थियों की संख्या

प्रति वर्ष प्रत्येक श्रेणी में १० विद्यार्थी लिये जायेंगे।

निःशुल्कशिक्षा

शिक्षा निःशुल्क होगी परन्तु स्कूल के सामान अथवा औजारों को जान बूझ कर नष्ट करेंगे तो इस हानि के उत्तरदायी होंगे।

मजदूरी

दूसरे वर्ष के विद्यार्थी द्वारा बनाई हुई वस्तुओं को बेचकर जो मूल्य प्राप्त होगा उसके मुनाफा का ४० प्रति शतक हिस्सा विद्यार्थी को मिला करेगा।

राजस्थान

१. डी. ए. वी. हाई स्कूल अजमेर

आर्यसमाज अजमेर ने सन् १८८८ ई० में एक अध्यापक तथा ६ छात्रों से इसकी स्थापना की। १८९२ ई० में इसे मिडिल स्कूल तथा १८९७ ई० में इसे ५०० विद्यार्थियों के साथ हाई स्कूल बना दिया गया। इस हाई स्कूल का राजपूताने में एक प्रमुख स्थान है। इससे हजारों ही छात्र वैदिक धर्म की शिक्षा प्राप्त कर निकल चुके हैं। इस समय इसमें ८०० से अधिक छात्र शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। इसका सालाना खर्च २८ हजार रुपये का है। अब आर्यसमाज अजमेर ने इसको कृषि तथा औद्योगिक कालेज बनाने का निश्चय कर लिया है। इसके लिये भवन बनाने का कार्य कर्मवीर पं० जियालाल जी के उत्साह से आरम्भ हो गया है। भवन की नींव, खुदाई कार्य आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध वीतराग पूज्य सन्यासी स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के करकमलों द्वारा २८ जुलाई सन् १९४० ई० में आरम्भ हो चुका है। तब से काम बराबर चल रहा है। अब अप्रैल १९४१ में कालेज की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर आधारशिला रखी जायेगी। इसके भवन व कृषि औद्योगिक विभाग के कार्य के लिये १५ लाख रुपये का आनुमानिक व्यय लगाया

जा रहा है। परमात्मा की कृपा से शीघ्र ही पूरा होगा। जनता में इसके लिये श्रद्धा तथा अपूर्व उत्साह है। स्कूल के प्रधान रा० ब० मिठ्ठनलाल जी भार्गव, मन्त्री श्री बाबूलाल जी सक्सेना हैं। कालेज के निर्माण विभाग के मन्त्री कर्मवीर पं० जियालाल जी हैं। कार्य सफल होने की पूरी आशा है।

२. दयानन्द मिडिल स्कूल

हाई स्कूल में स्थानाभाव के कारण आर्यसमाज को पृथक् दयानन्द मिडिल स्कूल की स्थापना करनी पड़ी है। इसमें इस समय करीब ३०० विद्यार्थी हैं। इसके अतिरिक्त ब्रांच स्कूल व नागरी पाठशाला है जिनमें भी ३०० से अधिक छात्र हैं। शिक्षा क्षेत्र में आर्यसमाज अजमेर का कार्य जनता, सरकार में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। हाई स्कूल का परीक्षा फल आश्चर्यजनक सफल हो रहे हैं। गत वर्ष इसके ८ विद्यार्थी फर्स्ट डिवीज़न में सफल हुये थे। इस दृष्टि से इसका स्थान यूनिवर्सिटी में प्रथम रहा।

३. डी. ए. वी. स्कूल शाहपुरा

४. डी. ए. वी. स्कूल लश्कर (ग्वालियर)

छठी श्रेणी तक है। छात्र संख्या १५० और अध्यापक संख्या ८ है। वार्षिक आय-व्यय ३६००) है। संस्कृत आवश्यक विषय है।

—०—

बिहार

१. वेदरत्न विद्यालय, मुस्तफ़ापुर पो० खगौल (पटना)

स्थापना

इस विद्यालय की स्थापना २ फरवरी १६४१ में हुई और १६१६ में इसकी रजिस्ट्री बंगाल तथा बिहार आर्यप्रतिनिधि सभा के नाम की गई है।

प्रबन्ध

विद्यालय के सञ्चालन के लिये २१ सज्जनों की प्रबन्धकर्त्री सभा है जिसमें ७ सभासद् आर्य प्रतिनिधि सभा से निर्वाचित तथा १४ सहायकों में से निर्वाचित होते हैं।

शिक्षा

विद्यालय में संस्कृत तथा आंग्लभाषा के पठन-पाठन व्यवस्था की गई है। संस्कृत विभाग बिहार संस्कृत एसोसियेशन बिहार से स्वीकृत है। तथा संस्कृत एसोसियेशन से २५२) वार्षिक इस समय सहायता मिलती है। वेद, व्याकरण, साहित्य की आचार्य परीक्षा तक की पढ़ाई होती है। इस विभाग में २० अध्यापक तथा ५० छात्र हैं।

आंग्ल भाषा विभाग में मिडिल तक की पढ़ाई होती है जो जिला बोर्ड से स्वीकृत है। ६ अध्यापक तथा १७५ छात्र हैं। इस वर्ष १६४१ से हाई इंगलिश स्कूल तक की

पढ़ाई की व्यवस्था की गई है और 'सेकेण्डरी बोर्ड आफ एजुकेशन' से ८ वीं क्लास की स्वीकृति मिल गई है जिसमें २ अध्यापक तथा २५ छात्र हैं।

सम्पत्ति

विद्यालय का अपना ५ बीघा भूमि में २००००) बीस सहस्र का भवन है जिसमें एक वृहत् यज्ञ शाला, विद्यालय भवन, छात्राश्रम, पुस्तकालय तथा पाकशाला आदि हैं।

छात्राश्रम

छात्राश्रम में रहन, सहन, भोजन, धर्म-शिक्षा आदि का प्रबन्ध 'महर्षि' दयानन्द सरस्वती की पद्धति के अनुकूल है। विद्यालय का वातावरण उच्च विचारों एवं आश्रम का जीवन सरल हो इस विचार से सभा ने धर्म शिक्षा की भी उपयुक्त शिक्षा की व्यवस्था की है। इस विद्यालय का कार्य सर्वसाधारण सज्जनों की सहायता तथा कुछ सरकारी सहायता से सञ्चालित होता है।

२. श्रीमद्दयानन्द संस्कृत पाठशाला, बाढ़ जिला पटना

गत वर्ष विद्यार्थियों ने प्रथमा और ४ विद्यार्थियों ने मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण की।

३. डी.ए.वी. यू.पी. स्कूल वर विद्या, मुङ्गेर

सन् १९३९ ई० में स्थापित हुआ। ९० छात्र और ३ अध्यापक हैं।

४. डी.ए.वी. हाई स्कूल और पाठशाला गोपाल गंज सारन

हाई स्कूल में ४२५ छात्र और १२ अध्यापक कार्य करते हैं। पाठशाला में ३५ छात्र हैं। संस्कृत आवश्यक विषय है।

५. डी. ए. वी. हाईस्कूल—पटना।

६. डी. ए. वी. हाईस्कूल—मानभूम।

७. डी. ए. वी. हाई स्कूल—वैरगनिया (मुजफ्फरपुर)।

८. डी. ए. वी. हाईस्कूल—जहानाबाद (गया)

९. दयानन्द हाईस्कूल—मीठापुर (पटना)।

आर्य समाज सीवान के स्कूल

आ० स० सीवान (सारन) के अधीन निम्न स्कूल चल रहे हैं—

(१) डी. ए. वी. हाई स्कूल, सीवान।
(२) डी. ए. वी. मिडिल स्कूल, „
(३) „ एल. पी. „ „
(४) „ पाठशाला „
(५) „ हरिजन स्कूल „
(६) „ अपर प्राइमरी स्कूल उर्मा।

इन संस्थाओं का प्रबन्ध आर्यसमाज के अधीन है। इनमें से प्रत्येक के प्रबन्ध के लिए पृथक् पृथक् प्रबन्ध समिति बनी हुई हैं।

गत वर्ष इनमें से प्रत्येक में क्रमशः

छात्र-संख्या २०८, २१२, ३३, ५२, २८ और ५२ रही।

इनकी वार्षिक आय क्रमशः ७७२८) रु०, ४१०८), ३६०), ३०५), २४०) और १४४) रु० रही। इस वर्ष का व्यय क्रमशः ७५७८) रु०, ३३६०) रु०, ३५०) रु०, ३०५) रु०, २४०) रु० और १४४) रु० हुआ।

हाई स्कूल का परीक्षा परिणाम ५६.६ प्रतिशत और मिडिल स्कूल का परीक्षा परिणाम ५३.१ प्रतिशत रहा।

मुख्य प्रबन्धक सभा के प्रधान रा० ब० श्री ब्रजनन्दनसिंह रिटायर्ड एक्साईज़ कमिश्नर बिहार हैं। और मन्त्री श्री वैद्यनाथ धाम बी. ए. चेयरमैन म्युनिसिपल बोर्ड सीवान हैं।

हाई स्कूल के हेडमास्टर श्री बांके-बिहारी मिश्र एम० ए० रहे। मिडिल स्कूल के हेडमास्टर पं विद्यापति द्विवेदी बी० ए० थे।

बंगाल आसाम

(१) डी. ए. वी. हाई स्कूल, आसनसोल।
(२) डी. ए. वी. हाई स्कूल, कांचरापाड़ा।
(३) हरिजन पाठशाला, कलकत्ता।
(४) ,, ,, खिदरपुर।

(५) आर्य विद्यालय कलकत्ता

स्थान

३८, क्षेत्र मित्र लेन, सलकिया, हवड़ा में स्थापित है।

स्थापना

सन् १६३६ ई० में स्थापित हुआ।

शिक्षा

हाई स्कूल तक की कक्षायें हैं। बालक बालिकायें एक साथ पढ़ती हैं। प्राइमरी तक शिक्षा निःशुल्क है।

प्रबन्ध

हवड़ा आर्यसमाज के प्रबन्ध में है। समिति के प्रधान पं० मिहिरचन्द धीमान् और मन्त्री श्री वीरूराम जी हैं।

छात्र

छात्रों की संख्या १५० है।

शिक्षक वर्ग

श्री महेन्द्र तिवारी प्रधानाध्यापक तथा अन्य ४ अध्यापक हैं।

(६) आर्य विद्यालय, दमदम।
(७) ,, सलकिया।
(८) रात्रि पाठशाला बड़ा बाज़ार कलकत्ता।
(९) लोअर प्राइमरी पाठशाला आलमबाज़ार।
(१०) लोअर प्राइमरी पाठशाला आदमपुर।
(११) लोअर प्राइमरी पाठशाला रामपुर हाट।

(१२) अपर प्राइमरी पाठशाला मटियाबुर्ज।

(१३) दयानन्द आदर्श पाठशाला कांचरापाड़ा।

निज़ाम राज्य

१. केशवराव स्कूल हैदराबाद

इसका विवरण सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के विवरण में दिया गया है।

२. रात्रि पाठशाला, गिरिमाजिपेठ बरङ्गल (निज़ाम राज्य)

आर्य समाज बरङ्गल (निज़ाम राज्य) की देख रेख में चलती है। श्री नारायणराज आर्य मुख्य कार्य कर्ता हैं।

२६ विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। धार्मिक शिक्षा व हिन्दी शिक्षा दी जाती है।

इनके अतिरिक्त आर्य समाजों के आधीन निम्न ६ पाठशालायें चल रही हैं।

१. नलगोला, २. गुलबर्गा, ३. कलंब, ४. हिंगोली, ५. रायचूर, ६. सदाशिवपेठ, ७. बेलकुंड, ८. अवराद, ६. मालेगांव।

१०. दयानन्द पाठशाला लातूर

इसमें दलित जाति के बालकों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती हैं। दो अध्यापक कार्य करते हैं।

मध्य प्रदेश व विदर्भ

डी० ए० वी० हाई स्कूल नागपुर

स्थापना

इस स्कूल की स्थापना सन् १९३८ में हुई।

प्रबन्ध

श्रीमती आर्य प्रतिनिध सभा मध्य प्रदेश व विदर्भ की संरक्षकता में "डी. ए. वी. हाई स्कूल शिक्षा समिति नागपुर के आधीन प्रबंध है। कम से कम एक रुपया मासिक चन्दा देने वाला व्यक्ति साधारण सभा का सदस्य हो सकता है। प्रबन्ध कारिणी सभा में १७ सदस्य होते हैं।

अधिकारी

प्रधान—माननीय श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त, स्पीकर मध्यप्रांतीय असेम्बली।

उपप्रधान—१. श्री स्वामी मसानियानन्द जी नागपुर।

२. श्री माणिकलाल जी।

मंत्री व कोषाध्यक्ष—श्री विलायतीराम जी कौशल।

संयुक्तमंत्री–प्रो० शंकरलालजी पाली नागपुर।

शिक्षा

(१) प्राइमरी से मैट्रिक तक की शिक्षा हिन्दी माध्यम द्वारा दी जाती है।

(२) वैदिक धर्म की शिक्षा अनिवार्य है सरकारी स्वीकृत शिक्षणालयों में इसका नाम अंकित है।

शिक्षक वर्ग

प्रधान अध्यापक—पं० विद्यानन्द जी बी. ए. वैदिक रिसर्च स्कालर। सहायक अध्यापक १०। इनके नाम निम्न हैं—

पं० जमुनादास बी. ए. साहित्य रत्न, श्री विजयपालसिंह विशारद, श्री मनोहरलाल सक्सेना, श्री महाराजसिंह जादम, श्री पांडुरंग सदाशिव बडालकर, श्री श्यामगोविन्द वर्मा श्री सरजूप्रसाद, श्री लक्ष्मैयाजी आचार्य, और श्री नारायण श्री कृष्ण चौबे।

छात्र संख्या

१०२ छात्र हैं। ७ ने मैट्रिक परीक्षा दी आर्यकुमार परिषद् की परीक्षाओं में २० विद्यार्थी सम्मिलित हुए।

कुमार सभा

इसमें २५ सभासद हैं। साप्ताहिक अधिवेशन तथा मोहल्लों में प्रचार होता है।

आय-व्यय

फीस से १६१५-) और दान से ११७८-) प्राप्त हुए। व्यय २७३५॥) हुआ। प्रारम्भ से अब तक ५०११|||≶) व्यय हो चुका है।

सिन्ध

सिन्ध प्रान्त में निम्न शिक्षा संस्थाएँ मुख्य हैं:—

१. लखपतराय डी. ए. वी. स्कूल कराची
२. वैदिक विद्यालय, थररी महबत
३. हरिजन विद्यालय, बाड़ह
४. दयानन्द आर्य विद्यालय, घोटकीसिद्ध
५. बाजीगर स्कूल लाड़काना
६. बाजीगर स्कूल रतोदेरो

बम्बई

(१) डी. ए. वी. फ्री नाइट स्कूल बम्बई

आर्यसमाज बम्बई के प्रबन्ध में यह स्कूल रात्रि ८ बजे से १० बजे तक भूलेश्वर मार्केट वाले म्यु० गुजराती स्कूल में चलाया जाता है। अंग्रेजी गुजराती तथा हिन्दी के अतिरिक्त धर्म शिक्षा का प्रबन्ध है। शिक्षा मुफ़्त है। इसके मुख्याध्यापक श्री पं० रामचन्द्र जी सिद्धान्तालंकार हैं। समाज की ओर से वार्षिक सहायता लगभग २५०) है।

(२) श्रीमती मीठाबाई संस्कृत पाठशाला

इस पाठशाला में वेद व्याकरण साहित्य और कर्मकांड की शिक्षा दी जाती है। धर्म शिक्षा, शिक्षा का आवश्यक अंग है। इस वर्ष ३० विद्यार्थियों ने लाभ उठाया। यह पाठशाला नित्य प्रातः ८ बजे से १० बजे तक लगती है।

सायंकाल इस पाठशाला की ओर से उपनिषदों का प्रवचन होता है। इस पाठशाला के ट्रस्टी श्री सेठ पुरुषोत्तम जीवनदास आदि महानुभाव हैं।

३. कोल्हापुर हाई स्कूल

४. राजाराम कालेज कोल्हापुर

इसकी स्थापना स्वर्गीय कोल्हापुर नरेश ने की थी और इसका प्रबन्ध आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के सुपुर्द था। पीछे से इसका प्रबन्ध पृथक् हो गया और कालेज बम्बई विश्व विद्यालय से सम्बद्ध हो गया।

इस समय इसके प्रिंसिपल स्व० प्रो० बालकृष्ण जी एम. ए. रहे। एम. ए. तक पढ़ाई का प्रबन्ध है।

ब्रह्मा

डी.ए. वी. स्कूल कांवलू जि० श्वेबो

स्थापना—मई सन् १९१७ ई०। **प्रबन्धकर्ता**—श्री रामलौटन सिंह। **शिक्षा**—छठी (अंग्रेज़ी) तक तथा धर्म शिक्षा। **माध्यम**—हिन्दी वर्मीज़। **छात्र संख्या**—४०। **सम्पत्ति**—भवन। **कुल व्यय**—७०००) तक हो चुका है। **वार्षिक आय-व्यय**—४८०) रु०। **उत्तीर्ण छात्र**—१०।

डी. ए. वी. स्कूल मनेवा

स्थापना—मई सन् १९२६ ई०। **प्रबन्ध**—डा० पी० लाल प्रधान व श्री टी. के. पुन्नू, मन्त्री। **शिक्षा**—चतुर्थ श्रेणी (अंग्रेज़ी) तक तथा धर्म शिक्षा। **माध्यम**—हिन्दी। **छात्र संख्या**—१५० है। **उत्तीर्ण छात्र**—६०। **सम्पत्ति**—१०००)। **कुल आय**—२३०००), **कुल व्यय**—२२०००) सम्बद्ध—रंगून विश्व विद्यालय से। **सहायता**—म्युनिसिपल कमेटी से ९२) प्रतिमास। **वार्षिक आय-व्यय**—१८५८॥-) और १८०६-)। **अध्यापक संख्या**—४।

डी. ए. वी. स्कूल चौक (मंगोई)

स्थापना—१४ मार्च सन् १९३७ ई०। **प्रबन्ध**—डा० खुराना प्रधान, म० भगतराम मन्त्री। **शिक्षा**—अपर प्रायमरी तक। **अध्यापक**—३। **माध्यम**—हिन्दी। **छात्र**—८०। **पिछले उत्तीर्ण छात्र**—५। **वार्षिक आय-व्यय**—१३००) रु०। **सहायता**—टाउन कमेटी से ५२ मासिक।

डी. ए. वी. स्कूल मचीना

स्थापना—सन् १९११ ई०। **प्रबन्ध**—पं० हरिनन्द प्रधान, व लाला लब्भूराम मन्त्री। **शिक्षा**—अपर प्रायमरी कक्षा ४ तक। **अध्यापक**—६। **माध्यम**—हिन्दी। **छात्र**—१९१। गत छात्र संख्या २०००। **आय-व्यय**—३०४१॥≶) और ३२२९।।।)॥ **कुल व्यय**—५००००)। **सहायता**—२००) मासिक।

हिन्दू स्कूल एनानजांव (मचीना)

स्थापना—२ जनवरी सन् १९३७ ई०। **प्रबन्ध**—श्री रुगलाल प्रधान, व सेठ ब्रजलाल मन्त्री। **शिक्षा**—चतुर्थ श्रेणी तक। **अध्यापक**—२। **माध्यम**—हिन्दी। **छात्र**—६०। गत उत्तीर्ण छात्र १०। **सम्पत्ति**—५००) नक़द। **आय-व्यय**—६००) वार्षिक। **कुल व्यय**—२७००)।

भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद्

सरकारी और गैर सरकारी शिक्षणालियों के छात्रों में वैदिक धर्म के प्रचार, सिद्धान्तों की शिक्षा तथा इन अन्य आर्य कुमारों के सङ्गठन के लिए स्थान-स्थान पर आर्यकुमार सभायें व आर्य युवक सभायें स्थापित हुई हैं। भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् एक केन्द्रीय संस्था है। इसके अधीन तथा इससे स्वाधीन अनेक अन्य सभायें हैं। यहा हम पहले केन्द्रीय परिषद् का परिचय देकर् अन्य कुमार सभाओं का प्राप्त विवरण देंगे।

स्थापना

सन् १६०६ में रावलपिण्डी के उत्साही आर्य वीरो के हृदय मे आर्य नवयुवकों का सङ्गठित करने का विचार उत्पन्न हुआ। श्री प्रो० सुधाकर जी एम० ए० वर्तमान मंत्री सार्वदेशिक सभा, श्रीयुत बलभद्र जी, श्री प्रो० सिद्धेश्वर जी एम० ए० ने आर्य-कुमारों के सङ्गठन करने का निश्चय किया। डा० केशवदेव जी ने श्री प्रो० सुधाकर जी के विचारों का समर्थन किया और आर्य-कुमारों के संगठित करने के लिए आर्यकुमार परिषद् की नींव डाली। इस प्रकार चारों व्यक्तियों को ही कुमार परिषद् का स्थापना का श्रेय प्राप्त है। काशी से एक अपील भी प्रकाशित की गई और यह भी निश्चय हुआ कि रावलपिण्डी में आर्य कुमार सम्मेलन किया जाये। इस सम्मेलन के सभापति पद को स्वर्गीय डा० केशवदेव जी शास्त्री ने सुशोभित किया।

स्वर्गीय शास्त्री जी ने अपने भाषण मे आर्य कुमारों को दिव्य सन्देश देते हुए कहा थाः—

"सज्जन कुमारो! उठो, और मनुष्य के कल्याण का व्रत धारण करो, मैत्री और कल्याण से मनुष्य मात्र का कल्याण करो। आपका सच्चा और प्रेम भरा वाणी बड़ा-बड़ा अट्टालिका और दारिद्रिया का कुटी म स अनेक दुखिया को बाहर लायेगा, पीड़ित नर नारी युवक और वृद्ध आपके करुणा भाव को देखकर आपका शरण मे आयेंगे। हम आशा है कि आप विश्वास पात्र बनकर उनके क्लेशा का कम करने का चेष्टा करेंगे।

सभापति

इसके पश्चात् निम्न सज्जन क्रमशः समाज के सभापति रहे—

१. श्री डा० केशवदेव जी शास्त्री,

२. बा० अलखमुरारी लाल एम० ए० एल० एल० बी०, ३. ला० लाजपतराय जी, ४, महात्मा मुन्शीराम जी, ५. आचार्य रामदेव जी, ६. स्वामी सत्यानन्द जी महाराज, ७. प्रिं० बालकृष्ण जी, ८. महात्मा हंसराज जी, ९. पं० गंगाप्रसाद जी एम० ए०, १०. भाई परमानन्द जी एम० ए०, ११. महात्मा नारायण स्वामी जी, १२. म० आत्माराम जी अमृतसरी, १३ सेठ गोविन्दलाल जी पित्ती, १४. पं० विष्णु भास्कर जी केलकर, १५. पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति, १६. राजा अवधेश नारायण सिंह जी काला कांकर नरेश, १७. ला० देशबन्धु जी, १८. पं० विश्व बन्धु जी, १९. रा० सा० मदन मोहन जी सेठ, २०. पं० रामचन्द्र जी देहलवी, २१. महाराजाधिराज सर नाहरसिंह जी शाहपुराधीश, २२. श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, २३. श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालकार, २४. श्री प्रो० सुधाकर जी एम० ए० २५. राजगुरु श्री पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री।

कार्यालय

परिषद् का कार्यालय पहले लगभग ६ वर्ष तक सहारनपुर में श्री अलखमुरारी जी के आधीन रहा। फिर अजमेर में श्री कुँवर चांदकरण जी शारदा के पास लगभग ४, ५ वर्ष रहा। फिर श्री राजा ज्वाला प्रसाद जी की देख रेख में काशी सन् २१ तक रहा। मेरठ सम्मेलन के पश्चात् कार्यालय दिल्ली आया और डा० युद्धवीर सिंह जी इसके मंत्री हुए और डा० केशवदेव जी तथा डा० युद्धवीर सिंह जी की देख रेख में इन दिनों परिषद् का खूब काम हुआ।

बड़ौदा सम्मेलन के कुछ दिन बाद परिषद् का दफ्तर देहरादून में श्री कृष्णलाल जी के मन्त्रित्व में रहा। परन्तु मुरादाबाद सम्मेलन के बाद फिर देहली आ गया और आगरा सम्मेलन तक यहीं रहा। आगरा सम्मेलन पर कुँ० रतनसिंह जी के मंत्री चुने जाने पर कार्यालय आगरे रहा। आगरे के बाद श्री पं० विद्याधर जी के मन्त्री पद ग्रहण करने पर २-३ साल तक कार्यालय कानपुर रहा। फिर मेरठ सम्मेलन के बाद साल डेढ़ साल तक कार्यालय मेरठ में श्री विश्वम्भर सहाय जी प्रेमी के मन्त्रित्व में रहा। दिल्ली सम्मेलन के बाद अब दफ्तर श्री मनुराम जी मन्त्री परिषद् के आधीन दिल्ली में है। कुछ दिन दफ्तर सार्वदेशिक सभा बलिदान भवन में रहा और स्थाई रूप से आर्य समाज दीवान हाल में है।

उद्देश्य

परिषद् का उद्देश्य कुमारों तथा युवकों को ईश्वर, वैदिक धर्म और देश के सच्चे और क्रियाशील उपासक बनाना है।

उद्देश्य पूर्ति के साधन

१. स्थान-स्थान पर आर्य कुमार

सभाओं की स्थापना करना तथा उनकी अभिवृद्धि, उन्नति एवं सङ्गठन में तत्पर रहना।

२. धार्मिक तथा अन्य उपयोगी ग्रन्थों की परीक्षायें नियत करना।

३. प्रति वर्ष एक भारतवर्षीय आर्य-कुमार सम्नेलन करना।

४. कुमारों में सेवा भाव उत्पन्न करने के लिये तथा उनको सेवा कार्य के योग्य बनाने के लिये उचित साधनों का प्रयोग करना।

५. आर्य कुमार सभाओं को उनकी कार्य प्रणाली के सम्बन्ध में समय समय पर उचित निर्देश देते रहना।

६. कुमारों के हितार्थ सामयिक एवं अन्य प्रकार का साहित्य प्रकाशित करना।

७. आर्यकुमारों को शारीरिक उन्नति में प्रवृत्त करने के लिये टूर्नामेंट, पर्यटन तथा अन्य आवश्यक साधनों को काम में लाना। व्यायाम शालाओं आदि का आयोजन करना।

८. उत्तम जलवायु वाले स्थानों पर स्वास्थ्य भवन बनाना।

९. कुमारों को चरित्र गठन, व्यावहारिक सभ्यता तथा नियंत्रण की क्रियात्मक शिक्षा देने का प्रबन्ध करना।

वर्तमान अधिकारी

प्रधान—राजगुरु पं० धुरेन्द्र जी शास्त्री

उपप्रधान—प्रो० सुधाकर जी, डा० युद्धवीर सिंह जी, महाराजाकुमार सुदर्शन देव जी शाहपुरा राज्य, श्री बाबूराम जी बी. ए., पं० रामदत्त जी शास्त्री।

मंत्री—श्री पं० मनुराम जी।

उपमंत्री—श्री० पौनीकर जी बी. ए., श्री ताराचन्द जी, श्री विश्वदेव जी, श्री बद्रीदत्तजी, गुलाबराय जी।

कोषाध्यक्ष—श्री नन्दकिशोर जी खन्ना।

पुस्तकाध्यक्ष—श्री रामकृष्ण जी।

परीक्षामंत्री—श्री पं० देवव्रत जी धर्मेन्दु।

परिषद् का कार्य

परिषद् प्रारम्भ से ही आर्य कुमार सभाओं द्वारा कुमारों के सुधार का भर-सक प्रयत्न कर रहा है। कितने युवक हैं, जिन्होंने परिषदों के उत्सवों में उत्साह प्रदर्शित किया। कितने हैं जिनके जीवनों को कुमार सभाओं ने बनाया और कितनों ही ने इन वार्षिक सम्मेलनों में ही अपने जीवनों में ज्योति प्राप्त की और सत्य पथ के पथिक बने। कोई लेखा इस काम का तैयार नहीं हो सकता है। इससे लाभान्वित कुमार, जो आज आर्य समाजों में कार्य कर रहे हैं इसके महत्व को जानते हैं। कब २ किन २ जीवनों को पलटा है और न जाने कितने नवयुवकों के जीवनों

में मंगलमय परिवर्तन परिषद् करने में समर्थ होगी, कौन कह सकता है! जितना इसका विस्तार फैलेगा, उतना ही यह उपयोगी सिद्ध होगी।

धार्मिक परीक्षायें

परिषद् का एक महत्वपूर्ण कार्य धार्मिक परीक्षायें हैं। ये परीक्षायें छात्रों और सर्वसाधारण युवकों को वैदिक सिद्धान्तों व शिक्षाओं से परिचित करवाने में विशेष सहायक सिद्ध हुई हैं। इनके संयोजक प्रो० मुन्शीराम एम. ए०, व पं० सूर्यदेव जी हेडमास्टर डी. ए. वी. हाई स्कूल अजमेर रहे। गत वर्ष से पं० देवव्रत जी धर्मेन्दु परीक्षा-मन्त्री हैं। इनकी विशेष लगन का परिणाम यह हुआ है कि गत वर्ष परीक्षा के केन्द्रों की संख्या ६७ से १२५ और परीक्षार्थियों की संख्या १५०० से ३००० हो गई।

अब तक दो परीक्षायें थीं। १म, वैदिक धर्म विशारद तीन खण्डों में और २ य सिद्धान्त शास्त्री। इस वर्ष से परीक्षायें चार करदी गई हैं। १ म सिद्धान्त सरोज, २य, सिद्धान्त रत्न, ३य सिद्धान्त भास्कर और चौथी सिद्धान्त शास्त्री। कोई भी परीक्षार्थी अपनी योग्यतानुसार किसी भी परीक्षा में सम्मिलित हो सकता है। प्रवेश शुल्क क्रमशः ।।), १), २) और ३) है। परीक्षायें प्रति वर्ष जनवरी मास में होती हैं। १५ सितम्बर तक प्रार्थना पत्र पहुँच जाने चाहियें। न्यून से न्यून १० परीक्षार्थी होने पर कहीं भी केन्द्र नियत हो सकता है।

इन परीक्षाओं के प्रमाण पत्र व पारितोषिक भी मिलते हैं। परीक्षा सम्बन्धी पत्र-व्यवहार के लिये पताः—

पं० देवव्रत धर्मेन्दु, परीक्षा मन्त्री, भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद, दीवान हाल, देहली।

सम्बद्ध आर्यकुमार सभाएं

इस समय तक परिषद् से निम्न लिखित आर्यकुमार सभाओं का सम्बन्ध हो चुका हैः—

आ० कु० सभा दीवानहाल देहली, आ० कुमार सभा बाजार सीताराम देहली, आर्य कुमार सभा सब्ज़ी मण्डी देहली, आ० कु० सभा डी. ए. वी. हाई स्कूल देहली, आ० कु० सभा डी. ए. वी. हाई स्कूल नई देहली, आ० कु० सभा पटौदी हाउस देहली, आ० कु० सभा दरियागंज देहली, आ० कु० सभा गाजियाबाद, आ० कु० सभा मेरठ, आ० कु० सभा सिरसा, पलवल, बिजनौर, नगीना, मुरादाबाद, कांठ, कानपुर, मेंडू, बलरामपुर, चन्दौसी, देहरादून, महू, बुरहानपुर, बरेली, भूडबरेली, पीलीभीत, राठ, रामपुर, उरई, हरदोई, हसनगंजपार, फैजाबाद, परतापगढ़, इच्छापुर, सागर, छरी, गोंडा, बहराइच, जयपुर, नजीबाबाद, आगरा, अजमेर, इस्लामनगर, रांची, औरैया, करनाल, हैदराबाद (दक्खन),

एटा, मंडला, बस्ती, हेमारा, जहानाबाद, व्यापुर, इन्दौर, शिवपुर, मुजफ्फरपुर, शिकोहाबाद, सिमगेडा, सारन, देवनगर, सिवातकलां, मुजफ्फरनगर, काशी, मवानाकलां, वृन्दावन, हरदोई, अजीतमल, रुड़की, बदायूँ, आगरा, लाहौर, पटना, गोरखपुर, गुलबर्गा, आरा, बाराबंकी, अतरौली, कानपुर, मुलतान, पालीखुर्द, रायपुर, पहाड़गंज, मोतीहारी, खगोन, सरायउस्मन, हापुड़, झांसी, सरायतरीन, व्यावर, जबलपुर, रसडा, गुरदासपुर, इलाहाबाद, अलीगढ़, हिंडौन, खण्डवा, बिलासपुर, झाँसी, जौनपुर, जोधपुर, बोलारम, अकोला, दरभंगा, खुसरुपुर, भागलपुर, लातूर, रंगून, बीकानेर, आसनसोल, इन्दौर, करांची, शेरकोट, देवास आबूरोड, सांतपुर, बांदा, मिन्टगुमरी, सलकियाहवडा, बहू बाज़ार कलकत्ता, मैनपुरी, बबुआताल, रोहतक, हैद्राबाद सिन्ध, लहरयासराय, भूपाल, धार, उज्जैन, टोंकवाली, गाजीपुर, छावनीमहू, धारुड, जयपुर, बारां, सियालकोट, वजीरपुर, फीरोजपुर, लुधियाना, सुलतानपुर, इलीचपुर, अमेठीराज्य, बलिया।

विवरण

देहली प्रान्त

१. आर्यकुमार सभा दीवानहाल देहली

स्थापना—सन् १६२८ ई०। **सभासद् संख्या**—२००। **प्रधान**—बा० विश्वम्भर दयाल जी। **मंत्री**—गोविन्दराम जी चौधरी। **कार्य**—भारतीय पार्लियामेंट, दीवानचन्द आर्य टूर्नामेंट और व्यायाम शाला आदि।

२. आर्यकुमार सभा देवनगर देहली

स्थापना—२१ जनवरी सन् १६३८ ई० **सं० संख्या**—२५। **प्रधान**—श्री नवल प्रभाकर। **मन्त्री**—कविराज खूबराम जाजोरिया एल० ए० एम० एस०, भिषग्रत्न। **कार्य**—वाद विवाद, ६० दिन का विशेष प्रचार, मैजिक लैन्टर्न द्वारा रामायण व महाभारत का प्रचार तथा हैदराबाद सत्याग्रह में दो सत्याग्रही भेजे गये व चन्दा एकत्र किया गया। मार्च १६४० से जून १६४० तक लगातार दैनिक यज्ञ किया गया।

३. आर्य कुमार सभा मोर सराय

स्थापना—सन् १६३८ ई०। **सभासद् संख्या**—२०। **प्रधान**—म० बर्कतराम जी। **मन्त्री**—म० अमरनाथ जी। **कार्य**—हैदराबाद सत्याग्रह में २०) दिये।

४. आर्यकुमार सभा दरियागंज देहली

स्थापना—विजयदशमी सन् १६३६ ई०। **सं० संख्या**—४०। **संरक्षक व संस्थापक**—पं० देवव्रतजी धर्मेन्दु। **प्रधान**—मा० रत्नचन्द जी बी० ए०। **मन्त्री**—श्री भानुभाई पटेल। **कार्य**—साप्ताहिक सत्सङ्ग,

वीर पुरुषों की जयन्तियां, खेल (संयोजक श्री भीमसिंह) व विशेष व्याख्यान। पुस्तकालय भी है।

५. आर्य कुमार सभा, नई देहली

स्थापना—सन् १९३४ ई०। स० संख्या—१००० (डी० ए० वी० हाई स्कूल, नई देहली के प्रायः सब छात्र)। सञ्चालक—पं० देवव्रत जी धर्मेन्दु। प्रधान—ला० हरिश्चन्द्र जी एम० ए०, बी० टी०। मन्त्री—श्री रमेशचन्द जी दशम श्रेणी। कार्य—साप्ताहिक सत्सङ्ग, धार्मिक पर्व, व महापुरुषों की जयन्तियां मनाई गई। वार्षिक उत्सव; १००) के लगभग लेख, भाषण, खेल, कविता आदि पर पारितोषिक; निर्धन कुमारों को फीस, पुस्तक, वस्त्र आदि की सहायता—खोज विभाग द्वारा वर्ष में ४००) का सामान ढूँढकर दिया गया। पुस्तकालय में ४०० पुस्तके हैं। ५-६ हजार ट्रैक्ट बंटवाये गये। हैदराबाद सत्याग्रह में २५०) कुमारों से एकत्र किया गया। हिसार के पीड़ितों के लिये १००) भेजा गया। दहेज सप्ताह, तम्बाकू आदि मादकद्रव्य निषेध सप्ताह मनाये गये। कुमार परिषद् की धार्मिक परीक्षाओं में बहुत से बालक बैठे।

६. आर्य कुमार सभा नरेला

स्थापना—फर्वरी सन् १९३७ ई०। स. संख्या—१५। प्रधान—मा० सत्यस्वरूप जी। मन्त्री—म० रामकृष्ण जी। कार्य—ऋषि की पुस्तकों का प्रचार, व्यायाम प्रचार व आर्य समाज के कार्य में सहयोग।

पंजाब प्रान्त

रोहतक

७. आर्य कुमार सभा रोहतक

स्थापना—प्रथमवार सन् १९२३ पुनः अप्रैल सन् १९३८। स० संख्या—५०। प्रधान—आयुर्वेदाचार्य इन्द्रसेन जी विद्यावाचस्पति। मन्त्री—डा० रघुवीरसिंह वर्मा। कार्य—हैदराबाद सत्याग्रह के प्रत्येक जत्थे को ५) भेंट, धार्मिक विषयो पर वाद-विवाद, जनगणना में प्रचार, हिन्दी प्रचार के लिये पाठशाला (४० विद्यार्थी), व्यायामशाला।

८. आर्य कुमार सभा भैंसवाल कलाँ

स्थापना—२२ जून सन् १९४०। स० संख्या—२५। प्रधान—भक्त आसाराम जी। मन्त्री—वैद्य चुन्नीलाल जी। कार्य—प्रतिदिन ग्राम प्रचार व आर्यसमाज के कार्य में सहयोग।

हिसार

९. आर्यकुमार सभा पलवल

स्थापना—सन् १९३३ ई०। स० संख्या—६०। प्रधान—ला० कृपाराम जी मंत्री—म० रामस्वरूप जी।

अम्बाला

१०. आर्य कुमार सभा मोरिंडा

स्थपना—१ म अगस्त १६३०। स. संख्या—१५। प्रधान—श्री यशपाल जी। मंत्री—श्री राजेन्द्रकुमार सलहत। कार्य—साप्ताहिक सत्संग, विशेष व्याख्यान व आर्य-समाज से सहयोग।

शिमला

११. आर्यकुमार सभा, शिमला

विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हुआ।

कांगड़ा

१२. आर्यकुमार सभा, नूरपुर

स्थापना—सन् १६३२ ई०। स. संख्या—३७।

लुधियाना

१३. नगर आर्य कुमार सभा लुधियाना (साबुन बाज़ार)

१४. आर्य बोर्डिङ्ग कुमार सभा

कार्य—दोनों सभाओं के वार्षिकोत्सव नियम पूर्वक होते हैं।

जालन्धर

१५. आर्यकुमार सभा जालन्धर

स्थापना—सन् १८६६ ई० (संस्थापक म० मुन्शीराम जी)। स. संख्या—१००। शुल्क १ आना मासिक। प्रधान—ला० कृपाराम जी मुख्याध्यापक लभ्भूराम द्वाबा हाई स्कूल,। मंत्री—म० कपिलदेव १० म श्रेणी। कार्य—साप्ताहिक अधिवेशन, व्यायाम का प्रबन्ध, यज्ञ हवन, उत्सवों पर सेवाकार्य, हैदराबाद सत्याग्रह सम्बन्धी प्रचार।

१६. आर्ययुवक सभा, अलावलपुर

स्थापना—सन् १६२५ से स्थापित है पर बीच बीच में कई बार टूटी है। स. संख्या—४०। प्रधान—ला० अमरनाथ सग्गी म्युनिस्पल कमिश्नर। मंत्री—म० धर्मपाल। कार्य—आर्य वीरदल भी यही है, दलपति—म० प्रकाशचन्द्र हैं। साप्ताहिक सत्संग, आर्य युवक सम्मेलन।

१७. आर्यकुमार सभा, नवां शहर

प्रधान—मा० इन्दुमल। मंत्री—म० रमेशचन्द्र। सभासद्—स्कूल के छात्र। साप्ताहिक सत्संग स्कूल में लगता है तथा प्रतिवर्ष वार्षिक उत्सव।

फिरोजपुर

१८. आर्यकुमार सभा फिरोजपुर

स्थापना—मई सन् १६४० से पुनः स्थापित। प्रधान—महाशय जगन्नाथ जी। मंत्री—बा० कुलभूषण जी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग, आसनादि व्यायाम, व्यायाम शाला के संचालक म० मदनजित् आर्य।

१९. आर्य युवक सभा, अबोहर

स्थापना—सन् १६२६ ई०। स. संख्या—२४। प्रधान—महाशय विद्याचन्द्र। मंत्री—म० नरेन्द्रसेन। कार्य—

ट्रैक्ट वितरण, त्यौहारों पर विशेष प्रचार व व्यायाम शाला।

होश्यारपुर

२०. आर्ययुवक समाज, दसूहा

स. संख्या—४५। प्रधान—श्री रामसरन दास जी म्युनिस्पल कमिश्नर। मंत्री—श्री विश्वम्भरदास जी।

अमृतसर

२१. आर्यकुमार सभा, अमृतसर

स्थापना—सन् १९३० ई०। स० संख्या २०। प्रधान—म० ओंकारनाथ। मंत्री—म० राजेन्द्रपाल।

लाहौर

२२. आर्य युवक सभा, चूनियाँ

स० संख्या—२२। प्रधान—म० कुन्दनलाल जी। मंत्री—म० सोहनलाल जी कार्य—श्रद्धानन्द दिवस समारोह से मनाया गया। वार्षिक उत्सव १ से ५ जनवरी तक हुआ। साप्ताहिक सत्संग, रात्रि पाठशाला।

२३. आर्यकुमार सभा खुड्डियां खास

स्थापना—२८ फरवरी सन् १९४१। स० संख्या—१५। प्रधान—चौ० नानकचन्द्र जी। मंत्री—चरणदास जी।

मिण्टगुमरी

२४. आर्यकुमार सभा, पाकपटन

स्थापना—१ अप्रैल सन् १९३९ ई०। स० संख्या—७०।

गुजरांवाला

२५. आर्यकुमार सभा, गुजरांवाला शहर

स्थापना—अगस्त १९३७। स० संख्या—४०। प्रधान—डा० विजयकुमार। मंत्री—म० जसवन्तराय जी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग तथा उत्सवों में सहायता कार्य।

स्यालकोट

२६. आर्यकुमार सभा, स्यालकोट

स्थापना—कई वर्ष से स्थापित। प्रधान—म० राजेन्द्रपाल।

२७. आर्यकुमार सभा, जामकी

स्थापना—सितम्बर सन् १९४० ई०। स० संख्या—१४। प्रधान—म० यशवीर। मंत्री—म० प्राणनाथ।

२८. आर्यकुमार सभा, उगोकी

स्थापना—आश्विन सम्वत् १९९७ वि० स० संख्या—१०। प्रधान—म० जयदेव। मंत्री—म० चाननलाल। कार्य—साप्ताहिक सत्संग आदि।

२९. आर्यकुमार सभा, पसरूर

स्थापना—२९ अक्तूबर १९४०। स० संख्या—१३। प्रधान—म० बैकुण्ठनाथ, मंत्री—म० ओ३म्प्रकाश। कार्य—पंजाब सरकार के हिन्दी घातक सरक्यूलर का प्रतिवाद।

सरगोधा

३०. आर्यकुमार सभा, झावरियां

स्थापना—१३ सितम्बर १६४० ई० । स० संख्या— २१ ।

३१. आर्यकुमार सभा, भेरा

प्रधान—पं० सोमदत्त जी शास्त्री आर्य-स्कूल भेरा । पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री इसके कार्यकर्ता रहे हैं ।

३२. आर्यकुमार सभा, भलवाल

स्थापना—२ जनवरी सन् १६३६ । स० संख्या--३३ । प्रधान—म० सरदारी-लाल जी । मंत्री—म० तिलकराज जी । कार्य—वार्षिकोत्सव, साप्ताहिक सत्संग, टूर्नामेंट आदि ।

३३. आर्यकुमार सभा, भलवाल

स्थापना—जून सन् १६३७ ई० । स० संख्या—२२ । १५, १६ वर्ष से कम आयु वाले कुमार इसके सभासद् होते हैं । प्रधान—म० वेदप्रकाश जी । मंत्री—म० धर्मवीर जी । कार्य—वार्षिक वा साप्ताहिक सत्संग ।

लायलपुर

३४. आयकुमार सभा कमालिया

स्थापना– २८ सितम्बर सन् १६३६ ई० । स० सख्या—३० । प्रधान—म० बसन्दाराम जी । मंत्री—म० गुरुबच जी कार्य—पारिवारिक यज्ञ व अन्य प्रचार कार्य ।

मुलतान

३५. आर्यकुमार सभा, मैलसी

स्थापना—३१ नवम्बर सन् १६४० । स० संख्या—१५ । प्रधान—म० चूनी-लाल जी । मंत्री—म० पुरुषोत्तमलाल ।

मुजफ्फरगढ़

३६. आर्यकुमार सभा, सीतपुर

स्थापना—आश्विन संवत् १६६६ वि० स० संख्या—३० । प्रधान—पं० वासुदेव जी विद्यालङ्कार । मंत्री—श्री धर्मपाल जी । कार्य—साप्ताहिक सत्संग तथा नगर प्रचार आदि ।

३७. आर्यकुमार सभा, खानगढ़

स्थापना—सं० १६६४ वि० । स० संख्या—१५ । प्रधान—श्री गंगाधर बोध-राज । मंत्री – म० भवानीदास जी । कार्य–शिथिल है ।

डेरा ईस्माइलखां

३८. आर्यकुमार सभा डेराईस्माइलखाँ

स्थापना—२८ नवम्बर १६४० ई० । स० संखया—१५ । कार्य—यजुर्वेद पारा-यण, रात्रि कथा, हवन संस्कार आदि ।

डेरा गाज़ीखां

३९. आर्यकुमार सभा, टिब्बा कैस्रानी

स्थापना—३ अगस्त १६४० ई० ।

स० संख्या—१४। प्रधान—म० किशनचन्द्र। मन्त्री—म० रूपचन्द्र।

४०. आर्यकुमार सभा, जामपुर

प्रधान—महाशय योधाराम जी। मंत्री—म० भगवानदास जी।

रियासत पटियाला

४१. आर्यकुमार सभा, सनौर

शिथिलावस्था में है।

बिलोचिस्तान

४२. आर्यकुमार सभा रोझानगवी

स्थापना—५ चैत्र सं० १९९७ वि०। स० संख्या—८। कार्य—दैनिक सत्संग, उत्सव आदि।

रियासत जम्मू

४३. आर्यकुमार सभा कोटला, मीरपुर

स्थापना—२५ वैशाख सं० १९९७ वि०। स० संख्या—२०। प्रधान—ला० ओ३म्प्रकाश जी। मंत्री—ला० बालकृष्ण जी।

संयुक्त प्रान्त

मेरठ

४४. आर्यकुमार सभा मेरठ शहर

स्थापना—सम्वत् १९९३ वि०। स० संख्या—२८। प्रधान—श्री विजयसिंह जिज्ञासु। मन्त्री—श्री धर्मवीर प्रेमी बी० ए० काय—समाज प्रचार, सम्मेलन व पुस्तकालय।

४५. आर्य डिबेटिङ्ग क्लब सदर मेरठ

स्थापना—सन् १९०७ ई०। स० संख्या—४२। प्रधान—म० रघुनन्दन स्वरूप एम. ए. एल. एल. बी.। मन्त्री—म० वीरेन्द्र सिंह जी। कार्य—कुमारों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति का प्रचार व शास्त्रार्थ।

४६. आर्यकुमार सभा गाजियाबाद

स्थापना—सन् १९१६ ई०। स० संख्या—४९। प्रधान—श्री रघुवीरसिंहजी। मन्त्री—श्री गंगाराम जी।

४७. आर्यकुमार सभा मवानाकलां

स्थापना—सन् १९१३ ई०। स० संख्या—४०। प्रधान—श्री विश्वम्भर सहाय मुनीम। मन्त्री—चौ० नवाबसिंह।

४८. आर्यकुमार सभा हापुड़

स्थापना—३० अगस्त सन् १९३९ ई०। स० संख्या—१८। प्रधान—राजपाल सिंह जी। मन्त्री—कृष्ण कुमार जी। कार्य—दहेज निषेध सप्ताह, उत्सव के प्रबंध में सेवा कार्य, हैदराबाद सत्याग्रह के लिए चन्दा एकत्र किया गया और जनगणना सम्बन्धी प्रचार किया गया।

देहरादून

४९. आर्यकुमार सभा मसूरी

स्थापना—सितम्बर सन् १९३९ ई०। स० संख्या—२०।

नैनीताल

५०. आर्यकुमार सभा काशीपुर

स्थापना—३ मार्च सन् १९४० ई०। स० संख्या—१६। प्रधान—म० श्याम बिहारी लाल जी। मन्त्री—श्री ओ३म्शरण जी। शिथिलावस्था में है।

बिजनौर

५१. आर्यकुमार सभा नजीबाबाद

स्थापना—सन् १९०९ ई०। स० संख्या—२०। प्रधान—श्री धीरज सिंह। मन्त्री—श्री जगदीश प्रसाद। कार्य—लगभग १५० कुमारों को आर्य धर्म में दीक्षा दी।

५२. आर्यकुमार सभा शेरकोट

स्थापना—१ जून सन् १९४० ई०। स० संख्या—२०। प्रधान—श्री गिरीश चन्द्र। मन्त्री—श्री विश्वम्भरदयाल।

मुरादाबाद

५३. आर्यकुमार सभा मुरादाबाद

स्थापना—२१ भाद्रपद सं० १९७१ वि०। प्रधान—श्री बलदेव अग्निहोत्री। मन्त्री—श्री वीरेन्द्र कुमार। कार्य—२१ से २८ दिसम्बर सन् १९४० तक दहेज व तम्बाकू निषेध सप्ताह मनाया गया। जन गणना, हिन्दी व वैदिक धर्म की परीक्षाओं का प्रचार किया गया। पुस्तकालय में ६०० से अधिक पुस्तकें हैं।

५४. आर्यकुमार सभा कांठ

स्थापना—२६ जनवरी सन् १९२४ ई०। स० संख्या—३६। प्रधान—बा० शिरोमणि। मन्त्री—बा० जगदीश प्रसाद। कार्य—तम्बाकू विरोधी सप्ताह मनाया गया। आर्य समाज को प्रचारादि में सहायता दी गई।

५५. आर्यकुमार सभा चंदौसी

स्थापना—सन् १९१२ ई०। स० संख्या—२५। प्रधान—बा० रामप्रसाद जी। मन्त्री—ला० रामकिशोरजी। कार्य—लगभग २५ वार्षिकोत्सव हुए। सन् १९३३ ई० में पं० अखिलानन्द के साथ पं० देवेन्द्र नाथ जी द्वारा आर्य समाज का शास्त्रार्थ अछूतों के सामाजिक अधिकार देने के सम्बन्ध में हुआ। यह शास्त्रार्थ लेख बद्ध संस्कृत में हुआ था।

५६. आर्यकुमार सभा सरायतरीन हयातनगर

स्थापना—५ मार्च सन् १९३६ ई०। स० संख्या—२२। प्रधान—बा० केशव देव। मन्त्री—म० हरिश्चन्द्र जी।

बरेली

५७. आर्य कुमार सभा भूड़ बरेली

स्थापना—१४ मई सन् १९२८ ई०। स० संख्या—५०। प्रधान—मा० व्रजनन्दन प्रसाद जी बी. ए., एल. एल. बी.।

मन्त्री—मा० चन्द्र सहाय जी। कार्य—साप्ताहिक अधिवेशन और वाद-संवाद।

बदायूँ

५८. आर्यकुमार सभा बदायूँ

स्थापना—१ जनवरी सन् १६३५ ई०। स० संख्या—५०। प्रधान—बा० सियाराम जी बी. एस. सी., एल. एल. बी.। मन्त्री—म० बाबूराम जी। कार्य—१५० कुमारों ने भा० आ० कुमार परिषद् की परीक्षायें दीं। 'हरिजन विद्यालय' द्वारा ५० छात्रों को शिक्षा दी गई। मद्य निषेध प्रचार आदि प्रचार कार्य किया गया। 'हिन्दी प्रचार मण्डल' द्वारा हिन्दी प्रचार किया गया।

५६. आर्यकुमार सभा इस्लाम नगर

स्थापना—६ जुलाई सन् १६३६ ई०। स० संख्या—१५। प्रधान—श्री देवेन्द्र नाथ शास्त्री आयुर्वेदाचार्य। मन्त्री—बा० कृष्णचन्द्र गुप्त। कार्य—वाचनालय चल रहा है और दहेज निषेध सप्ताह मनाया गया।

एटा

६०. आर्यकुमार सभा बेरी

स्थापना—२६ जनवरी सन् १६४१ ई०। कार्य—जन गणना में दत्तचित्त होकर आन्दोलन किया।

अलीगढ़

६१. आर्यकुमार सभा करोली

स्थापना—१ जनवरी सन् १६३२ ई०। स० संख्या—४०। प्रधान—कुं० मलखान सिंह। मन्त्री—श्री सत्यव्रत। कार्य—कुछ शिथिल है।

६२. आर्यकुमार सभा मेडूँ

स० संख्या—२५। प्रधान—शिवदत्त जी। मन्त्री—श्रीकान्त जी। कार्य—आर्य समाज को प्रत्येक कार्य में सहयोग।

कानपुर

६३. आर्य कुमार सभा रेलबाजार

स्थापना—सन् १६३८ ई०। स० संख्या—२५। प्रधान—ठा० वीरभारती सिंह राणा। मन्त्री—कृष्णचन्द्र वैदिक धर्म विशारद। कार्य—हैदराबाद सत्याग्रह में मन्त्री की अध्यक्षता में जत्था गया। ६ वृद्ध विवाह, २ बाल विवाह रोके गये, १४ दहेज रोकी गईं। हिन्दी प्रचार जन गणना प्रचार आदि के कार्य किये गये। पर्व व त्यौहार मनाये गये। मज़दूर हड़ताल के दिनों में सभा की ओर से मुफ्त औषधि वितरण की गयी।

प्रयाग

६४. आर्यसमाज मुट्ठीगञ्ज प्रयाग

स्थापना—जून १६२६ ई०। स० संख्या—२०। प्रधान—म० अवन्तिका-

प्रसाद जी। मन्त्री—म० लक्ष्मीनारायण जी। कार्य—पुस्तकालय तथा साप्ताहिक अधिवेशन।

बलिया

६५. आर्यकुमार सभा बलिया

स्थापना—१७ जनवरी सन् १९३६। स० संख्या—२०। प्रधान—म० कन्हैया लाल जी। मन्त्री—म० शम्भूनाथ जी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग।

बस्ती

६६. आर्यकुमार सभा बढनी बाज़ार

स्थापना—श्रावण वदी ८ मी संवत् १९९७ वि०। स० संख्या—२५। प्रधान—म० बालमुकुन्द जी। मन्त्री—हजारीलाल जी। कार्य—तम्बाकू निषेध सप्ताह मनाया गया।

६७. आर्यकुमार सभा पक्का बाजार बस्ती

स्थापना—२५ दिसम्बर सन् १९४०। स० संख्या—३०। प्रधान—पं० यशोदानन्दन जी। मन्त्री—पं० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री कार्य—तम्बाकू निषेध सप्ताह मनाया गया।

आजमगढ़

६८. आर्यकुमार सभा, आजमगढ़

स्थापना—१ दिसम्बर सन् १९४०। स० संख्या—३२। प्रधान—म० छबील चन्द्र जी। मन्त्री—म० सूर्यभान जी आर्य। कार्य—तम्बाकू निषेध सप्ताह व अन्य प्रचार।

गोंडा

६९. आर्यकुमार सभा नवाबगंज

स्थापना—१ सितम्बर १९३८ ई०। स० संख्या—७५। प्रधान—डा० कुंवर नाथ द्विवेदी। मन्त्री—पं० अम्बिकाप्रसाद। कार्य—४ सत्याग्रही हैदराबाद सत्याग्रह में गये। ७ ईसाई व १ ज०म के मुसल्मान की शुद्धि की गई। साप्ताहिक अधिवेशन होते हैं।

हरदोई

७०. आर्यकुमार सभा हरदोई

स्थापना—फरवरी सन् १९१५ ई०। स० संख्या—३३। प्रधान—ठा० मनोहर सिंह जी। मन्त्री—बा० सुरेन्द्र वर्मा।

लखनऊ

७१. आर्यकुमार सभा सिविललाइंस नरही, लखनऊ

स्थापना—सन् १९२३ ई०। स० संख्या—२५। प्रधान—म० सरयू प्रसाद जी। मन्त्री—म० दुलारे लाल जी। कार्य—अस्पृश्यता निवारण, दलितोद्धार, स्कूल कालेजों में वैदिक धर्म प्रचार तथा हिन्दी प्रचार।

७२. आर्यकुमार सभा कैन्टूनमेंट सदर बाजार, लखनऊ

स्थापना—२२ जून सन् १९३८ ई०।

स० संख्या—२५। प्रधान—म० भूपेन्द्र नाथ सान्याल वकील। मन्त्री—बा० पूरन चन्द्र गुप्त। कार्य—आर्यसमाजों से सहयोग।

राजस्थान व मालवा

जयपुर

७३. आर्यकुमार सभा जयपुर

स्थापना—सन् १९१४ ई०, पुनः संगठन १९३४ ई०। स० संख्या—८०। प्रधान—श्री पं० रामस्वरूप जी। मंत्री—श्री रघुबन जी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग, वार्षिकोत्सव व पर्वों पर प्रचार, सन् १९२४ से १९३८ ई० तक शुद्धि व दलितोद्धार का कार्य, उत्सवों पर स्वयं सेवक का कार्य, अखिल भा० कुमार परिषद् की परीक्षाएँ उत्तीर्ण करवाना, आदि विविध कार्य। सन् १९१७ में प्लेग में सहायता कार्य किया, सन् १९३९ ई० में दहेज निषेध, व वर्धा शिक्षा विरोधी दिवस मनाए गये। हैदराबाद सत्याग्रह व जन गणना सम्बन्धी प्रचार किया। कुं० रणजीतसिंह 'तन्मय' के सम्पादकत्व में हस्तलिखित मासिक पत्रिका का सम्पादन हो रहा है। आर्य वीर दल की स्थापना। डा० युद्धवीरसिंह जी इसी सभा के पुराने कार्यकर्ता हैं।

७४. आर्यकुमार सभा, टमकोर

स्थापना—चैत्र सुदी १५ संवत् १९९७ वि०। स० संख्या—१५। प्रधान—म० श्रीलाल जी। मंत्री—म० गोपीचन्द जी। कार्य—साधारण।

बीकानेर

७५. आर्यकुमार सभा, बीकानेर

स्थापना—सन् १९३२ ई०। स० संख्या—२०। प्रधान—मा० जय भगवान जी। मंत्री—म० कन्हैयालाल जी।

अजमेर

७६. आर्यकुमार सभा, अजमेर

स्थापना—५ सितम्बर सन् १९३५ ई० स० संख्या—१५०। प्रधान—श्री बाबूलाल जी सक्सेना। मंत्री—श्री जगत् प्रकाश शर्मा। कार्य—पाक्षिक व वार्षिक अधिवेशन, दहेज व तम्बाकू विरोधी सप्ताह, वाद-विवाद व धार्मिक परीक्षाओं में सम्मिलित होने की प्रेरणा।

मेवाड़ जि० जहाजपुर

७७. आर्यकुमार सभा, नन्दराय

स्थापना—माघ शुक्ला १ संवत् १९९७ वि०। स० संख्या—१०। प्रधान—म० समीरसिंह जी। मंत्री—सौभाग्यसिंह जी।

नीमच

७८. आर्यकुमार सभा, छोटी सादड़ी

स्थापना—आश्विन शुक्ला १३ सं० १९९६ वि०। स० संख्या - १६। प्रधान—श्री चतुर्भुज जी। मंत्री—श्री जीवनलाल जी।

कार्य—दैनिक सत्संग व व्यायाम तथा सार्व-जनिक सेवा।

जोधपुर

७९. आर्यकुमार सभा, सरदारपुरा जोधपुर

स्थापना—२३ मई सन् १९३६ ई०। **स० संख्या**—२५। **प्रधान**—श्री म० रामलाल जी। **मंत्री**—म० अयोध्याप्रसाद जी। **कार्य**—समाज के विशेष उत्सवों पर व्यवस्था रखना। मादक द्रव्य निषेध सप्ताह मनाया गया।

८०. आर्यकुमार सभा, लाडनू

स्थापना—आसौज शुक्ल ५ सं० १९९५ वि०। **स० संख्या** ८।

आबू

८१. आर्यकुमार सभा, आबूरोड

स्थापना—३ नवम्बर सन् १९४० ई० **स० संख्या**—४८। **प्रधान**—पं० भोलानाथ जी चतुर्वेदी सिद्धान्त शास्त्री। **मंत्री**—म० कैलाशनाथ जी कपिल। **कार्य**—धार्मिक व शारीरिक शिक्षा, खेल आदि।

८२. आर्यकुमार सभा, सांतपुर

स्थापना—२९ दिसम्बर १९४० ई०। **स० संख्या**—१८। **अधिकारी**—आर्य समाज आबू रोड।

ग्वालियर

८३. आर्यकुमार सभा, लश्कर

स्थापना—अगस्त सन् १९३० ई०। **स० संख्या**—५०। **प्रधान**—श्री कामताप्रसाद जी। **मंत्री**—म० महताबनारायण जी। **कार्य**—साप्ताहिक सत्संग, वाद-विवाद आदि। तम्बाकू निषेध गत वर्ष मनाया गया।

भोपाल

८४. आर्यकुमार सभा, सीहोर छावनी

स्थापना—७ जून सन् १९३९ ई०। **स० संख्या**—१०। **प्रधान**—श्री चन्द्रदत्त शर्मा। **मंत्री**—श्री खुशीलाल जी। **कार्य**—सत्संग व विशेष व्याख्यान।

मध्य प्रान्त

निमाड़

८५ आर्य कुमार सभा, खण्डवा

स्थापना—१९ सितम्बर सन् १९३९। **स० संख्या**—३५। **प्रधान**—पं० रणजीत प्रसाद तिवारी। **मन्त्री**—श्री कृपाराम जी आर्य। **कार्य**—साप्ताहिक सत्संग, हवन और आर्य सिद्धान्त का विशेष प्रचार, भा० आ० कुमार परिषद् की धार्मिक परीक्षाओं के लिये प्रयत्न, वाचनालय (६० पुस्तकें) मन्त्री जी विशेष दिलचस्पी से कार्य कर रहे हैं।

८६ आर्य कुमार सभा बुरहानपुर

स्थापना—संवत् १९७५। **स० संख्या**—६०। **प्रधान**—श्री रामदत्त जी

ज्ञानी। मन्त्री—श्री मोहनचन्द्र जी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग, पुस्तकालय, अनाथ रक्षा व शुद्धि, आर्य कुमार सेवा दल, गुलाब रजतपात्र वाद विवाद प्रतियोगिता, वैदिक धर्म विशारद परीक्षा और निर्धन विद्यार्थियों की सहायता।

नागपुर

८७. आर्यकुमार सभा डी. ए. वी. हाई स्कूल नागपुर

स्थापना—१४ जुलाई सन् १६४०। **स० संख्या**—५४। **प्रधान**—प्रो० शंकर लाल पाली। **मन्त्री**—श्री कैलाश चन्द्र श्रीवास्तव। **कार्य**—साप्ताहिक सत्सङ्ग, मुहल्लों में प्रचार की व्यवस्था, वैदिक धर्म परीक्षा, तथा वार्षिकोत्सव आदि अवसरों पर सेवा कार्य।

विलासपुर

८८. आर्यकुमार सभा, विलासपुर

स्थापना—सन् १६३६ ई०। **स० संख्या**—४०। **प्रधान**—डा० कृष्णकुमार चोपड़ा। **मन्त्री**—श्री राजकुमार सिंह। **कार्य**—दहेज प्रथा निषेध सप्ताह और बाढ़ के समय सहायता कार्य।

विहार प्रान्त

विहार प्रान्तीय आर्यकुमार परिषद् बांकीपुर पटना

विहार प्रान्तीय आर्य कुमार परिषद् की स्थापना तो बहुत पहले हो चुकी थी, पर शिथिलता के कारण कार्य में ढिलाई थी। लगभग दो वर्षों से कार्य में जान आयी है। प्रान्त में जबर्दस्त आन्दोलन किया जा रहा है। लगभग ३० आर्यकुमार सभायें इसके आधीन काम कर रही हैं। विहार प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से पूरी मदद मिल रही है। इस वर्ष निम्न लिखित पदाधिकारी हैं।

प्रधान—पं० महादेव शरण जी। **मन्त्री**—डा० रामभजन जी आर्य पुरोहित। **स० मन्त्री**—श्री धर्मप्रिय लाल जी साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, साहित्याचार्य विद्यारत्न बी.ए.। **प्रचार मन्त्री**—श्री चन्द्रपति जी "चन्द्र"।

इस वर्ष पटना में विहार प्रान्तीय आर्य कुमार सम्मेलन होने जा रहा है।

पटना

८६. आर्यकुमार सभा विहार शरीफ

स्थापना—सं० १६८० वि०। **स० संख्या**—१५।

६०. आर्यकुमार सभा बांकीपुर

स्थापना—सन् १६२५ ई०। **स० संख्या**—३४। **प्रधान**—श्री राजगुरु धुरेन्द्रजी शास्त्री। **मन्त्री**—श्री धर्मप्रिय लाल बी. ए. साहित्य रत्न। **कार्य**—समाज सेवा, मेला प्रबन्ध, लावारिस मृतकों का दाह, अनाथ

रक्षा, व्यायाम शाला व 'वैदिक हिन्दी पुस्तकालय' (पुस्तक संख्या २०००)

६१. आर्यकुमार सभा मनेर

स्थापना—६ सितम्बर सन् १६३८ ई० स० संख्या—१५। प्रधान—श्री भगवती प्रसाद। मन्त्री—श्री शिवशङ्कर प्रसाद।

६२. आर्यकुमार सभा, मोशमा

स्थापना—सं० १६८६ वि० । स० संख्या—२५ । प्रधान—श्री कमलेश्वर प्रसाद। मन्त्री—श्री गीताप्रसाद सिंह रामपुरी। कार्य—नैमेत्तिक अधिवेशन, ग्राम प्रचार व 'ज्योति' मासिक पत्रिका का संचालन व मेलों में सेवा कार्य।

६३. आर्यनवयुवक संघ, मसौढ़ी

स्थापना—१५ दिसम्बर सन् १६४० ई०। स० संख्या—३५। प्रधान—बा० रघुनन्दनप्रसाद सिंह। मन्त्री—श्री धर्मदेव।

६४. आर्यकुमार सभा खुसरुपुर

स्थापना—सं० १६८७ वि० । स० संख्या—२५। प्रधान—श्री जगदीशप्रसाद मन्त्री—श्री देवदत्त प्रसाद। कार्य—साप्ताहिक सत्सङ्ग, नशा निषेध सप्ताह व अन्य सेवा कार्य।

६५. आर्यकुमार सभा परसा

स्थापना—बैशाख कृष्ण ७ मी सं० १६६७ वि०। स० संख्या—१५। प्रधान—श्री रामचन्द्र बी० ए०। मन्त्री—श्री जगनारायण सिंह। कार्य—जनगणना के समय प्रचार किया।

६६. आर्यकुमार सभा, व्यापुर

स्थापना—सन् १६३१ ई० । स० संख्या—२३ । प्रधान—बा० रामचन्द्र प्रसाद । मन्त्री - बा० रामलखन गुप्त। कार्य—मांस-मद्य निषेध सप्ताह, प्रीतिभोज, वैदिक संस्कार, मृतक श्राद्ध निषेध तिलक-दहेज निषेध, बाल तथा वृद्ध विवाह निषेध आदि का प्रचार, और पुस्तकालय का सञ्चालन।

६७. आर्यकुमार सभा, बाढ़

स्थापना—चैत्र शुक्ल ६, सं० १६६४ वि०। स० संख्या—२१। प्रधान—श्री हरदेव जी काव्यतीर्थ। मन्त्री—श्री कमला कांत। कार्य—साप्ताहिक सत्सङ्ग तथा अन्य उपयोगी कार्य।

शाहाबाद (आरा)

६८. आर्यकुमार सभा, आरा

स्थापना—सन् १६२३ ई० । स० संख्या—२० । प्रधान—श्री सच्चिदानन्द सहाय वकील । मन्त्री—श्री रामप्रवेश चौधरी।

सारन

६६. आर्यकुमार सभा, गोपालगंज

स्थापना—१ म सितम्बर १६४०। स०

संख्या—३१। प्रधान—पं० हरिनन्दन पाण्डेय। मन्त्री—श्रीनथनी मांझी। कार्य—मेला-प्रचार, बलिप्रथाप्रतिवाद, सह-भोज आदि।

मुजफ्फरपुर

१००. आर्यकुमार सभा बैरगिनिया

स्थापना—फाल्गुण सुदी १३ सं० १९९६ विक्रम। स० संख्या—३०। प्रधान—पं० रामावतार शर्मा 'विद्या-वाचस्पति'। मन्त्री—बा० सत्यदेवप्रसाद चौधरी। कार्य—संगीतालय तथा अन्य।

दरभंगा

१०१. आर्यकुमार सभा दरभंगा

स्थापना—सन् १९४०ई०। स० संख्या—४०। प्रधान—पं० धर्मप्रिय एम० ए०, साहित्याचार्य। मन्त्री—श्री रामेश्वरप्रसाद चौधरी। कार्य—प्रचार कार्य, लोक सेवा, जिला सम्मेलन व साप्ताहिक सत्संग।

१०२. आर्यकुमार सभा, कमतौल

स्थापना—दीपावली सन् १९३० ई०। स० संख्या—२५। प्रधान—म० कृष्णानन्द जी। मन्त्री—म० रामदेवप्रसाद जी। कार्य—भूकम्प में सहायता कार्य, लेख भाषणादि की प्रतियोगिता, साप्ताहिक सत्संग आदि।

मुंगेर

१०३. आर्यकुमार सभा मुंगेर

स्थापना—अक्तूबर सन् १९४० ई०। स० संख्या—१५। कार्य—विद्यार्थियों में प्रचार तथा तम्बाकू निषेध दिवस मनाया गया।

भागलपुर

१०४. आर्यकुमार सभा, भागलपुर

स्थापना—सन् १९३८ ई०। स० स० संख्या-५०। प्रधान-श्री जितेन्द्रकुमार मिश्र, मन्त्री—नागेन्द्रनारायण जायसवाल। कार्य—मेला प्रचार व साप्ताहिक सत्संग आदि।

गया

१०५. आर्यकुमार सभा, गया

स्थापना—५ जनवरी सन् १९४१। संख्या—१०। प्रधान—श्री सिद्धेश्वर-नाथ वर्मा। मन्त्री—श्री सोममित्र।

रांची

१०६ आर्यकुमार सभा, रांची

स्थापना—१५ अगस्त १९३६। स० संख्या—१०। प्रधान—म० जगदीश्वर प्रसाद। मन्त्री—म० कृष्णगोविन्द जी।

१०७. आर्यकुमार सभा, सिमडेगा

स्थापना—१ म जनवरी सन् १९३८ ई०। स० संख्या—२०। प्रधान—श्री कृष्णगोविन्द जी। मन्त्री—श्री नन्दकिशोर प्रसाद।

१०८. आर्यकुमार सभा, तामड़ा

स्थापना—१ म मई १९३८ ई०।

स० संख्या—२०। प्रधान—ब्रा० कृष्णगोविन्दजी आर्य। मन्त्री—ब्रा० गणेशीसिंहजी। कार्य—ग्राम प्रचार, श्रद्धानन्द आश्रम की स्थापना, ६०० शुद्धियां, दातव्य औषधालय।

चम्पारण

१०६. आर्यकुमार सभा, चम्पारण

स० संख्या-१५। प्रधान-श्री लक्ष्मणप्रसाद जी। मन्त्री—श्री राजेन्द्रप्रसाद जी। कार्य—सन्ध्या हवन का प्रचार, वक्तृत्वशक्ति के लिए प्रोत्साहन।

सिंघ भूम

११०. आर्ययुवक सभा, जमशेदपुर

स्थापना—फरवरी सन् १६४०। स० संख्या—३०। कार्य—प्रति दिन व्यायाम व प्रचार में सहयोग।

बंगाल-आसाम

कलकत्ता

१११. आर्यकुमार सभा, हावड़ा

स्थापना—सन् १६३७ ई०। सभासद् संख्या—१५० (आर्य विद्यालय के छात्र) प्रधान—श्री कमलासिंह जी। मन्त्री—श्री सुगनसिंह जी विद्यार्थी। कार्य—साप्ताहिक सत्संग, वाद-सम्वाद तथा सेवाकार्य।

२४ परगना

११२. आर्यकुमार सभा, कांकिनाग

स्थापना—सन् १६३७ ई०। सभासद् संख्या—२०। प्रधान—श्री शिवप्रसादजी। मन्त्री—श्री छोटू साहू। कार्य—मेला आदि में सेवा कार्य, अनाथरक्षा।

सिन्ध

करांची

११३. आर्यकुमार सभा, करांची

प्रधान—म० चमनलाल जी। मन्त्री—म० चिरंजीलाल जी। कार्य—दैनिक व्यायाम जिसमें प्रति दिन २०० सज्जन भा गलेते हैं।

बम्बई

कोल्हापुर

११४. आर्यकुमार सभा, कोल्हापुर

स० संख्या—८०। कार्य—औषधि वितरण, संस्कृत पाठशाला, व्यायाम शाला तथा पुस्तकालय।

निजाम राज्य

कलम (उस्मानाबाद)

११५. आर्यकुमार सभा, वाशी

स्थापना-३१ जनवरी सन् १६४१ ई०। स० संख्या—३०। प्रधान—बा० अम्बादासजी आर्य। मन्त्री—श्री वामन बालशिव।

११६. आर्यकुमार सभा, लातूर

स्थापना—आश्विन शुक्ल १० सन् १६३६ ई०। स० सख्या ८। प्रधान—श्री चन्द्रशेखर शास्त्री। मन्त्री—श्री केशवदेव। कार्य—साप्ताहिक तथा वार्षिक अधिवेशन, 'आर्य' नामक मासिकपत्रिका का

संचालन तथा विद्यार्थियों में वैदिकधर्म प्रचार।

११७. आर्यकुमार सभा, कलम

स्थापना—चैत्रशुक्ल १ सं० १६६२ वि० स० संख्या—२५। प्रधान—श्री केशवराव। मन्त्री—श्री दिगम्बरराव मिटकरी। कार्य—सं० १६६६ वि० में प्लेग में सेवा कार्य आदि।

नलगोंडा

११८. आर्यकुमार सभा, नलगोंडा

स्थापना—१५ जनवरी सन् १६३८ ई०। स० संख्या—५०। प्रधान—पं० भद्रदेव जी सिद्धान्त भूषण। मन्त्री—श्री बुचय्याजी। कार्य—जल्सों में सेवा कार्य।

सिकन्दराबाद

११६. आर्यकुमार सभा, बोलारम

स्थापना—१म जनवरी सन् १६३८ ई०। स० संख्या—५०। प्रधान—सेठ बालकृष्ण जी। मन्त्री—श्री एम० एन० बालाराम। कार्य—वैदिक पुस्तकालय (३०० पुस्तकें), तैलगू में वैदिक साहित्य का प्रकाशन, वाचनालय में १० आर्यपत्र आते हैं।

हैद्राबाद (दक्षिण)

१२०. आर्यकुमार सभा, ध्रुवपेठ

स्थापना—१५ जुलाई सन् १६३७ ई०। स० संख्या ३०। प्रधान—ठा० उमरावसिंह जी। मन्त्री—श्री बिठ्ठलराव जी पवार। कार्य—व्याख्यान, वादविवाद, ग्राम-प्रचार, मेला-प्रचार, शिक्षा-प्रचार, व्यायाम आदि।

१२१. आर्यकुमार सभा, सुल्तान बाजार

स्थापना—२ जून सन् १६३६ ई०। स० संख्या—८०। प्रधान—पं० नरेन्द्र जी। मन्त्री—श्री हरिश्चन्द्र जी सिद्धान्तरत्न।

ब्रह्मा

मचीना

१२२. आर्यकुमार सभा, मचीना

स्थापना—१ जनवरी सन् १६२० ई०। स० संख्या—२००। प्रधान—श्री रामचन्द्र। मन्त्री—श्री सत्यनारायण। कार्य—साप्ताहिक सत्सङ्ग, मासिक पत्रोंका वितरण तथा बालचर विभाग।

मंगोई

१२३. आर्यकुमार सभा, एनान जांव

स्थापना—५ सितम्बर सन् १६३६ ई०। स०संख्या—१५। प्रधान—श्री ऊधो त्रिपाठी। मन्त्री—श्री योगराज। कार्य—साप्ताहिक सत्सङ्ग व दैनिक व्यायाम।

कन्या शिक्षणालय

गुरुकुल

संयुक्त प्रान्त

१. कन्या गुरुकुल, देहरादून

स्थान—६०७ राजपुर रोड, देहरादून।

स्थापना—इस गुरुकुल की स्थापना सं० १९७९ विक्रमी में देहली में स्व० सेठ रग्घूमल जी के विशेष दान से हुई। पश्चात् देहरादून में स्थायी रूप से स्थापित हुआ।

प्रबन्ध—आर्य प्रनितिधि सभा पंजाब लाहौर की नियुक्त विद्यासभा के अधीन है। श्री पं० विश्वम्भरनाथ जी अधिष्ठाता नियुक्त हैं।

शिक्षा—शिक्षा ११ श्रेणियों में विभक्त है। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की पाठ-विधि के अनुसार वेद, उपनिषद्, गीता, संस्कृत साहित्य, आर्यभाषा, भारत एवं विदेश का इतिहास, अर्थशास्त्र, गृहचिकित्सा, शिशु-पालन, मनोविज्ञान, अंग्लभाषा, शिल्प, संगीत, गृहस्वास्थ्य, और आर्य सिद्धान्तों की शिक्षा दी जाती है। लाठी चलाना और लेजम के व्यायाम की शिक्षा भी दी जाती है।

शिक्षक वर्ग—श्री विद्यावती सेठ, आचार्या, २. श्री राधारानी जी उपाचार्या तथा प्रधानाधिष्ठात्री, ३. श्री सुशीला देवी जी काव्यतीर्थ, स्था० मुख्याध्यापिका, ४. श्री अशितादास एम० ए०, ५. कु० शान्ता देवी शास्त्री, ६. श्री दमयन्ती देवी विद्यालंकृता, साहित्य रत्न, ७. श्री वेदवती जी, ८. श्री कलावती जी विद्यालंकृता, ९. श्री पद्मिनी देवी जी एम० ए०, १०. श्री आशालता जी बी० ए०, बी० टी०, ११. महिला डाक्टर श्रीदेवी जी एल. आई. एम. एस. (मद्रास) १२. श्री शोभावती जी विद्यालंकृता, १३. श्री शीलवती जी, १४. लक्ष्मी देवी जी, १५. श्री ईश्वर देवी जी, १६. श्री अम्बिका देवी जी, १७. श्रीमती यमुना देवी जी, १८. श्रीमती सीता देवी जी, १९. कु० संयोगिता देवी जी और २०. श्रीमती राजरानी जी।

उपरोक्त देवियों के अतिरिक्त श्री पं० धर्मदेव जी शास्त्री दर्शनशास्त्री और पं० वेद-व्रत जी वेदालंकार उच्चपरीक्षाओं की तैयारी करवाने में सहायता देते रहे।

छात्राओं की संख्या—२३४ है।

शुल्क—शिक्षा निःशुल्क है। पालन पोषण के लिए १६) मासिक व्यय लिया जाता है।

आय-व्यय—सं० १९९७ वि० में दान से १२०६८।-) रु०, शुल्क से ४६०८२॥)

रु० तथा १२५०) रु० के लगभग अन्य आय हुई। इस वर्ष में व्यय ६६६५२॥|≥)५ पाई हुआ। प्रारम्भ से अब तक दो लाख रुपये के लगभग शिक्षा पर तथा १ लाख रु० के लगभग भवनों पर व्यय हुआ है।

सम्पत्ति—अचल सम्पत्ति लगभग एक लाख रु० की लागत की है।

स्नातिकायें—अब तक ५३ छात्राओं ने स्नातिका परीक्षा और ५५ ने अधिकारी परीक्षा उत्तीर्ण की है। उपाधि परीक्षायें और पदवियां गुरुकुल विश्व विद्यालय कांगड़ी के अनुसार 'विद्यालंकृता' आदि हैं।

२. कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस, (अलीगढ़)

स्थान—अलीगढ़-हाथरस पक्की सड़क पर सासनी से २ मील और हाथरस से ५ मील की दूरी पर स्थित है।

स्थापना—अगस्त सन् १६०६में स्थापित हुआ। कुछ वर्ष कार्य चलने के पश्चात् किन्हीं कारणों से कार्य स्थगित रहा। पुनः नियम पूर्वक संचालन ता० २८ अगस्त सन् १६३१ से पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के कर कमलों द्वारा आरम्भ हुआ। यह गुरुकुल करीब १ मील के विस्तृत घेरे में विद्यमान है। यहां का जलवायु विशेषतः स्वास्थ्यप्रद है।

प्रबन्ध—कमेटी के आधीन है जिसके **प्रधान**—कुँवर हुक्मसिंह जी रईस व जिमींदार ग्राम आँगई (मथुरा)। **उपप्रधान**—१. बा० द्वारकाप्रसाद जी भार्गव रईस, सासनी (अलीगढ़), २. सेठ धन्नालाल जी रईस, मिल-मालिक, हाथरस (अलीगढ़)। **मन्त्री**—प्रेमचन्द्र शर्मा एम० एस-सी० ग्राम लेहरा (डाबरस), **सहायक मन्त्री**—१ डा० विद्यासागर जी हाथरस २. पं० बिहारीलाल टिम्बर-मर्चेण्ट, अलीगढ़। **कोषाध्यक्ष**-बा० महेशप्रसाद भार्गव, रईस, सासनी। **ओडीटर**—बाबू बहादुरलालजी बी० ए०, जी० डी० ए० अलीगढ़। **मुख्याधिष्ठात्री**—श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी, **पुस्तकाध्यक्ष**—श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी गुप्ता, **रजिस्ट्रार**—श्रीमती अक्षयकुमारी जी देहरादून हैं। इनके अतिरिक्त प्रबन्धकारिणी कमेटी के १३ और सदस्य हैं। यह कमेटी गवर्नमेंट द्वारा सुसाइटी रेजिस्ट्रेशन एक्ट से रजिस्टर्ड है।

शिक्षा—कन्या गुरुकुल देहरादून के अनुसार। वेद, सांगोपांग, तथा अन्य धर्मशास्त्र, संस्कृत साहित्य तथा व्याकरण, आर्यभाषा तथा आर्यभाषा साहित्य, गणित में रेखागणित, बीज गणित तथा अंकगणित, इतिहास, भूगोल, स्वास्थ्यरक्षा, अंग्रेजीभाषा, गृहकार्य, भोजन पकाना आदि की शिक्षा दी जाती है। स्त्रियोपयोगी शिल्पकला, सीना, पिरोना, काट छाँट, कातना, कपड़े कागज आदि के फूल, पत्ते आदि बनाना, चित्रकारी आदि की

शिक्षा दी जाती है।

शिक्षक वर्ग—१. श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी आचार्या, २. कुमारी लक्ष्मीदेवी गुप्ता मैट्रिक, काव्यतीर्थ प्रभाकर, ३. श्रीमती राजकुमारी जी नार्मल, ४. श्रीमती सुशीलादेवी विद्याविभूषिता, मध्यमा। ५. श्रीमती राधाकुमारी जी प्रभाकर, विद्या विभूषिता, ६. श्रीमती दयावती जी विद्या विभूषिता, ७. श्रीमती कमलादेवी जी प्रभाकर, ८. श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी अधिकारिणी, ९. श्रीमती रजनीशकुमारी मैट्रिक (इनके अतिरिक्त निम्न चार अध्यापक अध्यापन का कार्य करते हैं) १०. श्री पं० सनकसनन्दन जी बी. ए. एल. एल. बी., ११. श्री पं० लीलाधर जी काव्यतीर्थ, पुराण तीर्थ, उपनिषद् उत्तमा, (गुरुकुल वृन्दावन), व्याकरण मध्यमा (क्वीन्स कालेज बनारस), वेदमध्यमा, स्मृति मध्यमा, उपनिषद् मध्यमा (संस्कृत एसोसियेशन कलकत्ता), १२. श्री पं० गणेशशंकर जी शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्यलंकार, हिन्दी विशेष योग्यता, मैट्रिक। १३. पं० चोखेलाल जी हिन्दी में विशेष योग्यता।

११ श्रेणियां हैं, ८ विद्यालय विभाग में और ३ महाविद्यालय विभाग में। ८वीं श्रेणी के उत्तीर्ण होने पर 'अधिकारिणी' की और ११वीं श्रेणी के उत्तीर्ण होने पर 'विद्या विभूषिता' की उपाधि गुरुकुल से प्रदान की जाती है।

छात्र-संख्या—११८ है।

आय-व्यय—सं० १९९६-९७ में ७८८५।=)॥ दान से आय और २१७५३।-) व्यय हुआ। शुल्क की आय पृथक् है। प्रारम्भ से अब तक २२६०००) से अधिक व्यय हो चुका है।

शुल्क—विद्यालय विभाग में १०) रु० और महाविद्यालय विभाग में १२)रु० मासिक पालन-पोषण का व्यय लिया जाता है।

सम्पत्ति—एक लाख रुपये की अचल सम्पत्ति है।

स्नातिकायें—सन् १९३९ में दो और सन् १९४० में ४ स्नातिकाएं निकली हैं। और इसी कन्या गुरुकुल में शिक्षण का कार्य कर रही हैं। शेष अपने घर पर चली गई हैं।

३. आर्य कन्या गुरुकुल, राजवाड़ी पोरबन्दर (काठियावाड़)

स्थापना—सम्वत् १९९४ वि०।

प्रबन्ध—सेठ श्री नानजीभाई कालिदास मेहता संस्थापक और इनकी नियुक्तसभा के अधीन है।

शिक्षा—इतिहास, भूगोल, संगीत, धर्मशिक्षा, पाक विज्ञान, सिलाई, काढना, बुनना, रोगि-परिचर्या आदि की शिक्षा दी जाती है। सस्कृत, हिन्दी-गुजराती और अंग्रेजी भाषायें सिखाई जाती हैं। अंग्रेजी और संस्कृत चौथी श्रेणी से आरम्भ होती हैं। व्यायाम व आसन आदि सिखाये जाते हैं। पाठविधि स्वतन्त्र है।

श्रेणियां—इस समय आठ हैं। छात्राओं की संख्या—इस समय ९८ है।

शिक्षक वर्ग—श्री सविताकुमारी जी स्नातिका आचार्य, श्री शान्ता कुमारी जी स्नातिका, प्रभाकर—मुख्याधिष्ठात्री, श्री दयावतीदेवी, श्री निर्मलाकुमारी स्नातिका 'प्रभाकर', श्री ललिताकुमारी बी० ए०, श्री कस्तूरीदेवी, और श्री सवितादेवी अध्यापिकायें। तथा श्री चेतरामशर्मा साहित्य रत्न, श्री पुरुषोत्तम जी, श्री नारायणदास, भगवानदास और श्री योगियति भाई—अध्यापक।

आय-व्यय—सन् १९४० ई० में १३०००) रु० आय और १९०००)रु० व्यय हुआ। प्रारम्भ से अब तक २०७०००) रु० व्यय हुआ है।

शुल्क—१२||) रु० मासिक लिया जाता है।

सम्पत्ति—भवन १|| लाख के हैं, बैंक में २|| लाख के शेयर हैं।

३. कन्या गुरुकुल हरिद्वार

स्थान—गुरुकुल कांगड़ी के समीप पूर्व की ओर स्थित है।

स्थापना—भाई टेकचन्दजी डेरागाजीखाँ निवासी ने १३०००) रु० का छात्रावास बनवाया है। ठाकुर संसारसिंह जी के उद्योग से मई सन् १९३३ ई० में इसकी स्थापना हुई।

प्रबन्ध—सब प्रान्तों के लगभग ६०० सदस्यों की एक कमेटी के आधीन है। ये सदस्य १२) रु० व ६) रु० चन्दा देते हैं।

प्रधान—चौ० दलेलसिंह एम. एस सी. प्रिंसिपल जाट, क्षत्रिय कालेज बड़ौत और मन्त्री—चौ० नारायण सिंह रवापुर हैं।

शिक्षा—अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् की परीक्षायें दिलवाई जाती हैं, सरकारी परीक्षायें नहीं। आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वैदिक परीक्षायें भी दिलवाई जाती हैं। आचार्या—श्रीमती चन्द्रावती प्रभाकर, आश्रमाध्यक्ष—श्रीमती कबूलवती देवी हैं। मुख्याधिष्ठाता—श्री योगेन्द्रपाल जी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य हैं।

आय-व्यय—लगभग १००००) आय-व्यय है।

शुल्क—६) मासिक लिया जाता है। शिक्षा निःशुल्क है।

अन्य संस्थायें

पंजाब

१. आर्य कन्या महाविद्यालय, जालन्धर नगर

स्थापना—स्त्री शिक्षा के इस महान् और सर्व प्रथम परीक्षण का आरम्भ सितम्बर सन् १८८६ ई० में हुआ। जालन्धर आर्य समाज ने इसका नाम 'जनाना स्कूल' रखा था और इसके लिए केवल १) मासिक व्यय स्वीकार किया था। सन् १८६१ ई० में इसका नाम कन्या महाविद्यालय रखा गया। सन् १८६५ ई० में इसके साथ आश्रम की भी स्थापना हुई। इसके संस्थापक प्रसिद्ध आर्य नेता ला० देवराज जी थे। आप और आपके साथियों ने स्त्री-शिक्षा के इस प्रयत्न के प्रारम्भ में अत्यन्त विरोध होते हुए भी धीरता से कार्य किया और अन्त तक इस सेवा में लगे रहे।

स्थान—नगर शाखा का अब अपना भवन ५००००) रु० की लागत का है जिसमें ५०० कन्यायें बैठ सकती हैं। कन्या आश्रम शहर से १ मील बाहर ३५ एकड़ भूमि में स्थित है, जहाँ भव्य भवन और बाग आदि हैं।

प्रबन्ध—इस महाविद्यालय का प्रबन्ध मुख्य सभा के अधिकार में है। विभिन्न आर्यसमाजों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त अनेक शिक्षा शास्त्री इसके सदस्य हैं। यह सभा सन् १८८६ ई० से ही रजिस्टर्ड संस्था है। इसके प्रधान—रा० ब० दीवान बद्रीदास एडवोकेट लाहौर, मन्त्री—ला० जगन्नाथ मित्तल प्लीडर जालन्धर नगर हैं। सब मिला कर १५ सदस्य हैं।

शिक्षा—शिक्षा निःशुल्क और माध्यम हिन्दी भाषा है। संस्कृत, हिन्दी, गणित, इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, आंग्लभाषा-सिलाई, कढ़ाई, खाना पकाना, गृह-चिकित्सा आदि विषयों की शिक्षा दी जाती है। १२ वर्ष में महाविद्यालय तक की पढ़ाई समाप्त होती है। उत्तीर्ण छात्राओं को 'स्नातिका' की पदवी दी जाती है। सन् १६३१ ई० से इसके साथ साथ विश्वविद्यालय की हिन्दी परीक्षायें तथा मैट्रिक, एफ० ए० एवं बी० ए० की परीक्षाओं के लिये शिक्षा देने का भी प्रबन्ध चालू कर दिया गया है।

शुल्क—विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के लिए प्रवेश शुल्क ५)रु०, प्रथम वर्ष ५)रु०, द्वितीय वर्ष ६) रु०, तृतीय और और चतुर्थ वर्ष ८) रु०, पुस्तकालय तथा खेल ||-) मासिक लिया जाता है। आश्रम में प्रवेश शुल्क १०)रु०, भोजन और निवास १६) रु० मासिक एवं अमानत धन ६०) रु० है।

शिक्षकवर्ग—प्रिंसिपल कुमारी लज्जा-वती, के. मेनन एम.ए., कुं० मालती तलवाड़ एम० ए०, नन्दकुमारी प्रसाद एम० ए०, कुँ० निर्मला मेहरा बी.ए., कु० सुकर्मा बी.ए. बी. टी., कु० शकुन्तलादेवी स्नातिका, श्री

लज्जावती डेरा, श्री लज्जावती जम्मू स्नातिका, श्री सत्यवती मिरजापुर, डा० विद्यावती एल. एस. एम. एफ., ला० ठाकुरदास कोहली बी. एस. सी., एस. ए. वी., पंडित चेतराम साहित्य रत्न, पं० श्रावणदत्त शास्त्री, पं० देवीचन्द, पं० धृतराम, ला० जस्साराम।

विधवा भवन—महाविद्यालय के साथ साथ विधवा भवन भी है। इसमें कम व्यय पर विधवाओं के रहने का प्रबन्ध है। प्रवेश शुल्क ५), अमानत धन २०) और आश्रम शुल्क ६) मासिक है।

अनाथालय—इसके साथ कन्याओं के लिये अनाथालय भी है।

जलविद्सखा—इस नाम की मासिक पत्रिका महाविद्यालय की ओर से प्रकाशित होती है।

देहली

२. आर्य गर्ल्ज हाई स्कूल, चावड़ी बाजार

शिक्षा—सरकारी पाठविधि के अनुसार दशम श्रेणी तक शिक्षा दी जाती है। **धर्म-शिक्षा**—आर्य शिक्षा समिति पंजाब के अनुसार है। **छात्र सं०**—३६०। **प्रबन्धक**—आ० स० चावड़ी बाज़ार ट्रस्ट। **प्रधान**—प्रो० सुधाकर जी एम. ए.। **मंत्रिणी**—श्री बहिन विद्यावती जी 'विशारदा'। **शिक्षक वर्ग**—१५ अध्यापिकायें। मुख्य अध्यापिका श्री मेनिकासेन बी. ए. बी. टी.। **आय-व्यय**—(सन् १९३९-४०) में १५६३७।-)। **शुल्क**—लिया जाता है।

३. आर्यकन्या पाठशाला, नई देहली

शिक्षा—सरकारी पाठ विधि के अनुसार दशम श्रेणी तक। **धर्म शिक्षा**—निर्धारित पाठ्य क्रमानुसार। **छा० संख्या**—५००। अब तक लगभग ६०० छात्रायें शिक्षा समाप्त कर चुकी हैं। **प्रबन्धक**—आर्यसमाज हनुमान रोड नई देहली। **प्रधान**—श्री बा० मिलखासिंह जी ठेकेदार। **मन्त्री**—डा० तुलसीराम जी डी. टी. एम.। **मैनेजर**—मा० अनन्तराम जी एम. ए. बी. टी.। **मुख्याध्यापिका**—कु० प्रकाशवती तथा अन्य १४ अध्यापिकायें। **आय-व्यय**-(अप्रैल सन् १९३९ ई० से मार्च १९४०तक) आय,७ १९४=)॥ और व्यय ८७३१॥≥)। सन् १९२५ ई० से अब तक लगभग ६००००) रु० व्यय हुआ है। **शुल्क**—लिया जाता है।

४. आर्य कन्या पाठशाला, बीडनपुरा, करौलबाग

शिक्षा—देहली शिक्षा विभाग के अनुसार ५ वीं श्रेणी तक। **धर्म शिक्षा**—आर्यशिक्षा समिति पंजाब का पाठ्य क्रम। **छात्र-संख्या**—१५५, अब तक १०७ छात्रायें लाभ उठा चुकी हैं। **प्रबन्धक**—आर्यसमाज देवनगर। **प्रधान**—चौ० पदमसिंहजी। **मंत्री**—चौ० नाथूराम जी। **मैनेजर**—ला० ठाकुर-

दास जी । शिक्षक वर्ग—३ अध्यापिकायें हैं। आय-व्यय—(जून सन् १६२६ ई० से सितम्बर सन् १६४० ई० तक) आय लगभग २०००)रु० व्यय, २१२५)॥ रु० प्रारम्भ से अब तक व्यय=२७६६३॥)॥ रु० । शुल्क—नहीं लिया जाता।

रोहतक

५. आर्य गर्ल्स स्कूल, रोहतक

शिक्षा—आर्य शिक्षा समिति पंजाब की पाठ्य विधि के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—भी। छात्र संख्या—१५०। प्रबन्धक—आर्य गर्ल्स स्कूल सोसायटी। प्रधान—डा० हंसराज जी, एल. एम. पी.। मंत्री—बा० रघुवीरसिंह बी. ए.। मुख्याध्यापिका—श्री रामावती, जे. वी., हिन्दी-भूषण तथा अन्य तीन अध्यापिकायें। आय-व्यय—१८००) वार्षिक। कुल व्यय लगभग १२०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता। विशेष—सिलाई, बुनना और पाक विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती है। साप्ताहिक सत्संग होता है। अचल सम्पत्ति६०००) है जो आ० प्र० सभा पंजाब के नाम रजिस्टर्ड है।

६. वैदिक कन्या पाठशाला, झज्जर जि० रोहतक

शिक्षा—आर्य शिक्षा समिति पंजाब की पाठविधि के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—पाठविधि के अतिरिक्त प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होता है। छात्र संख्या—अब तक लगभग ६० कन्यायें प्राइमरी उत्तीर्ण हो चुकी हैं। प्रबन्धक—आर्य शिक्षासमिति झज्जर से नियुक्त प्रबन्धसमिति, इसके ११सदस्य हैं। प्रधान—ला० रामकुंवर जी, मंत्री—लाला देशराज जी। मुख्य अध्यापिका—श्रीमती जानकीदेवी, जे. वी. तथा स० अ० श्री शान्ति देवी। आय-व्यय—(सन् १६३६-४० ई०) आय=८००) रु०, व्यय=७८८) रु० प्रारम्भ से अब तक व्यय=१०२५२) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

करनाल

७. आर्यकन्या पाठशाला, पानीपत

शिक्षा—आर्य शिक्षा समिति पंजाब की पाठ विधि के अनुसार ५वीं कक्षा तक। धर्म-शिक्षा—पाठविधि के अतिरिक्त दैनिक सन्ध्या-हवन, ऋषि जीवन का पाठ। छा० संख्या—१२५; अब तक २०० कन्यायें लाभ उठा चुकी हैं। प्रबन्धक—आर्य समाज पानीपत। मैनेजर—पं० नारायणदत्त जी विद्यालंकार वैद्य। अध्यापिकायें—३ हैं। आय-व्यय—लगभग १२००) रु० वार्षिक। अब तक का कुल व्यय=१५०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

अम्बाला

८. आर्य कन्या पाठशाला, मोरिंडा

शिक्षा—आर्य शिक्षा समिति पंजाब

की पाठ विधि के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा— भी। छात्र संख्या— ६५। प्रबन्धक—आर्यसमाज मोरिंडा। मैनेजर—श्री शौकतराय जी। मु० अ –श्री लाजवन्ती देवी तथा दो सहायक अध्यापिकायें। आय-व्यय—(सम्वत् १९९६ ९७)=२७६०) रु० व्यय=१८७५) अब तक कुल व्यय=२५०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

शिमला

९. आर्य कन्या पाठशाला, लोअरबाज़ार, शिमला

शिक्षा—पंजाब शिक्षा विभाग के अनुसार ८ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—प्रबन्ध है। छात्र संख्या—४००। प्रबन्धक—आर्यसमाज शिमला। प्रधान—ला० शंकरनाथ जी, मन्त्री—ला० जैसीराम जी। अध्यापिकायें—१०। शुल्क—लिया जाता है।

१०. आर्य कन्या पाठशाला, डगशाई

शिक्षा—आर्य शिक्षा समिति पंजाब के अनुसार ५वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—भी। छात्र संख्या—२८, लगभग २५० छात्रायें लाभ उठा चुकी हैं। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। मैनेजर—डा० बसन्तराम जी धीमान्। आय-व्यय—प्रारम्भ से अब तक १६००) रु० व्यय हो चुका है। शुल्क—नहीं लिया जाता।

लुधियाना

११. गणेशीलाल आर्य कन्या पाठशाला, लुधियाना

शिक्षा—पं० शि० वि० के अनुसार आठवीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—१ घंटा प्रतिदिन। छात्र संख्या—६६५। प्रबन्धक—आर्य समाज लुधियाना की समिति। प्रधान—डा० वृन्दावन जी। मैनेजर—श्री ला० अमीरचन्द्र जी तथा अन्य ७ सदस्य। मु० अ०—ला० श्रीकृष्ण जी, सहायक अ०—२३ (४ पुरुष)। आय व्यय—(सम्वत् १९९६)=७७११।।।)रु० और ११७४६।।।-)।। शुल्क—लिया जाता है।

जालन्धर

१२. आर्य कन्या पाठशाला, कोट बादलखां

शिक्षा—पं० आ. शि. स. के अनुसार २ री कक्षा तक। धर्मशिक्षा—समिति के अनुसार। छात्र संख्या—३५। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। अध्यापिका—१। आय-व्यय—८०) रु० और ७५) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

फिरोजपुर

१३. आर्य पुत्री पाठशाला, मलोट मंडी

शिक्षा—क० महाविद्यालय जालन्धर तथा पं० शि० वि० के अनुसार ५ वीं कक्षा

तक। धर्म शिक्षा—पुस्तक व सन्ध्याहवन। छात्र संख्या — ११० अब तक १२५ कन्यायें प्राइमरी उत्तीर्ण हो चुकी हैं। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। मैनेजर—डा० अमरनाथ जी। आय-व्यय—१२००) रु० वार्षिक। आरम्भ से अब तक १३०००) रु० व्यय हुआ है। सम्पत्ति—५०००) रु० की लागत का भवन है। शुल्क—नहीं लिया जाता।

१४. आर्य पुत्री पाठशाला, अबोहर

शिक्षा—आ० शि० स० पं० के अनुसार पांचवीं कक्षा व रत्न और भूषण। धर्म शिक्षा—समिति के अनुसार। छात्र संख्या—२३१। अब तक १६० छात्राओंने प्राइमरी, ६ ने हिन्दी भूषण, १७ ने हिन्दी रत्न, ३२ ने म० विद्यापीठ इलाहाबाद की प्रवेशिका और दो ने विद्याविनोदनी परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक— अंतरङ्ग सभा, स्थानीय आर्य समाज। प्रधान—म० चान्दीराम वर्मा। मन्त्री— म० मुकुन्दलाल। मैनेजर—म० शेरसिंह। मु० अ०—श्रीमती प्रकाशवती। स० अ०-५। आय-व्यय ११५०) रु० व १४००)रु० अब तक कुल व्यय ३७७००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

मिन्ट गुमरी

१५. आर्यपुत्री पाठशाला, पाकपटन

शिक्षा—आ० शि० स० पं० के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—भी समिति के अनुसार। छात्र संख्या—१५२। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। अध्यापिकायें—५। शुल्क—नहीं लिया जाता।

गुरुदासपुर

१६. आर्य पाठशाला, दीनानगर

शिक्षा—हिन्दी शिक्षा, चतुर्थ कक्षा तक। छात्र संख्या—२५। प्रबन्धक—दलितोद्धार मण्डल, गुरुदत्त भवन लाहौर। मैनेजर—श्रीप्रकाशचन्द्रजी आनन्द। अध्यापक—म० ज्ञानचन्द जी। शुल्क— नहीं लिया जाता।

१७. वेदकौर आर्य पुत्री पाठशाला, कादियां

शिक्षा—आ० शि० स० पं० के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा— समिति के अनुसार। छात्र संख्या—५०। अब तक १०० छात्रायें लाभ उठा चुकी हैं। प्रबन्धक—लाला हरिरामजी। अध्यापिकायें—२। आय-व्यय—३००) रु० वार्षिक ; अब तक का व्यय=३०००)। रु० शुल्क—लिया जाता है।

हुश्यारपुर

१८. माई भगवती पुत्री पाठशाला, हरियाना

स्थापना—सन् १६०२ ई०। शिक्षा—क. म. जालन्धर के अनुसार ८ वीं कक्षा तक धर्म शिक्षा—पढ़ाई जाती है। छा०सं०—१८०। प्रबन्धक—पृथक् सभा। प्रधान—ला० अमरनाथ जी बी. ए., एल. एल. बी.।

मंत्री—ला० प्यारेलाल जी बी. ए.। मु० अ०—मासी भागदेवी जी (शिष्या माई भगवती जी)। स० अ०—५ स्त्री व दो पुरुष। शुल्क—लिया जाता है। विशेष—माई भगवती जी ने ऋषि दयानन्द से वार्तालाप कर पहले-पहल स्त्री-शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया। आपने ही अपने निवास भूमि हरयाना में यह पाठशाला स्थापित की।

गुजरांवाला

१६. आर्य कन्या मिडिल स्कूल, गुजरांवाला

शिक्षा—आ. शि. स. पं. के अनुसार केवल मिडिल श्रेणियाँ। धर्म शिक्षा—पढ़ाई जाती है। छा० संख्या—८०; २३ कन्याओं ने मिडिल उत्तीर्ण किया। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। प्रधान—ला० गोविन्दराम जी। मंत्री व मैनेजर—ला० विश्वम्भर नाथ जी। मु० अ०—श्री मती सोमावती जी। स०अ०—श्री शकुन्तलाजी और श्री सावित्री जी। आय-व्यय—(१६६६-६७) ११०६) रु० और ६३७) रु०। कुल व्यय लगभग ३०००) रु०। शुल्क—६ठीं=१) रु० ७ वीं=१॥) रु०, ८ वीं=१॥) रु०।

२०. भराँवादेवी वैदिकपुत्री पाठशाला, पिंडीभटियाँ

शिक्षा—आ. शि. स. पं. के अनुसार ५ वीं कक्षा तक तथा रत्न, भूषण और प्रभाकर परीक्षायें। धर्म शिक्षा—सन्ध्या, हवन आदि। छा० संख्या—७५। ५८ छात्राओं ने लाभ उठाया है। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। मैनेजर—म० तुलसीराम जी। आय-व्यय—४००) रु० वार्षिक। कुल व्यय—५००) रु०।

लाहौर

२१. आर्य कन्या पाठशाला, खुड्डियाँ खास

शिक्षा—आ. शि. स. पं. के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—दी जाती है। छा० संख्या—५०। प्रबन्धक—स्थानीय सभा। मैनेजर—हकीम भगवानदास जी व पण्डित दीवानचन्द्र जी। मुख्य अ०—श्री विद्यावती जी। आय-व्यय—२५०) रु० और २४०) रु०। कुल व्यय—लगभग १०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

२२. आर्य पुत्री पाठशाला, किला गूजरसिंह

शिक्षा—आ. शि. स. पं. व पं. शि. वि. के अनुसार ८वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—प्रबन्ध है। छा० संख्या—२००। प्रबन्धक—आ० प्रतिनिधि सभा पंजाब के आधीन उपसमिति। शुल्क—नहीं लिया जाता।

स्यालकोट

२३. श्री भगवती आर्य कन्या पाठशाला, हाई स्कूल, स्यालकोट

शिक्षा—आ. शि. स. व पं. शि. वि.

के अनुसार १० कक्षा तक। तथा हिन्दी रत्न, भूषण और प्रभाकर श्रेणियां। धर्म शिक्षा-आवश्यक है एक विशेष अध्यापक नियुक्त है समिति की परीक्षायें दिलाई जाती हैं। छा० संख्या—७०० । गत ३०३२ वर्षों में हजारों कन्यायें उत्तीर्ण हो चुकी हैं। प्रबंधक-स्थानीय आर्यसमाज की उपसमिति। प्रधान-ला० चरणदास जी। मंत्री—श्रीसरूप-नारायण जी। मैनेजर—मास्टर हरीराम जी व सेठ विश्वेश्वरनाथ वकील। अध्यापि-कायें—२५ हैं। आय-व्यय—(गत वर्ष) ११६६४) रु०। शुल्क-प्रथम चार श्रेणियां निःशुल्क हैं।

२४. आर्य कन्या पाठशाला, जामकी

शिक्षा—आ. शि. स. के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा-सन्ध्या, हवन आदि। छा० संख्या—८०। लगभग ६० ने प्राइ-मरी, और १२ ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्थानीय प्रबन्धकर्त्री सभा। मैने-जर—श्री ला० रामलालजी। अध्यापिका-३। आय-व्यय—६००) वार्षिक। कुल व्यय—६०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

गुजरात

२५. आर्य पुत्री पाठशाला हैडरसूल

शिक्षा—पं० शि० वि० के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा-सन्ध्या, हवन आदि। छा० संख्या—१५। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। मु०अ०—विद्यावतीजी।

रावलपिंडी

२६. आर्य महिला विद्यालय, रावलपिंडी

शिक्षा—पं. विश्वविद्यालय की प्रभाकर परीक्षा तक। छा० संख्या—५१। प्रब-न्धक—आर्य स्त्री समाज रावलपिंडी। मैने-जर—बा० मदनलाल जी। शिक्षक वर्ग—श्री भाग्य देवी जी गुप्त, श्री चन्द्रराणी जी, और पं० रामसुख जी। आय-व्यय-लगभग १०००) वार्षिक। प्रारम्भ से अब तक का व्यय ७५००) रु०। शुल्क—लिया जाता है।

२७. लालीबाई आर्य कन्या पाठ-शाला, रावलपिंडी सदर

शिक्षा—पं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अष्टम कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आ. शि. स. पं. के अनुसार एक विशेष अध्यापिका नियुक्त है। छा० संख्या—२००। प्रब-न्धक—आ० स० सदर बाजार रावलपिंडी। अध्यक्ष—डा० फकीरचन्द्र जी। मु० अ०-बी. ए. बी. टी.। स० अ०—२, एस. बी. मिडिल, ५ जे. बी. तथा १ भूषण। आय-व्यय—लगभग ४०००) वार्षिक। शुल्क—मिडिल में आंग्ल भाषा पढ़ने वाली छात्राओं से लिया जाता है, अन्यों से नहीं।

मियांवाली

२८. आर्य कन्या पाठशाला, वांभचरा

शिक्षा—आ. शि. स. पंजाब द्वारा स्वीकृत ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—समिति के द्वारा स्वीकृत। छा० सं०—७५। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। प्रधान—म० शिवरामदास जी। मंत्री—ला० ठाकुरदास जी। मैनेजर—चौ० लेखराज जी। शिक्षक वर्ग—४ अध्यापिकायें। आय-व्यय ४३६=) और ७४५।=)।।। कुल व्यय—लगभग १००००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

पेशावर

२६. वैदिक पुत्री पाठशाला, नौशहरा छावनी

शिक्षा—सीमा प्रान्त व पं. शि. वि. द्वारा स्वीकृत ८वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आ. शि. स. पं. द्वारा स्वीकृत। छा०संख्या—१८६; १०३२ छात्रायें लाभ उठा चुकी हैं। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—श्री शिवस्वरूप जी शर्मा। मंत्री—श्री मुल्कराज जी। मु० अध्यापिका—श्री कमला कुमारी जी। स० अ०—६ अन्य एवं श्री पं० हरिश्चन्द्र जी पेन्शनर। आय-व्यय—५२७०) रु० और ५६००) रु० १७-६-२८ से ३१-१२-४० तक का व्यय ३७०००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता। विशेष—इस पाठशाला में आर्य, हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई प्रत्येक धर्मावलम्बी परिवार की छात्रायें हैं। दलित वर्ग की भी कन्यायें बे रोक-टोक पढ़ती हैं।

कैम्बलपुर

३०. आर्य कन्या पाठशाला, कैम्बलपुर

शिक्षा—सी. प्रा. शि. वि. के द्वारा स्वीकृत ५ वीं कक्षा तक। २ ट्रेंड व १ अनट्रेंड अध्यापिकायें कार्य कर रही हैं। प्रबन्ध—आर्य समाज के आधीन हैं।

सरगोधा

३१. वैदिकपुत्री पाठशाला, मिट्ठाटिवाना

शिक्षा—आ० शि० स० द्वारा स्वीकृत ८ वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा—दी जाती है। समिति की परीक्षाओं में सम्मिलित होती है। छात्र संख्या—१२०। ५० ने प्राइमरी और ६ ने मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। मैनेजर—मा० थानचन्द जी। मु० अ०—श्री प्रज्ञादेवी। स० अ०—३। आय—४८२।।≈)।। व्यय—४८१।।।); प्रारम्भ से व्यय=२५६३।।-)।। शुल्क—नहीं लिया जाता।

३२. श्री लक्ष्मीदेवी आर्यपुत्री पाठशाला, मेरा

शिक्षा—वैदिक पाठविधि ८ वीं कक्षा

तक। छात्र संख्या—२३४। सन् १८६५ से स्थापित है, हजारों कन्यायें लाभ उठा चुकी हैं। प्रबन्धक — स० आ० स० की स्थानीय समिति। प्रधान—ला० रामलाल जी, प्रो० कृपाराम ब्रदर्स; मंत्री—भाई रामलाल जी। मैनेजर—मलिक तिलकराज जी। शिक्षक वर्ग— ६ अध्यापिकायें। आय-व्यय—२४००) रु० वार्षिक। शुल्क—लिया जाता है।

३३. आर्यपुत्री पाठशाला, मलवाल

शिक्षा—पं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत, ५वीं कक्षा तक। छात्र संख्या—६७, लगभग १०० छात्रायें शिक्षा समाप्त कर चुकी है। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—म० मंगलसैन जी। मैनेजर—म० बरकतराम जी। शिक्षक वर्ग—३ अध्यापिकायें। आय—(सं० १९९६) दान से ८२५), सरकारी सहायता—१६८-), व्यय—इतना ही। प्रारम्भ से व्यय ६००००) रु० (भवन पथक्) शुल्क—नहीं लिया जाता।

झंग

३४. मैय्यादास आर्यपुत्री पाठशाला, रजोया

शिक्षा—क० म० जालंधर की पाठ विधि के अनुसार ५वीं कक्षा तक और पं० विश्वविद्यालय की हिन्दी रत्न। धर्मशिक्षा—आवश्यक विषय है, पांचवीं में आर्य सिद्धांतों की शिक्षा भी दी जाती है। छात्र संख्या—६५; ६० छात्रायें पढ़ चुकी हैं। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—श्री मोहनलाल जी, मंत्री—श्री शिवदत्त जी। आय—५००) रु०। व्यय—४२०) रु०; प्रारम्भ से व्यय—४२००) रु०। शुल्क—नहीं लिया जाता।

लायलपुर

३५. आर्यपुत्री पाठशाला, कमालिया

शिक्षा—आ० शि० स० द्वारा स्वीकृत ८म श्रेणी तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक है। छात्र संख्या—३८७; सन् १८९४ से स्थापित है। प्रबन्धक—आ० स० कमालिया। मैनेजर—मुन्शी मोहरीराम जी। मु० अध्यापिका—श्री जयदेवी जी (एस. वी.), स० अ०—५ एस. वी., ३ अन्य। आय-व्यय—४०००) रु० वार्षिक। शुल्क—६ ष्ठ. से ।=), ७ म. से ।≡) और ८म से ॥) लिया जाता है। विशेष—सब जातियों की कन्यायें पढ़ती हैं।

मुल्तान

३६. आर्यपुत्री पाठशाला, मैलसी

शिक्षा—आ० शि० स० पं० द्वारा स्वीकृत ६ ठीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक है। छात्र संख्या—६०, गत वर्षों में २५ ने प्राइमरी तक शिक्षा ग्रहण की। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—

म० केशोराम जी, मंत्री—म० बल्देवदत्त जी, मैनेजर—म० कन्हैयालाल जी। अध्यापिकायें—श्री कर्मदेवी जी तथा श्री सुशीलादेवी जी । आय-व्यय—३५०) वार्षिक। शुल्क—नहीं लिया जाता।

मुजफ्फरगढ़

३७. आर्यपुत्री पाठशाला, खैरपुर सादात

शिक्षा—आ० शि० स० पं० द्वारा स्वीकृत ५वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छात्र संख्या—७०। प्रबन्धक—आ० स०। मैनेजर—डा० देवराज जी। अध्यापिका—श्रीमती राधादेवी। व्यय—अब तक व्यय ५०००) रु० हो चुका है। शुल्क—नहीं लिया जाता।

३८. आत्माराम आर्यपुत्री पाठशाला, अलीपुर

शिक्षा—पं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत, ८वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—एक घण्टा प्रति दिन, तथा साप्ताहिक सत्संग। छात्र-संख्या—१५८; मिडिल उत्तीर्ण छात्रायें=४८, और प्राइमरी उत्तीर्ण=६१२ तथा १४३ अन्य। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—डा० मूलराज जी, मन्त्री—ब्रह्मदेव जी बित्र', मैनेजर—ला० देवीदास जी आर्य। मु० अ०—श्री लाजवती जी तथा अन्य ६ अध्यापिकायें । आय-व्यय—१२००) रु० वार्षिक। शुल्क—नहीं लिया जाता।

३९. आर्य पुत्री पाठशाला, झुग्गी वाला।

शिक्षा—शिक्षा समिति द्वारा प्रस्तुत प्राइमरी तक। धर्मशिक्षा—सन्ध्या-हवन तथा बाल प्रश्नोत्तरी। छात्र संख्या—४१; १२५ ने प्राइमरी उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। अध्यापिका—१ है। आय-व्यय—२००)रु० लगभग ४०००) व्यय हो चुका है।

४० आर्य कन्या पाठशाला, डेरा इस्माईलखां

शिक्षा—पं० विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत १० वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आ० शि० स० पंजाब द्वारा स्वीकृत। छा० सं०—१२१९ । सन् १९२ ई० से स्थापित है। प्रबन्धक—रजिस्टर्ड आर्य विद्या सभा। शिक्षक वर्ग—४६ अध्यापिकायें हैं। आय—१४००५) रु०, व्यय—१५२९२) रु० शुल्क—अष्टम कक्षा तक नहीं लिया जाता।

डेरा गाजीखां

४१. हरि कन्या पाठशाला, जामपुर

शिक्षा—आ० शि० स० पं० द्वारा स्वीकृत ५ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० सं०—१५७; ५०० प्राइमरी उत्तीर्ण। प्रबन्धक—स्था० आ० स०।

मैनेजर—चौ० सोमराज जी। मु० अ०—श्रीमती तेजोदेवी। शुल्क—नहीं।

४२. आर्य महिला विद्यालय जामपुर

शिक्षा—कन्या गुरुकुल की ८ वीं कक्षा तक। **मैनेजर**—श्री सोमराज जी।

४३. आर्यपुत्री पाठशाला, फाजिल्का

शिक्षा—पं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ५ वीं कक्षा तक। छात्र सं०—१७५। प्रबन्धक-आ० स०। मैनेजर—लाला गौरीशङ्कर जी 'आर्य'। शिक्षक वर्ग—५ अध्यापिकायें। व्यय—१२००) रु०। विशेष—आधा व्यय म्युनिसिपल कमेटी की सहायता से चलता है। शुल्क—नहीं।

पटियाला

४४. आर्य कन्या पाठशाला, रामा मण्डी

शिक्षा—आ० शि० स० पं० द्वारा स्वीकृत चतुर्थ श्रेणी तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० सं०—६०। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रबंधकर्ता—म० निहालचन्द्रजी। अध्यापिका—कुमारी विद्यावती जी हिंदी प्रभाकर। आयव्यय—३००) वार्षिक। कुल व्यय—३०००) रु०। शुल्क—नहीं।

४५. आर्य कन्या पाठशाला, भरोड़

शिक्षा—क० म० जालन्धर द्वारा स्वीकृत ५वीं कक्षातक। छा०सं०—(उत्तीर्ण) १५०। प्रबन्धक-आ० स०। मैनेजर-ला० चिरंजीलालजी। मु० अ०-श्री श्रद्धादेवीजी। आय-व्यय—कुल दसहजार रुपये। शुल्क—नहीं।

४६. आर्यकन्या पाठशाला, नरवाना जिला सुनाम

शिक्षा—गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के अनुसार ५वीं कक्षा तथा हिन्दी रत्न तक। छा० सं०—८०। प्रबन्धक—आ०स०। प्रधान—ला० कृष्णचन्द्र जी, मन्त्री—ला० हरस्वरूप जी। मु० अ०—श्रीमती रामदेवी जी। आय—६६६॥=), व्यय—६६०॥≈)॥ शुल्क—नहीं।

बहावलपुर

४७. आर्यकन्या पाठशाला, खानपुर जिला रहीमयारखान

शिक्षा—पं० विश्वविद्यालय की हिन्दीरत्न तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक है। छात्र संख्या—१०। प्रबन्धक—आ० स०। प्रधान—बा० मुरलीधर जी। मंत्री—म० विद्याभूषण जी। मैनेजर—म० शांतिप्रकाश जी। मु०अ०—श्रीमती राधाबाई। आय—६००) रु०, व्यय ४००) रु०। शुल्क—'हिन्दी रत्न' कक्षा से लिया जाता है।

काश्मीर

४८. आर्यकन्या पाठशाला, काश्मीर

आर्यसमाज की ओर से इस पाठशालाके अधिष्ठाता पं० जानकीनाथ जी विद्यार्थी हैं। प्रबन्ध के लिए उपसमिति बनी हुई है जिसके

प्रधान पं० नन्दलाल जी चौधरी हैं।

जम्मू

४६. आर्यकन्या मिडिल पाठशाला, कोटली

शिक्षा--कन्या महाविद्यालय जालन्धर द्वारा स्वीकृत, मिडिल कक्षाओं तक। **प्रबन्धक**—स्था० आ० स०। **प्रधान**—म० रामनाथजी, **मैनेजर**—मा० चुन्नीलाल जी। **शिक्षक**—७ अध्यापिकायें हैं। **शुल्क**—नहीं।

५०. आर्यकन्या पाठशाला, जम्मू

शिक्षा—रियासत के शिक्षा विभाग व आ० शि० स० पं० के अनुसार हिन्दी मिडिल और हिन्दी एवं हिन्दी भूषण कक्षाओं तक। **धर्मशिक्षा**-आवश्यक, परीक्षायें भी हैं। **छा० सं०**—२५०। **उत्तीर्ण छात्रायें**—प्राइमरी १०६, मिडल २६, रत्न ६४, भूषण ४३, जूनियर ८, सीनियर ८। **प्रबन्धक**—आ०स० की उपसभा। **मैनेजर**—ला० गुरांदास जी। **शिक्षक वर्ग**—८ अध्यापक व अध्यापिकायें **आय**—२६७६||), **व्यय**-२८१०|||-)। अब तक का कुल व्यय २००००) के लगभग।

इन पाठशालाओं के अतिरिक्त, डेरा-गाजीखाँ, मीरपुर (जम्मू), पेशावरशहर, गुजरात, हाफिज़ाबाद, लायलपुर, लाहौर, लाहौर छावनी, मोगा, मुल्तानशहर, मिंटगुमरी, भिवानी, मरी, पेशावर छावनी, कोयटा, रोपड़, स्यालकोट, श्री गोविन्दपुर, सरगोधा में **आर्य कन्या मिडिल पाठशालायें और** अब्दुल्लापुर, अम्बाला छावनी, भटिण्डा, बटाला, छमाल (जिला गुरदासपुर) दुनियापुर (मुल्तान), गोजरा, घुमान (गुरुदासपुर), ईसा-खेल (मियांवाली), जालन्धर छावनी, करतारपुर, खानकी, करनाल, लालामूसा, मुलतान छावनी, मुलतान शहर, मीयांवाली, महतपुर (जालन्धर), नौशहरा पुलवाँ (अमृतसर), प्रागपुर (काँगड़ा), जींद रेलवेस्टेशन, शुजाबाद, शाहदरा (शेखूपुरा), शरकपुर (शेखूपुरा), उच्च (मुजफ्फरगढ़). नाभा, सराय-सिद्धू, टौनीदेवी, सैदपुर, सन्तनगर, वारा-मंगा, इन स्थानों पर **आर्य कन्या प्राइमरी** पाठशालायें स्थापित हैं। इन पाठशालाओं की शिक्षा आर्यशिक्षा समिति की पाठ विधि के अनुसार है।

संयुक्त प्रान्त

मेरठ

१. आर्य कन्या पाठशाला, मेरठ शहर

शिक्षा—संयुक्त प्रान्त शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ म कक्षा तक। **धर्म शिक्षा**—आवश्यक। **छा० संख्या**—२८६। **प्रबन्धक**—स्था० आ० स० द्वारा नियुक्त किया हुआ। **प्रधान**—श्री चौ० जयदेवसिंह एडवोकेट। **मंत्री**—बा० आत्मसरन रस्तोगी।

मैनेजर—ला० श्यामलाल जी। **मु० अ०**—श्री० पूर्णदेवी विदुषी अन्य १२ अध्यापिकायें। **आय**—(सन् १९३९-४०) ५२०१||≡) **व्यय**—५५०२||=)। २७ वर्षों में कुलव्यय १००००००) रु० के लगभग। **शुल्क**—नहीं लिया जाता।

२. भागीरथ आर्य कन्या पाठशाला, लालकुर्ती मेरठ

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ म कक्षा तक। **छा० संख्या**—१५०, प्राइमरी उत्तीर्ण १५०, मिडिल उत्तीर्ण १०० **मु० अ०** — श्रीमती मूर्त्तिदेवी जी। **स० अ०**—६।

३. आर्य कन्या पाठशाला, सदर बाजार मेरठ

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ म कक्षा तक। **धर्म शिक्षा**—विद्या सभा द्वारा नियुक्त वैदिकधर्म सम्बन्धी पुस्तकों की शिक्षा **छा० सं०**—१६१; ४०० छात्रायें चौथी कक्षा में उत्तीर्ण, २० छात्रायें लोअर मिडिल उत्तीर्ण और ४ छात्रायें मिडल उत्तीर्ण। **प्रबन्धक**—समाज द्वारा निर्वाचित विद्यासभा। **प्रधान**—श्री रामचन्द्र जी मित्तल। **मैनेजर** श्री रामजीलाल जी। **मु० अ०**—श्री हंसमुख देवीजी। **स० अ०**—६। **आय**—१७६०|≡)७ पा०। **व्यय**—२०८८||≡)१ पाई। ४५ वर्ष से सब व्यय लगभग ६००००)रु०। **शुल्क**—३ वर्ष से लिया जा रहा है।

४. गुलाब देवी कन्या पाठशाला, मवाना कलाँ

शिक्षा—सं. शि. वि. द्वारा स्वीकृत ६ ठी श्रेणी तक। **धर्म शिक्षा**—आवश्यक। **छा० संख्या**—१६०। **प्रबन्धक**—स्था० आ० स०। **मैनेजर**—ला० जगदीशचन्द्र। **अध्यापिकायें**—४। **आय**—६८७|||)|| **व्यय**—५३८||)। **शुल्क**—४४ वर्ष तक नहीं लिया गया, गत वर्ष से लागू किया।

सहारनपुर

५. जमुनादास आर्यकन्या पाठशाला, पुरानी मंडी, सहारनपुर

शिक्षा—कक्षा ४ तक। **धर्म शिक्षा**—आवश्यक। **छा० संख्या**—२० छात्राओं ने चतुर्थ श्रेणी उत्तीर्ण की। **प्रबन्धक**—आ० स०। **मैनेजर**—मा० द्वारकाप्रसाद जी। **मु० अ०** — श्री० शांतिदेवी जी। **आय-व्यय**—४६०) वार्षिक। **शुल्क**—नहीं।

६. आर्य पाठशाला, भगवानपुर

शिक्षा—२य कक्षा तक। **छा०संख्या**—३६। **प्रधान**—पं० ज्योतिप्रसादजी। **मन्त्री**—म० कर्मचन्दजी। **अध्यापिका**—१। **आय**—(अप्रैल १९३९ से दिसम्बर सन् १९४० तक) ३१५) रु०, **व्यय**—३७०) रु०। **शुल्क**—नहीं।

७. आर्यकन्या पाठशाला, गंगोह

शिक्षा—चौथी श्रेणी तक। धर्मशिक्षा—पं० शिवशर्मा कृत धर्म शिक्षा पुस्तकें। छा० संख्या—६४। कुल १००० छात्रायें लाभ उठा चुकी हैं। मैनेजर—म० जीवनदासजी। अध्यापिकायें—२। आय—२७८|≤)। व्यय—४०४||=)। शुल्क—नहीं।

८. आर्य कन्या पाठशाला, रुड़की

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक है। छा० संख्या—२८२। प्रबन्धक—समाज द्वारा निर्वाचित उपसमिति। प्रधान—राय-साहब ला० मथुरादास, एम. एल. सी.। मैनेजर—बा० सुखलाल भटनागर। मु० अ०—

श्री सुखदेवी, स० अ०–६। आय–(१६३६-४०) ४३७०≶)११ पाई व्यय–४०७६।=)।।। शुल्क—लिया जाता है।

६. महाविद्यालय सतीकुण्ड कनखल (हरिद्वार)

इस विद्यालय में हिन्दी विशेष योग्यता तथा मैट्रिक परीक्षायें दिलाई जाती हैं। संगीत, सिलाई, व्यायाम आदि का भी उत्तम प्रबन्ध है। श्री मूलचन्द्र शास्त्री अधिष्ठाता हैं।

देहरादून

१०. श्री कन्या पाठशाला, कर्णपुर

शिक्षा—सरकारी पाठ विधि के अनुसार ४र्थ कक्षा तक। साथ-साथ सीना, पिरोना व पाक विद्या। धर्म शिक्षा— आवश्यक। छा० संख्या—८०। प्रबन्धक—समाज की उप-समिति। मैनेजर—प्रो० गयाप्रसाद जी शुक्ल एम. ए.। मु० अ०— श्री अक्षय-कुमारी प्रभाकर (अवैतनिक)। स० अ०—३। आय—(१६४०) ५६४।।)।।। व्यय—५४४–)।। प्रारम्भ से अब तक का व्यय लगभग १८००) रु०। शुल्क—नहीं।

११. कन्या विद्यालय, मंसूरी

शिक्षा–सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा— सुविधा नहीं। प्रबन्धक— स्वतन्त्र पब्लिक कन्या कमेटी जिस में आर्य समाज का केवल प्रतिनिधित्व है। प्रधान—पं० पुष्करनाथ जी। मैनेजर—ला० मोहनलाल जी।

बिजनौर

१२. आर्यकन्या पाठशाला, नजीबाबाद

ब्रांच—साहनपुर

शिक्षा–स० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८म कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या–२५०। ५ कन्याओं ने अपर मिडिल, ५० ने लोअर मिडिल और लगभग ५० ने प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्था० आ०स०। प्रधान— ला० बनारसीलाल जी, मैनेजर–शिवचरणदासजी। मु० अ०– श्री भगवतीदेवी। स० अ०—६। आय—३३१५।।।–)।।। व्यय—३३४०) रु०। सर्वयोग व्यय — ५००००) रु० के लगभग। शुल्क—लिया जाता है।

१३. वैदिक कन्यापाठशाला, भोजपुर

शिक्षा— बोर्ड द्वारा निश्चित, कक्षा २ तक। धर्मशिक्षा–सन्ध्या और सत्यार्थप्रकाश छात्र संख्या— ३०। ५० ने कक्षा दूसरी उत्तीर्ण की है। प्रबन्धक—आ० स०; बोर्ड से ६) रु० मासिक सहायता। प्रधान—म० मक्खनलालजी, मंत्री—म० उमंगलाल जी। मैनेजर—म० देवराज जी। शुल्क—नहीं।

मुरादाबाद

१४. रामप्यारी आर्यकन्या पाठशाला, चन्दौसी

शिक्षा— सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत

लोअर मिडिल तक। धर्मशिक्षा–प्रो० सुधाकर जी कृत उपदेशामृत। छा० संख्या—१६५। लगभग ५०० कन्याओं ने शिक्षा प्राप्त की। प्रबन्धक—आ० स०। मु० अ०—श्री सरस्वती देवी। स० अ०—३। आय—(सन् १६४०) १२६५।।|≈)।। । व्यय—६३१|≡)। कुल व्यय लगभग १००००) रु० शुल्क—नहीं।

रामपुर

१५. वैदिककन्या पाठशाला, धमौरा

शिक्षा—कक्षा दो तक हिन्दी और धर्मशिक्षा। छात्र संख्या—१५। ४० ने प्राइमरी उत्तीर्ण की। प्रधान—म० मिठईलाल जी, मंत्री—म० गेंदनलाल जी। अध्यापिका–१। आय-व्यय–१५०) रु० वार्षिक। कुल व्यय १५००) रु०। शुल्क—नहीं।

१६. आर्य कन्या पाठशाला, भूड़ बरेली

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक है। छा० संख्या—४५०। कम से कम १००० ने लाभ उठाया। प्रबन्धक—१६ सभासदों की कमेटी जिसमें से १० समाज के सभासद हैं; कमेटी रजिस्टर्ड है, मैनेजर सभा चुनती है। प्रधान—पं० द्वारकाप्रसाद जी वकील एम. एल. ए. मैनेजर—श्री मुकुटबिहारीलाल मुख्तार। मु० अ०—श्री चतुमुर्खीदेवी। स० अ०—१५। सब अध्यापक वैदिक धर्म विशारद परीक्षा उत्तीर्ण हैं। शुल्क—७ वर्ष से ली जाती है। सम्पत्ति—लगभग ५००००) रु० की लागत का भवन है।

बदायूँ

१७. आर्य पार्वती कन्या पाठशाला, बदायूँ

शिक्षा–वैदिक पाठविधि के अनुसार ६ठी कक्षा तक। धर्मशिक्षा–विशेष रूप से। छा० संख्या—३५०। प्रबन्धक—स्व० शंकर मल जी की पत्नी की देख रेख में एक कमेटी द्वारा। मन्त्री—म० राधेश्याम जी। शुल्क—नहीं।

१८. आर्य कन्या पाठशाला, इस्लाम नगर

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ वीं कक्षा तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या—१००, अब तक ४५ कन्यायें मिडल उत्तीर्ण हो चुकी हैं। प्रबन्धक–स्था० आ० स०। मन्त्री—ला० रामनारायण जी। मैनेजर—लाला मुरारीशरण जी। अध्यापिकायें—६। आय-व्यय—२०००) रु० वार्षिक। शुल्क—लिया जाता है।

१९. कन्यापाठशाला, गंवा

शिक्षा—कक्षा ३ तक हिन्दी भाषा तथा धर्म शिक्षा। छा० संख्या–३०। मैनेजर–बाबू रामनिवास जी। अध्यापिका—१। आय–८२।|≈)।। व्यय—७५।।)।।। शुल्क–

नहीं। डि० बोर्ड से ६) मासिक सहायता।

आगरा

२०. आर्य कन्या पाठशाला, शहजादी मंडी, आगरा छावनी

शिक्षा—लोअर मिडिल (हिन्दी) कक्षा तक। धर्म शिक्षा—सन्ध्या, हवन। छा० संख्या—७५। लगभग ३०, ४० कन्याओं ने परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—आर्य समाज शिक्षा समिति। मैनेजर—श्री भगवानदास जी खन्ना। आय—५०) मासिक, व्यय—४५) रु० मासिक। शुल्क—साधारण।

२१. आर्य कन्या पाठशाला, शीतला गली आगरा

२२. आर्य कन्या पाठशाला, गोकुलपुरा आगरा

शिक्षा—कक्षा ६ तक। धर्म शिक्षा—सन्ध्या व हवन। छा० संख्या—२००। प्रबन्धक—आर्य समाज आगरा (नगर)। मंत्री—बाबू राजबहादुर। मु० अ०—श्री सौभाग्यवती जी। स० अ०—६। आय—४८७३) रु०, व्यय—५१६८) रु०। शुल्क—लिया जाता है।

मथुरा

२३. आर्य कन्या विद्यालय, मथुरा

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अपर मिडल तक तथा विद्या विनोदिनी और विदुषी परीक्षायें। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या—३६७। अब तक ४०० प्राइमरी, २५० लोअर मिडल व ४५ अपर मिडल परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी हैं। प्रबन्धक—आर्य समाज द्वारा नियुक्त उपसमिति मु० अ०—श्री कटोरी देवी जी। स० अ०—१६ तथा एक संस्कृत अध्यापक। आय—६२००||), व्यय—६३११≶)। सर्व व्यय—५०००००) रु०। शुल्क—५ वीं कक्षा से ८ वीं तक ||) मासिक शुल्क है।

बुलन्दशहर

२४. आर्य कन्या पाठशाला, खुर्जा

शिक्षा—स० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अपर मिडल तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक १६८ उत्तीर्ण। प्रबन्धक—रजिस्टर्ड ट्रस्ट। प्रधान—रा० सा० बा० श्यामलालजी। मैनेजर—श्री शिवदयालसिंह। मु० अ०—श्री० शिक्षाव्रती देवीजी। स० अ०—१०। आय ६४६७≶)। व्यय ६४६७≶) अब तक का व्यय ७३६४३|||=)। शुल्क—साधारण लिया जाता है।

२५. आर्य कन्या पाठशाला, अनूपशहर

शिक्षा—अपर मिडल तथा धर्मशिक्षा। छा० संख्या—१२५। प्रबन्धक—बोर्ड आव ट्रस्ट्रीज़। मैनेजर—बा० दुर्गाप्रसादजी। मु० अ०—श्रीमती चम्पादेवी जी। स० अ०—

४। आय-व्यय—१८००) रु० वार्षिक। शुल्क—लिया जाता है।

२६. आर्य कन्यापाठशाला, गुलावठी

शिक्षा—कक्षा ४ तक। धर्मशिक्षा—१ घण्टा प्रतिदिन। छा० संख्या—८१। अब तक १३० ने प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्थानीय आर्य समाज। मैनेजर—मा० मन्नीलालजी आर्यसेवक। आय—(सन् १९४०) ३७३) रु०। व्यय—३८६) रु०। कुल व्यय—११४७।=)। शुल्क—नहीं।

फर्रुखाबाद

२७. आर्य कन्या हाईस्कूल, फर्रुखाबाद

शिक्षा—प्रयाग विश्वविद्यालय की पाठविधि के अनुसार १० वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या—२०६। प्रबन्धक—आर्य समाज द्वारा निर्वाचित उपसमिति। मन्त्री—पं० जगदीश नारायण जी पाराशर एम० ए० वकील, मैनेजर—पं० विद्याधरजी चतुर्वेदी एडवोकेट। मु० अ०—श्रीमती सुशीलादेवी शर्मा एम०बी० टी०, टी० डी० (लन्दन) हैं। स० अ०—१४। आय—(सन् १९४०) ११४३४।) ४ पाई। व्यय—११११९॥≶)॥। शुल्क—लिया जाता है।

झांसी

२८. आर्य कन्या पाठशाला, सीपरी बाज़ार, झाँसी

शिक्षा—सरकारी पाठविधि के अनुसार ६ ठी कक्षा तक। छा० संख्या—१९०। लगभग २००० कन्यायें लाभ उठा चुकीं हैं। प्रबन्धक—स्था० आ० स०। प्रधान—लाला लड्ढाराम जी। मन्त्री—म० सोहनलाल जी आनन्द। मैनेजर—आचार्य शिवदत्त जी। मु० अ०—श्रीमती सत्यवतीजी विदुषी। स० अ०—६। आय—१२२५॥।-) १ पाई। व्यय—११६०≶) ८ पाई। कुल व्यय—१५०००) रु०। शुल्क—साधारण।

२९. आर्य कन्या पाठशाला, झाँसी

शिक्षा—कक्षा ४ तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या—८०। प्रबन्धक—आ० स०। मैनेजर—बा० ब्रजकिशोर। अध्यापिकायें—२। आय—७३१) व्यय—६६८॥।=)॥। शुल्क नहीं।

मिरजापुर

३०. आर्य कन्या पाठशाला, मिरजापुर

शिक्षा—लोअर मिडल तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छात्र संख्या—२००। लगभग ५००० ने प्राइमरी और ५०० ने लोअर मिडल उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—उप. समिति। मैनेजर—बा० ललितमोहन वर्मा। मु० अ०—श्री बलवन्ती देवी। स० अ०—७। आय—२७०९॥≶) २ पाई। व्यय—२९६३॥=)॥। शुल्क—नहीं।

जालौन

३१. आर्य कन्या हाईस्कूल, उरई

शिक्षा—हाईस्कूल तक। धर्मशिक्षा—

आवश्यक है। छात्र सं०—१३७। अब तक ५०० ने प्राइमरी, १८ ने मिडल और हाई-स्कूल की परीक्षा ६ ने उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—रजिस्टर्ड प्रबन्ध समिति। मैनेजर—श्री रमाशंकर जी। मु० अ०—स्थान रिक्त है। स० अ०—१०। आय—६०६८॥≶)॥। व्यय—६०४६॥-)। अब तक व्यय—२३७६५ रु०। शुल्क—लिया जाता है।

बांदा

३२. आर्यकन्या पाठशाला, बाँदा

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अपर मिडल कक्षा तक। धर्मशिक्षा—वैदिक धर्म विशारद की परीक्षायें। छात्र सं०—४००। प्रबन्धक—पृथक् समिति। प्रधान—श्री आनन्दी प्रसाद निगम। मन्त्री व मैनेजर—श्री गयाप्रसाद। मु० अ०—श्रीमती रामाबाई स० अ०—११। आय—५८३२॥=)। व्यय—५८३२॥=)। शुल्क—अंग्रेजी पढ़ने वाली छात्राओं से लिया जाता है।

गोरखपुर

३३. महादेवप्रसाद पोद्दार आ० क० पाठशाला, गोरखपुर

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत ८ म कक्षा तक। धर्मशिक्षा—पं० शिवशर्मा की पुस्तकें व वैदिक धर्म विशारद की परीक्षाओं की शिक्षा। छा० संख्या—३५६। सन् १९१६ से अब तक २६७० छात्र शिक्षा प्राप्त कर चुकीं। प्रबन्धक—अन्तरंग सभा, आर्यसमाज गोरखपुर। प्रधान तथा अधिष्ठाता—श्री बा० होतीलाल जी। मु० अ०—श्रीमती रूपरानी सिन्हा। स० अ०—१३ व २ अध्यापक। आय—(सन् १९४०) ७८३८) १ पाई—गत शेष १०३२≶) १ पाई व्यय—८४६२=)४ पाई। शुल्क—नहीं।

बस्ती

३४. आर्य कन्या पाठशाला, बढनी बाजार

शिक्षा—सरकारी पाठ विधि कक्षा ४ तक तथा धर्मशिक्षा। छा० संख्या—२२। प्रबन्धक—मंत्री, आर्यसमाज। अध्यापिका—श्री सरस्वती देवी। आय-व्यय—पृथक् हिसाब नहीं। शुल्क—नहीं।

३५. आर्य कन्या पाठशाला, फ़ैज़ाबाद

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अपर मिडिल तक। छा० संख्या—१२५। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। अध्यापिकायें—५। आय—गवर्नमेंट से १०२०) वार्षिक और म्युनिसिपल बोर्ड से ३००) सहायता मिलती है। व्यय—२१००) वार्षिक है। विशेष—जुलाई सन् १९२९ ई० में बा० ज्वालाप्रसाद जी रिटायर्ड पेशकार मु० रिकाबगंज, फैजाबाद निवासी के २०००) रु० दान से स्थापित हुई।

हरदोई

३६. आर्य कन्या पाठशाला, (हाई स्कूल) हरदोई

शिक्षा—प्रयाग विश्व विद्यालय की पाठविधि के अनुसार १० वीं कक्षा तक, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी तथा उर्दू भी। **धर्म शिक्षा**—धर्मशिक्षा १० भाग व साप्ताहिक सत्संग। **छा० संख्या**— २६५। **प्रबन्धक**— आर्यसमाज द्वारा निर्वाचित समिति। **अध्यापिका**—१५ हैं। ८ ट्रेंड और ७ अनट्रेंड हैं। **आय**—(१६३६—४०) १११६६।॥)। । **व्यय**—१२५६८।) प्रारम्भ से अब तक का व्यय—६६४३२॥=)८। **शुल्क**—लिया जाता है।

३७. सरस्वती विद्यालय, नरही, लखनऊ

शिक्षा—सं० शि० वि० द्वारा स्वीकृत अष्टम कक्षा तक। **धर्म शिक्षा**—आवश्यक, **छा० संख्या**—६५८। **प्रबन्धक**—विशेष समिति। **मु० अ०**—श्री अन्नपूर्णा देवी टांगड़ी, बी० ए० (प्रतिष्ठित) शास्त्राणी। **स० अ०**—७। **आय**—४८६५=) **व्यय**—४६-२१॥)॥। **कुल व्यय**–६०४७॥=)। **शुल्क**—लिया जाता है।

३८. आर्य कन्या पाठशाला, बहराइच

शिक्षा—लोअर मिडिल तक। **धर्मशिक्षा**—आवश्यक। **छा० संख्या** २०६। ४०० ने अपर प्राइमरी, १५० ने लोअर मिडिल और ४० ने अपर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। **प्रबन्धक**—समाज की शिक्षासमिति। **प्रधान**—म० श्यामलाल जी बी. ए., एल. एल. बी.। **मन्त्री**—म० सत्यनारायण जी। **मैनेजर**—म० मथुराप्रसाद जी टंडन। **आय-व्यय** ३०००)। **कुल-व्यय**—४००००)। **शुल्क**—लिया जाता है। **मु० अ०**—श्रीमती शशिकला शुक्ला। **स० अ०**—७।

इनके अतिरिक्त महादेवी क० पा० (देहरादून), आ० क० पा० नगला खतौली (सहारनपुर), तीतरों, (स०) फलाबाद, सरधना, मुरादनगर (मेरठ)। मुजफ्फरनगर, दूधली, स्त्री सुधार विद्यालय बरेली, मैनपुरी, वैदिक क० पा० गजरौला, धामपुर, बिसौली पीलीभीत, इटावा, हमीरपुर (झाँसी), स्त्री आदर्श महाविद्यालय बनारस, हलद्वानी, रामनगर, समेसी, टांडा (फैजाबाद, लखीमपुर, बहराइच, मुरादाबाद, अमरोहा, तुलसीदेवी आ० क० पा० नवाबगंज, छतरपुर (म० भा०) आदि पाठशालाओं का आर्य जगत् से सम्बन्ध है।

राजस्थान व मालवा

अजमेर

१. मथुराप्रसाद गुलाबदेवी आ०क० पाठशाला, कैसरगंज अजमेर

पूर्व इतिहास—सं० १६५५ वि. में श्री

बाबू मथुराप्रसाद जी माहेश्वरी भट्टड़ ने इसका अपने घर पर ही आरम्भ किया। सं. १९६६ वि. में उनके देहान्त के पश्चात् दो वर्ष तक उनकी सुयोग्या धर्मपत्नी श्रीमती गुलाब देवी जी ने अकेले ही इसे चलाया। सन् १९११ (सं० १९६८ वि०) में इसका प्रबन्ध श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा को सौंपा गया। सन् १९-३२ ई. से एक पृथक् स्वतंत्र कमेटी के अधीन है। १९४० ई. से इस पाठशाला का **प्रबन्धक**—'श्री मथुराप्रसाद गुलाबदेवी आर्य-कन्या पाठशाला ट्रस्ट है जो एक रजिस्टर्ड संस्था है।

शिक्षा—सरकारी शिक्षा विभाग की लोअर मिडिल तक, तथा विद्या विनोदनी, विदुषी एवं वैदिक धर्म विशारद परीक्षाओं की पाठ-विधि। **धर्म शिक्षा**—विशेष पाठविधि, साप्ताहिक सत्संग, चरित्रगठन पर विशेष ध्यान, सीना पिरोना आदि शिक्षा भी। **छा०संख्या**—३२२। **प्रबन्धक**—ट्रस्ट के आधीन। **प्रधान**—रा०ब० पं० मिट्ठनलालजी भार्गव एडवोकेट। **मन्त्री**—श्री श्यामसुन्दरलालजी गुप्त। **शिक्षक वर्ग**—श्री गुलाबदेवीजी आचार्या, व श्रीमती जवाहरदेवीजी मुख्याध्यापिका। **स० अ०** ६। **आय**—मकान किराए से ४२॥) मासिक, ब्याज से २५) मासिक और चन्दे से ४०) मासिक। शेष दान से। **व्यय**—२ सौ रुपये मासिक। आय (१९४०) १२८७॥।-) ११ पाई **व्यय**—१९२९।-)१। **सम्पत्ति**—११३९.३॥।-) ५ नक़द व भवन लागत लगभग ४००००) रु० एक मकान ७५००) लागत का। **शुल्क**—नहीं लिया जाता, अपितु निर्धन कन्याओं को पुस्तकें विद्यालय की ओर से दी जाती हैं।

२. गोदावरी आर्य कन्यापाठशाला, ब्यावर

शिक्षा—लोअर मिडिल (६ ठी कक्षा तक) सरकारी पाठ-विधि के अनुसार। **धर्म-शिक्षा**—प्रतिदिन पर्याप्त। **छा० संख्या**—१००। **प्रबन्धक**—आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा। **प्रधान**—कुंवर गोपाल सिंह जी। **अध्यापिकायें**—३। **आय**—श्रीमती गोदावरीदेवी के दिए हुए मकानों में लगी दुकानों की आय तथा इतना ही व्यय।

भरतपुर

३. श्री गेंदालाल आर्य पुत्री-पाठशाला, बल्लभगढ़

शिक्षा—सरकारी पाठविधि के अनुसार ४ थं कक्षा तक। **धर्म शिक्षा**—मुख्य विषय। **छा० संख्या**—१५, ८ छात्रायें उत्तीर्ण कर चुकी हैं। **प्रबन्धक**—श्री विद्याव्रत जी शास्त्री वाचस्पति। **अध्यापिका**—श्री शीलवती देवी। **शुल्क**—नहीं लिया जाता।

जयपुर

४. आर्य कन्या पाठशाला, बांदीकुई

शिक्षा—लोअर मिडिल तक। **धर्मशिक्षा**—

वैदिक रीत्यानुसार। छा० संख्या-५० । प्रबन्धक—स्था० आ० स०। मु० अ० - श्री मनफूलदेवी जी, स० अ०—श्री चिम्मनलाल जी, आय—४४०।-)। व्यय-४६३।-)॥। शुल्क-लोअर मिडिल में १म वर्ष १) मासिक और दूसरे वर्ष २) प्रति मासिक।

भोपाल

५. आर्य क० पा०, सीहोर छावनी

शिक्षा—कन्या महाविद्यालय जालंधर की पाठ विधि के अनुसार कक्षा ५ तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक है। छा० संख्या-४५। अब तक १०५ छात्रायें विद्या प्राप्त कर चुकी हैं। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। मैनेजर—श्री हरिकृष्ण जी आर्य। निरीक्षक-मा० गनपतराय जी। अध्यापिकायें — २। आय-२१५) रु० (१६२रु० ८ आने भोपाल सरकार से प्राप्त)। व्यय-२२५) रु०। कुल-व्यय लगभग-२०००) रु०। शुल्क-नहीं।

६. कन्या विद्यालय, भोपाल

शिक्षा—क० म० जालंधर के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा — आवश्यक है। छा० संख्या—१०२। अब तक ११४६ कन्यायें शिक्षा ग्रहण कर चुकी हैं। प्रबन्धक-आर्यमित्र सभा, भोपाल। प्रधान—श्री गौरीशंकरजी, मन्त्री—श्री भोगचन्द जी। अधिष्ठाता—श्री महेशलाल जी। अध्यापिकायें-४ और २ अध्यापक। आय-व्यय—(सन् १९३९-४०) = १२५७॥-)॥, कुल व्यय—२१०९२॥।)॥ शुल्क—नहीं।

इनके अतिरिक्त आर्यपुत्री पाठशाला (अजमेर), सरदारपुरा (जोधपुर) श्री गंगानगर और जोधपुर इन स्थानों में भी आर्य कन्या पाठशालायें स्थापित हैं।

बिहार प्रान्त

पटना

१. आर्य कन्या पाठशाला, बाँकीपुर

शिक्षा—इंग्लिश मिडिल स्टैन्डर्ड, ७वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा— प्रतिदिन कक्षाओं में। छा० संख्या—२०। प्रबन्धक—बाँकीपुर आर्यसमाज। प्रधान—रा. ब. व्रजनन्दन सिंह जी। मन्त्री—श्री मंगलदासदेव बी. ए. बी. एल.। अध्यापिकायें-७। आय व्यय-५८) मासिक। ५) म्युनिसिपल कमेटी से और ८) चंदे से। शुल्क—लिया जाता है।

२. आर्य कन्या पाठशाला, नौबतपुर

शिक्षा—५ वीं कक्षा तक। धर्मशिक्षा-साधारण। छा० संख्या— ६। अब तक ५०० शिक्षा प्राप्तकर चुकीं। प्रबन्धक-डिस्ट्रिक्टबोर्ड व आर्यसमाज। अध्यापिका—२।

३. आर्य कन्यापाठशाला, मुशमाघाट

शिक्षा-चतुर्थ कक्षा तक। धर्मशिक्षा-वैदिक पाठ विधि के अनुसार। छा० सं०—६५। अब तक १२५ छात्राएं शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं। प्रबन्धक-स्थानीय आर्य समाज।

प्रधान—श्री सरयूप्रसादजी, मन्त्री—श्री वैद्यनाथ शर्मा। अध्यापिका—२। शुल्क—नहीं।

४. श्रीमद्दयानन्द क० पा०, खुसरुपुर

शिक्षा—मिडिल कक्षा तक। धर्मशिक्षा—वैदिक धर्मानुसार। छा० सं०—१५०। ५०० ने प्राइमरी और ८ ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबंधक—स्थानीय आर्यसमाज। प्रधान—रायबहादुर ब्रजनंदनसिंहजी। मंत्री—रामदीन प्रसाद खुसरुपुर। अध्यापिका—६। आय-व्यय—७५०) रु०। कुलव्यय—१५०००)रु०। शुल्क—नहीं।

५. आर्य कन्या पाठशाला, परसा

शिक्षा—तीसरी कक्षा तक। धर्म शिक्षा—कन्याधर्म प्रश्नोत्तरी। छा० सं०—२४। २० ने परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज। प्रधान—श्री रामगोविन्दप्रसाद। मंत्री—श्री परमानन्दप्रसाद। अध्यापिका—श्री राजपतिदेवी जी। आय-व्यय—३००) रु० कुल व्यय—२०००) रु०। शुल्क—नहीं।

सारन

६. डी. ए. वी. आर्यकन्या विद्यालय, छपरा

शिक्षा—लोअर प्राइमरी तक। धर्म-शिक्षा—वैदिक उपदेश। छात्र सं०—७०। प्रबन्धक—कार्यकारिणी सभा, युवक संघ, साहबगंज छपरा, संरक्षक—स्थानीय आर्य समाज। शिक्षिका—२। आय—१०१)रु०। व्यय—६५), शुल्क—नहीं।

मुजफ्फरपुर

७. डी. ए. वी. कन्या पाठशाला, बैरगनिया

शिक्षा—अपर प्राइमरी तक, सरकारी शिक्षा विभाग। धर्मशिक्षा—सन्ध्या, हवन। छा० सख्या—३५, अब तक १०० ने शिक्षा प्राप्त की है। प्रबंधक—स्थानीय आर्यसमाज, अध्यापक—एक वृद्ध महानुभाव। आय-व्यय—१५०) रु०। कुल व्यय१०००) रु०, शुल्क—धनीमानी व्यक्तियोसे लिया जाता है।

गया

८. आर्य कन्याविद्यालय, गया

शिक्षा—अपर प्राइमरी तक। धर्म-शिक्षा—सन्ध्या, हवन आदि। छा० सं०—५८। प्रबन्धक—स्थानीय आर्यसमाज की उपसमिति। प्रधान—डा० पदारथलाल जी। मंत्री—श्री परेशनाथ सेनगुप्त वकील। अध्यापिका—३। आय—४१८॥≈)॥।, व्यय—४१३॥।-)॥। शुल्क—नहीं।

हजारीबाग

९. आर्यकन्या पाठशाला, धनवाद

शिक्षा—५ वीं कक्षा तक। ध० शि०—नहीं। छा० सं०—६३। ३० छात्राओं ने प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण की है। प्रबन्धक—लो० बोर्ड गिरिडीह (हजारी बाग) व्यय—४५)

रु० मासिक। कुलव्यय--८०००) रु० लगभग। अध्यापिका—३। शुल्क—नहीं।

चम्पारण

१०. आर्यकन्या पाठशाला, मलाही

शिक्षा—५ वीं कक्षा तक। ध० शि०—आवश्यक। छा० सं०-५२। प्राइमरी उत्तीर्ण १५, प्रबंधक-आर्यसमाजकी समिति। प्रधान-बा० जगन्नाथप्रसाद, मन्त्री-बा० पन्नालाल। अध्यापिका— ३। आय-व्यय— ६००), कुल व्यय—२८००) रु० शुल्क—नहीं।

सिंघभूम

११. आर्य वैदिक पाठशाला, महुलबेड़ा

शिक्षा—५ वीं कक्षा तक। सह शिक्षा। छा० सं०—१५० प्रबन्धक—आर्यसमाज जमशेदपुर। मैनेजर—मन्त्री आर्यसमाज। आय-व्यय—लगभग २०००) रु०।

१२. आर्य वैदिक पाठशाला, हरगरगुट्टु

शिक्षा—तीसरी कक्षा तक। सहशिक्षा। छा० सं०—६५। प्रबन्धक—आर्यसमाज जमशेदपुर। मैनेजर—मन्त्री आर्यसमाज। आय-व्यय—५००) रु० विशेष-इन दोनों पाठशालाओं के लिए टाटा आयरन स्टील कम्पनी जमशेदपुर ६५) रु० मासिक सहायता देती है।

इसके अतिरिक्त सिवान और मनेर में भी पाठशालायें हैं।

बंगाल आसाम

१. आर्य कन्या महाविद्यालय, कलकत्ता

विवरण प्राप्त नहीं हुआ।

२४ परगना

२. आर्यकन्यापाठशाला, काँकिनाडा

शिक्षा—आर्यकन्या महाविद्यालय कलकत्ता की पाठविधि के अनुसार। ध० शि०—वैदिक धर्मशिक्षा पाठविधि के अनुसार। छा० सं०—६२। प्रबन्धक-आर्यसमाज। प्रधान-श्यामलाल जी वर्मा। मन्त्री—श्री चन्द्रिकाप्रसाद वर्मा। मैनेजर—म० श्यामलाल जी वर्मा। मु० अ०—श्री सरयूबाला देवी जी। स० अ०—३। आय—(सन् १९४०) ४८७॥=) व्यय—६२३=)॥ शुल्क—नहीं। लाने-पहुँचाने का व्यय ॥) और ।) मासिक लिया जाता है।

मिदनापुर

३. आर्यकन्या पाठशाला, खड्गपुर

शिक्षा—क० म० जा के अनुसार ५ वीं कक्षा तक। ध० शि०—आवश्यक। छा० सं० ६१। ८ छात्राओं ने मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रबन्धक—आर्यसमाज खड्गपुर। प्रधान—डा. एम. एल. पाठक जी। मन्त्री—आँध्रसभा रत्न वि० दण्डपाणि जी। मु० अ०—श्री वसुमतीदेवी जी स० अ०—

४। आय—(अक्तूबर ३६ से सितम्बर ४० तक) ६६०||≋)। व्यय—६६४||=)। कुल व्यय—२१६२||-)। शुल्क—है।

सिंध

१. धनपतमल आर्यपुत्री पाठशाला, कराची

शिक्षा—सिन्ध शिक्षा विभाग की पाठविधि के अनुसार प्राइमरी और सैकेंडरी विभाग के ५ दर्जे तक, मैट्रिक (पंजाब) प्राइवेट रूप से। धर्मशिक्षा-आवश्यक है। छात्रसंख्या-अब तक ५००० ने प्राइमरी, १००० ने मिडिल, और लगभग १७५ ने हाई स्कूल की परीक्षा दी। प्रबन्धक—श्री आ० प्र० स० सिंध से सम्बद्ध शिक्षा पटल। प्रधान—ला० जगन्नाथ जी बी. एस. सी.। मन्त्री—डा० परमानन्द जी, एम. बी. बी. एस.। मैनेजर-श्री० माया देवी जी। प्रिंसिपल—ला० राम चन्द्रजी बी.ए. बी.टी.। स० अध्यापिकाएं—१७। आय-१२११८२) रु० व्यय-१४६६५) रु०। कुल व्यय—३ लाख रुपये के लगभग शुल्क-प्राइमरी विभाग से नहीं लिया जाता।

बम्बई

१. श्री दयानन्द पुत्री पाठशाला, टंकारा

शिक्षा-गुजरात शिक्षा विभाग के अनुसार ६ ठी श्रेणी तक। धर्म शिक्षा—आवश्यक। छा० संख्या-५०। प्रबन्धक-विशेष समिति और उसके प्रमुख। मु० अ०—श्री मती चंचल बहिन। स० अ०—मणिकलाल पाठक तथा श्रीमती शान्ता बहिन गोरधनदास। व्यय—जून सन् १६३७ से दिसम्बर सन् १६४० ई० तक व्यय=३६०००), आय-कुछ नहीं। शुल्क—नहीं।

निज़ाम राज्य

हैदराबाद

१. आर्य कन्या पाठशाला, देवीदीन बाग, हैदराबाद

शिक्षा— नागपुर विश्व विद्यालय के अनुसार प्राइमरी तक और धर्मशिक्षा। छा० संख्या-८०। १२५ छात्रायें प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण कर चुकी हैं। प्रबन्धक—आ० स० सुल्तान बाज़ार। मु० अ०—पं० धर्मदत्त जी तथा अध्यापिकायें—२। आय—५५८) रु०, व्यय- ५४४) रु०। शुल्क—नहीं।

२. आर्य कन्या पाठशाला, ध्रुवपेठ

शिक्षा—हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के अनुसार चतुर्थ कक्षा तक। धर्मशिक्षा—वैदिक सिद्धान्तों की शिक्षा। छा० सं०-४३। १७ कन्यायें चतुर्थ कक्षा उत्तीर्ण कर चुकी हैं। मैनेजर—श्री सुराजसिंहजी। अधिकारी—ठा० उमरावसिंह जी, व पं० सोहनलाल जी सिद्धान्त विशारद। मु० अ०—श्री कुन्तीदेवी जी। स० अ०—२। आय—२११||=)||, व्यय—२०१||-)५ पाई। कुल व्यय—१२५२|≋)११ पाई। शुल्क—नहीं।

३. वैदिक बालिका पाठशाला, नलगोंडा

शिक्षा–स्वतन्त्र, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ७वीं श्रेणी तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक। छा० सं०—५५। प्रधान—श्री वी० गोपाल-रेड्डी वकील। मन्त्री–श्री भद्रदेव जी उपदेशक आय—४००) रु०। व्यय—५००) रु०। शुल्क—धनीमानी १५ व्यक्तियों की कन्याओं से लिया जाता है।

४. आर्य कन्या पाठशाला, कलम

शिक्षा—सरकारी पाठ विधि के अनुसार चौथी कक्षा तक। धर्मशिक्षा—आवश्यक। छात्राओं की संख्या—१००। प्रबन्धक-स्थानीय आ० स०। मु० अ०—सौ० कमला बाई मोदी तथा ६ अध्यापिकायें। आयव्यय-५००) रु० वार्षिक। शुल्क—साधारण।

अनाथ संरक्षण, अबलाश्रम, दलितोद्धार, शुद्धि संगठन तथा अन्य सेवाकार्य

ऋषि दयानन्द ने आर्य जाति की रक्षा के महान् उद्देश्य को लेकर आर्यसमाज का कार्य क्रम अत्यन्त व्यापक और सर्वाङ्ग पूर्ण बनाया था। वेद की शिक्षाओं के मौखिक प्रचार से आरम्भ कर धीरे-धीरे आर्य समाज रचनात्मक कार्यक्रम में लगा। इस सम्बन्ध में शिक्षा सम्बन्धी गति विधि और इस क्षेत्र में कार्य करने वाली संस्थाओं का वर्णन हो चुका है।

इस प्रकरण में अनाथ बालक-बालिकाओं और निराश्रय अबलाओं के संरक्षण में व्यापृत कुछ संस्थाओं का परिचय दिया जा रहा है। दलितोद्धार, अस्पृश्यता निवारण तथा अकाल भूकम्प आदि के समय किये गये लोक सेवा के कार्य भी आर्य समाज ने खूब अपनाये हैं। जन्मना जाति-पात के विरुद्ध आन्दोलन, गुण कर्मानुसार वैदिक वर्णव्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न, अज्ञान, भ्रम या परिस्थिति तथा विधर्मियों के चंगुल में फंसकर अपना बिरादरी को छोड़ देने वालों का प्रायश्चित्त, तथा सदियों से विधर्मी बने हुओं का शुद्धि संस्कार आदि ये सब कार्य ऐसे हैं जिनका विस्तृत उल्लेख तो प्रत्येक आर्य समाज के विवरण के साथ किया गया है, कोई ही ऐसा समाज होगा जहां आवश्यकतानुसार थोड़ी-बहुत मात्रा में ये सब कार्य न होते हों। यहां हम उन संस्थाओं का विवरण देते हैं जो विशेष रूप से इन कार्यों में लगी हुई हैं।

अनाथालय

१. आर्य अनाथालय, पाटौदी हाउस देहली

स्थापना—सन् १६१६ ई० । पोष्यवर्ग—बालक ८५, बालिका ४० । शिक्षा—विद्यालय शिक्षा व बढ़ई, दर्जी, पेंटिंग आदि शिल्पों की शिक्षा। प्रबन्धक—आर्य समाज दीवानहाल देहली। आय-व्यय—१३०६५) रु० ।

२. केन्द्रीय अनाथालय, लाहौर

प्रबन्ध—पंजाब अनाथ संरक्षिणी सभा के आधीन है जो रजिस्टर्ड संस्था है। शिक्षा—स्कूल, सिलाई, हारमोनियम जिल्दसाज़ी आदि का कार्य सिखाया जाता है। प्रधान—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी और मन्त्री श्री हीरानंद जी रहे हैं।

३. आर्य अनाथालय, फिरोजपुर छावनी

स्थापना—सन् १८७७ ई० में महर्षि

स्वामीदयानन्दजी की प्रेरणा से स्थापित अनाथालय, ला० मथुराप्रसाद जी सुपरवाइज़र ने अपना एक मकान देकर इसकी नींव रखी। शिक्षा—स्कूल, दर्जी, और बढ़ई गिरी का काम सिखाया जाता है। अन्य कालेजों और स्कूलों में भी शिक्षा के लिए होनहार विद्यार्थियों को भेजा जाता है। कन्याओं का स्कूल पृथक् है और उन्हें सिलाई व दस्तकारी का काम सिखाया जाता है। प्रबन्ध—एक सभा के आधीन है जिसके अवैतनिक मन्त्री राय साहब लाला कोदूराम जी और प्रधान ला० मुकुन्दलाल जी रहे हैं।

४. आर्य अनाथालय, मुजफ्फरगढ़

स्थापना—सन् १९०४ ई० में पण्डित गंगारामजी ने स्थापित किया। सन् १९२९ई० से आर्यसमाज मुजफ्फरगढ़ के आधीन है।

५. श्री श्रद्धानन्द हिन्दू अनाथालय, रांची

पोष्य वर्ग—४० बच्चे। शिक्षा—शिल्प तथा बैंड। सम्पत्ति—भवन तथा भूमि।

६. आर्य अनाथालय, करनाल

स्थापना—संवत् १९८६ वि०। भजन-मंडली और बैंड की शिक्षा।

७. आर्य अनाथालय, मुल्तान

स्थापना—सन् १९१८ ई०। प्रबंधक—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा। शिक्षा—स्कूल और दस्तकारी शिक्षा। सम्पत्ति—भवन २१५००) का मुल्तान छावनी में तथा कुछ भूमि चक नं० ९४ मियाँ चन्नू में।

८. आर्य अनाथालय, जम्मू

स्थापना—सम्वत् १९८९ वि०। प्रबन्धक—आर्य समाज पुरानी मण्डी।

९. आर्य अनाथालय, लायलपुर
१०. आर्य अनाथालय, भिवानी
११. आर्य अनाथालय, गुजरांवाला

१२. श्री मद्दयानन्द अनाथालय, अजमेर

स्थापना—सन् १८९५ ई०। पोष्यवर्ग—प्रारम्भ में १० था, वर्तमान में १७५ बालक, बालिकायें हैं। शिक्षा—उच्चविभाग तक शिक्षा तथा औद्योगिक शिक्षा। प्रबन्धक—आर्यसमाज अजमेर। प्रधान—रा० ब० पं० मिट्ठनलाल जी भार्गव। मन्त्री—डा० एन. एन, राजपाल जी। सम्पत्ति—एकलाख से अधिक। व्यय—वार्षिक व्यय १६०००) रु०।

१३. आर्य अनाथालय, बरेली

संस्थापक—डा० श्यामस्वरूप जी सत्यव्रत। लगभग १९४०। शिक्षा—साधारण स्कूल की शिक्षा के अतिरिक्त शिल्प सिखाने का भी प्रबन्ध है।

१४. अनाथालय मिर्जापुर

स्था०—सन् १९२९ ई०। पोष्य वर्ग—

११ व्यक्ति। लगभग १६० व्यक्तियोंका उद्धार किया गया।

१५. अनाथ छात्रावास, बलिया

पोष्य वर्ग–२०।

१६. श्री मद्दयानन्द अनाथालय, आगरा

स्थापना—लगभग सं० १९५६ वि०। रजिस्टर्ड सन् १९२८ ई०। प्रबन्धक–आर्य समाज आगरा। वार्षिक व्यय–लगभग ३० हजार रु०। शिक्षा—सामान्य शिक्षा, धर्म-शिक्षा और शिल्प विद्या।

१७ से २७ तक निम्न स्थानों पर आर्य अनाथालय हैं—

लखनऊ, गंज मुरादाबाद, शाहजहाँपुर, आजमगढ़, अल्मोड़ा, सीतापुर, कालाकांकर, मिरजापुर, पडरौना (गोरखपुर), कोटद्वारा (गढ़वाल), झाँसी, सुल्तानपुर।

२८. आर्य अनाथालय, नरसिंहपुर (मध्य प्रान्त)

२९. आर्य अनाथालय, दानापुर

३०. आर्य अनाथालय, मुङ्गेर

३१. आर्य अनाथालय, मोतिहारी

३२. फतहसिंहराय आर्य अनाथाश्रम बड़ौदा

प्रबन्धक—आर्यसमाज बड़ौदा।

३३. आर्य अनाथालय, मॉडले (ब्रह्मा)

३४. आर्य समाज बुडहाउस, अनाथालय कोल्हापुर

स्थापना—सन् १९१८ ई० में श्री राजपति साहू जी महाराज द्वारा स्थापित। पोष्य वर्ग—८५। शिक्षा—स्कूल व दस्तकारी। व्यय–३०००)रु०, सम्पत्ति–२५०००)रु०।

वनिता व विधवाश्रम

१. दयानन्द साल्वेशन, मिशन होश्यारपुर (पंजाब)

स्थापना–इस संस्था की स्थापना सन् १९२४ ई० में ला० देवीचन्दजी एम. ए. के प्रयत्न से हुई।

उद्देश्य— (१) गुण्डों के हाथ से हिन्दू कन्याओं और विधवाओं का उद्धार करना और उनकी रक्षा करना (२) प्रमुख केन्द्रों में आश्रम स्थापित करना (३) अहिंदुओं को हिंदू धर्म की दीक्षा देना।

संगठन–(क) ५००० रु० एक साथ या ५ वर्ष में देने वाले सज्जन संरक्षक समझे जावेंगे। (ख) ५०० रु० एक साथ या ५वर्ष में देने वाले सज्जन आजीवन सदस्य या मिशन के उपकारी हो सकेंगे। (ग) व्यवस्थापक स्वयं और उसके मनोनीत १० सज्जन साधारण सभासद्। (घ) व्यवस्थापक की मृत्यु के पश्चात् आजीवन सदस्य १० सदस्यों को मनोनीत कर सकेंगे।

अधिकारी–(सन् १६३६) प्रधान—ला० देवीचन्द एम. ए., उप-प्रधान—१. पंडित गुरुदासराम एडवोकेट होशयारपुर २. मलिक बेलीराम एम. ए., एम. ओ. एल.। मन्त्री—चौ० नन्दनसिंह बी. ए., डी. पी. ई.। १५ अन्य अन्तरंग सदस्य।

शाखायें

१. बटाला—

प्रधान–म० प्रेमचन्द, मन्त्री—हकीम कृष्णचन्द्र लखी। कार्य—६ स्त्रियोंका उद्धार किया, ४ शुद्धियाँ कीं।

२. श्रीनगर—

प्रधान–पं० जानकीनाथजी हितैषी, मंत्री पं० जगन्नाथ जी कालिया। कार्य—२ शुद्धि। ८ विधवाओं और १ बौद्धकन्या (लद्दाख की) का उद्धार किया। विधवाओं का पुनर्विवाह कर दिया गया।

३. शुद्धिसभा अम्बाला—

प्रधान—पं० रामचन्द्र जी। मन्त्री—पुन्नूलाल जी। कार्य–२३ गूजर व १ हिन्दू कन्याओंको वापस घर पहुँचाया। ला० कर्म-चन्द्र के पुत्र पृथ्वीचन्द्र को मुस्लिम गुण्डों ने मुसलमान बना लिया था, उसे शुद्ध किया। लाडो नाम की एक मुस्लिम कन्या को मुस्लिम गुण्डों ने भगा लिया था, उसे उसकी इच्छा-नुसार वापिस घर पहुँचाया गया। धोखे से मुसलमान हुए गुरुचरणसिंह नामक एक सिख बालक को पुनः शुद्ध किया गया।

४. जम्मू—

प्रधान–ला० मानकचन्द गुजराल ठेके-दार। मन्त्री—ला० मोहनलाल।

५. स्यालकोट—

प्रधान—दीवान मुल्कराजजी एडवोकेट, मन्त्री—ला० हरबंसलाल महाजन, प्लीडर।

६. जोगेन्द्रनगर—

प्रधान–मा० अछरूसिंहजी, मन्त्री–ला० सरदारीलाल जी।

७. शेखूपुरा—

प्रधान—ला० बख्शीराम म्युनिसिपल कमिश्नर, मन्त्री–चौ० मेहरचन्दसैनी वकील।

८. लायलपुर—

प्रधान—मा० गुरुदित्ताराम वकील, मन्त्री–ला० कुन्दनलाल चोपड़ा।

९. पेशावर, छावनी

प्रधान—ला० शम्भूराम। मन्त्री—ला० तिलकराज कोहली।

१०. रामनगर (गुजरांवाला)—

प्रधान—ला० रामनारायण। मंत्री—ला० दीवानचन्द नारंग।

११. हाफिज़ाबाद—

प्रधान—मा० शिवदयालु जी, मन्त्री–डा० महेन्द्रनाथ जी।

१२. करनाल—

प्रधान—ला० मोहनलाल एडवोकेट, मन्त्री–ला० जयचन्द अग्रवाल वकील।

१३. गुरुगोविन्द सिंहसभा (कोटली लोहरां)—

१४. धारीवाल—

१५. कैथल (करनाल)—

प्रधान—श्री हरिदास जी, मन्त्री—ला० वजीरचन्द जी।

१६. कादियां (होश्यारपुर)—

प्रधान—मा० बूटाराम जी, मन्त्री—ला० जगदीश मित्र जी।

१७. मोरिंडा (अम्बाला)—

प्रधान—ला० शौकतराय जी, मन्त्री—ला० बुधराज जी।

१८. बहरामपुर (गुरदासपुर)—

प्रधान—ला० अमरनाथ जी। मन्त्री—मा० रामजीदास जी।

१९. सहारनपुर—

प्रधान—बाबू पद्मप्रसाद बी. ए. वकील, मन्त्री—ठा० लक्ष्मणसिंह वकील।

२०. देहरादून—

प्रधान—ला० चेतराम जी, मन्त्री—बाबू बिहारीलाल सेठी।

२१. फीरोजपुर—

प्रधान—रा०सा० ला० कोटूमल, मन्त्री—दीवान जगदीश सहाय साहनी।

कार्यालय

मिशन का कार्यालय आर्यसमाज मन्दिर होश्यारपुर में है।

प्रचारक—१ पं० नन्दलाल जी, २. पं० बुल्दूराम जी, ३. प० अर्जुनदेव जी, ४. पं० सत्यदेव जी, ५. पं० विद्याधर जी, ६. पं० लब्भूराम जी, ७. ला० सन्तराम जी अग्रवाल, ८. म० मानचन्दजी, ९. ला० ओम्प्रकाशजी, १०. ठा० मानसिंहजी, ११. ठा० शिवध्यान-सिंह जी और १२ ला० हरिश्चन्द्रजी विद्यार्थी बी. ए. बी. टी.।

इनके अतिरिक्त लगभग १९ महानुभाव अवैतनिक कार्यकर्ता हैं। **मनोनीत सदस्य** १० हैं। **संरक्षक** ८ हैं, **आजीवन सदस्य** २२, ५००) रु० दान देने की प्रतिज्ञा करने वाले सदस्य २२२ हैं।

कार्य—सन् १९३९ ई० में २८११ शुद्धियाँ हुईं। और ११२ स्त्रियों का उद्धार किया गया। सन् १९३४ ई० से १९३९ तक रक्षित स्त्रियों की संख्या ५६० है।

आय-व्यय — (सन् १९३९ ई०) मासिक चन्दा—३०) रु०, ब्याज ११७०।≶)८ पाई, दान—४२५२।।≶)।।।, स्थिर कोष से—३५४३।।) ७ पाई सर्वयोग=४९९६।।।) **व्यय**—८९९६।।।) रु०।

२. आर्यरक्षा समिति, प्रयाग

स्थापना—अप्रैल सन् १९३७ ई० में आर्यसमाज चौक, प्रयाग (संयुक्तप्रान्त) की देख रेख में स्थापित हुई।

उद्देश्य—(१) भूली भटकी स्त्रियों और

बच्चों को सम्बन्धियों के पास पहुँचाना। (२) भगाई गई स्त्रियों और बच्चों की खोज में सहायता देना। (३) भजन व व्याख्यानों द्वारा शुद्धि, संगठन, दलितोद्धार, गो रक्षा व अनाथरक्षा का प्रचार करना। (४) बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह, दहेज प्रथा आदि घातक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार।

अधिकारी—प्रधान—म० रामनारायणजी, **उपप्रधान**—म०ईश्वरशरणजी, **मंत्री**—म० रामदेवसिंहजी, **उपमन्त्री**—म० कन्हैयालाल जी, **कोषाध्यक्ष**—म० रामभरोसेलाल जी, **सदस्य**—१. मि० सोहनगिरीजी और २. म० उमाशंकर जी पाठक।

कार्य—इस वर्ष १६ हिन्दू देवियों को विधर्मियोंके जालसे बचाया गया। १२ देवियों को वापस घर भेज दिया गया। ४ देवियों के वारिसों के इन्कार करने पर सर गंगाराम विधवाभवन में भेजा गया।

३. आर्य विधवा-आश्रम, मोती कटरा, आगरा।

४. विधवा-आश्रम, काशी।

५. सुमित्रा आर्य अनाथालय, वासुदेवपुर मुंगेर।

६. सुमित्रा आर्य अनाथालय, भागलपुर।

७. विधवा-आश्रम आर्यसमाज मुंगेर।

८. विधवाश्रम, पटना।

९. राजस्थान वनिताश्रम, अजमेर।

१०. श्रद्धानन्द महिलाश्रम, अजमेर।

११. आर्यवनिता विश्राम आश्रम, लाहौरी गेट देहली

उद्देश्य—भूली भटकी स्त्रियों, विधवाओं व अन्य असहाय देवियों की रक्षा। **प्रबन्धक**—आर्यसमाज दीवानहाल, देहली। **आय-व्यय**—९८०) रु० वार्षिक, अधिकांश व्यय श्री सेठ जुगलकिशोर जी बिड़लाके दान भाग से चलता है।

१२. श्रद्धानन्द अनाथ वनिताश्रम, देहरादून

स्थापना—सन् १९२४ ई०। **पोष्य-वर्ग**—५५ बालिकायें व वनिता विभाग। **शिक्षा**—बेंत का सामान बनाना, खद्दर, दरी, कालीन, खेस, आसन आदि बनाना सिखाया जाता है। बैंड भी है। **बैंडसे आय**—८००) रु० वार्षिक, म्युनिसिपल सहायता ३०) रु० मासिक। **सम्पत्ति**—३५०००) रु० लागत का भवन। **प्रबन्धक**—आर्यसमाज, देहरादून (संयुक्त प्रान्त)

सर गंगाराम ट्रस्ट लाहौर के अधीन विधवा विवाह सहायक सभा और इस सभा की ओर से खुले हुए विधवा आश्रम इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। हरिद्वार, प्रयाग, रायपुर, उज्जैन, मुंगेर आदि अनेक स्थानों पर ये आश्रम खुले हुए हैं। हाँ,इन संस्थाओं का आर्यसमाज से सीधा सम्बन्ध नहीं है।

दलितोद्धार

पूर्व इतिहास

ऋषि दयानन्दने जन्ममूलक वर्ण विभाग को अशास्त्रीय सिद्ध कर अस्पृश्यताके मूल पर कुठाराघात किया था। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शूद्रों के हाथ का पका हुआ भोजन खायें। उन्होंने स्वयं एक भारी सभा में एक नाई द्वारा प्रस्तुत भोजन स्वीकार किया था। जो आर्य जाति सदियों से अपने अंगोंको काट कर फेंक देने की अभ्यासी थी, उसके इतिहास में यह एक नई बात थी। अब उसके विशाल भवन में प्रवेश और पुनः प्रवेश का द्वार भी खुल गया।

सामूहिक रूप से इस दलितवर्ग की सुधि लेने का कार्य सर्वप्रथम पं० गंगारामजी मुजफ्फरगढ़ी ने किया। आपने ओडों को आर्यसमाज में प्रविष्ट किया। इसके पश्चात् इनके लिए पाठशाला भी खोली। इन ५२ वर्षों में कितने ही ओड, पंडित, बाबू और व्यापारी बन चुके हैं—वे आर्य जाति में घुल मिल चुके हैं।

सन् १८८८ ई० में ही जिला बदायूं (संयुक्तप्रान्त) के भंवर नामक गांव में एक जाति-भ्रष्ट परिवार के पुनः प्रवेश का समाचार मिलता है।

जून १९०० में म० मुन्शीराम जी (स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी) व ला० देवराज जी के प्रयत्न से लाहौर में जालन्धर के रहतियों की सामूहिक शुद्धि हुई। लायलपुर और रोपड़ में भी यह कार्य हुआ। रोपड़ में रहातियों की शुद्धि के कारण आर्यों का बिरादरी से बहिष्कार हुआ। शहर के कुओं से पानी तक उन्हें मिलना बन्द होगया। इस कष्ट में ला० सोमनाथ की माता का देहान्त तक हो गया। मैलसी में १०० शुजाबादमें ८०० और मुजफ्फरगढ़ तथा मुल्तान समाज ने इन्हीं दिनों असंख्यों ओडों की शुद्धि की। डा० चिरंजीव भारद्वाज सन् १८९६ में बड़ौदा रियासत में प्लेग अफसर नियुक्त होकर गये। वहाँ उन्हों ने ढेढ कुलो की शुद्धि की और उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध किया।

सन् १९०९ ई० में पं० गंगाराम जी ने मुजफ्फरगढ़ में एक पाठशाला महातम लोगों की शिक्षाके लिए खोली, जिसका नाम 'आर्य मुसाफिर दलितोद्धार पाठशाला' रखा गया।

सन् १९११ ई० में नाथनशाह (सिन्ध) में वशिष्ठों की शुद्धि हुई। इस पर आर्यों का बहिष्कार हो गया। एक शुद्ध हुए वशिष्ठ भाई का यज्ञोपवीत उतार कर उसके शरीर पर जल रहे लोहे से यज्ञोपवीतका चिन्ह बना दिया गया। इस पर खूब आन्दोलन हुआ। पं० भक्तराम ने मीरपुर के इलाके में रह कर ४९ गावों को शुद्ध किया। इनमें शुद्ध हुए व्यक्तियों की संख्या १०००० थी।

गुरुदासपुर जिले की डूमनों की शुद्धि का श्रेय पं० रामभजदत्त चौधरी बी. ए. एल. एल. बी. को है। आपके प्रयत्न से १० लाख के लगभग डूमने शुद्ध हुए। इस समय उन्हें 'महाशय' कहा जाता है। इनमें कार्य के लिए 'महाशय कौमी सुधार सभा' बनी हुई है।

स्यालकोट आर्यसमाज के प्राण ला० गंगाराम बी० ए० एल० एल० बी० ने मार्च सन् १९०३ ई० में २०० मेघों को शुद्ध किया। प्रारम्भ में राजपूत लोग इससे कुछ क्रुद्ध हुए, उन्होंने मेघों पर झूठे मुकदमे चलाये—परन्तु अन्त में सत्य की विजय हुई। आर्यसमाजियों ने इनके साथ खान-पान, संस्कार और पर्वों के अवसर मिलने जुलने के बन्धन ही नहीं उड़ाये अपितु इनकी आर्थिक सहायता के लिये दस्तकारी स्कूल भी खोला। इनका नाम अब 'आर्यभक्त' रख दिया गया। सन् १९१२ ई० में इस विस्तृत कार्य को सम्भालनेके लिये 'आर्य मेघोद्धार सभा' खोली गई। बारी-दोआब नहर द्वारा सिक्त भूमियों में खानेवाल स्टेशन के समीप 'आर्यनगर' इन भक्तों के लिये ही बसाया गया है। यहाँ उनके उपयोग के लिये समाज, पाठशाला, कन्या पाठशाला, चिकित्सालय, वाटिका, सहयोगी भण्डार आदि सब व्यवस्था है।

१४ जनवरी सन् १९२३ ई० को जम्मू निवासी पं० रामचन्द्र जी का वध राजपूतों ने किया। महाशय जी दलितोद्धारके लिए अनथक कार्य करते थे। राजपूत इससे क्रुद्ध हो गये। एक दिन प्रचार-सम्मेलन से लौटते हुए उन्हें घेर लिया। परन्तु इस अमर बलिदान का फल शुभ हुआ। इसी वर्ष एक महान् शुद्धि समारम्भ हुआ। आपके वधस्थान बुटहरा पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से प्रति वर्ष मेला लगता है।

२ मार्च १९२३ ई० को सभाने प्रान्त में दलितोद्धार के कार्य के लिये 'पंजाब दयानन्द दलितोद्धार मण्डल' की स्थापना की। सन् १९२६ ई० की रिपोर्ट के अनुसार उस वर्ष तक अकेले स्यालकोट जिले में ८००० हजार चमार समाज में सम्मिलित हो चुके थे। बटवालों में भी समाज ने कार्य किया। ११ मई सन् १९३० ई० को सभा ने इस मण्डल के स्थान पर 'दयानन्द दलितोद्धार सभा की स्थापना की।

संस्थायें—

१. दयानन्द दलितोद्धार सभा, गुरुदत्त भवन, लाहौर

स्थापना—११ मई सन् १९३० ई०। प्रबन्धक—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर। रचना—१० सभासद्, अंतरङ्गसभा द्वारा निर्वाचित, तथा ११ दलितोद्धारं सभा के द्वारा। निम्न मंडल हैं। इनके नाम ये हैं:— १. जम्मू (म० अनन्तराम जी) २. गुरुदासपुर ३ कटूहा और ४ चम्बा (म० गौरीशंकरजी), ४. मुल्तान (ला० परमानंदजी)

५. फीरोजपुर (पंडित विष्णुदत्त जी बी. ए. एल. एल. बी.), ६. स्यालकोट श्री चिरंजीव बी, ए., एल. एल. बी., ७. मीरपुर, ८. हमीरपुर, ६. देवा और १० बटाला (लाला कर्मचन्द जी बी. ए. एल. एल. बी.) ११. रामसू, १२. शिमला, १३ लाहौर, १४. लुधियाना, १५. किष्टवार। कार्य—इस सभा के प्रबन्ध से सन् १६३३ तक लगभग ११५०० नर-नारियां आर्य बने।

शेष विवरण आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के विवरण में देखिये।

२. दयानन्द दलितोद्धार मण्डल पंजाब

इसका विवरण आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर के विवरण में दिया गया है।

३. मेघोद्धार सभा, स्यालकोट

स्थापना—३ मार्च सन् १६०३ ई०।

४. अ० भा० श्रद्धानन्द दलितोद्धार-सभा, देहली

स्थापना—श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी की संरक्षता में अ० भा० दलितोद्धार सभा की स्थापना हुई थी। फिर कुछ दिन सार्वदेशिक सभा के अधीन रही श्री स्वामीजी के बलिदान के पश्चात् यह सभा बन्द हो गई। पीछे से इस नये नाम से कार्य आरम्भ हुआ। सन् १६३२ ई० से यह सभा सेठ जुगलकिशोर जी बिड़ला की दानशीलता व उदारता से विशेष कार्य कर रही है।

अधिकारी—प्रधान—बा० रामलाल जी वर्मा, उप-प्रधान—१. ला० गणपतराय जी एडवोकेट, २. ला० घासीराम जी लोहिए। मन्त्री—म० कर्मचन्द जी। उप मंत्री—पं० जगतकुमार जी। कोषाध्यक्ष—ला० हरिवंश जी ठेकेदार। कार्यकारिणीके सदस्य—११।

कार्य—देहली नगर की बस्तियों तथा पंजाब व युक्तप्रांत की हरिजन बस्तियोंमें प्रचार। ईसाई बने ५० दलित भाइयों का पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश। विभिन्न आपत्तियों से दलितों की रक्षा की गई। ६ स्त्रियों की गुण्डों से रक्षा की गई। आपसी झगड़े निपटाये गये। नाना अधिकारियों तक दलितों के कष्ट पहुँचाये गये। पंचायतों और कांफ्रेंसों का आयोजन किया गया। आदिधर्मी आन्दोलन का विरोध किया गया। दलितवर्ग के विद्यार्थियों की फीस माफ कराई गई व वजीफे दिलाये गये। ५ को नौकरियां दिलाई गईं। पानी की प्याउओं पर लगी टोटियों के विरुद्ध आँदोलन किया गया। लगभग १५०० प्रतियां धार्मिक पुस्तकों की बाँटी गईं।

प्रचारक—म० बद्रीप्रसादजी, म० विजयसिंह जी, पं० यशवन्तसिंह जी, म० कन्हैयालाल जी, म० भोलासिंह जी, स्वा० गोपालानन्द जी, मा० रामदास जी, बा० धनपतसिंह जी, म० विद्यारत्नजी, बा० जगदीशचंद्र

कुमार जी व बा० तेजसिंह जी, प्रचारक कार्य करते रहे। आय–१४२०|||) रु०। व्यय–८६२।–)।

इनके अतिरिक्त निम्न संस्थायें भी कार्य करती रहीं।

१. अमृतसर अछूतोद्धार सभा, २. आर्यदलितसभा दीनानगर, ३. लाहौर मेघसभा, ४. अछूतोद्धारसभा लखीमपुर, ५. अस्पृश्यता निवारक समिति इलाहाबाद, ६. अछूतोद्धार समिति मेरठ, ७. अस्पृश्यता निवारणसंघ बिहार, ८. अछूत सेवकमण्डल आदि।

शुद्धि व संगठन

पूर्व इतिहास

कई शताब्दियों से आर्य-हिन्दू जाति के लाखों व्यक्ति मुसल्मान और ईसाइयों के माया जाल में फंसते जा रहे हैं। इनमें से एक दल तो ऐसा बन गया है जो सम्प्रति आर्य-हिन्दू-जाति के लिए हानि और भय का कारण बन रहा है, और अपने को कट्टर मुसल्मान तथा ईसाई कहने में ही अपना गौरव समझता है किन्तु उनमें अधिक संख्यक दल ऐसा भी है जो आर्य हिन्दू-जाति के विशाल-वृक्ष की छत्र-छाया के नीचे रहना ही अपने लिए हितकर समझता है। इस दल का खान-पान, रहन-सहन, भाषा-भूषा तथा आचार-व्यवहार प्रायः परम्परागत आर्य हिन्दुओं जैसा ही है। ये लोग गीता और रामायण को बड़ी रुची से पढ़ते, गंगा-जमुना में स्नान करना अपना धर्म समझते, श्री राम कृष्ण के नाम की माला जपते और गौ-ब्राह्मण में अपनी अटल श्रद्धा भक्ति रखते हैं, ऐसे लोग भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में मलकाना, अधभरिये, मूले जाट, मूले गूजर, मूले तगा, मूले इस्लाम, लाल खानी, कायम खानी, और संजोगी आदि सैकड़ों नाम से करोड़ों की संख्या में आबाद हैं, किंतु इनका दैनिक आहार-व्यवहार प्रायः मुसल्मानों से सर्वथा अलग है। इन जन्म से मुसल्मान व ईसाइयों की शुद्धि का कार्य आर्यसमाज के संस्थापक ने अपने हाथों 'उमरदीन' को अलखधारी बनाकर आरंभ किया था। सं० १६४१ वि०में आर्यसमाज अमृतसर में ४० ऐसे विधर्मियों को आर्य बनाया था। रियासत राजगढ़ में बहुत से मुसल्मान आर्य बने। उन्हीं दिनों महाराजा काश्मीर ने विधर्मी हुए हिन्दुओं को ३० बरस तक अपनी बिरादरी में वापस आने का कानून स्वीकार किया था।

आर्य पथिक पं० लेखराम जी ने अपने जीवन का लक्ष्य ही यह बनाया कि इस्लाम की वास्तविकता सामने रख उसके उपासकों को वैदिक धर्म का रास्ता बतावें। अंत में एक धर्मान्ध मुसल्मान युवकने उन्हें शहीद किया। धर्मवीर पण्डित लेखराम जी के बलिदान के पश्चात् जहां पंजाब में 'लेखराम स्मारक निधि'

और 'आर्य मुसाफिर' ने उनका कार्य जारी रखा वहां संयुक्त प्रान्त में पं० भोजदत्त जी ने सामूहिक शुद्धि का श्री गणेश किया।

राजपूत शुद्धिसभा

इस कार्य के लिए पंडित जी ने सन् १६०६ ई० में राजपूत शुद्धि सभा की स्थापना की।

किन्तु यह सभा सन् १६१० ई० तक ही जीवित रह सकी और इसने अपने जीवनकाल की अत्यल्प अवधि, दो वर्षों, में संयुक्त प्रान्तान्तर्गत जिला मैनपुरी, जिला हरदोई तथा जिला शाहजहांपुर इन चार जिलों में ढलावल, कपूरपुर, नगरिया, मोहनपुर आदि ग्रामों के लगभग ११०० व्यक्तियों (जो बडेले, चौहान, और सोमवंशी नौ-मुस्लिम राजपूत के नाम से प्रसिद्ध थे और नवाब फरुखसीयर तथा समकालीन मुस्लिम शासनकालमें बलात् व धोखेसे मुसलमान बनाये गये थे) को शुद्ध करके वेद-धर्मानुयायी बनाया और उनको आर्य जाति में दीक्षित किया।

सन् १६२२ ई० तक इन शुद्ध हुए राजपूतों की पीठ पर कोई सभा न रही। अतएव इन्हें नाना कष्ट उठाने पड़े। ३० अगस्त सन् १६२२ ई० को क्षत्रिय उपकारिणी महासभा ने आनरेबल सर महाराजा रामपालसिंह जी के. सी. आई. ई. की अध्यक्षता में निम्न आशय का प्रस्ताव पास किया—

"शाही जमाने में जो राजपूत भाई हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति से अलग हो गये या अलग कर दिये गये थे और अब पुनः अपने धर्म तथा हिन्दू बिरादरी में आना चाहते हैं उनको पुनः शुद्ध करके राजपूत हिन्दू बिरादरी में शामिल कर लिया जावे।" ३१ दिसम्बर १६२२ ई० को हिजहाईनेस राजाधिराज श्री नाहरसिंह जी के. सी. आई. ई. शाहपुराधीश के सभापतित्व में इस महासभा ने इस प्रस्ताव को अंतिम स्वीकृति दी।

इस प्रस्ताव से मुसलमान मौलवी चेत गये। वे आगरा, मथुरा और भरतपुर के मलकाना लोगों को बहकाने लगे।

भारतीय हिन्दू शुद्धिसभा

इस परिस्थिति पर विचार करने के लिये १३ फर्वरी सन् १६२३ को सब प्रान्तोंसे हिंदू सम्प्रदायों के ८५ प्रतिनिधि आगरा में एकत्र हुए और श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के सभापतित्व में 'भारतीय हिन्दू शुद्धिसभा की स्थापना की।

प्रथम अधिकारी—

प्रधान—श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी।

उपप्रधान—(१) महात्मा हंसराज लाहौर (२) बा० रामप्रसाद बी० ए० आगरा। (३) कुंवर हनुमन्तसिंह आगरा।

महामन्त्री—कुँवर माधवसिंह आगरा।

मन्त्री—(१) बा० नाथमल आगरा। (२)

म० देवप्रकाश अमृतसर। (३) चौबे विश्वेश्वर दयाल । कोषाध्यक्ष—बा० चांदमल जी बी० ए०।

अन्तरंग सदस्य—(१) श्रीराम आगरा (२) राजा नरेन्द्रनाथ लाहौर। (३) प्रो० गुलशनराय लाहौर। (४) पं० रामगोपाल शास्त्री। (५) पंडित ठाकुरदत्त लाहौर। (६) म० खुशहालचन्द लाहौर। (७) म० कृष्ण लाहौर। (८) म० नारायण स्वामी। (९) म० हरगोविन्द गुप्त कलकत्ता। (१०) कुंवर चांदकरणशारदा अजमेर। (११) बा० शालिग्राम आगरा। (१२) डा० गोकुलचन्द्र नारंग

सभा के उद्देश्य—

यद्यपि जब १३ फरवरी १९२३ ई० को सभा की स्थापना के समय सभा का उद्देश्य केवल यही था कि मलकानों को शुद्ध किया जावे और हिन्दू जाति में मिलाया जावे। किन्तु जब दिसम्बर १९२४ ई० में सभा की रजिस्ट्री हो गई तो उसके अनुसार सभा के निम्न प्रकार उद्देश्य स्वीकृत किये गये :—

(क) हिन्दू समाज से बिछुड़े हुए तथा अन्य मतावलम्बी भाइयों को पुनः हिन्दू समाज में सम्मिलित करना।

(ख) शुद्धि-क्षेत्र में प्रेम तथा धर्म का प्रचार करना।

(ग) पाठशालाओं तथा अन्य शिक्षाप्रद संस्थाओं द्वारा शुद्धि क्षेत्र में विद्यादि का प्रचार करना।

(घ) अनाथ तथा विधवाओं के धर्म की रक्षा करना।

(ङ) आवश्यकतानुसार शुद्धि-क्षेत्र में चिकित्सालय खोलना।

(च) धार्मिक ऐतिहासिक तथाअन्य पुस्तकें जो सभा के उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हों, छपवाना।

(छ) सभा के उद्देश्यों की पूर्त्यर्थ अन्यआवश्यक साधनों को काम में लाना।

सभा की रजिस्ट्री—

इस सभा की रजिस्ट्री रजिस्टरेशन एक्ट २१ सन् १८६० के अनुसार ४ दिसम्बर सन् १८२४ ई० को हो चुकी है।

मुख्य कार्यालय—

भारतीय हिन्दू शुद्धिसभा का मुख्य कार्यालय १३ फर्वरी सन् १९२३ ई० से ता० १८ मार्च १९२५ ई० तक आगरा में रहा और २० फरवरी सन् १९२५ ई० के अधिवेशन मथुरा के प्रस्तावानुसार १९ मार्च १९२५ ई० से केसरगंज लखनऊमें राजा साहब महवा की कोठी में चला गया। और वहाँ एक वर्ष रहने के पश्चात् १४ मार्च १९२६ ई० को वृहद्धिवेशन देहली के निश्चयानुसार २२ मार्च १९२६ तक देहली में परिवर्तित हो गया।

वर्तमान समय यह कार्यालय श्री जुगलकिशोर बिड़ला द्वारा प्रदत्त भवन में है, जो बिरला मिल्स सब्जी मंडी के सन्मुख स्थित है।

सभा का मुख पत्र—

शुद्धि समाचार है। यह हिन्दी भाषा में फर्वरीसन् १६२५ई० से प्रकाशित किया गया।

शुद्धि समाचार बंगला भाषा और गुजराती भाषा में कलकत्ता तथा सूरत से सभा की आधीनता में प्रकाशित होते रहे, शुद्धि समाचार की ग्राहक संख्या सभी हिन्दी मासिक पत्रों से प्रायः बहुत बढ़ी-चढ़ी हुई थी अर्थात् केवल दिल्लीसे प्रकाशित पत्र के १४ हजार ग्राहक थे। इस समय भी यह प्रकाशित हो रहा है।

कार्य विवरण—

भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा ने अपने जन्म काल से मार्च १६३१ ई० तक जो कार्य किए हैं, उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार हैं।

(१) सभा द्वारा १३ फरवरी १६२३ ई० से मार्च १६३१ ई० तक ८ वर्षों में १ लाख ८३ हजार ३४२ बिछुड़े हुए भाइयों को शुद्ध करके हिन्दू जाति में शामिल किया गया।

(२) १४५१ महिलाओं ३१५५ अनाथों की रक्षा की।

(३) साठ हजार के लगभग दलितों को विधर्मी होने से बचाया।

(४) १२७ शुद्धि सम्मेलन किये गये।

(५) १५६ पञ्चायतें कराई गईं।

(६) ८१ बड़े २ सहोभज किये गये।

(७) ४८००० रु० शुद्धि सम्बन्धी साहित्य पर व्यय किया गया।

(८) अनेक पाठशालाएं तथा औषधालय शुद्धि क्षेत्र में खोले गये।

६ दर्जनों कुयें तथा मन्दिर शुद्धि-क्षेत्र में खोले गये।

वर्तमान अधिकारी—

कार्यकर्ता प्रधान—श्री ला० नारायण दत्तजी ठेकेदार। **मन्त्री—**श्री गौरीशंकर जी।

वर्तमान कार्य आदिका शेष विवरण प्राप्त नहीं हो सका।

अ० भा० श्रद्धानन्द शुद्धिसभा

स्थापना—सन् १९३१ ई० के पश्चात् भारतीय हिन्दू शुद्धिसभा के कार्यकर्ताओं में कुछ मतभेद हो गया। २९ अप्रैल सन् १९-३४ ई०में इस नामसे एक पृथक् सभा बनाई गई, जिसके उद्देश्य निम्न प्रकार स्वीकृत हुए।

उद्देश्य—२९ अप्रैल सन् १९३४ को स्वीकृत किये गये, सभा के उद्देश्य इस प्रकार हैं—

१. हिन्दू समाजसे बिछुड़े हुए नर-नारियां एवं भिन्न मतावलम्बियों को हिन्दू समाज में सम्मिलित करना।

२. विधवाओं तथा अनाथों की रक्षा करना।

३. सभा के उद्देश्यों की पूर्त्यर्थ चिकित्सालय खोलना, धार्मिक तथा ऐतिहासिक पुस्तकें लिखना और प्रकाशित करना।

४. हिन्दू समाज की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित करना।

निर्माण व्यवस्था—यह सभा सनातन-धर्मी, आर्य समाजी, जैन, सिख और बौद्ध आदि सभी आर्य (हिन्दू) जाति के निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनी हुई एक रजिस्टर्ड संस्था है।

सभासद्—(क) इस सभा की 'स्वीकृत' शाखा-सभाओं के निर्वाचित प्रतिनिधि। प्रति बीस सभासदों का एक प्रतिनिधि होगा।

'स्वीकृत' शाखा सभाएं वे समझी जावेंगी जो अपनी समस्त आय का दशांश इस सभा को देती हों। और जिन्हें इसी आधार पर कार्यकारिणी सभा ने स्वीकार कर लिया हो।

(ख) प्रत्येक हिन्दू नर-नारी, जिसकी आयु १८ वर्ष से कम न हो और जो कम से कम १) रु० वार्षिक सदस्य-चन्दा देकर सभा के उद्देश्यो को स्वीकार करते या करती हो, और जो एक वर्ष तक सभा का सदस्य रह चुका हो या रह चुकी हो।

(ग) दानी महानुभावों के प्रतिनिधि।

(१) जो व्यक्ति इस सभा को पाच सौ या इससे अधिक रुपया दान देंगे, वे इससभा के जन्म पर्यन्त (आजीवन) सभासद् माने जावेंगे।

(२) एक सौ से पाँच सौ रुपये तक दान देने वाले १० दानी पुरुष अपने में से एक प्रतिनिधि चुन कर इस सभा में भेज सकेंगे। यह निर्वाचन भी तीसरे वर्ष हुआ करेगा।

(घ) ऐसी सभा संस्थाओं के प्रतिनिधि जिन्होंने एक साथ पांच सौ रुपये या इससे अधिक दान सभा को दिया हो।

(ङ) प्रतिष्ठित सभासद्।

प्रतिष्ठित सभासद् अपनी विशेष योग्यता के कारण इस सभा के साधारण अधिवेशन में निर्वाचित हुआ करेंगे, किन्तु प्रतिष्ठित सभासद वही स्वीकार किये जावेंगे जो सभा के उद्देश्योंको क्रियात्मकरूप में स्वीकार करते हों।

सभा की रजिस्टरी— सभा की रजिस्ट्री सन् १६३४ ई०में रजिस्ट्रेशन एक्ट नं० २१ सन् १८६० ई० के अनुसार भारत सरकार से हो चुकी है।

प्रथम निर्वाचन—सभा का पहला निर्वाचन २६ अप्रैल १६३४ ई० को भोपाल सिंह रईस मुण्डलाना के सभापतित्व में श्रद्धानन्द कार्यालय, श्रद्धानन्द बाजार देहली में हुआ।

सर्व सम्मति से प्रतिष्ठित सदस्य निर्वाचित किये गये जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

१. मेजर राजा दुर्गानारायण सिंह तिर्वा नरेश। २. आनरेबुल सर राजा रामपालसिंह के० सी० आई० ई०। ३. राजाधिराज सर उम्मेदसिंह शाहपुराधीश। ४. पं० मदनमोहन मालवीय। ५. डाक्टर बी० एस० मुञ्जे। ६. डा० गणेश दामोदर सावरकर। ७. पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति। ८. पं० दीनदयाल शर्मा व्याख्यान वाचस्पति, सनातन धर्म सभा। ६. राजा नरेन्द्र नाथ लाहौर। १०. सर गोकुलचन्द नारंग लाहौर। ११. बा० शशिधर राय प्रोफेसर लॉ कालिज कलकत्ता। १२. बाबू आनन्दप्रिय बड़ौदा। १३. कुंवर चांदकरण शारदा अजमेर। १४. चौ० नन्दलाल पटेल रईस सी०पी०। १५. सेठ लक्ष्मीनारायण गाडोदिया देहली। १६. दानवीर सेठ जुगलकिशोर बिड़ला। १७. महन्त मोहन दास रईस बार्तेलाई। १८. रायबहादुर ठा० घनश्याम सिंह रईस। १६. पं० कृष्णकांत मालवीय इलाहाबाद। २०. डाक्टर लक्ष्मीदत्त आगरा। २१. बा० जगत नारायण एम. एल. ए. पटना। २२. राजाबहादुर बृजनारायणसिंह पडरौना। २२. राजाबहादुर कुशलपाल सिंह कोटला।

सभा के पदाधिकारियों तथा अन्तरंग सदस्यों का निर्वाचन निम्न प्रकार हुआ।

प्रधान—मेजर राजा दुर्गानारायणसिंह जी तिर्वा नरेश। **कार्य कर्ता प्रधान**—श्री पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति जी प्रोप्राइटर अर्जुन। **उपप्रधान**—१. डाक्टर गणेशदामोदर सावरकर बम्बई। २. श्री पं० दीनदयाल शर्मा व्याख्यान वाचस्पति सनातन धर्म सभा। ३. श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक। ४. श्री बा० शशिधररायजी प्रोफेसर लॉ कालिज कलकत्ता। ५. डा० गोकल चन्द नारंग वजीरे पंजाब। ६. श्री चौ० नन्दलाल पटेल रईस।

प्रधान मंत्री—श्री स्वामी चिदानन्द जी संन्यासी। **मन्त्री**—१. कुँवर चाँदकरणशारदा अजमेर। २.ला० जयन्तिशरण रईस मवाना। ३. पं० वाचस्पतिमिश्र रुड़की। ४. बाबू आनन्दप्रिय जी बड़ौदा। ५. राजकुमार रणञ्जयसिंह जी अमेठी। ६. पण्डित सरजू प्रसाद जी प्रयाग। **कोषाध्यक्ष**—श्री ला० बिशनस्वरूपजी गोटे वाले देहली। **पुस्तकाध्यक्ष**—श्री डा० विद्याव्रत जी शास्त्री एच० एम० डी०।

अन्तरंग सदस्य—१२ हैं।

मुख्य-कर्यालय

सभा का मुख्य कार्यालय 'श्रद्धानन्द बाज़ार दिल्ली में है।

सभा के मुख्य कार्यालय में श्रद्धानन्द पुस्तकालय, श्रद्धानन्द शुद्धि फंड, श्रद्धानन्द मासिक समाचार पत्र, तथा प्रजा-बन्धु मासिक पत्र आदि इनके कार्यालयों के अतिरिक्त आगत अतिथि महानुभावों के लिए विश्राम आदि का प्रबन्ध भी इसी किराये के भवन में किया जाता है।

सभा के मुख्य कार्यालय में सम्प्रति (१९४० ई० में) ४ लेखक तथा एक चपड़ासी काम कर रहे हैं।

मुख्य कार्यालय से प्रति वर्ष लगभग १५ सौ चिट्ठियां बाहर और लगभग इतनी ही बाहर से कार्यालय में आती हैं।

मुख्य कार्यालय में ५२ समाचार-पत्र—हिन्दी, उर्दू, मराठी, गुजराती, सिन्धी गुरुमुखी और अंग्रेजी में आते हैं। जिनमें ४ दैनिक, १९ साप्ताहिक, २ पाक्षिक और शेष मासिक हैं।

सभा के मुख्य पत्र

देवनागरी भाषा में दो समाचार पत्र प्रकाशित हो रहे हैं। जिन में से एक का नाम "श्रद्धानन्द" और दूसरे का नाम "प्रजाबन्धु" है।

श्रद्धानन्द मासिक का प्रकाशन सन् १९३२ ई० के अक्टूबर मास से हो रहा है। १९ अप्रैल १९३४ ई० में अखिल भारतीय श्रद्धानन्द शुद्धि सभा की स्थापना होने पर, सभा की प्रार्थना पर यह पत्र सभा को दे दिया गया और उसी समय से उसको सभा का मुख्य पत्र स्वीकार कर लिया गया।

यद्यपि श्रद्धानन्द का सम्पादन सभा के प्रधान-मन्त्री स्वामी चिदानन्द सरस्वती पहिले की भाँति कर रहे हैं किन्तु सन् १९३९ ई. से इसके सम्पादन का कार्यभार डाक्टर विद्याव्रत शास्त्री एच. एम. डी. के सिपुर्द है और ये परिश्रम से इस कार्य को सम्पन्न कर रहे हैं।

सभा का दूसरा पत्र "प्रजा-बन्धु है। इस का सम्पादन इसके जन्मकाल से आज तक सभा के प्रधान-मन्त्री स्वामी चिदानन्द सरस्वती ही कर रहे हैं।

प्रजा-बन्धु का वार्षिक चन्दा सर्वसाधारण से २ रुपया ८ आना है किन्तु राजा महाराजाओं से इसका चन्दा यथा सम्मान है।

कार्य तथा कार्यकर्ता

(अप्रैल १९३४ से ३१ दिसम्बर १९४० तक)

१—४५ स्वीकृत तथा आश्रित शाखा शुद्धि सभाएँ काम करती रही हैं।

२—सभा के आधीन १९४० ई० के अंत में २३ महोपदेशक, उपदेशक तथा प्रचारक कार्य करते रहे हैं।

३—९ लाख ८९ हज़ार ७८१ मील की प्रचार यात्रा—रेल, मोटर, टांगा तथा अन्य साधनों से की है।

४—८९५२ विविध धार्मिक विषयों पर भाषण दिये और लगभग ३५ लाख नर-नारियों को शुद्धि की महत्ता आदि के रूप में

वेद-धर्म का सन्देश पहुंचाया।

५—६६५३ अहिन्दुओं को शुद्ध करके हिन्दू जाति में दीक्षित किया।

६—१६२ स्त्रियों तथा २०५ अनाथों की रक्षा की तथा उनका समुचित प्रबन्ध किया।

७—लगभग ७५०० दलितों को विधर्मी होने से बचाया।

८—शुद्ध-सुदा तथा क्रमागत हिन्दू राजपूतों में परस्पर १७ अन्तर-विवाह-संस्कार कराये।

९—६७ शुद्धि-सम्मेलन और ३५ पंचायतें कराईं।

१०—२९ बड़े २ सहभोज कराये।

११—१३००० ट्रैक्टादि शुद्धि सम्बन्धी तथा शुद्धि सहायक साहित्य भी बंटवाया।

१२—गत सात वर्षों में सभा ने अपने उद्देश्यों को सफल बनाने के लिए विविध-कार्यों में ४३९८१।||-) । व्यय किये।

सभा के उपदेशक

सभाके आधीन सन् १९४० ई० में जिन महोपदेशक, उपदेशक तथा प्रचारकों ने शुद्धि प्रचार-कार्य किया उनके नाम निम्न हैं—

सर्व श्री १. एस० सी० आनन्द। २. पं. मनुदत्त भारद्वाज। ३. पं० लक्ष्मी नारायण शर्मा। ४. एल० आर० मिश्नरी। ५. पं० द्वारिका प्रसाद। ६. बी०एन० कपूर। ७. बा. लक्ष्मी चन्द्र। ८. बा० धर्मसिंह। ९. पंडित सरजूप्रसाद। १०. पं० अम्बिका नाथ। ११. बा० गोविन्द राम। १२. ठा० रघुवीर सिंह। १३. पं० मुनिराज। १४. पं० ज्योति प्रसाद। १५. बा० सच्चिदानन्द। १६. पं० शिव नारायण। १७. डी० वी० शास्त्री। १८. पं० धर्मवीर शास्त्री। १९. पं० महावीर प्रसाद। २०. पं० ऋषिराज शर्मा। २१. सी० एल० शर्मा २२. बा० बालमुकुन्द। २३. महाशय कृष्ण वर्मा।

उपर्युक्त सूची में उन विद्वानों के नाम अङ्कित नहीं है जिन्होंने समय समय पर अपना अमूल्य समय देकर सभा की यथावसर अवैतनिक सेवायें की हैं। ऐसे सज्जनों की संख्या २७ हैं।

गत वर्ष के अधिकारी

प्रधान—मेजर राजा दुर्गानारायण सिह तिर्वा नरेश। **उप-प्रधान**—१. राजा शिवपति सिंह शाहरतगढ़ नरेश। २. ला० केशरराम नारंग। ३. पं० मनुदत्त भारद्वाज। ४. रायबहादुर इन्द्रनारायणजी। ५. रावसाहब श्रीराजसिंह। **प्रधान-मंत्री**—स्वामी चिदानन्द सरस्वती। **मन्त्री**—१. डाक्टर विद्याव्रत शास्त्री एच० एम० डी०। २. पं० मिहिरचन्द कुसुमाकर ३. ठा० मूर्तिसिह वकील। ४. पं० वाचस्पति मिश्र। ५. बा० छुटनलाल अस्थाना। ६. चौ० कालिराम बी० ए०। **कोषाध्यक्ष**—कविराज रामचन्द्र शर्मा। **पुस्तकाध्यक्ष**—पं० ऋषिदेव शास्त्री।

अन्तरङ्ग सदस्य—१२ हैं।

सामाजिक कुरीतियों का त्याग

आर्य समाजियों ने वैदिक धर्मी बन कर पहला काम यह किया कि अपनी बिरादरियों में प्रचलित कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाई, शिक्षित नवयुवकों में अपनी जाति में वर्तमान संकुचित और कुप्रथाओं के विरुद्ध जो भावना थी वह अब तक नास्तिकता अथवा ईसाइयत के रूपमें प्रकट होती थी। ऋषि के मुख से अपने धर्म की वास्तविक व्याख्या सुन कर उन्हें साहस हुआ और वे अपने ही धर्म में रह कर अब इन कुप्रथाओं के विरुद्ध खड़े हो गये। मूर्ति पूजा के खंडन से भूत-प्रेत, जादू-टोना, देवी-देवताओं आदि का खंडन तो स्वतः होरहा था सामाजिक प्रथाओं में से अब इन क्रियाओं का लोप होने लगा। विवाहों तथा बिरादरी के अन्य उत्सवों व त्यौहारों आदि में वेश्यानृत्य, मद्य व छूत आदि का सेवन एक साधारण बात थी। आर्यसमाजी नवयुवकों ने इनको मानने से इंकार कर दिया मृत्यु तथा कई अन्य अवसरों पर बिरादरी को बड़े खर्चीले भोज देने पड़ते थे, गरीब व्यक्ति को कर्जा लेकर भी यह सब करने पड़ते थे और वह इस प्रकार सदा के लिए नष्ट हो जाता था। इसी प्रकार स्त्रियों में परदे की बड़ी घातक प्रथा थी। साधारणतः लोग कन्याओं को शिक्षा देना पाप समझते थे। अधिक से अधिक आभूषण पहनना कन्या का एक आवश्यक कार्य था। प्रारम्भ के आर्य समाजियों ने अपने मां बाप और भाइयों के विरोध में खड़े रह कर भी इन कुप्रथाओं के विरुद्ध विद्रोह किया। गर्भ विवाह, बालविवाह आदि अनेक कुप्रथायें आर्य समाज की योजना में सम्मिलित रही है।

आर्य विवाह कानून

आर्य जाति की विधवाओं की अवस्था बड़ी शोचनीय थी। सन् १८५६ ई० के कानून के अनुसार विधवाओं को विवाह की आज्ञा मिल जाने पर भी उससे विधवाओं की अवस्था में कुछ विशेष सुधार नहीं होसका था। विधवाओं की संतान को उत्तराधिकार में कोई भाग न मिलने की व्यवस्था ने उनके भाग्य को जहाँ का तहां रक्खा हुआ था। ऋषि दयानन्द ने सन् १८८० ई० में पहले पहल इस बात का यत्न किया था। उन्होंने गवर्नर जनरल को एक आवेदन पत्र भेजते हुए इस बात की ओर उनका ध्यान् आकर्षित किया था। आपने यह भी लिखा कि वैदिक धर्म के अनुसार यद्यपि विधवा विवाह विहित नहीं है, तथापि नियोग की प्रथा के कारण कोई भी विधवा अनपत्यता के दुःख से दुःखी नहीं रह सकती थी। अब जहाँ विधवा विवाह कानून द्वारा वैध मान लिया गया है वहाँ विधवा विवाह कानून में ऐसा परिवर्तन होना चाहिए जिससे कि उत्तराधिकार का प्रश्न भी दूर हो जाय।

आर्य समाज ने नियोग के वैदिक-धर्म को सम्प्रति अव्यावहारिक देखकर विधवा-विवाह

के पक्ष में आन्दोलन किया। वनिताश्रम और विधवाश्रमों में विवाहेच्छु विधवाओं को कुछ समय के लिए प्रविष्ट कर उन्हें इधर-उधर भाग कर विधर्मियों के चंगुल में फंसने से बचाया।

इसके अतिरिक्त अन्तर्जातीय विवाह भी आर्यसमाज में प्रचलित होने लगे। इस दिशा में पहला पग म० मुंशीराम जी (स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजी) ने उठाया। उन्होंने अपनी पुत्री का विवाह सन् १६१० ई० से डा० सुखदेव जी जिनकी जन्म की जाति अरोड़ा थी से किया।

इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह की संतान के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी कानूनन आपत्ति थी। इस कठिनाई को दूर करने के लिये आर्य जगत् में एक आर्य विवाह कानून की आवश्यकता के लिए आंदोलन किया गया और सन् १६३६ में श्री घनश्यामसिंहजी गुप्त एम० एल० ए० (केन्द्रीय) प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा मध्य प्रान्त के बनाये मसविदे के अनुसार उनका पेश किया हुआ बिल कानून के रूपमें स्वीकृत हुआ। इस कानून की प्रतिलिपि निम्न हैः—

आर्य विवाह कानून नं० १६ सन् १६३७ ई०

आर्यसमाजियों में प्रचलित अन्तर्जातीय विवाहों का जायज होना स्वीकार करने और तत्सम्बन्धी शंकाओं को दूर करने के लिए

चूँकि हिन्दुओं के आर्यसमाजी नामक वर्ग के अन्तर्जातीय विवाह का जायज़ होना स्वीकार करने और तत्सम्बन्धी शंकाओं को दूर करने की जरूरत है इसलिए इसके ज़रिये नीचे लिखे मुताबिक क़ानून बनाया जाता हैः-

छोटा नाम और विस्तार

१. (क) यह कानून "आर्यविवाह जायज़ बनाने वाला एक्ट सन् १६३७" कहलायेगा।

(ख) यह (एक्ट) तमाम ब्रिटिश हिंदुस्तान में जिसमें ब्रिटिश बिलोचिस्तान और संथाल परगने भी शामिल हैं, लागू होगा और हिंदुस्तान के अन्य भागों में सम्राट् की समस्त प्रजा को और ब्रिटिश हिंदुस्तान के बाहर और उस पार की समस्त हिन्दुस्तानी प्रजा को भी लागू होगा।

आर्यसमाजियों का विवाह नाजायज नहीं होगा

२. बावजूद हिन्दू रीति या रिवाजके किसी विरुद्ध विधान के (हिन्दू कानून या रीति-रिवाज में कोई विधान इसके विरुद्ध रहते हुए भी) विवाह के समय आर्यसमाजी कहने वाले व्यक्तियों के बीच का कोई भी विवाह चाहे वह विवाह सम्बन्ध इस एक्ट के लागू होने के पूर्व हुआ हो या तत्पश्चात् हुआ हो, केवल इसी बात के कारण कि वे लोग किसी समय हिंदू समाज के भिन्न भिन्न जाति या भिन्न भिन्न उपजाति के थे या कि उनमें से कोई एक या दोनों ही विवाह के पूर्व किसी समय हिंदू धर्म के सिवाय किसी अन्य धर्म के थे नाजायज नहीं होगा या कभी भी नाजायज़ था (रहा हो) ऐसा नहीं माना जावेगा।

इस कानून सम्बद्ध निम्न चार घोषणा पत्र हैं:—

घोषणा पत्र संख्या १

मैं.................................... पुत्र/पुत्री म० .... जी

निवास स्थान गांव.................... तहसील.................... जिला....................

आयु............... धन्धा.................... घोषणा करता/करती हूँ कि मैं आर्यसमाजी हूँ और श्री

म०.................................... के पुत्र/पुत्री .... आयु..........

से जो आर्यसमाजी है, विवाह सम्बन्ध करना चाहता/चाहती हूं।

किसी आर्यसमाज के प्रधान या किसी और
प्रसिद्ध आर्यसमाजसभासद् के हस्ताक्षर

सूचना—आर्य सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अंतरंग सभा के ६ जनवरी सन् १९३८ ई० के प्रस्ताव के अनुसार आर्य समाज के उपनियमों में वर्णित 'आर्य सभासद्' का सम्बन्ध केवल आर्यसमाज के संगठन के साथ है, जो इस घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करेंगे वे साधारणतः आर्य समाजी समझे जायेंगे ।

घोषणा पत्र संख्या २

मैं............... .... पुत्र/पुत्री म०.................................... जी

निवास स्थान गाँव.................... तहसील.................... जिला....................

आयु.... .... धन्धा............ .... घोषणा करता/करती हूं कि ता०.................... को

स्थान पर शुद्ध होकर मैं आर्यसमाजी बन गया/गयी हूँ। और मैं घोषणा करता/करती हूं कि मैं आर्य-

समाजी हूं और म०.................................... के पुत्र/पुत्री ....

आयु............... से जो स्वयं आर्यसमाजी है विवाह सम्बन्ध करना चाहता/चाहती हूँ। शुद्धि से पहले मैं*.................... था।

किसी आर्यसमाज के प्रधान या किसी प्रसिद्ध आर्यसमाजी के हस्ताक्षर

---

*ईसाई, मुसलमान, पारसी, यहूदी आदि।

घोषणा पत्र संख्या ३

मुझ............................ पुत्र/पुत्री म० .... जी

स्थान.............. तहसील........................... जि०......................... ... के निवासी

आयु * ....धन्धा ....का विवाह सम्बन्ध ता०.....................को

श्रीमती/श्रीमान्.. पुत्र/पुत्री म० .... आयु * ....

धन्धा...................................से हुआ था मैं घोषणा करता हूँ कि उक्त विवाह सम्बन्ध के समय हम दोनों आर्यसमाजी थे और अब तक आर्यसमाजी हैं।

* इस घोषणा के समय की आयु।

स्थान..

तारीख..................................हस्ताक्षर...

१. साक्षीः—

२. साक्षीः—

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि उपरिलिखित घोषणा सत्य है और उपरि लिखित विवाह संस्कार आर्यसमाज की व्यवस्थाधीन हुआ था।

ता०......................१९ मंत्री प्रधान

आर्यसमाज

घोषणा पत्र संख्या ४

प्रमाणित किया जाता है कि श्री म०...
के सुपुत्र...निवास स्थान...
डाकखाना...जिला...प्रान्त...
का विवाह संस्कार तिथि ....वि०/ई० को
श्री म०...की
सुपुत्री...निवास स्थान...
डाकखाना...जिला...प्रान्त...
के साथ आर्य समाज...में पुरोहित
श्री ....द्वारा कराया गया।
वर-वधू के विस्तृत विवरण इस पत्र के पृष्ठ भाग पर अंकित हैं।

ह०... ह०...

प्रधान मंत्री

आर्य समाज... आर्य समाज...

ह०...

पुरोहित आर्य समाज...

नोट—इस प्रमाण-पत्र की एक प्रति आर्य समाज की फायल में रहेगी, और दूसरी प्रति वर-वधू को दी जायेगी।

जन्मना जाति-पाँति का विरोध

जन्म से ब्राह्मणादि वर्ग को जाति और उनमें फिर नाना उपजातिके अस्तित्वको मानकर विशाल आर्य जाति को छोटे-छोटे संकुचित टुकड़ोंमें बाँट देना भी एक भारी कुप्रथा थी। इस प्रकार जाति का सारा शरीर ही बिखरा पड़ा था। ऋषिने योग्यता और स्वभाव के आधार पर समाज के विभिन्न कर्तव्य-पालन की दृष्टि से वर्णव्यवस्था को तो वैदिक सिद्ध किया परन्तु केवल जन्म के आधार पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने वाले वर्णभेद को सर्वथा अशास्त्रीय जतलाया। विभिन्न जाति वालों में परस्पर एक पंक्ति में भोजन पान तक वर्जित था, विवाह सम्बन्ध तो दूर की बात थी।

आर्य शिरोमणि सभा—पंजाब के डा० चिरंजीव भारद्वाज ने इस कार्य को क्रियात्मक रूप देनेके लिये सन् १८६० ई० के लगभग इस नामकी एक सभा स्थापित की। यह सभा आर्य बिरादरी बनाने का पहिला प्रयत्न था। पीछे से इसी सभा के स्थान पर आर्य भातृसभा भी बनी जो इस उद्देश्य का स्पष्ट द्योतक था।

इसके पश्चात् जातपात तोड़ने के आन्दोलन ने बल पकड़ा और यद्यपि आर्यसमाज के संगठन में नहीं, पर इसमें बाहर एक 'जात-पात तोड़क मण्डल स्थापित हुआ। कुछ दिन इसकी खूब चर्चा रही। इस बीच अन्तर्जातीय विवाह इतने हो चुके हैं कि वस्तुतः इस कार्य की प्रेरणा के लिये पृथक् संघ या सभा की आवश्यकता नहीं रही।

इस नकारात्मक आन्दोलन की प्रतिक्रिया भी हुई। विद्वान् प्रचारकों ने इस प्रकार की आंधी में वर्णव्यवस्था को खतरे में अनुभव किया। सन् १९३४ ई० में पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार ने वैदिक वर्णाश्रम संघ स्थापित किया। इस संघकी ओरसे वैदिक वर्णव्यवस्था के स्वरूप और उसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में लेख, पुस्तकें और व्याख्यान आदि द्वारा प्रचार किया गया है। मेरठ में प्रभात आश्रम की स्थापना भी इसी संघ की ओर से की गई है, जहाँ चारों वर्णों के व्यक्तियों के निवास और उनकी उस अभिरुचि के अनुसार समाज की सेवा करनेकी व्यवस्था की है। इस योजना का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

वर्णाश्रम संघ लाहौर

यह संघ सन् १९३४ ई० में लाहौर में स्थापित हुआ। इसके संस्थापक गुरुकुल काँगड़ी से सुयोग्य स्नातक पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार हैं। इस सङ्घ का मुख्य उद्देश्य संसारमें एक नवविधानका लाना है। अर्थात् अविद्या, अभाव और अन्याय को मिटा कर ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण करना है, जिससे कि सर्वत्र नवजागरण, नव स्फूर्ति एवं सुख और शान्ति का राज्य हो।

इस नवविधानको क्रियात्मक रूप देने का एक मात्र उपाय वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की

पुनः स्थापना है। संघ की ओर से अधिकारी नवयुवकों को वर्णों और आश्रमों का वास्तविक स्वरूप समझने में और अपनी योग्यता तथा प्रवृत्ति के अनुकूल वर्ण चुनने में सहायता दी जाती है और यथायोग्य परीक्षण के पश्चात् वर्णों की दीक्षा दी जाती है।

संघकी भावीयोजना यह है कि इस प्रकार के नगर बसाए जायं, जिनमें कि आदर्श ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बसें। और जो कि वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्थाके प्रचार का केन्द्र हों। वास्तव में इस नगर का स्वरूप और इसके निवासियों का जीवन ही वैदिक वर्णव्यवस्था के प्रचारका मुख्य साधन होगा।

प्रभात आश्रम
पो० जानी, मेरठ

इस योजना के अनुसार प्रथम नगर की बीज रूप में स्थापना संयुक्तप्रान्तके मेरठ जिले में गंगा की नहर के किनारे एक आश्रम के रूप में की गई है क्योंकि यह आश्रम आदर्श नगर का बीज रूप है इसलिए इसका नाम प्रभात आश्रम रखा गया है जो कि बढ़ते-बढ़ते प्रभातनगर का रूप धारण करेगा।

इस आश्रम के लिए इर्द गिर्द के ग्रामवासियों ने लगभग२५ बीघाभूमि अपने चलते हुए खेतों में से दान दी है। श्री पं० बुद्धदेव जी की कुटिया बनकर तैयार हो गई है। एक छोटी सी गोशाला भी सिकन्दराबाद (दक्षिण) तथा आर्यसमाज देहली क्लाथ मिल के उद्योग से बन गई है। पुस्तकालय बनाने के लिये देहलीके श्री ला. रलाराम मेलारामजी ने ५०००) रु. देने का वचन दिया है। पुस्तकालय की शाला बनाने का कार्य शीघ्र ही आरम्भ किया जायेगा। पुस्तकालय के इर्द गिर्द आश्रम के प्रधान पं. बुद्धदेवजी के अतिरिक्त ७ ब्राह्मणों की कुटिया बनेंगी। जिनमें से एक-एक वेद में वर्णित निम्न सात महाविद्याओं के पण्डित होंगे। १. ब्रह्म विद्या, २. जीव विद्या, ३. प्रकृति विद्या, ४. आहार विद्या अथवा अर्थ वेद, ५. रक्षण विद्या अथवा धनुर्वेद, ६. आयुर्वेद, ७. गंधर्व वेद। इन ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्ययन अन्वेषण और अध्यापन होगा। सप्ताह में एक दिन इर्द-गिर्द के ग्रामों में साधारण ज्ञान तथा साक्षरता का प्रचार करेंगे। प्रारम्भ में आश्रम के सब ब्राह्मणों की शक्ति वेद के उन भागों के भाष्य करने में लगेगी जिन पर कि महर्षि दयानन्द भाष्य नहीं कर पाये थे। यह कार्य प्रारम्भ भो कर दिया गया है। श्री पं० बुद्धदेव जी अथर्व वेद का भाष्य कर रहे हैं जिसका प्रथम कांड शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

आठ ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस आश्रम में ११ क्षत्रिय बसाये जायेंगे। वे इतिहास राजनीति आदि का अध्ययन करेंगे और आवश्यकतानुसार देश के विभिन्न भागों में क्षात्र धर्म का प्रचार और देश, धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के उपायों का संगठन करेंगे। इसी

प्रकार २१ वैश्योंके भवन होंगे ये वैश्य अपने जीवन का लक्ष्य यह रखेंगे कि वह अधिक से अधिक धन कमावें और अपने आपको उस का प्रतिभू समझते हुए उसे नगर के हितार्थ लगादें। वैश्य लोग अपने व्यापार के लिये विदेश के भिन्न भिन्न भागों में रहेंगे। परन्तु वर्ष का कुछ भाग ये आश्रम में अवश्य व्यतीत किया करेंगे। इनके परिवार अधिक से अधिक समय वहीं रहेंगे। आश्रम में शूद्रों के कार्यों के लिये यथा सम्भव यंत्रों का प्रयोग होगा, परन्तु जिन शूद्रों का बसाना अत्यावश्यक होगा उनको खाने पीने, रहने आदि का सब सामान अन्य वर्णों के समान दिया जायगा।

आश्रम से १मील दूरी पर एक बानप्रस्थ आश्रम बनाया जायगा। यहाँ पर इस नगर के गृहस्थाश्रम से निवृत्त होने वाले बानप्रस्थ बसा करेंगे। इस वानप्रस्थाश्रम में नगर के ब्रह्मचारी शिक्षा ग्रहण करेंगे और भविष्य में यह गुरुकुल का रूप धारण करेगा।

कालान्तरमें संघ की शक्ति बढ़ जाने पर इस प्रकार के नगर भारत के प्रत्येक-प्रान्त में बनाये जायंगे। और यथाशक्ति देश देशान्तरों में भी इनकी स्थापना की जायगी। ऐसा समय आयगा जबकि इन नगरों की सफलता से प्रभावित होकर लोग स्वयं इस प्रकार के नगर बसाने लगेंगे।

स्थापना—दयानन्द बोध दिवस सन् १६-३६ ई०। प्रधान—पं० बुद्धदेवजी विद्यालंकार, मन्त्री—पं० सत्यबन्धु जी। इनके अतिरिक्त ३ और कार्यकर्ता हैं, गाँवोंमें क्षात्र धर्म और साक्षरता का प्रचार करते हैं। स्थान—मेरठ शहर से १३ मील दूर टीकरी नामक गाँव से लगभग १ मील पर। बागपत दरवाजा मेरठ शहर से गंगा की नहर पर जानी के पुल तक पक्की सड़क, यहां से २ मील पैदल व ताँगे की कच्ची सड़क है। पुलसे आश्रम के लिए ताँगे मिलते हैं। तांगे बागपत दरवाजे से भी मिल जाते हैं।

अन्य आश्रमादि संस्थायें

१. दयानन्द मठ, दीनानगर जिला गुरुदासपुर (पंजाब)

स्थापना—२३ सितम्बर सन् १६३८ ई० । **उद्देश्य**—ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यासी प्रचारकों के लिए विश्राम व स्वाध्याय का आश्रम । **संख्या**—प्रति समय २ से १५ तक रहते हैं । **अध्यक्ष व संस्थापक**—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी कार्यकर्ता प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली । **सम्पत्ति**—लगभग २००० रु० मूल्य । **कार्य**—समीपवर्ती प्रान्त में प्रचार और संस्कार तथा प्रति चतुर्मास में कथा । समीपवर्ती आर्यसमाजों के सदस्य भी सत्संग से लाभ उठाते हैं । पहले औषधालय भी था, अब नहीं है । भविष्य में शीघ्र ही पुनः खोलने का विचार है ।

२. वानप्रस्थ आश्रम, ज्वालापुर

३. वैदिक आश्रम, ऋषिकेश

इसका विवरण सार्वदेशिक आ० प्र० सभा के विवरण में देखिए ।

४. श्री वैदिक धर्म प्रचारक महामंडल खारीबावली, देहली

स्थापना— सन् १६३६ ई० में आर्यसमाज नया बाँस, देहली में स्थापित हुआ । **उद्देश्य**—वैदिक धर्म प्रचार । **सदस्य**— वेदों के मानने वाले आर्यसमाजी, सनातनी दोनों ही सदस्य हो सकते हैं । **अधिकारी**—**प्रधान**—पं० नत्थूरामजी वैद्य विशारद । **मन्त्री**—ला० रामचन्द्र गुप्त जर्नलिस्ट । **प्रचार मन्त्री**—पं० रामनारायण शर्मा सिद्धान्तरत्न । **कार्य**—सन् १६३७ ई० में कराला स्थान पर गोरक्षा सम्मेलन, १६३८ ई० में कार्यकर्ताओं द्वारा दिल्ली के प्रसिद्ध शिवमंदिर आंदोलन में भाग हैदराबाद सत्याग्रह में सक्रिय भाग, और विशेष उत्सव आदि ।

हैदराबाद में धर्म-युद्ध

हैदराबाद का धर्म-युद्ध आर्यसमाज और धार्मिक जगत् की अमर घटना है। यह युद्ध हैदराबाद राज्य में आर्यसमाजके अधिकारों और प्रचार-स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए लड़ा गया था। आर्यसमाज ने अपनी शिरोमणि सभा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा निरन्तर ६ वर्ष पर्यन्त वैध उपायों से इस समस्या के हल का यत्न किया था परन्तु जब ये उपाय निष्फल हो गए तब आर्यसमाज ने सत्याग्रह का आश्रय ग्रहण किया था। आर्य समाज के केस को साम्प्रदायिक और राजनैतिक सिद्ध करने की अनेक चालें चली गईं, उसके मार्ग को जटिल बनाने के लिए कुत्सित यत्न किए गए परन्तु आर्यसमाज का केस इतना उदात्त और सच्चा था कि ये चालें और यत्न असफल सिद्ध न हुए। इतना ही नहीं इन्होंने आर्य समाज के प्रति लोगों की सहानुभूति को घटाने के स्थान में बढ़ाया ही। आर्यसमाज के नेताओं ने प्रारंभ ही से इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि यदि किसी हिन्दू राज्य में आर्यसमाज पर इसी प्रकार की आपत्ति आती जिस प्रकार की निजाम राज्य में आई थी तो वे वहां भी इसी उपाय का आश्रय लेते।

शोलापुर में अगला क़दम

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी ६-१०-३८ की अन्तरंग सभा द्वारा इस युद्ध के संचालन का भार अपने भूतपूर्व अध्यक्ष और आर्य समाज के अग्रणी श्री पूज्य नारायण स्वामी जी पर रखा था। उन्होंने सर्वप्रथम समस्त आर्य जगत् की सम्मति ज्ञात करने के लिये दिसम्बर सन् १६३८ के अन्तिम सप्ताह में शोलापुर में आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन के करने में श्री स्वामीजी का एक अभिप्रायः यह भी था कि कदाचित् निजाम सरकार के रवैए से आर्य समाज को सत्याग्रह के लिए बाधित न होना पड़े परन्तु दुर्भाग्य से यह अभिप्राय सिद्ध न हुआ।

फलतः आर्य सम्मेलन शोलापुर को निम्न निश्चयों के द्वारा सत्याग्रह की घोषणा करनी पड़ी।

१—यह भारतवर्ष की आर्यसमाजें निजाम राज्य के अपने सहधर्मियों की सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। जहाँ साधारणतया सभी हिन्दू और विशेषतया आर्य भाई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वर्णनातीत कष्ट सहन कर

रहे हैं, यह आर्य सम्मेलन (काँग्रेस) हैदराबाद के अपने सहधर्मियों के निम्न लिखित आवश्यक अधिकारों की घोषणा करता है—

१. धार्मिक कृत्यों व उत्सव करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

२. धार्मिक प्रचार, उपदेश, कथा, प्रवचन, व्याख्यान व भजन कहने, नगर कीर्तन व जलूस निकालने, आर्य मन्दिरों का निर्माण करने, यज्ञशाला व हवन कुण्डों के बनाने, 'ओ३म् ध्वजा' लगाने, नए समाजों की स्थापना करने और वैदिकधर्म तथा वैदिक संस्कृति सम्बन्धी पुस्तकों व पत्रों के प्रकाशन करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

३. राज्य अथवा कर्मचारियों को न तो तबलीग (शुद्धि)में भाग लेना चाहिये, न उसे प्रोत्साहन करना चाहिए, न जेलों में हिन्दू कैदियों तथा स्कूलों में हिन्दू बच्चों को मुसलमान बनाया जाना चाहिए और न हिंदू अनाथ मुसलमानों के सुपुर्द किए जाने चाहिए।

४. राज्य के धर्म विभाग (सीग़ए-अमूरए मज़हबी) को बन्दकर देना चाहिये अथवा हिन्दुओं और आर्यों की धार्मिक बातों तथा मन्दिरों पर इसका कोई प्रभुत्व नहीं रहने देना चाहिए।

५. हिन्दुओं और आर्यों के मुकाबले में धर्मान्ध व साम्प्रदायिक मुस्लिम समाचार पत्रों एवं साहित्य को जो पक्षपात पूर्ण संरक्षण दिया जाता है उसे बन्द कर देना चाहिए।

६. बिना किसी मुकद्दमेके चलाये अथवा अपराध के सिद्ध किये ही आर्य उपदेशकों पर रियासत में जानेके बारेमें जो प्रतिबन्ध लगाये हैं, वे हटा दिये जावें।

७. पुलिस तथा राज्य के दूसरे कर्मचारियों द्वारा हिन्दुओं और आर्यों के मुकाबले में मुसलमानों की जो तरफ़दारी की जाती है, वह बन्द होनी चाहिए।

८. आर्य व हिन्दू बच्चों की कम से कम प्रारम्भिक (प्राइमरी) और माध्यमिक शिक्षा उनकी मातृ भाषा में होनी चाहिए, न कि उर्दू में।

९. हिन्दुओं और आर्यों के द्वारा व्यायामशाला और बालक बालिकाओं की शिक्षा-संस्थाओं जैसे पुस्तकालयों, वाचनालयों की स्थापनाओं पर कोई प्रतिबंध न होना चाहिए।

२—(अ) यतः सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा आर्य प्रतिनिधि सभा निज़ाम राज्य द्वारा गत ६ वर्षों में प्रथम प्रस्ताव में वर्णित विविध अधिकार सम्बन्धी शिकायतों के निराकरण की सभी प्रार्थनाएँ और प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं और क्योंकि निज़ाम राज्य तथा समस्त भारतवर्ष के आर्यों में इस सम्बन्ध में घोर असन्तोष फैल रहा है, इस सम्मेलन की सम्मति में अब अपनी शिकायतों के निराकरण के लिये आत्म-त्याग व दुःख-सहिष्णुता पूर्ण अहिंसात्मक सत्याग्रह के अतिरिक्त और दूसरा चारा नहीं रह गया है।

(आ) अतः यह सम्मेलन अहिंसात्मक सत्याग्रह के आन्दोलन के सञ्चालन के लिये एक "सत्याग्रह समिति" नियत करता है, जिसके प्रथम डिक्टेटर श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज होंगे और समस्त भारत की आर्य व हिन्दू जनता को आदेश करता है कि वे इस आन्दोलन को पूर्ण सहायता दें।

(इ) यह सम्मेलन श्री महात्मा नारायण स्वामी जी को अधिकार देता है कि वे इस समिति के सदस्यों की संख्या व नामावली नियत करलें।

(ई) यह सम्मेलन अपने उपर्युक्त अधिकारों की तुरन्त प्राप्तिके लिए इस समय अपने सत्याग्रह को निम्न लिखित मांगों पर केन्द्रित करता है:—

१. अन्य मतावलम्बियों के भावों का उचित सम्मान करते हुए वैदिक धर्म और संस्कृति के प्रचार एवं अनुष्ठान की पूर्ण स्व-स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

२. नये आर्य समाजों की स्थापना, नये आर्य मन्दिरों व हवन कुण्डों के निर्माण या पुराने मन्दिरों की मरम्मत करने के लिए धर्म-विभाग (सीगए-अमूरए मज़हबी) अथवा किसी अन्य विभाग की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये।

३. यह भी निश्चय हुआ कि सत्याग्रह आंदोलन को स्थगित करने का अंतिम अधिकार सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा को होगा।

३—क्योंकि यह ज्ञात हुआ है कि हमारे आन्दोलन के सम्बन्ध में मिथ्या और भ्रम पूर्ण बातें फैलाई जा रही हैं अतः यह सम्मेलन इस बात की पूर्ण घोषणा करना आवश्यक समझता है कि उद्देश्य की पवित्रता के लिए सत्य और अहिंसा का विशुद्ध रूप से पालन अत्यन्त आवश्यक है। उन सभी स्वयं सेवकों को जिन्होंने सत्याग्रह के लिये अपने नाम प्रस्तुत किये हैं अथवा आगे चलकर करेंगे यह आदेश देता है कि वे घोर से घोर आपत्तियों के उपस्थित होने पर भी मन वचन और कर्म द्वारा सत्य एवं अहिंसा के व्रत का पूर्णतया पालन करें जिससे वे अपने लक्ष्य की पूर्ति कर सकें।

४—अनेक स्थानों पर फैलाये गये भ्रमों को दूर करने के उद्देश्य से यह सम्मेलन घोषणा करता है जैसा कि हमारी मांगों के स्वरूप से भी स्पष्ट है कि हैदराबाद राज्य में आर्यसमाज़ का आंदोलन राजनैतिक व साम्प्रदायिक नहीं है किन्तु उसका लक्ष्य विशुद्ध रूप से धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति है। वस्तुतः हमें अत्यन्त प्रबल और सङ्गठित साम्प्रदायिक शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना पड़ रहा है।

५—यह सम्मेलन निज़ाम सरकार तथा स्वयं श्रीमान् निज़ाम महोदय को यदि उन्हें इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का भ्रम है, यह बतला देना चाहता है और साथही बाह्य-जगत्

पर भी प्रगट कर देना चाहता है कि पुलिस के झूठे मुकद्दमों, अत्यन्त तुच्छ गवाहियों के आधार पर न्याय विभाग भी कठोर सजाओं एवं अन्य दुर्व्यवहारों का वही परिणाम हुआ है जो प्रायः ऐसी बातों का हुआ करता है, अर्थात् राज्य की पुलिस और प्रबन्ध के अन्य महकमोंपर से हिंदुओं और आर्यों का विश्वास हट गया है और न्यायविभाग पर से भी तेज़ी के साथ उठता जा रहा है।

संघर्ष रोकने के लिये अन्तिम प्रयत्न

पूज्य नारायण स्वामी जी ने इन निश्चयों को अपने एक विशेष पत्र के साथ निज़ाम सरकार की सेवा में भेज कर प्रार्थना की कि निजाम सरकार आर्य समाज की मांग के औचित्य को अनुभव करे और आर्य समाज को सत्याग्रह की कठिन परीक्षा में पड़ने से रोके। परन्तु इस अन्तिम प्रार्थना के साथ भी वही व्यवहार हुआ और फलतः आर्य समाज को सत्याग्रह की कठिन परीक्षा में उतरना ही पड़ गया और श्री नारायण स्वामी जी ने सत्याग्रह की घोषणा करदी। साथ ही २२-१-३६ को हैदराबाद दिवस मनाने की देश की समस्त आर्य और हिन्दू जनता से अपील की एवं आर्य सम्मेलन के सत्याग्रह सम्बन्धी निश्चय पर स्वीकृत की मुहर लगाकर भावी संग्राम को हर प्रकारसे सफल बनाने का आह्वान किया। 'हैदराबाद दिवस' देश के कोने २ में अभूतपूर्व समारोह और सफलता के साथ मनाया गया। इस अवसर पर आर्य मात्र ने भावी त्याग के लिए जो उत्साह प्रदर्शित किया उससे सार्वदेशिक सभा और श्री नारायण स्वामी जी महाराज को विश्वास हो गया कि सत्याग्रह संग्राम सफल होगा।

धर्म युद्ध की प्रथम आहुति

इस प्रकार प्रोत्साहित होकर श्री पूज्य स्वामी जी महाराज ने ३०-१-३६ को कतिपय सत्याग्रहियोंके साथ युद्ध भूमि के लिए प्रस्थान किया और हैदराबाद जा पहुँचे। हैदराबाद के अधिकारी स्वामी जी महाराज को पकड़ कर राज्य की सीमा के बाहर कर गए। स्वामी जी ने पुनः सत्याग्रह किया और इस वार उन्हें पकड़कर एक साल के कारावास का दण्ड दिया।

स्वामी जी की इस सर्व प्रथम आहुति ने बिजली का काम किया। सत्याग्रह के लिए एक दम जोश फैल गया और जनता बड़े से बड़े त्याग के लिए तैयार हो गई। इतना ही नहीं वरन् युद्ध में सबसे पहले जाने और धन दान का श्रेय प्राप्त करने के लिए उतावली हो गई। स्वामी जी के सत्याग्रह करने के पश्चात् से समस्त आर्य जगत् की प्रगतियों का केन्द्र हैदराबाद का सत्याग्रह हो गया और इसकी सफलता के लिए आर्यसमाज का बच्चा २ और प्रत्येक सभा सोसाइटी यत्नशील हो गई।

समझौते की चर्चा

मार्च सन् १६३६ के अन्त में निज़ाम सरकार की ओर से समझौते की चर्चा प्रारम्भ हुई और इस विषय पर विचार करने के लिए सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की एक आवश्यक बैठक ६-४-३६ को शोलापुर में हुई। परन्तु दुर्भाग्य से निजाम सरकार के पीछे हट जाने के कारण इस चर्चा का कोई शुभ परिणाम न निकला।

आर्य समाज कठोर परीक्षण में

उस समय आर्य नेताओं का यह अनुमान ठीक था कि अब आर्यसमाज को कठोर परीक्षण में से होकर गुजरना होगा। हुआ भी ऐसा ही। निजाम सरकार का दमन-चक्र प्रबलता से घूमा परन्तु इस चक्र ने सत्याग्रह की प्रगति को धीमी करने के स्थान में वेगवान् ही बनाया। हजारों धर्मवीरों ने अपने संयम, त्याग, उत्साह और बलिदान से निजाम सरकार की चुनौती का सम्यक् उत्तर दिया। हमारे आन्दोलनको बदनाम करने और हिन्दूमुस्लिम संघर्ष के रूप में हमें निरुत्साहित करने की विविध चालें चली गईं परन्तु हमारे पक्ष की न्याय्यता इतनी अधिक अंकित हो चुकी थी और हम युद्ध की सत्यता और अहिंसा की पवित्रता की रक्षा पर इतने तुले हुए थे कि इन चालों से हमारा कुछ न बिगड़ा बल्कि हमारे कार्य को प्रेरणा ही प्राप्त हुई।

युद्ध की व्यापकता

यह युद्ध इतना व्यापक और इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उन दिनों देश की सार्वजनिक हलचलों में इसके सिवा और कोई हल-चल सर्वोपरि न थी। समस्त पत्रों में कोई विशेष चर्चा थी तो इस युद्ध की। देश के अग्रणियों की चिन्ता का कोई विषय था तो केवल यह युद्ध था। यह युद्ध और इसकी चर्चा भारत की सीमा तक ही सीमित न रही वरन् समुद्र पार पार्लियामेण्ट के भवनों तक पहुंची।

आर्यसमाज के संगठन की दृढ़ता

'आर्यसमाज मर गया है', 'आर्य समाजी झगड़ालू होते हैं' ऐसी धारणा रखने वाले देशवासियों को आर्यसमाज के इस युद्ध के उत्तम संचालन और सबसे बढ़कर आर्यसमाज के संगठनकी दृढ़ताको देखकर अपनी सम्मति बदलनी पड़ गई थी। ये मुक्तकंठ से आर्यसमाज की सजीवता को स्वीकार करके उसकी प्रशंसा करते देख पड़ते थे। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञाओं और निर्देशों को आर्य जनता ने जिस तत्परता और सम्मान के साथ ग्रहण तथा पालन किया वह इतिहास की एक वस्तु बन गई है। २००० सत्याग्रही शिविरों में पड़े हुए हैं। सार्वदेशिक सभा की आज्ञा होती है कि जब तक सभा से आज्ञा प्राप्त न हो सत्याग्रह न करो। इतनी बड़ी जोशीली जनता का रोकना, प्रबन्ध करना,

"Recreation is the Salt of Life."
DELHI
TRY LUCK
LAHORE
LUCKNOW
OMNIBUS
PESHAWAR
BENARES
CALCUTTA
When You Feel Tired
Take Your Family to OMNIBUS.
Enjoy the Game
&
Learn Wisdom thereby.
A
Unique Family Joy Game
For
Every Member of your Family.
Manufactured by
Messrs Modern Manufacturing Company,
Montgomery Street, Lyallpur. (Punjab)
For Particulars and trade enquiries,
refer to—
Messrs Sethi Brothers,
12, Todarmal Road, NEW DELHI.
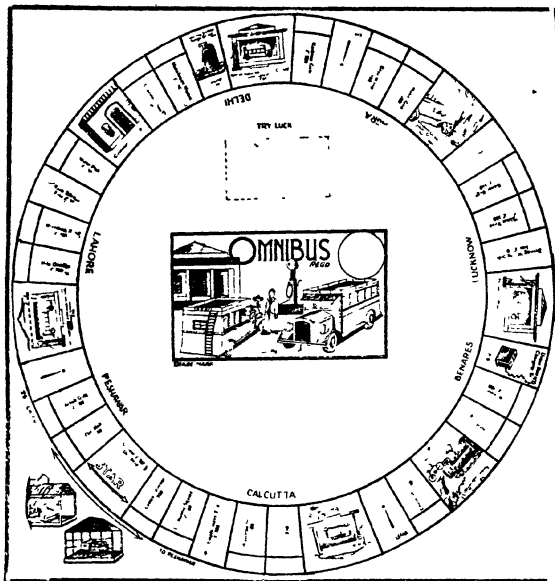
और नियंत्रण में रखना सरल कार्य नहीं है। हमारी नियंत्रण की इस भावना की अर्द्ध गोरे पत्रों तक ने सराहना की थी।

सर्व साधारण हिन्दू जनता का योग

इस प्रसंग में सर्व साधारण हिन्दू जनता का योग भी पर्याप्त मात्रा में हमें प्राप्त रहा। हिन्दू जनता ने आर्यसमाज की विपत्ति को अपनी विपत्ति समझा, और उसके निवारण में आर्यसमाजियों के साथ कन्धे मे कन्धा भिड़ाया और कौनसा त्याग था जो उसने इस अवसर पर न किया हो।

युद्ध का अन्त

जब यह सत्याग्रह भारत की सीमाओं को भी पार कर गया और सरकारी क्षेत्रों में आर्य समाज के केस की न्याय्यता और जोश प्रामाणित हो गये तब निजाम सरकार ने करवट बदली और उसे 'सुधारों' की घोषणा करनी पड़ी। यह घोषणा २० जुलाई सन् १९३९ ई. में हुई थी। सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग सभा की २५ जुलाई १९३९ की बैठक में इन सुधारों के धार्मिक भाग पर विचार हुआ और सभा ने निम्न निश्चय करके उन संदेहों के निवारण की माँग की जो उन सुधारों से सभा के माननीय अधिकारियों को प्रतीत होते थे।

सभा का निश्चय

इस संबंध में सभा की २५ जुलाई १९३९ की अन्तरंग सभा ने निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किया—

"इस सभा ने हैदराबादसरकार के १७ जुलाई के वक्तव्य तथा सुधार योजना को पढ़ा है जो उनके १२ शहरपुर १३४८ फसली के असाधारण गजट में प्रकाशित हुई हैं और जिसमें निजाम महोदय का १७ - ७ - ३९ का फरमान भो शामिल है।

"सभा, भाषण और लिखने की स्वतन्त्रता के प्रश्न से संबन्धित पैराग्राफ में जिसका आर्य समाज के साथ सीधा सम्बन्ध है यह उद्घोषित हुआ है कि अन्य कई रियासतों के सदृश सभा सोसाइटियों के निर्माण को व्यवस्थित करने वाला रियासत में कोई कानून नहीं है, अवश्य सार्वजनिक जल्सों के संबन्ध में नियम बने हुए हैं जिनका सार्वजनिक शांति के लिए पूर्णतया रद्द किया जाना संभव नहीं है। फिर भी प्रतिनिधि सतात्मक सभाओं के विकास के साथ-साथ कौंसिल की प्रबल इच्छा है कि जहां तक वर्तमान अवस्थायें आज्ञा देवें अधिक-से अधिक स्वतन्त्रता दी जाय। अतः कौंसिल का प्रस्ताव है कि वर्तमान नियम रद्द कर दिए जायें और ऐसी व्यवस्था कर दी जाय जिसके अनुसार सार्वजनिक जल्सों के संयोजकों को किसी आज्ञा के प्राप्त करने की जरूरत न रहे वरन् उन्हें केवल जिम्मेवार अधिकारी को पूर्व से सूचना देना रह जांय जिसके लिए स्थानीय अधिकारी हर प्रकार की सहूलियतें देंगे। परन्तु साथ ही

इस अधिकारी के लिए यह अधिकार सुरक्षित रहना चाहिए कि वह किसी खास मीटिंग को रोक दें परन्तु ऐसा केवल तब ही हो सकेगा जब कि उस अधिकारी की सम्मति में उस मीटिंग से सार्वजनिक शान्ति की भंग होने की आशंका हो अथवा राजा के प्रति घृणा तथा जातियों में शत्रुता बढ़ती हो। जो मीटिंग रोकी जायेगी उसके संयोजकों को अपील का अधिकार होगा।

"निजाम महोदय ने अपने फ़रमान में जिसका ऊपर जिक्र किया गया है, कौंसिल की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया है।

"यह वक्तव्य यह विश्वास दिलाने के लिए दिया गया है कि आर्य समाजी तथा निजाम महोदय की अन्य रियाया को सभा करने तथा सोसाइटी बनाने तथा चलाने का अबाधित अधिकार होगा और आर्यसमाज तथा दूसरी सोसाइटियों को सार्वजनिक जल्से करने की पूरी पूरी आजादी होगी, साथ ही इस सम्बन्ध में प्रतिबन्ध लगाने वाले सब नियम रद्द कर दिये जायेंगे। यह होते हुए भी सन्देह प्रगट किये गये हैं कि क्या इस घोषणा के अनुसार वे नियम भी रद्द हो जायेंगे जो राज्य में धार्मिक अनुष्ठानों पर पाबन्दियाँ लगाते हैं। चूँकि धार्मिक अनुष्ठानों से सम्बन्धित वर्तमान नियमों से जिनका साफ तौर पर जिक्र नहीं किया गया है इन संदेहो की कुछ पुष्टि होती है इसलिये इस सभा की सम्मति में स्थिति का स्पष्टीकरण जरूरी है।

"एडवाइजरी कमेटी के सम्बन्ध में सभा की यह दृढ़ सम्मति है कि जिस प्रकार के धार्मिक और सांस्कृतिक मौलिक अधिकारों के लिये आर्यसमाज लड़ रहा है वे तहकीकात के विषय नहीं बनाये जाने चाहिये। ऐसी एडवाइजरी कमेटरी के द्वारा तो उनकी जांच होती ही नहीं चाहिये जो रियासत के एक महकमे के साथ जुड़ी हो (प्रत्यक्षतः अमूरे-मजहबी) और जिस महकमे की केवल गुप्त रिपोर्ट देने का अधिकार हो। अतः यह सभा अपने माननीय प्रधान श्री घनश्यामसिंह जी गुप्त से, जिन्हें पहले से ही पूर्ण अधिकार दिये हुये हैं प्रार्थना करती है कि वे स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए तत्कालिक कार्यवाही करें और समय समय पर स्थिति जैसा तकाजा करे वैसा ही कार्य करें। यह सभा सत्याग्रह कमेटी को आदेश देती है कि वर्तमान में जत्थे इस समय जहां पड़े हुए हैं वहां ही ठहरे रहें और आज्ञाओं की प्रतिक्षा करें।

"हैदराबाद सत्याग्रह के लिए आर्यों और हिन्दुओं ने धन जन की सभा की अपील का बड़ा उत्साहवर्धक उत्तर दिया है इस पर यह सभा अत्यन्त सन्तोष प्रगट करती है और सेवा और त्याग भाव के लिए उन्हें हार्दिक बधाई देती है। समाचार पत्रों तथा आर्य जनता के प्रति उस सहानुभूति और नैतिक सहायता के लिए जो उन्होंने इस धार्मिक युद्ध में सभा के प्रति उदारतापूर्वक प्रदर्शित की है यह सभा

हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करती है और आशा करती है कि इस युद्ध में आगे भी वह सहायता और सहानुभूति मिलती रहेगी।"

निजाम सरकार का स्पष्टीकरण

प्रस्ताव के पश्चात् सभा और निजाम सरकार के अधिकारियों के मध्य पर्याप्त बातचीत हुई और पत्र-व्यवहार हुआ। अन्तमें ८ अगस्तको एक विशेष वक्तव्य के द्वारा निज़ाम सरकारने इन सन्देहोंका निम्न प्रकार स्पष्टीकरण किया:—

८ अगस्त का वक्तव्य—

"निजाम सरकारने अपने १७-७-३९ के वक्तव्यमें कुछ मामलों की बाबत अपनी आम स्थिति स्पष्ट की थी जिसके सम्बन्ध में भ्रम फैला हुआ था। इसके बाद सुधार योजना प्रकाशित हुई थी। इन वक्तव्यों के कुछ अंशों का कई जगहोंसे स्पष्टीकरण चाहा गया है इसलिये सर्वसाधारण की सूचना के लिये स्पष्टीकरण प्रकाशित किया जाता है।

सभाओं और संस्थाओं की स्थापना

"सभाओं और सोसाइटियों के निर्माणके सम्बन्धमें वक्तव्यमें कहा गया है सुधार योजना का यह अंश कि इसकी व्यवस्था के लिये कोई कानून नहीं है समस्त सभाओं और सोसाइटियों पर लागू होता है चाहे वे धार्मिक हों वा अन्य प्रकार की हों तथा समस्त सम्प्रदायों पर भी लागू होता है।

धार्मिक मामलों के लिये परामर्श

"वक्तव्यमें धार्मिक मौलिक अधिकारों की पहिले ही पुनर्घोषणा की जा चुकी है। धार्मिक परामर्श कमेटी का सम्बन्ध जैसा कि असाधारण गजट से जाना जा सकता है, उस रीति-नीति से होगा जिसके अनुसार कानून और व्यवस्थाके हित में धार्मिक अधिकारों से सम्बन्धित कोई कायदा कानून बनाया तथा प्रचलित किया जायगा। रिफार्म कमेटी की सिफारिशों पर सरकारने कोई सुनिश्चित आर्डर नहीं दिया है। परामर्श समिति की कार्यवाही गुप्त होनी चाहिये यह बात नियमों के लिये छोड़ दी गई है जो बनाये जायेंगे।

"ऐसे खास मामले हो सकते हैं जिनको गुप्त रखने की ज़रूरत होगी। साधारण सरकारी कार्यवाहियों में परामर्श समिति की सिफारिशें भी सम्मिलित हुआ करेंगी। यह कमेटी उन तरीकों को बतलायेगी जिनके द्वारा कानून और व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुये धार्मिक अधिकार सम्बन्धी किसी कानून और धार्मिक अधिकारों के उचित उपभोग में समय २ पर समन्वय होता रहे। यद्यपि कोई भी अधिकार कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता है तो भी सरकार की नीति जैसा कि पिछले वक्तव्यमें स्पष्ट

किया जा चुका है, यह है कि सार्वजनिक शांति की रक्षा करते हुए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाय और कायदे कानूनों को ऐसा बनाया जाय जिसे जनता को यथा सम्भव अधिक से अधिक सुविधा रहे।

सार्वजनिक और धार्मिक सभायें

"सार्वजनिक और धार्मिक सभाओं के लिये नियम अधिक उदार होंगे। यहाँ तक कि जो धार्मिक सभायें या कृत्य प्राइवेट या सार्वजनिक मकानके भीतर होंगे उनके लिये अन्य सार्वजनिक जल्सों की तरह सूचना देनेकी ज़रूरत न होगी। किसी बिल्डिंग के साथ की घिरी हुई जगह भी इस परिभाषा में आती है। यद्यपि व्यवहार में कोई कठिनाई आई हुई मालूम नहीं हुई है फिर भी गाँवोंमें इस प्रकार की जगह की दिक्कत होती है, यह स्वीकार किया जाता है। और इस आवश्यकताकी पूर्ति के लिये मुनासिब नियम बना दिये जायेंगे।

धार्मिक जलूस

"किसी जाति के धार्मिक जलूसों के सम्बन्ध में वक्तव्य का कहना है कि पहिले अवसर पर ही आज्ञा लेने की ज़रूरत होगी और सब के हित में यह अच्छा है कि सुनिश्चित आर्डर होना चाहिये जिसमें रास्ते इत्यादि का निर्धारण होगा जिससे अगले वर्षों में उसीका अनुसरण हो सके। इस सम्बन्धमें सरकारी आर्डर जारी होंगे। नियमों का उद्देश्य किसी जाति के जलूसों पर केवल इसलिये पाबन्दी लगाना नहीं है कि वे नये हैं।

आर्य मन्दिर वा सार्वजनिक उपासना गृह

"वर्तमान नियमों की दृष्टि में मुख्यतया स्थिर मकान थे जो पूजा के लिये प्रयुक्त होते हैं। यह स्वीकार किया गया है कि जातियों के रिवाज भिन्न २ होते हैं। आर्यसमाज का रिवाज इस बातमें भिन्न है कि उसकी धार्मिक सभायें—हवन, यज्ञ और सम्मिलित प्रार्थनायें—किराये के प्राइवेट मकानों में लगती हैं और इन मकानों की कोई स्थिर पवित्रता नहीं होती है और इनमें किसी समय भी साप्ताहिक सत्संगों का होना बन्द हो सकता है। साथ ही ये मकान कालान्तर में सार्वजनिक उपासना मन्दिरों का रूप ले सकते हैं। इस प्रकार के केसोंके हलके लिये सरकार यथाअवसर उचित नियम बनायेगी और इन नियमोंसे सार्वजनिक शान्ति के हित में समाजों की जगह के प्रश्न हल हो जायेंगे। यह बात वर्तमान मन्दिरों पर भी लागू होती है। जब तक कोई जाति किन्हीं मकानोंको स्थायी रूपमें धार्मिक सत्संगों के लिए प्रयुक्त करेंगी तब तक इन सत्संगो व सभाओं पर धार्मिक सभाओं और अनुष्ठानों का कोई भी नियम लागू नहीं होगा और इन के लिये आज्ञा लेनेकी ज़रूरत न होगी। परतु जो इमारतें केवल उपासना के लिये नई बनी होंगी, खरीदी गई होंगी अथवा इस कार्य में प्रयुक्त होने लगी होंगी उन पर सार्वजनिक उपा-

सना मन्दिरों पर लागू होने वाले साधारण नियम लागू होंगे।

"इन नियमों पर पहिले से ही विचार किया जा रहा है कि इन्हें सरल बना दिया जाय। देरी को रोकने के लिये ६ सप्ताह की अवधि भी नियत कर दी गई है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है इस सन्बन्ध में खास बात सार्वजनिक शान्तिके हित में समाज की जगह नियत करना ही है। इस बात पर विचार किया जा रहा है कि होम सेकेट्रयेट से इस सम्बन्ध में किस प्रकार अपील की जाय।

प्राईवेट स्कूलों का खोलना

"प्राइवेट स्कूल खोलने के सम्बन्ध में विविध क्षेत्रों से यह सुझाव मिला है कि आज्ञा लेने के स्थान में सूचना देने से महकमे की आवश्यकतायें पूरी हो जायंगी। सरकार शीघ्र ही नियमों की आम जाँच-पड़ताल करेगी तब ही इस पर पूरा २ विचार किया जायगा।

सब जातियों के बाह्य प्रचारकों के प्रवेश पर अस्थायी प्रतिबन्ध

"यह फिर दुहराया जाता है कि ऐसी आज्ञायें केवल तब तक जारी रहेंगी जब तक कि वातावरण साफ नहीं हो जाता। सरकार को पूर्ण विश्वास है कि यह सन्तोषजनक स्थिति निकट भविष्य में ही उत्पन्न हो जायगी।"

सभा का निर्णय

सभा ने नागपुर की अपनी ऐतिहासिक मीटिंग में निजाम सरकार के उपर्युक्त वक्तव्य पर विचार करके निम्न निश्चय द्वारा सत्याग्रह बन्द करने की घोषणा की:—

नागपुर आर्य सार्वदेशिक सभा की अन्तरंग द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव

१. निजाम सरकार द्वारा प्रकाशित आज की विज्ञप्ति को देखते हुए जिसमें कि सार्वदेशिक सभा द्वारा उठाए गये मुद्दों का खुलासा किया गया है और खासकर उस खुलासे में निहित समझौते की भावना को देखकर और उच्च स्थिति के जिसके सहयोग को सभा बहुत मूल्यवान समझती है सभा सत्याग्रह को जारी रखना उचित नहीं समझती है और इसके द्वारा उसको बन्द करने की घोषणा करती है। सभा सत्याग्रह कमेटी को आदेश देती है कि वह विभिन्न स्थानों पर मौजूद जत्थों को भंग करदे।

सभा की राय में उपर्युक्त वर्णित खुलासे में निजाम द्वारा माँगों को जिनकी पूर्ति के लिये सत्याग्रह छेड़ा गया था पूरा करने का ईमानदारी से प्रयत्न किया गया है। सभा ने निजाम सरकार के इरादे पर पूर्ण रूप से विश्वास करते हुए और उन घोषणाओं की उदार व्याख्या के आधार पर सत्याग्रह को जारी न रखने का आदेश देने की अपने ऊपर जिम्मेदारी ली है।

निजाम गवर्नमेंट को चुनौती देने के विचार से या उसका विरोध करने के उद्देश्य से या प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्प्रदायिक

वैमनस्य फैलाने के इरादे से आर्य सत्याग्रह शुरू नहीं किया गया था। आन्दोलन का एकमात्र उद्देश्य धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना था।

२. मूल्यवान त्याग का सर्वोत्तम परिणाम हो इसलिए सभा की रायमें आर्यों और इतर हिन्दुओं के लिये विशेष कर जो लोग निजाम के राज्य में रहते हैं अब और अधिक आवश्यक है कि वे आत्म संयम से काम लें और सच्ची धार्मिक भावना से सत्य और अहिंसा का अधिक कठोरता से पालन करें।

३. सत्याग्रह युद्ध के समय भारत के समाचार पत्रों द्वारा स्वेच्छापूर्वक जो सहायता दी गई है उसको सभा कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार करती है सभा को पूर्ण विश्वास है कि भविष्य में धार्मिक स्वतंत्रता के पक्ष में उनका मूल्यवान् समर्थन सदा प्राप्त होगा।

सभा उन लोगों के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित करती है जिन्होंने आन्दोलन की धन व अन्य प्रकार से सहायता की है। सभा भारत व विदेशों के सब आर्यों की ओर से उन शहीदोंके प्रति अपनी सम्मान पूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करती है जिन्होंने वैदिक धर्म के लिए अपने प्राण उत्सर्ग किये हैं।

सभी डिक्टेटरों और अन्य सत्याग्रहियों को जिन्होंने कि वैदिक धर्म के खातिर सब प्रकार के कष्ट सहे और हैदराबाद की जेल में कठोर जेल जीवन बिताया बधाई देती है।

धर्म युद्ध को सफल बनाने के लिए आर्य समाजियों, हिन्दुओं, सिक्खों व अन्यों ने जो सहायता दी उस पर सभा अपना सन्तोष प्रकट करती है।

प्रतिनिधि गण लो० अणे के प्रति आंदोलन को मूल्यवान् नेतृत्व और पथ प्रदर्शन प्रदान करने के लिये हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं।

यहाँ जमा हुए आर्य प्रतिनिधि गण सत्याग्रह आन्दोलन को सफलता पूर्वक समाप्ति तक पहुंचाने के लिये श्री घनश्यामसिंह गुप्त और श्री देशबन्धु गुप्त द्वारा की गई मूल्यवान् सेवाओं की सराहना करते हुये कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं।"

निजाम सरकार ने १७ अगस्त को निजाम महोदय के वर्षगांठ के उपलक्ष्य में समस्त सत्याग्रहियों को मुक्त किया और उनका मार्ग व्यय भी दिया। सभा ने भी आवश्यकतानुसार इस सम्बन्ध में काफी व्यय किया।

सत्याग्रह के अधिनायक

इस धर्म युद्ध के मुख्य नायक श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज कार्य कर्ता प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा रहे। आप प्रारम्भ से अन्त तक प्रधान शिविराध्यक्ष रहे। तथा समय समय पर निम्न सर्वाधिकारियों ने सत्याग्रह का नेतृत्व किया।

१. प्रथम सर्वाधिकारी—श्री महात्मा नारायण स्वामीजी, २. कुंवर चान्द करणजी शारदा (राजस्थान), ३. श्री लाला खुशहालचन्द पंजाब, ४. श्री राजगुरु पं० धुरेन्द्र शास्त्री संयुक्तप्रांत, ५. पं० वेदव्रत (बिहार), ६. श्री म० कृष्ण जी (पंजाब), ७. श्री पं० ज्ञानेन्द्र जी (गुजरात), ८. श्री विनायक राव (निजाम स्टेट)।

प्रान्तवार सत्याग्रहियों की संख्या

सत्याग्रहियों की सूची के अनुसार जो युद्ध केन्द्रों में तैयार की गई थी, १०५७६ सत्याग्रही जेल गये थे। उनकी सूची प्रान्तवार इस प्रकार है:—

प्रान्त	संख्या
१. पंजाब, सीमाप्रात, काश्मीर तथा देहली	३१५७
२. संयुक्तप्रान्त	२०८५
३. राजस्थान, मालवा तथा मध्यप्रांत	४४७
४. बिहार	३३१
५. बंगाल	२०२
६. मध्यप्रान्त तथा बरार	५७५
७. बम्बई प्रान्त	२४१
८. सिन्ध प्रान्त	१६४
९. मद्रास प्रान्त	६६
१०. ब्रह्मा	१५
११. आसाम	७
१२. निजाम राज्य	३२४६
	१०५७६

इसके अतिरिक्त २००० सत्याग्रही वे थे जो ८-८-३९ से पूर्व केन्द्रों में पहुंच गये थे और सार्वदेशिक सभा की आज्ञाओं की प्रतीक्षा में थे।

व्यय—इस धर्मयुद्ध में आर्यजगत् का लगभग ११ लाख रुपया व्यय हुआ।

हुतात्माओं की सूची—आर्यजगत् ने किस प्रकार न केवल धन अपितु अपने प्राणों तक की बाज़ी इस युद्ध में लगादी थी, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इस थोड़े से समय में २८ व्यक्तियों ने जेल यातनाओं के कारण परलोक यात्रा की। इनकी सूची निम्न है:—

क्रम सं०	नाम हुतात्मा	पिता का नाम
१.	श्री पं० श्यामलाल जी	श्री पं० भोलानाथ जी
२.	श्री परमानन्द जी	श्री गोकुल प्रसाद जी
३.	श्री वैंकट राव जी	
४.	श्री स्वामी सत्यानन्द जी	
५.	श्री विष्णु भगवन्त जी	
६.	श्री छोटेलाल जी	श्री सुमोखेप्रसाद जी
७.	श्री माधोराव जी	श्री सदाशिव राव जी
८.	श्री पांडुरङ्ग जी	
९.	श्री नन्नूसिंह जी	श्री गणेशसिंह जी
१०.	श्री सुनहरासिंह जी	श्री चौ० जगराम जी
११.	श्री वैजनाथ प्रसाद जी	श्री धरीक्षण प्रसाद जी
१२.	श्री फकीरचन्द जी	श्री बालाराम जी
१३.	श्री मलखानसिंह जी	श्री बलबीरसिंह जी
१४.	श्री स्वा० कल्याणानन्द जी	श्री गुरु ओंकार सच्चिदानन्द जी
१५.	श्री शान्तिप्रकाश जी	श्री रामरतन जी शर्मा
१६.	श्री मातूराम जी	श्री चौ० गूगनराम जी
१७.	श्री भक्त अरूढ़ामल जी	
१८.	श्री लक्ष्मणराव जी	
१९.	श्री राधाकृष्ण जी	श्री जीतमल जी
२०.	श्री सदाशिव जी पाठक	श्री विश्वनाथ जी
२१.	श्री बदनसिंह जी	श्री ठा० टीकासिंह जी
२२.	श्री रतिराम जी	श्री मुसद्दीलाल जी
२३.	श्री पुरुषोत्तमदास जी ज्ञानी	श्री जगन्नाथ जी
२४.	श्री अशरफीलाल जी	श्री फिरङ्गीशाह जी
२५.	श्री ताराचन्द जी	श्री चौ० केहरीसिंह जी
२६.	श्री रामनाथ जी	श्री मोतीभाई रणछोड़ जी
२७.	श्री गोविन्द राव जी	श्री लक्ष्मण राव जी
२८.	श्री ब्रह्मचारी दयानन्द जी	श्री रघुनन्दन शर्मा

निवासस्थान	मृत्यु स्थान	ता० मृत्यु	क्रम सं०
उदगीर (निजाम राज्य)	बीदर	१६-१२-३८	१
हरिद्वार (यू० पी०)	हैदराबाद	१-४-३६	२
निजाम राज्य	निजामाबाद	८-४-३६	३
बंगलौर (मैसूर)	हैदराबाद	२७-४-३६	४
तांडूर (निजाम राज्य)	हैदराबाद	१-५-३६	५
अलालपुर (मैनपुरी यू० पी०)	गुलबर्गा	३-५-३६	६
लातूर (निजाम राज्य)	गुलबर्गा	२६-५-३६	७
उस्मानाबाद (निजाम राज्य)	गुलबर्गा	२७-५-३६	८
अमरावती (बरार)	हैदराबाद	२६-५-३६	६
बुटाना (रोहतक, पंजाब)	औरङ्गाबाद	८-६-३६	१०
नर कटियागंज (बिहार)	बेतिया हस्पताल	२५-६-३६	११
सरधा (करनाल, पंजाब)	औरङ्गाबाद	१-७-३६	१२
रुड़की (यू० पी०)	हैदराबाद	१- ७-३६	१३
मुजफ्फरनगर (यू० पी०)	गुलबर्गा	८-७-३६	१४
कलानौर अकबरी (गुरदासपुर)	उस्मानाबाद	२७-७-३६	१५
मिलकपुर (हिसार)	मनमाड*	२८-७-३६	१६
सरगोधा (पंजाब)	लाहौर*	२६-७-३६	१७
	हैदराबाद	२-८-३६	१८
निजामाबाद (निजाम राज्य)	निजामाबाद	२-८-३६	१६
तडबेल (शोलापुर)	हैदराबाद	१३-८-३६	२०
मुजफ्फराबाद (सहारनपुर)	बारङ्गल	२४-८-३६	२१
सांपला (रोहतक)	साँपला*	२५-८-३६	२२
बुरहानपुर (सी० पी०)	बुरहानपुर*	२६-८-३६	२३
नरकटियागंज (बिहार)	नरकटियागंज*	२६-८-३६	२४
लुम्ब (मेरठ यू० पी०)	नागपुर*	२-६-३६	२५
अहमदाबाद	अहमदाबाद*	८-६-३६	२६
नलगीर (निजाम राज्य)	हैदराबाद*		२७
हरदोई (यू० पी०)	हरदोई	१०-३-३६	२८

*जेल से छूटने के उपरान्त उक्त स्थानों पर मृत्यु हुई।

गढ़वाल की डोला पालकी की समस्या

गढ़वाल के आर्य भाइयों की सामाजिक और राजनैतिक कठिनाइयों की कहानी बड़ी दुखद है। इनका प्रारम्भ तब से हुआ जब से वहाँ के भाइयों को आर्यधर्ममें दीक्षित हो जाने पर अपने सामाजिक और नागरिक अधिकारों का बोध हुआ और उनकी प्राप्ति का यत्न प्रारम्भ हुआ। डोला पालकी की समस्या से देश वासियों को उनका किंचित आभास मिल जाता है।

इस वर्ष इस समस्या पर देश के आर्य भाईयों और सुधारवादी संस्थाओं का ध्यान विशेष रूप से खिंचता रहा है क्योंकि इस वर्ष थोड़े थोड़े समय के बाद ५ बारातें रोकी गईं और सवर्ण कहे जाने वाले भाईयों का रुख बड़ा धमकी पूर्ण और सख्त रहा है। एक बारात १-१२-४० को बिंजौली में रोकी गई। एक दूसरी मैंदौली में रोकी गई। इतना ही नहीं बारातवालों को पीटा भी गया और इस मारपीट में सरकारी आदमियों के भी चोटें आईं। तीसरी बारात भोगपुर में रोकी गई। इन तीनों स्थानों की बारातोंने जनता का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित किया।

गढ़वाल के आर्य भाईयों की दृढ़ता के फलस्वरूप हाईकोर्ट तथा प्रान्तीय सरकार ने आर्य डोला पालकीका अधिकार स्वीकार किया हुआ है। इसी के फलस्वरूप अब तक ८०० बारातें डोला पालकी के साथ निकल चुकी हैं। परन्तु दुःख है कि वर्तमान अधिकारियों का रवैया आर्यों के लिए विशेष सन्तोषजनक नहीं हो रहा है। मैंदोंली की बारात पर आक्रमण के अपराधमें १६ सवर्णों पर मुकदमा चला।

गढ़वाल के आर्यों की सहायतार्थ तथा राज कर्मचारियों से मिलने के लिए सभा की ओर से श्री पं० शिवदयालुजी, पं० महेन्द्रप्रताप जी तथा श्री पं० ज्ञानचन्द जी बी० ए०, आर्यसेवक उपमन्त्री सभा गढ़वाल गये थे और राजकर्मचारियों से मिले भी थे। राज कर्मचारियों ने समस्या के सुलझाने का उक्त दोनों महानुभावोंको आश्वासन भी दिया था। परन्तु इस सम्बन्ध में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

इस वर्ष इस समस्या ने **महात्मा गांधी** का ध्यान भी विशेष रूप से आकर्षित किया और उन्होंने इन झगड़ों के रहते हुए गढ़वाल जिले में अपना सत्याग्रह आन्दोलन स्थगित कर देना उचित समझा।

२३-२-४१ को गढ़वाल के लैन्सडाउन नगर में एक सर्वदल सम्मेलन हुआ। जिसमें आर्यों के डोलापालकी के अधिकारको स्वीकार किया गया परन्तु यह शर्त लगाई गई कि आर्य भाई भी सवर्णों की नाईं देव मन्दिरों के

सामने डोला पालकी में से उतर जाया करें। आर्य भाइयों का सिद्धान्ततः इस बात पर मत-भेद होना ही था फिर भी उन्होंने सम्मेलन के संचालकोंके सामने स्थितिके सुधार के निमित्त एक प्रस्ताव किया कि सवर्ण भाई भी आर्य-समाज मन्दिरों के सामने डोला पालकी से उतर जाया करें तो आर्य भाई बतौर समझौते के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेंगे। उन्होंने यह भी बतलाया कि जब सरकारने बिना किसी शर्त के उनका यह अधिकार स्वीकार किया हुआ है तो वे नई शर्तें क्यों स्वीकार करें। फिर भी सद्भावना की वृद्धि के लिए वे ऐसा करने लगेंगे। आर्योंका यह प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ और वे सम्मेलन से उठ कर चले गये और इस प्रकार यह समस्या जहां की तहां रह गई। इस सम्मेलन में भाग लेने के लिये सभा की ओर से श्री पं० ज्ञानचन्दजी गढ़वाल गये थे।

भोगपुरकी बारात उपर्युक्त सर्वदल सम्मेलन के पश्चात् रोकी गई थी। परन्तु विदित हुआ है कि कन्या पक्षके लोग कन्याको अरुण पानी नामक स्थान पर से आए थे जहां बारात रोकी गई थी और वहीं विवाह संस्कार होने के बाद डोला पालकी सहित बारात अपने गाँव वगर लौट गई थी।

मई मास में हरिजन सेवक संघ की उप-प्रधान श्रीमती रामेश्वरी नेहरू और मन्त्री—श्री ठक्कर बापा गढ़वाल गये। उनकी प्रेरणा पर पं० ज्ञानचन्द जी बी० ए० पुनः वहां आये। पं० जी ने उनकी इच्छानुसार आर्य भाइयों के समझौते में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। आर्य भाईयों ने भाई चारे के रूपमें देव मन्दिरों के सन्मुख डोला पालकीसे उतरने की बात भी स्वीकार कर ली। परन्तु इस समझौतेके पश्चात् भी बिंजौली गाँव में आर्यों की बारात पर फिर हमला किया गया और समझौता रद्दीमें मिल गया। मुकदमे चल रहे हैं।

वहाँ एक और समस्या रास्तों की है। गाँव के नकशे में जिन मार्गों पर लाल चित्र होता है उन पर डोला पालकी ले जाने की कोई कोई टोक नहीं। परन्तु ये मार्ग गाँवों की हद पर समाप्त हो जाते हैं। इसका अर्थ सवर्ण यह लगाते हैं कि गाँवों की हद तक डोला पालकी ले आने में कोई रुकावट नहीं परन्तु गाँव में घुसते ही रुकावट है। इस पर सरकार से जो अधिकार मिला हुआ है उसके उपयोग में बाधा पहुंचाई जा रही है।

इस समस्या के वास्तविक हल के उपायों पर यह सभा गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। सम्प्रति सभा के ३ प्रचारक गढ़वाल में कार्य कर रहे हैं।

उपदेशकः—पं० अशोककुमार
पं० खुशहालसिंह
पं० गोपालसिंह

इस समस्या के हल के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त को भी प्रेरणा की गई है। उक्त सभा का एक शिष्टमण्डल कुछ दिन पहले यू० पी० गवर्नर के सलाहकार से भी लखनऊ में मिला था। उन्होंने उचित कर्यवाही करने का आश्वासन दिलाया है।

लोहारु काण्ड

गत वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण घटना लोहारु राज्य में आर्यसमाज के उत्सव पर हुई दुर्घटना है।

यह दुर्घटना २९ मार्च सन् ४० को हुई।

लोहारु पंजाब के हिसार जिले की एक छोटी सी रियासत है। इसके शासक मुसलमान हैं, इसकी कुल जनसंख्या २३३८३ तथा वार्षिक आय एक लाख २९ हज़ार के लगभग है। यहां की आबादी में ७५ प्रतिशत हिंदू हैं। सन् १९३६ ई० में निहत्ती हिंदू प्रजा पर राज्य के कारिन्दों द्वारा अनेक ज्यादतियाँ हुई थीं और राज्य के कर्मचारियों की गोलियों का निशाना बनकर कई व्यक्ति मर गये थे।

लोहारु राज्य में हिंदुओं की संख्या जितनी अधिक है उतनी ही कम उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है। यहां कुछ दिन पूर्व तक हिन्दू विधवाओं तक पर राज कर लगा हुआ था। कहा जाता है एक बार एक स्कूल टीचर ने एक सनातनी पण्डित को बुलवा कर मन्दिर में उपदेश कराया। इससे राजकर्मचारियों में खलबली मच गई। उस बेचारे स्कूल टीचर को इस अपराध में नौकरी से हाथ धोना पड़ा। ऐसी स्थिति में आर्य समाज के प्रति रियासत का रवैया कैसा हो सकता है इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। आर्य समाज के कार्य में समय-समय पर रुकावटों द्वारा राज का यह रवैया व्यक्त होता रहा है। हैदराबाद सत्याग्रह काल में स्टेशनों पर सत्याग्रहियों का स्वागत करनेवाले आर्य भाइयों पर अत्याचार किए जा चुके हैं।

समाज के कार्य को निरुत्साहित करने के लिए राज्य की ओर से छिपे छिपे वा प्रकट रूप से अनेक यत्न किये गये। समाज के कार्यकर्ताओं को समाज के कार्य के लिए अपनी राज की नौकरियों से भी हाथ धोना पड़ा। परंतु येन केन प्रकारेण समाज और सन् १९४० में यहां आर्यसमाज की स्थापना हो गई। २९-३० मार्च इस समाज के प्रथम उत्सव का समय नियत हुआ। इस उत्सव पर आर्य समाज के मन्दिर की आधारशिला रखने का भी निश्चय किया गया। आर्यसमाज के निमन्त्रण पर श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, भक्त फूलसिंहजी, श्रद्धानन्द ट्रस्ट के मन्त्री पंडित धर्मवीर वेदालङ्कार, पण्डित समरसिंह वेदालङ्कार, पण्डित नौनन्द सिंहजी, म० जयप्रकाश धनुर्धर, पुरोहित व भजनोपदेशक आर्य समाज दीवान हाल, म० बद्रीप्रसाद जी इत्यादि सज्जन देहली, हरियाना प्रान्त आदि से २९ ता० को लोहारु पहुंचे। आर्य समाज के कार्य कर्ताओं ने नगर कीर्तन की आज्ञा मांगी जो राज्य ने दे दी परन्तु बाद में यह कह कर कि लोहारु की जनता ने इस आज्ञा के विरुद्ध शिकायत की है, राज्य ने इस

आज्ञा में परिवर्तन कर दिया। नगर कीर्तन व जलूस के लिए जो रास्ता दिया गया उसका नगर से कोई सम्बन्ध न था अतः आर्यसमाज के प्रबन्धकों ने समझा कि ऐसे नगर कीर्तन की आज्ञा लेना न लेना बराबर है जबकि शहर में प्रचारार्थ प्रविष्ट होने की मनाई है। इस पर समाज के जिम्मेवार कार्य कर्त्ताओं का एक डेपुटेशन २६ ता० को राज्य के दीवान से नगर कीर्तन की आज्ञा के लिये मिला। इस डेपुटेशन ने दीवान साहब से राज्य के आर्य-समाज के प्रति रवैए की भी शिकायत की और उनको कहा कि राज्य ने जनता को उत्सव में भाग न लेने की जो प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से मनाही की है वह उठा ली जाये और उत्सव में भाग लेने की जनता को स्वतन्त्रता दी जाय क्योंकि उत्सव में बाहर का तो क्या शहर के भी व्यक्ति भय के कारण सम्मिलित नहीं हुए थे। परन्तु डेपुटेशन को दीवान साहब की ओर से जो उत्तर मिला वह सन्तोष जनक न था फलतः कार्यकर्ताओं ने उत्सव की कार्यवाही श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी के आने तक स्थगित रखने की घोषणा कर दी।

५ घण्टे तक कार्यवाही स्थगित रहने के बाद और श्री स्वामीजी के आगमन से पूर्व लोहारु राज्य के दीवान साहब की ओर से तह. सीलदार और पुलिस इन्सपैक्टर साहब लग-भग २५ पुलिस के सिपाहियों के साथ स्टेशन पर आए और उन्होंने समाज के जिम्मेवार प्रबंधकों से आग्रहपूर्वक कहा कि दीवान साहब ने अब हुक्म दिया है कि आप नगरकीर्तन व जलूस शहर में से निकाल सकते हैं। पुलिस का प्रबन्ध जलूस की रक्षा के लिए रहेगा। इत्यादि। प्रबन्धकों को नगर कीर्तन व जलूस निकालने के लिए पुलिस इन्सपेक्टर ने प्रबल प्रेरणा की यद्यपि वे अपना विचार छोड़ चुके थे। उनकी प्रबल प्रेरणा के परिणाम स्वरूप आर्यसमाज के जिम्मेवार कार्यकर्ताओं ने नगर कीर्तन का आयोजन किया। इतने में २६ की शाम को ६ बजे श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ट्रेन से आ गए। आर्यसमाज का जलूस उनके स्वागत के लिए स्टेशन पर मौजूद था। अधिकारियों की आज्ञा पर नगरकीर्तन निकाला गया। पुलिस का इन्सपेक्टर तथा पुलिसमैन साथ थे। शहर में प्रविष्ट होने से पहले एक बार जलूस को रोका गया। दूसरी बार थाने के सामने दोबारा रोका गया। वहां लाठियों कुल्हाड़ियों और फरसियों से सुसज्जित २००, २५० के लगभग मुसममान खड़े थे। पुलिस इन्सपेक्टर ने उन्हें कहा कि नगरकीर्तन को रास्ता दे दो। उन्होंने उत्तर में आवाज़ बुलन्द की और कहा हम रास्ता नहीं देंगे। इस पर पुलिस इन्सपेक्टर ने कहा आप इस रास्ते को छोड़ कर दूसरी गली से जलूस ले जांय। जब जलूस गली में मुड़ा तो उस मुस्लिम भीड़ ने पीछे से हमला कर दिया। सामने से भी कुछ मुसलमानों ने आक्रमण किया और

मकानों पर से ईंट पत्थर फैंके गए। आक्रमण का अधिक ज़ोर स्वामी जी पर था। वे पहले तो अपनी लाठी से वार रोकते रहे परन्तु जब लाठी टूट गई और उनके सिर और हाथ में चोट आई तो वे गिर पड़े। परन्तु तत्काल ही संभल गये। उनके साथ भक्त फूलसिंह जी भी थे। उनके भी सख़्त चोट आई। भजनीकों के भी सख़्त चोट आई। कुल ४० व्यक्ति ज़ख्मी हुए बताये जाते हैं। वहाँ नगरकीर्तन बंद कर दिया गया और सब के सब रेलवे स्टेशन पर आ गए। भक्त फूलसिंह नौनन्दसिंह और नाहरसिंह बेहोश होकर गिर पड़े। उन्हें पुलिस उठा कर लोहारु के हस्पताल में ले गई। स्वामी स्वतत्रानन्द जी, जयप्रकाश जी तथा अन्य व्यक्ति देहली पहुंचे। वहां उन्हें इर्विन हस्पताल में प्रविष्ट किया गया। लगभग सात व्यक्ति रिवाड़ी के हस्पताल में प्रविष्ट किये गये।

इस काण्ड में ४० से ऊपर व्यक्तियों को चोटें आईं जिनमें से निम्न व्यक्तियों को अधिक चोटें आई थीं। (१) श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी कार्यकर्ता प्रधान आ० सा० प्र० सभा, देहली। (२) श्री पं० जयप्रकाश जी धनुर्धर, देहली। (३) पं० हरगोबिन्दजी भार्गव। (४) चौ० परसारामजी, गांव टयारा डा० खा० उरनाला जिला करनाल। (५) चौ० गोविन्द रामजी ग्राम जेवली डा० वारडा रि० जींद। (६) श्री स्वामी केवलानन्दजी (आयु ७० वर्ष) आ० स० भिवानी। (७) चौ० भरतसिंह जी कुतुकपुरा डा० वावड़ा रि० जींद (८) भगत फूल सिंहजी भैंसवाल। (रोहतक) (९) चौ० नाहरसिंहजी ग्राम बड़सेरा (जींद)। (१०) चौ० नत्थेराम जी प्रधान आ० स० लोहारु। (११) चौ० राजारामजी पाली डा० सूरतगढ़ (जयपुर स्टेट)। (१२) चौधरी मोलाराम जी खेतड़ी ढाडी (जययुर)। (१३) चौ० हुक्मी-रामजी स० आ० स० लोहारु। (१४) चौ० शिवकरणजी स० आ० स० लोहारु।

सार्वदेशिक सभा के उपमन्त्री श्री पंडित ज्ञानचन्द जी लोहारु गये और वहां दीवान साहब से मिले। राज्य का इस घटना पर जो पक्ष है वह श्री पं० जी को दिया गया और उन्होंने आर्यसमाज की जो भावना इस कांड के सम्बन्ध में है उससे दीवान साहब को परि-चित कराया।

आर्य समाज की अब दो मांगे हैं। एक तो यह कि इस काण्ड की निष्पक्ष रीति से जाँच की जाय और अपराधियों को समुचित दण्ड दियाजाय और दूसरी यह है कि लोहारु में आर्यसमाज का उत्सव पूरी शान से किया जाय। लोहारु आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत है। उसने यह मामला अपने हाथ में ले लिया है।

वर्तमान स्थिति

इस कांड के सम्बन्ध में वर्तमान स्थिति आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रा० ब० श्री बद्रीप्रसाद जी एडवोकेट के निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होती है।

वक्तव्य

लाहौर, २२ जुलाई। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान रायबहादुर दीवान बद्री-दास एडवोकेट ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया है:—

"आज मुझे फिर लोहारू-कांड पर एक वक्तव्य प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस हो रही है। आर्य प्रतिनिधि सभा को पता चला है कि लोहारू के अधिकारियों ने निर्दोष आर्य समाजियों पर हमला करने वालों को पकड़ने के बजाय वहाँ के आर्य समाजियों पर ही फौजदारी का दावा दायर कर दिया है। लाहौर में प्रतिनिधियों की एक खास बैठक बुलाई गयी और उसमें निम्न प्रस्ताव पास किया गया:—

लोहारू में आर्य समाजियों के शान्त और पुलिस की निगरानी में निकल रहे जलूस पर थाने के पास मुसलमानों ने जो हमला किया, उसकी आर्य समाजियों की यह सभा निन्दा करती है। जलूस निकालने की आज्ञा भी ले ली जा चुकी थी। इस पर हमला करने से आर्य सार्वदेशिक सभा दिल्ली के प्रधान स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज आदि ४० से भी ज्यादा आर्यसमाजी जख्मी हो गये। स्थानीय आर्यों के साथ भी कठोर व्यवहार किया गया बताते हैं।"

लोहारू के जिन लोगों पर अभियोग चलाया गया, उनकी सफाई का प्रबन्ध सभा ने किया। वायसराय के एजेण्ट को भी एक पत्र लिखा गया। हिसार के कौंसिल से लोहारू में अभियुक्तों की ओर से सफाई देने की प्रार्थना की गई। दिल्ली में भी एक कमेटी बनाई गई, जिसका काम मामले के बारे में तहकीकात करना था।

२६ अप्रैल १९४१ को बख्शी रामकृष्ण एडवोकेट, लाला सुखदेव वकील हिसार और लाला सत्यभूषण वकील डेरागाजी खां लोहारू गये। वे अभियुक्तों और दीवान साहब से मिले वे हस्पताल में घायल आर्य समाजियों से भी मिले। ला० सत्यभूषण ने सभा को इत्तिला दी कि दीवान साहब अभियुक्तों पर से मुकदमा उठाने को तैयार हैं, उन्होंने निम्न शर्तें मान ली हैं:—

(१) ला० नाथूराम और ठाकुर रतनसिंह को फौरन ही जमानत पर रिहा कर दिया जायगा।

(२) ला० नाथूराम व ठाकुर रतनसिंह जो इस समय बतौर विचाराधीन बन्दी के लोहारू जेल में बन्द हैं, उनके खिलाफ, तथा भागे हुए अभियुक्त ठा० भक्तसिंह, ठाकुर चानूसिंह, ठाकुर रिसालसिंह, चौधरी हुक्मीराम चौधरी गोपाल और चौधरी गङ्गासहाय पर से मुकदमे उठा लिये जायँगे।

ताजीरात हिन्द की दफा ३२३, १४७ व ४५३-१४७ के मातहत तहसीलदार लोहारू की कचहरी में और दफा ८७-८८ के मातहत

मजिस्ट्रेट दर्जा अव्वल की अदालत में जो दो मुकदमें चल रहे हैं वे मन्सूख कर दिए जायँगे। बख्शी रामकृष्ण अथवा युद्ध समिति का कोई भी सदस्य ११ मई १९४१को अदालत में हाजिर होगा और उसके सामने मुकदमे उठा लिये जायंगे और सब तरहकी कार्यवाही बन्द कर दी जायगी।

(३) आर्यसमाजको लोहारूमें धर्म-प्रचार करने की पूरी आजादी होगी। वह आर्यसमाज मंदिर तैयार कर सकेगा, सालाना जल्सा कर सकेगा, नगर-कीर्तन के जलूस निकाल सकेगा और तमाम न्यायोचित साधनों से अपनी धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार कर सकेगा। दरबार इस सम्बन्ध में यथा सम्भव शीघ्र ही घोषणा करेगा।

(४) रियासत के कर्मचारी आर्यसमाज के काम में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में किसी किस्म की बाधा उपस्थित न करेंगे।

(५) २९ मार्च १९४१ की घटना को लेकर आर्यसमाजी अखबारों में जो आन्दोलन किया जा रहा है, उसे आर्यसमाज बन्द कर देगा।

(६) जबानी तौरसे यह भी फैसला हुआ कि युद्ध-समिति के प्रधान व मन्त्री यदि चाहेंगे तो रियासतके उन कर्मचारियोंके खिलाफ उचित कार्यवाही की जायगी, जिन्होंने हमले के समय अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया था।

सभा से यह पूछा गया कि क्या वह इन शर्तों को मंजूर करनेके लिये तैयार है? सभा ने अपनी स्वकृति बख्शी रामकृष्ण के पास भेज दी। मुकदमा उठ जाने के बाद अभियुक्तों को जमानत पर हवालात से मुक्त कर दिया गया। इस पर मुकदमों के डर से लोग रियासत से भाग गये थे, वे भी लोहारू वापस पहुंच गये। उन सब को आशा थी कि वे सब जमानत पर रिहा कर दिये जायँगे।

इसके बाद से यद्यपि दीवान ने मुझे यह आश्वासन तो दिया कि रियासत समझौते के अनुसार कार्य करेगी, लेकिन वह समझौते के प्रतिकूल जाने लगी। सबसे पहले तो समझौते की शर्तोंमें संशोधन हुआ। सभा ने इन शर्तों को इस शर्त पर स्वीकृत कर लिया कि इससे असली शर्तों में फर्क न आने पावे। दीवान साहब का दूसरा पत्र आया। उसमें एक कदम और बढ़ाया गया। एक तरफ यह परिवर्तन था और दूसरी तरफ यह खबर आने लगी कि अभियुक्तों के साथ बहुत बुरा सलूक किया जा रहा है। सभा के दिल में शक पैदा हुआ। जिन अभियुक्तों ने अपने आपको रियासत के हवाले किया था, उन्हें हवालात में बन्द कर दिया गया। वे लोग विचाराधीन बन्दी थे, फिर भी उनसे मुशक्कत कराने की रिपोर्ट सभा को मिली।

इस पर दीवान को एक पत्र लिख कर उनसे पूछा गया कि रियासत क्या चाहती है? बड़ी मुश्किल से इन अभियुक्तों को जमानत

पर रिहा कराया गया, लेकिन एक कौंसिल द्वारा उनकी ओर से सफाई कराने की आज्ञा नहीं मिली। दीवान ने अभी तक उक्त पत्र का जवाब नहीं दिया।

सभा ने मान लिया था कि जब तक समझौते की चर्चा चल रही है, तब तक अखबारों में या दूसरी जगह सब तरह का प्रचार बन्द कर दिया जाय।

अब सभा यह महसूस करती है कि रियासत के अधिकारी अपने दिये आश्वासन के अनुसार काम करने को तैयार नहीं हैं। सभा के मंत्री ने पोलिटीकल एजेएट की सेवा में सारा मामला फिर भेजा और उनसे प्रार्थना की कि सरकार को इस मामले में हस्तक्षेप करना चाहिए, ताकि अभियुक्तों पर निष्पक्ष अभियोग चल सके। सभा अब भी अपने कानूनी सलाहकारों को अभियोगों की देख-रेख के लिए लोहारू भेजती रहती है। अभियुक्तों के परिवारों की आर्थिक सहायता भी की जा रही है।

जिन आर्य समाजियों के पास रोजी का कोई जरिया नहीं रहा या जिनकी जायदादें जब्त करली गई हैं उन सबकी सहायता करने का निश्चय कर लिया गया है। सभा की राय में जो व्यक्ति निर्दोष हैं उनकी सहायता अवश्य की जायगी। सभा रियासत में धर्म प्रचार की आजादी चाहती है और चाहती है कि इस आजादी को हासिल करने के लिए सब न्यायोचित साधन इस्तेमाल किये जायें। जनता को चाहिए कि वह सभा की आर्थिक सहायता करे। सभा की आज्ञानुसार २७ जुलाई को लोहारु के निकटवर्ती स्थानों व प्रान्तों में लोहारु दिवस मनाया गया।

स्थानीय आर्यसमाजों का विवरण

आर्य प्रति० सभा पंजाब से सम्बद्ध

देहली प्रान्त

१. दीवानहाल (देहली)

स्थापना–संवत् १९४१ वि० । **प्रधान**–प्रोफेसर सुधाकरजी एम० ए० । **मंत्री**—म० केदारनाथजी बी. ए. । **स० संख्या**—३१५ । **सम्पत्ति**—आर्यसमाज मन्दिर ५ भवन, तथा दीवान हाल । **पुस्तक संख्या**–९८० । वाचनालय में १६ दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्र । **प्रचारक**—पुरोहित पं० वीरेन्द्र जी सिद्धान्तभूषण । **भजनोपदेशक**—पं० जयप्रकाश जी धनुर्धर । **संस्थायें**–आर्य अनाथालय पाटौदी हाउस, आर्यकन्या हाईस्कूल, और आर्य वनिता विश्राम आश्रम । **कार्य**–२६ स्थानों पर प्रचार, ६० संस्कार, १९ शुद्धियाँ, २ अन्तर्राष्ट्रीय विवाह । **सहायता कार्य**— हिसार अकाल फंड में २५०) रु०, हैदराबाद सत्याग्रह में १०१७४ रु. ८ आ. ६ पा., सक्खर के पीड़ित हिन्दुओं को १०५ रु०, अतिथि सत्कार २३३ रु. ३ आ. ६ पा. । **विशेष**–सन् १९३७ से स्व० दानवीर ला० दीवानचन्दजी के अद्वितीय भव्य स्मारक दीवानहाल में समाज का कार्यालय है । दीवानचन्द ट्रस्ट ने लाला जी की वसीयत के अनुसार लगभग ३ लाख रु० की लागत का यह विशाल भवन समाज को अर्पित किया हुआ है ।

२. बिरला लाइन्स (देहली)

स्था०—२५ दिसम्बर सन् १९३० ई० । **प्र०**–मा० श्रीराम जी । **का० प्र०**–श्री रघुनंदन जी । **मंत्री**—श्री बलराम जी । **स० सं०**—१६४ । **वा० आ०**— २५००) । **सम्पत्ति**—१०,०००) समाज मन्दिर अपना है । **पु० सं०** ६३०) । **वाचनालय**—पत्र संख्या ८-१० । **कार्य**—६७ खोए हुए बालकों की रक्षा की गई, १० अपहृत स्त्रियाँ एवं कन्याओं की रक्षा की गई, १० शुद्धियां, ५ विधवा विवाह वेद प्रचार, दलितोद्धार सभायें की गईं । **संस्थायें**—आर्य वीर दल (सदस्य—११०) । **पुरोहित**—पं० रामचन्द्र जी शास्त्री ।

३. हनुमानरोड नई देहली

स्था०—८ जनवरी सन् १९२० ई० । **प्र**.— रा० सा० लाला शादीराम जी एस. डी. ओ. । **मंत्री**—म० त्रिलोकीराम जी । **स० सं०**–५५ । **सहा०**–१०४ । **आय**–३७२४ रु. १४ आ. १० पा. । **सम्पत्ति**—५५०००)रु. का समाज मन्दिर तथा २॥ एकड़ भूमि आर्यकन्या पाठशाला भवन निर्माण के लिये ली है । **पु० सं०**—५९५ । **संस्था**—आ० क० पाठ-

शाला, आर्य हिन्दी पाठशाला तुग़लकाबाद (विद्यार्थी—५०, अध्यापक—श्री भगतसिंह जी)। का०—ग्राम प्रचार, दलितोद्धार, जन गणना के सम्बन्ध में प्रयत्न तथा ट्रैक्ट बँटवाये, कई शुद्धियां तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवाह, कन्या पाठशाला (छा० ५००)। **पुरोहित**—पं० चन्द्रभानु जी सिद्धान्त भूषण। **भजनोपदेशक**—पं० रामसेवक जी 'लहरी'। **विशेष**— ग्राम-प्रचार; ग्राम जूड़ बाग, मोठ की मस्जिद, तुगलकाबाद तथा रोडापुर में आर्य समाजों की स्थापना, ५ जनगणना सम्मेलन। **सहायता कार्य**—हिसार व रोहतक के अकाल पीड़ितों की सहायता।

४. देवनगर (करौलबाग)

स्था०-११ जुलाई सन् १६२८। प्र०—बिहारीलाल जी आर्य। मं०—पं० प्रभुदयाल जी आर्य। स० सं०—४१। सहा०—३८। वा० आ०-६० रु०। पु० सं०-५०। का०-वेद प्रचार, दो तीन बार अखण्ड यज्ञ किया गया, दैनिक यज्ञ। **संस्था०**—आर्य कन्या-पाठशाला, (छा०—१५५), आ० कु० सभा (स०—२५), आ० वी० दल (स०—१०)। **सहायता कार्य**— हैदराबाद सत्याग्रह में ६ सत्याग्रहियों का जत्था भेजा, १६१) रु० व्यय हुए। अखण्ड यज्ञ पर २५००) व्यय हुए।

५. मोर सराय (देहली जंकशन)

स्था०-३० मार्च सन् १६३७ ई०। प्र०—पं० शम्भूदयाल जी। मं०—जीवनसिंह जी, स० सं०—४५। वा० आ०—१२४॥।-)॥। सम्पत्ति—चल १००)। पु० सं०—१५। का०—एक अन्तर्जातीय विवाह, तीन विधवा विवाह, वेद प्रचार तथा साप्ताहिक सत्संग किये गये। सहा० का०—हैदराबाद सत्याग्रह में ३००) दिये। **संस्था**—आर्य कुमार सभा (स०—२०)।

६. बगीची रघुनाथ, सदर बाजार

स्था०—सं० १६७७ वि०। **प्रधान**—श्री श्रुतिसिंह जी। **मन्त्री**—धनपतराय जी। स० स०—२५। वा० आ०-३६७) रु० ८ आ०। **कार्य** — गुड़गांवा, रेवाड़ी तथा नारनौल में प्रचार। यदुवंशी धनुर्धारी क्षत्रियोंका सम्मेलन। हैदराबाद सत्याग्रह में ८ सत्याग्रही व १२६ रु० दिये। ५ शुद्धियां की गईं। उपदेशक—१ भजनोपदेशक—१। **विशेष**—विधर्मियों की ओर से रुकावट डाली गईं।

७. दिल्ली क्लाथ मिल

स्था०—मार्च सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री वृहस्पतिजी पाठक। **मंत्री**—श्री फुलनसिंहजी। **कार्य**— दैनिक सत्संग, दैनिक व्यायाम तथा अन्य क्रियात्मक कार्यों पर विशेष बल। हैदराबाद सत्याग्रहमें १० सत्याग्रही और १०००) रु० दिया। **संस्थायें**-कुमार सभा, स्त्री समाज, वीरकेसरी दल तथा अन्नपूर्णा भण्डार आदि।

८. करौल बाग

स्था०—सन् १६३० ई०। प्र०—ला०

दीवान हाल, देहली

सन् १९३७ ई० में प्रसिद्ध दानवीर स्वर्गीय श्री दीवानचन्द जी की स्मृति में दीवानचन्द ट्रस्ट ने यह अद्वितीय विशाल भवन बनवा कर आर्य समाज देहली को अर्पित किया। ट्रस्ट के अधिकारियों और विशेषतः इसके सुयोग्य मन्त्री ला० नारायणदत्त जी के अनथक परिश्रम से यह सर्वाङ्ग पूर्ण भवन आर्यसमाज को मिला है। नगर के दर्शनीय भवनों में यह अपना विशेष स्थान रखता है।

इसके विशाल भवन में गतवर्ष ४५ विभिन्न संस्थाओं के विशेष उत्सव हुए। इस भवन में एक अतिथिशाला है। इस अतिथिशाला से गतवर्ष १९०७ विद्वान्, संन्यासी तथा प्रतिष्ठित सज्जनों ने लाभ उठाया। साधारणतः तीन दिन तक और विशेष अवस्था में अधिक आज्ञा लेकर अतिथि महानुभाव यहां निवास कर सकते हैं। यात्रियों को प्रत्येक प्रकार की सुविधा यहाँ प्राप्त है। यह भवन देहली जङ्क्शन से लगभग २ फर्लाङ्ग की दूरी पर चाँदनी चौक के अन्त में इम्पीरियल बैंक के पीछे स्थित है।

आर्यसमाज मन्दिर, हनुमान रोड

नई देहली

५५०००) रु० की लागत का यह विशाल समाज-मन्दिर श्रीमती सत्यभामादेवी ने अपने पति स्व० लाला दीवानचन्द जी की स्मृति में बनवाया है। यह मन्दिर जहाँ समाज भवन के रूप में काम आता है वहाँ इसमें बाहर से आने वाले संन्यासी महात्माओं तथा अन्य अतिथियों के ठहरने के लिये भी प्रबन्ध है। सपरिवार गृहस्थ ७ दिन तक ठहर सकते हैं।

कन्हैयालालजी ओवरसियर। मं०—पं० मूलराज जी बी० ए०। सम्पत्ति—एक मन्दिर ज़ब्त एक मकान (मू० लगभग १५०० रु०)। समाज मन्दिर के लिए भूमि (मू० लगभग ३५००रु०)। कार्य—साँसी बस्ती में अपने अधीन प्रचारक द्वारा दैनिक सन्ध्या व शिक्षा सम्बन्धी कार्य। पु सं०—१३८। वा० आ०—३५० रु०।

९. सोहनगंज (सब्ज़ी मण्डी)

स्था०—जनवरी सन् १९३६ ई०। प्र०—कुंवर श्यामपालसिंह जी। मं०—पं० रामदुलारेलालजी। स० सं०—७०। वा० आ०—१८१) रु०। सम्पत्ति—समाज मन्दिर के लिये भूमि मू० १९००) रु०। पुस्तकें—११३। प्रचारक—अवैतनिक, प्रधान व मंत्री श्री शिवरामजी गुप्त। कार्य— ग्राम प्रचार व व्यायामशाला (स०–१३)। दो रोगियों को बीमारी में धन, तथा औषधि से सहायता दी गई। विशेष—किसी आर्यप्रतिनिधि सभा से सम्बन्ध नहीं है।

१०. शाहदरा (गुड़हाई)

रे० स्टे०–शाहदरा। डा० खा०–शाहदरा। स्था०—सन् १९४० ई०। प्र०—ला० काशीनाथजी। मं०—डा० सुबन्धु जी आयुर्वेदालंकार। स०सं०—२५। वा० आ०—१५) रु० वार्षिक। संस्था—आर्य देवनागरी पाठशाला—(छा० ४५, अ०—पं० मनफूलसिंह शर्मा) कार्य—विशेषतः हरिजनोद्धार।

११. नरेला

रे० स्टे०–नरेला। डा० खा०–नरेला। स्था०–सन् १९२४–पुनः१९३१ ई०। प्र०—मा० सत्यस्वरूपजी। मं०—मूलचन्दजी। स० सं०—२४। सहा०—२०। वा० आ०—१००) रु०। सम्पत्ति—३ बीघे भूमि, समाज मन्दिर, यज्ञशाला, कुंआ, पुस्तकालय, पु० सं०—३०००। संस्थायें—आर्य विद्यार्थी आश्रम, पुस्तकालय तथा वाचनालय, आर्य कुमार सभा (सं०–१५), आर्यवीरदल (स०—२०)। कार्य –शुद्धि १, जनगणना सम्बन्धी प्रचार, मा० राजेराम जी के औषधालय से गरीबों को मुफ्त औषधि मिलती है। वैदिक संध्या मुफ्त बांटी जाती है।

शेष आर्य समाज—

१२. नया बांस देहली। १३. तीमारपुर (देहली) १४. सब्जी मण्डी (शहर) १५. पहाड़गंज (शहर) १६. नजफगढ़। १७. महरौली।

पंजाब

जिला रोहतक

१८. रोहतक

रे० स्टे० तथा डा० खा०—रोहतक। स्था०–सन् १८८३ ई०। प्र०–श्री महासिंह। मं०—श्री भरतसिंह। स० सं०–९५। वा० आ०—(सम्वत् १९९६-९७) ५३७ रु० ११ आ०। सम्पत्ति—मंदिर व अन्य भवन (लागत

लगभग २०००० रु०) चल, १०० रु० । पु० सं०—११० तथा वाचनालय । कार्य—व्यायामशाला, दलितों के लिए मुफ्त छात्रावास, १५ शुद्धियां तथा अस्थायी पुरोहित । स० कार्य—अकाल पीडितों को ३०००) रु०, है० स० में ७०० सत्याग्रही व ८०००) रु० व्यय ।

१६. मटिण्डू (गुरुकुल)

रे० स्टे०—साम्पला, डा० खा०—खरखौदा । स्थापना— सम्वत् १६७६ विक्रम । प्र०—पं० निरंजनदेव विद्यालङ्कार । मं०—श्री पं. देवेन्द्रनाथ वात्स्य शास्त्री । स० सं०—१० । वा० आ०—२०) रु० । पु० सं०—२४१ तथा वाचनालय । कार्य—साधारण प्रचार ।

२०. झज्जर

रे० स्टे०—बहादुर गढ़ दिल्ली या रोहतक, डा० खा०—झज्जर । स्था०—सन् १८८५ ई० । प्र०—रघुवरदयाल जी बी.ए. एल.एल. बी. । मं०—शिवराम गुप्ता । स० सं०—६० । सहा०—२७ । वा० आ०—२२५) रु० । सम्पत्ति—४ भवन । पु० सं०—६२ । कार्य—ग्राम प्रचार आदि, वैदिक कन्या पाठशाला, (छा०—६०), आ० वी० द० (स०—४०) ।

२१. भैंसवाल कलाँ

रे० स्टे०— जसया और गोहाना, डा० खा०—भैंसवालकलां । स्था०—सन् १६१६ ई० । प्र०—श्री थाँबूराम । मं०—श्री अमेराम । स० सं०—४२ । सहा०—६ । वा० आ०—११॥) । कार्य—जनगणना के संबन्ध में प्रचार किया । आ० कु० स० (स०—२५), आ० वी० द० (स०—२७) ।

शेष आर्य समाज—

२२. माजरा, २३. महम, २४. काहनौर, २५. निदाना, २६. खरखौदा, २७. बादली, २८. सोनीपत, २६. खरक, ३०. कोसली, ३१. चार खेड़ी, ३२. सिहोटी, ३३.बहादुरगढ़, ३४. सांघी, ३५. जसिया ३६. मटिण्डू, ३७.फरमाना, ३८. टटौली ३६. रोहना, ४०. गढ़ी सांपला, ४१. ढाकला, ४२. डीघल. ४३. गोहाना, ४४. बेरी, ४५. बधान, ४६. अहमदपुर, ४७. कलाई, ४८. दूबलघव ४६. दुलहेड़ा, ५०. गूजर खेड़ा, ५१. सोहाना ।

जिला हिसार

५२. भिवानी

रे०स्टे० व डा०खा०—भिवानी । स्था०—सन् १८६५ । प्र०—शिवकरणदास जी पत्थर वाले । मं०—श्री चन्दूलालजी वर्मा 'चन्द्र' । स० सं०—५७ । वा० आ०—२६६।-)॥।, सम्पत्ति—८०००) लागत का आ० समाज मन्दिर तथा ३००) रु० अन्य । पु० सं०—३५८, वाचनालय । संस्था—आर्य वीर दल, (स०—२०) । कार्य—दलितोद्धार, १ शुद्धि

साहित्य प्रचार। स० कार्य—अकाल फण्ड में ८३) रु० तथा वस्त्र व अन्न बांटा गया।

५३. बामला

रे० स्टे०—भिवानी। डा० खा०—बामला। स्था०—सं० १९६० वि०। प्र०—मा० रामचन्द्र जी। मं०—सुखनसिंहजी आर्य। स० सं०—६। सहा०—१०। वा० आ०—८)। सम्पत्ति—१०)। पु० सं०—१६। कार्य—शुद्धि १ तथा अन्य प्रचार। स० कार्य—है० स० में १२) रु०।

५४. उकलाना मण्डी

रे० स्टे०—व डा० खा० उकलाना मंडी। स्था०—कार्तिक १९९२ वि०। प्र०—इन्द्राजसिंहजी। मं०—ब्रजलालजी आर्य। स० सं०—२९। वा० आ०—४२) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर।

शेष आर्यसमाज—

५५. हिसार ५६. सिरसा ५७ रतिया ५८. जाखल ५९. हांसी ६०. डोबी ६१. डबवाली ६२. बुढलाडा ६३. मनाना ६४. कालांवाली ६५. रुहीडांवाली ६६ मिथाथल ६७. टोहाना ६८. परवाऊ ६९. शेरगढ़ (पो० मण्डी उदयवाली)

जिला गुड़गांवां

७०. रेवाड़ी

रे० स्टे०—(रेवाड़ी, बी. बी. एण्ड सी. आई.) डा० खा०—रेवाड़ी। स्था०—सन् १९०१ ई०। प्र०—म० भगवानदासजी। मं०—वैद्य सोमदेव सिद्धान्त भूषण। सम्प०—आ० स० मन्दिर। कार्य—व्यायामशाला का विशेष कार्य। आर्य पाठशाला भी है।

७१. पलवल

रे० स्टे० व डा० खा०—पलवल (जी. आई. पी.) स्था०—सन् १८९८ ई०। प्र०—श्री रामदत्त जी बोहरे। मं०—श्री सुरेशचन्द्र आर्य। स० सं०—२०। सहा०—१०। वा० आ०—८१॥)। सम्प०—समाज मन्दिर व आश्रम इत्यादि। संस्था—आर्य कुमार सभा (स०—६०) पु० सं०—२५०। कार्य—साधारण प्रचार।

७२, बल्लभगढ़

रे० स्टे० व डा० खा०—बल्लभगढ़ (जी. आई. पी.)। स्था०—सन् १९०१ ई०। प्र०—श्री भिखमसिंह। मं०—श्री चन्दनलाल स० सं०—१०। सम्प०—समाज मन्दिर और कुछ भूमि। पु० सं०—२५०।

संस्था—दयानंद वैदिक आश्रम गदपुरी (बल्लभगढ़)—६ वर्ष से स्थापित। शिक्षा—ऋषि दयानन्द निर्दिष्ट। (छात्र—४०, १५ निःशुल्क, २५ से २ रु० ८ आ० मासिक भोजन व्यय।) व्यय—२००) रु० मासिक। मुख्याधिष्ठाता — लाला देवीसहाय जी। प्रधान— ठा० किशनलाल जी। मन्त्री—ला० जगन्नाथजी।

७३. पूनाहाना

रे० स्टे०—होडल (जी० आई० पी०) डा० खा०—पूनाहाना। स्था०—सम्वत् १९९१ वि० । प्र०—परमानन्दजी । मं०—श्री मनोहरलालजी । स० सं०—४८ । वा० आ०—७२) । पु० सं०—११५ । का०—१० वेद-प्रचार, ग्राम प्रचार, १ अन्तर्जातीय विवाह, २ पुनर्विवाह । अकाल पीड़ितों की सहायता ।

७४. तावड़ू

रे० स्टे०—रेवाड़ी व गुड़गाँवा । डा० खा०—तावड़ू । स्था०—सन् १९२४ ई० । प्र० श्री मोहनलालजी । मं०—श्रीइन्द्रजी, स० सं०—४० । सम्प०—१५००) का मकान । कार्य—साधारण प्रचार आदि ।

७५ हसनपुर

रे० स्टे०—होडल (जी. आई. पी.) । डा० खा०—हसनपुर । प्र०—श्री नानकचन्द्र आर्य । मंत्री—श्री रामशरण गुप्त स० सं०—२६ । सहा०—४ । वा० आ०—१००) । सम्प०—अचल, ८०००) रु० चल, १०००) रु० , पु० सं०—४२५, वाचनालय । कार्य—प्रतिदिन यज्ञ व प्रचार । स० का०—औषधालय (१००० रोगी) । आ० वी० द० (स०—२०) ।

७६. लीखी

रे० स्टे०—शोलाका तथा होडल (जी. आई. पी.) । डा० खा०—हसनपुर । प्र०—मुं० काशीराम । मं०—श्री किशनलाल । स० सं०—११ । सहा०—२० । वा० आ०—२५ रु० । सम्प०—२०००) रु० की लागत का समाज मन्दिर । पु० सं०—२० । कार्य—शुद्धि का प्रचार ।

शेष आर्यसमाज—

७७. गुड़गांवां ७८. सरिना ७९. तिगांव ८०. बहीड़ाकलां ८१ बसई ८२. फतहपुर बिल्लोच ८३. फरीदाबाद ८४. सुनपेड़ ७५. जपा ८६. हथीन ८७ फ़रुख-नगर ८८. बलवाड़ी ८९. हेली ठांडो ।

जिला करनाल

९०. पानीपत

रे० स्टे० व डाकखाना—पानीपत (एन. डब्ल्यू. आर.) स्था०—सन् १८८६ ई० । प्र०—श्री कुन्दनलाल जी वकील, मं०—श्री सोहनलालजी । स० सं०—५८ । सहा०—१५० । वा० आ०—१०००) रु० । सम्प०—आ० स० मन्दिर, ५०,०००) । पु० सं०—२००० । का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, शुद्धि, अन्तर्जातीय विवाह । सहा० का०—८००) रु० वार्षिक गरीबों की सहायता । पुरोहित—पं० नारायणदत्त जी विद्यालंकार (अवैतनिक) ।

९१. घरौंडा

रे० स्टे० व डा० खा०—घरौंडा । स्था०—सन् १९१६ ई० । प्र०—श्री गीतारामजी, मं०—श्री मायाराम जी । स० सं०—१५, सहा०—

५। वा० आ०—५०) रु०। सम्प०—मन्दिर। पु० सं०—५००। का०-१ अबला की रक्षाकी। संस्था-वैदिक संस्कृत पाठशाला, (४० छात्र) आ० वी० द० (स०—१५)।

शेष आर्य समाज—

९२. करनाल, ९३. राहौर, ९४. ठोल (पो० ठसकमीरांजी), ९५. कैथल, ९६. सालवन (पो० असन्ध), ९७. थानेसर, ९८. शाहाबाद, ९९. इलाहर, १००. फतहपुर, १०१. पूंडरी, १०२. लाडवा, १०३. इस्माईलाबाद, १०४. पाई, १०५. जैनपुर, १०६. धोता, १०७. पुरताम, १०८. वापौली, १०९. अहर, ११०. जापुर, १११. बरवाला, ११२. बखाला, ११३. कौल, ११४. ओडरी, ११५. गोली, ११६. पाढ़े, ११७ छोतां, ११८. दारो।

जिला अम्बाला

११९. जगाधरी

रे० स्टे० व डा० खा०-जगाधरी। स्था०—सन् १८८६ ई०। प्र०-ला० रुलियारामजी, मं०—मा० नत्थनलाल जी। स० सं०—२०, सहा०—५०। सम्प०-समाज मन्दिर (ला० लगभग १०००० रु०), १५००) रु० अन्य। पु० सं०—२१० तथा वाचनालय। प्रचारक—स्वामी वेधड़कजी तथा म० भीमसेनजी।

१२०. मोरिंडा

रे० स्टे० व डा० खा०-मोरिंडा। स्था०—सन् १८९९ ई०। प्र०—ला० हरिद्वारीलाल जी, मं०—बा० इन्द्रसैनजी। स० सं०-२५। सहा०—२०। वा० आ०—७१६ रु० ६ आ०। सम्प०—१००००) रु० की लागत का आ० स० मन्दिर। का०—प्रचार दलितोद्धार इत्यादि। पु० सं०—१९। संस्थाएं—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—६५)। आर्यकुमार सभा (सं०—१५)।

१२१. खरड़

रे० स्टे० कुराली, डा० खा०-खरड़। स्था०—२४ जून सन् १९३८ ई०। प्र०—श्री जितेन्द्रनाथ, मं०—श्री गुरुदयालचन्द्र। स० सं०-१६। वा० आ०—१२) रु०। सम्प०-आर्य स्कूल का भवन। पु० सं०—१०।

१२२. खिजराबाद मशरकी

रे० स्टे०-जगाधरी, डा० खा०-स्वयम्। स्था०—सन् १९३८ ई०। प्र०—म० दीनानाथ जी, मं०—ला० साधूरामजी, स० सं०—२१। सहा०—४। वा० आ०—१०५) रु०। सम्प०—आ० स० मन्दिर व भूमि। पु० सं०—४०। का०—संस्कार १६, वेद-प्रचार ८, ग्राम-प्रचार ७, दलितोद्धार १।

शेष आर्यसमाज—

१२३. अम्बालाछावनी, १२४. रोपड़ नंबर १। १२५ रोपड़ नंबर २। १२६. कालका, १२७. मनीमाजरा १२८. मुस्तफाबाद, १२९ छछरौली, १३०. खारबन,

१३१. अम्बाला, रजमेंट बाजार, १३२. अम्बाला, लालकुर्ती बाजार, १३३. अम्बालाशहर, १३४. भड़ूत (नाहन), १३५. नारायण गढ़, १३६. चमकौर, १३७. काडख (नाहन) १३८. लोहाना, १३६. कांगर (नाहन), १४०. गन्दल (नाहन), १४१. मलहौटी (नाहन) १४२. गढ़ी गोसाई, १४३. बासू (नाहन) १४४. कैथमण्डी, १४५. कुराली, १४६ मनौली, १४७. शाहपुर, १४८. राजाकोट, १४६. राजाकोट, १५०. दामला, १५१. मुलाना, १५२. नारग, १५३. नाहन, १५४. मण्डी अकल शहर।

शिमला

१५५. शिमला

स्था०—सं० १६३८ वि०। प्र०—ला० शंकरलाल जी। मं०—श्री भगवानदास जी। स० सं०—३०। सहा०—५०। वा. आ.—२०००) रु०। सम्पत्ति—आ० स० मंदिर, १० दुकान लागत लगभग १०००००) रु०, तथा ७०००) रु०। पु० सं०—१०००। संस्था—आ० क० पा० और गुरुकुल फागू (सिरमौर) कार्य—पहाड़ी प्रान्त में प्रचार व शुद्धि।

१५६. डगशाई (रि० कुमार हट्टी)

रे० स्टे० व डा० खा०—डगशाई। स्था०—सन् १६२६ ई०। प्र०—दत्तराम जी। मं०—श्री मिठनलाल जी। स० स०—७। सहा०—८। वा० आ०—२००) रु०। सम्पत्ति—अचल, १२००) समाज मन्दिर। चल, ३००) रु०। पु सं०—१००। कार्य—दो शुद्धियाँ कराई गई। संस्था—आर्य कन्या पाठ० (छा०—२८), आर्यवीरदल (स०—५२)।

१५७. नालागढ़ (रियासत)

रे० स्टे०—रोपड़। डा० खा०—खास। स्था०-सं० १६६१ वि०। (रियासत की आज्ञा से चार वर्ष बन्द रही)। सं० १६६६ वि० से पुनः स्थापित। स० सं०—१८। प्र०—श्री ज्योतिप्रसाद जी। मं०—श्री अमरनाथ बसी। अवैतनिक प्रचारक—श्री वीरेन्द्र जी सत्यवादी। कार्य—कई हिन्दू देवियों की रक्षा, जनगणना प्रचार, बाल्मीकि भाइयों के लिए कूंआ। आ० वी० द० (स०—३२)। दलपति—पं० कृष्णदयाल जी।

१५८. कसौली

रे० स्टे०—कालका। डा० खा०—कसौली। स्था०—सन् १६०३ ई०। प्र०—पं० गोविंद रामजी। मं०—श्री लक्ष्मणदासजी बी० ए०। स० सं०—१०। वा० आ०—२५०) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर। पु० स०—२२५। कार्य—साधारण।

शेष आर्य समाज—

१५६. सोलन १६०. धर्मपुर. १६१. कोटखाई १६२. सपाटू १६३. धार १६४ कोटगढ़ १६५. शक्तिघाट १६६ जतोन।

रियासत पटियाला

१६७. सरहिन्द

रे० स्टे० व डा० खा० — सरहिन्द। स्था० – सं० १६७० वि०। प्र०–म० जीवाराम। मं०–श्री शुभकर्णदासजी। स० सं०–२६। सहा०—१५। सम्प०—आ० स० मन्दिर। पु० सं०—४२, कार्य—५ स्त्रियों और दो बच्चों की रक्षा।

१६८. रामामण्डी

रे० स्टे०—रामन (बी० बी० एण्ड सी० आई०)। पो० आ०—रामामण्डी। स्था०–सं० १६६१ वि०। प्र० – डा० सोमनाथजी। मं०—श्री जगत् प्रकाशजी। स० सं०–४५। वा० आ०—५००)। सम्प० —१००००) रु०। पु० स०—३०० वाचनालय। कार्य–२ शुद्धि, वेदप्रचार। संस्था—कन्या पाठशाला (छा० सं० ६०)। अकाल पीड़ितों की सहायता। है० स० में तीन जत्थे और ११०० रुपये भेजे।

१६९. नरवाना

रे० स्टे०–व डा० खा०–खास। जि०–सुनाम। स्था०—सं० १६६० वि०, प्र०—कुलवन्तराय जी लीडर। मं०—मनसाराम जी चक्रधारी। स० सं०—१६। सहा०—२०। वा० आय–२८० रु०। सम्प०–विशाल आ० स० मन्दिर तथा अन्य १५०००) रु०। पु० सं०—१०१। कार्य—आर्य कन्या पाठशाला (सम्प० — २००० रु०) आर्य वीर दल (स०—२०) तथा अन्य कार्य।

१७०. सनौर

रे० स्टे०—पटियाला। डा० खा०—खास। प्र०—मा० फतहचन्दजी। मं०—श्री शक्तिप्रसाद गौड़। सहा०—२०, सम्प०–आ० स० मन्दिर व एक मकान। वा० आ०–१८ रु०। पु० सं०–१०४। कार्य–साधारण।

१७१. भरोड़

रे० स्टे०—बरनाला। डा० खा०—भरोड़। स्था०—२६ माघ सं० १६६० वि० प्र०—ला० धनीराम, मं०–ला० हंसराज जी। स० सं०–२०। वा० आ०–२५०। सम्प०–अचल ४०००) एक मकान। पु० सं०–१६ का०—आर्य कन्या पाठशाला (छा०–१५०)

१७२. बनूड़

रे० स्टे०—राजपुर, डा० खा०–बनूड़। स्था०—१६७१ वि०। प्र०—दयाराम जी। मं०—कृष्णचन्द्र गुप्ता। स० स०—१५। सहा०—२। वा० आ० २००)। सम्प०–आर्यसमाज मन्दिर तथा २५०) रु० नकद। पु० सं० - २० रु०। कार्य—साधारण।

१७३. तलवड़ी साबो

रे० स्टे० – राजामंडी या मोड़मंडी। डा० खा०—खास, जिला बरनाला। स्था०–१ म वैशाख १६६७ वि०। प्र०—श्री सोभाराम। मं०–श्री निगाहीराम। स० स०–१२।

वा० आ०—६०)। सम्पत्ति—२००) चल, आर्यसमाज मन्दिर। (लागत-५००रु०) पु० सं०-५०। का०—दलितोद्धार प्रचार आदि। है० स० में १४५ रु. ८ आ. सहायता दी।

शेष आर्य समाज—

१७४.पटियाला १७५. भटिंडा १७६. बरनाला १७७. पाईल १७८. मानसा १७९. बस्ती १८०. सामाना १८१. बोहा १८२ चनार थल १८३. मौड़मंडी १८४. चौन्दा १८५. बरेटा मंडी १८६ खरल १८७. कुलरियां १८८. सूद काना १८९. सुनाम १९०. धमतान १९१. उमरगढ़ १९२. मछली कलां १९३. राजो माजरा १९४. भवानीगढ़ १९५. नारनौल १९६. महेन्द्रगढ़ १९७. शोरपुर १९८. ननौला।

रि० नाभा

१९९. नाभा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १९८२ वि०। प्र०—श्री शम्भूनाथ आर्य सेवक। स० सं०-५०। सम्पत्ति-स० मन्दिर (३०११ रु०) २ भवन व स्कूल के लिए भूमि। पु० सं०-६००। (आर्य वै० पु०)। का०—वैदिक संस्कार, सत्संग आदि। संस्था-आर्य कन्या पाठशाला (छा०-१००) आर्य हाई स्कूल (छा०-२००) आर्य स्त्री—समाज, आर्य वीर दल।

२००. लुखी

रे० स्टे०—कोसली (बी. बी. एण्ड सी. आई. ई.)। डा० खा०—कनीना। स्था०—सं० १९७० वि०। प्र०—श्री मंगलराम जी। मं०—श्री सोहनलाल। स० सं०— १४०। वा० आ०— ४०) रु०। सम्पत्ति— आर्य समाज मन्दिर (लागत ५००रु०)। पु० सं०-२०। वाचनालय। का० – रि० दोजाना जि० रोहतक में आर्यसमाज की स्थापना तथा जन-गणना प्रचार।

२०१. जैतों

रियासत जींद

२०२. मुसलाना

रे० स्टे०—मड़लौढ़ा। डा० खा०—सन्दोल। स्था०—१९७४ विक्रमी। प्र०—चौ० सवीरसिंह। मं०—चौ० नरसिंहदास। स० सं०—५०। सहा०-१०। वा० आ०-२०)। सम्पत्ति—४०)। पु० सं०—२५)। संस्था—आर्य वीर दल (स०—१५)।

२०३. संगरूर

रे० स्टे० व डा० खा०— संगरूर। स्था०—नवम्बर सन् १९२२ ई०। प्र०—भगवानदासजी। मं०—मा० निरंजनदासजी। स० सं०-७०। सहा०-२५०। वा० आ०-१४३० रु० ६ आ० ३ पा०। सम्प०—दस हजार रु०, पु० स०-५०० तथा वाचनालय। कार्य—सनातन धर्म महावीर दल के साथ शास्त्रार्थ। जनगणना सम्बन्धी प्रचार तथा अन्य प्रचार। २० शुद्धि, २ संस्कार।

शेष आर्य समाज—

२०४. जींद शहर, २०५. सफ़ीदोमंडी २०६. कालवा, २०७. शीला खेड़ी, २०८. जींद जंक्शन। २०९. बोंद खुर्द, २१०. बधाना, २११. जाजवान।

जिला लुधियाना

२१२. लुधियाना (दालबाज़ार)

रे० स्टे० व डा० खा०—खास। स्था०—सन् १८९५ ई०। प्र०—म० प्रभुदयाल जी वकील, मं०—मा० परमानन्द कपूर। स० सं०—६२। सहा०—१४०। वा० आ०—८००) रु०। सम्पत्ति—आर्यसमाज मन्दिर आदि लागत लगभग ३५०००) रु०। पु० सं०—३६५ व वाचनालय। का०—साधारण।

२१३. लुधियाना (साबुन बाजार)

स्था०—सन् १८९२ ई०। प्र०—डा० विन्द्रावन जी, मं०—ला० शान्तिस्वरूप जी। स० सं०—९०। सहा०-९। वा० आ०—२४९०) रु० ९ पाई। सम्प०—आ० स० मन्दिर आदि मूल्य लगभग २ लाख रुपया। पु० सं०—२९१ तथा वाचनालय। प्रचारक—२ गुरुकुल स्नातक, ३ शास्त्री, २ बी. ए.। का०—वेद-प्रचार में ४००) रु० वार्षिक व्यय, ई० स० में १८९७) रु० ९ आ० की सहायता। संस्था—ग० आ० क० पा०, आर्य हाई स्कूल, आर्य मैडिकल स्कूल और दयानन्द हस्पताल।

२१४. मालेर कोटला (रि०)

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—जनवरी सन् १८९६ ई०। प्र०—ला० रलाराम सूद, मं०—ला० इन्द्रसैनजी। स० सं०—१२। सहा०—१०। वा० आ०—५२) रु०। सम्प०—३०००) रु०। पु० सं०—१३०। का०—साधारण।

शेष आर्य समाज—

२१५. रामकोट, २१६. खन्ना, २१७. साहनेवाल, २१८. जगरांवा, २१९. समराला, २२०. बागड़यां, २२१. सिहाला २२२. माछीवाड़ा, २२३. बहलोलपुर, २२४. भैनीरोडा, २२५. लताला, २२६. पखोवाल. २२७ धुलेर, २२८. मुनेर।

जिला जालन्धर

२२९. जालन्धर नगर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १९४२ वि०। प्र०—श्री लब्भूराम जी, मं०—श्री धनीराम जी। स० सं०—७७। सहा०—१०५। वा० आ०—(चन्दा ६०० रु०) सम्प०—विशाल आर्यसमाजमन्दिर। संस्था—श्री लब्भूराम द्वारा और हाई स्कूल व उसकी चार शाखायें। का०—साधारण। आ० कु० स० (स० १००)।

२३० फिल्लौर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सितम्बर सन् १९२८ ई०। प्र०—ज्ञानी

साधुराम जी, मं०—श्री मुन्नीलाल जी। स० सं०—२८। सहा०—१८। वा० आ०—४८५ॾ)॥, सम्प०—अचल १०५००) चल, ६६४॥)। पु० सं०—२१७। का०—वेद-प्रचार, दलितोद्धार, आर्यवीरदल (स०-२०)।

२३१. नवाँशहर द्वाबा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। प्र०—श्री आसानन्द जी, मं०— श्री भद्रसेन जी। स० सं० — ४८। वा० आ०—'३५०। सम्प०— १२०००) नकद, अचल समाज मन्दिर व एक हाईस्कूल का भवन। का०—दलितोद्धार के लिये ६०), अकाल फण्ड में २०) तथा अन्य १८०) एवं हैदराबाद सत्याग्रह में १२००)।

२३२. महतपुर

रे० स्टे०—नकोदर, डा०खा०—महतपुर। स्था०—१३ सितम्बर सन् १६१३ ई०। प्र०—ला० शादीराम, मं०—म० सत्यप्रकाश जी। स० सं०—१३। वा० आ०—३३८॥=)। सम्प०—एक दुकान। पु० सं०—२००। का०—साधारण।

२३३. कोटबादलखाँ

रे० स्टे०—नूर महल। डा० खा०—स्वयम्। स्था० -२१ पौष सं० १६८३ वि०। प्र०— ला० झगमल जी। मं०—दौलतराम जी। स० सं०— ८। सम्पत्ति— लगभग २०००) का समाज मन्दिर, ६०) और सम्पत्ति। पु० सं०—४५। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला प्राइमरी तक (छा०—३५)।

२३४. खानखाना

रे० स्टे०—बंगा। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—अगस्त सन् १६३६ ई०। प्र०—धनपतिराय नम्बरदार। मं०—श्री भाग चन्द आर्य। स० सं०—१६। कार्य—साधारण।

शेष आर्य समाज—

२३५. जालंधर छावनी, २३६. करतार पुर, २३७. राहों, २३८. नूर महल, २३६. अपरा, २४०. आदमपुर, २४१. बस्ती गुजा, २४२. अलावलपुर, २४३. तलवन, २४४. बंगा, २४५. मुकन्दरपुर, २४६. जमशेर, २४७. बस्ती शेख, २४८. लेखपुर, २४६. बिलगा, २५०. जाडला, २५१. सङ्गतपुर, २५२. शाहपुर, २५३. मलीसमां, २५४. चक मुग़लानी।

जिला फिरोजपुर

२५५. फिरोजपुर (राणी का तालाब)

रे० स्टे०—फिरोजपुर शहर। डा. खा.—स्वयम्। स्था०—सन् १६१३ ई०। प्र०—तुलसीराम जी। मं०—मदनजीतसिंह। स० सं०—८२। सहा०—३०। वा० आ०—८००)। सम्पत्ति—१२०००) रु० लागत का मन्दिर, नक़द २२५) रु०। पु० सं०—५००। कार्य—वेद प्रचार, दलितोद्धार, १० विधवा विवाह, संस्कार आदि। स्त्री आर्य समाज है।

२५६. ज़ीरा

रे० स्टे० व डा० खा०—ज़ीरा । स्था०—दिसम्बर सन् १६२८ ई० । प्र०—बाबूरामजी मं०—जगतरामजी । स० सं०—६ । सहा०—१०० । वा० आ०—६०) । सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर । पु० सं०—३२ ।

२५७. मलौट मण्डी

रे० स्टे०—मलोट । डा०खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६२१ ई० । प्र०—चौ० हरजी राम जी । मं०—म० प्रभुदयाल जी । स०-सं०—१६ । सहा०—२२ । वा० आ०—१२००) । सम्पत्ति—मन्दिर । कार्य-प्रचार दलितोद्धार, जन गणना सम्बन्धी कार्य, ई० स० में १२ स्वयं सेवक व ४००) । सन्स्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा० ११०) ।

२५८. अबोहर

रे० स्टे० व डा० खा० — अबोहर । स्था०—मार्च सन् १६०० ई० । प्र०—ला० चान्दीराम जी वर्मा । मं०—मुकुन्दलाल जी । स० सं०—६५ । सहा०—३० । सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर, आर्य पुत्री पाठशाला भवन, आधा किता रिहायशी । संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला ५वीं कक्षा तक छात्राएँ २३१ । कार्य—शुद्धियाँ ७, अन्तर्जातीय विवाह ४ ।

२५६. फाज़िल्का

प्र०—ला० चानन लाल जी । मं०—ला० रामचन्द जी । सम्पत्ति—२००००) दो मन्दिर । कार्य—हज़ारों शुद्धियाँ, सहभोज, प्रचार इत्यादि । संस्था—पुत्री पाठशाला, (छा० सं०—१७५) । विशेष—आर्य प्रादेशिक और आर्य प्रतिनिधि सभा, दोनों सभाओं में प्रतिनिधि जाते हैं । २ समाजें मिलकर एक हो गई हैं ।

शेष आर्यसमाज—

२६०. मोगा, २६१. गिदड़बाहा, २६२. कैनाल कौलोनी (फिरोजपुर), २६३. बस्ती टैंकावाली (फिरोजपुर), २६४. कोट ईसा खां, २६५. ममदौट, २६६. मुदकी, २६७. मुक्तसर, २६८ धर्मकोट, २६६. गुरुहर-सहाय, २७०. कलसियां, २७१. अमरपुर, २७२. मनेर, २७३. सलीना, २७४. फिरोजपुर छावनी ।

जिला होश्यारपुर

२७५. दसूहा

रे० स्टे०—व डा० खा०—दसूहा । स्था०—सन् १८६१ ई० । प्र०—गण्डारामजी हकीम । मं०—रामाश्रयजी वकील । स० सं०—२६ । सहा०—५५ । वा० आ०—६० । सम्प०—दो समाज मन्दिर डी. ए वी. स्कूल का भवन पु० सं०—५० । संस्था—डी. ए. वी. हाई-स्कूल (छा०—३००) । कार्य—साधारण ।

२७६. हरियाना

रे० स्टे०—होश्यारपुर । डा० खा०—हरियाना । प्र०—श्री तीर्थराम । मं०—श्री०

शिवराम सगरपाल। स० सं०-२०। सहा०-१५। वा० आ०-३०)। सम्प०-५-६ हजार रु० का समाज मन्दिर। पु० सं०—२००। संस्था—भाई भगवती पुत्री पाठशाला।

शेष आर्यसमाज—

२७७. मुकेरियां, २७८. जजों, २७६. रामटट वाली, २८०. गढ़शंकर, २८१. होश्यारपुर, २८२. दातारपुर, २८३. बुड्ढागढ़, २८४. खरड अछरवाल, २८५. कोटफतूही, २८६. चिन्तपुरणी, २८७. सरहाला कहालां, २८८. हाजीपुर।

जिला गुरुदासपुर

२८६. दीनानगर

रे० स्टे०—व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८८३ ई०। प्र०—डा० हरिदासजी। मं०—श्री प्रकाशचन्द्र आनन्द। स० सं०-६०। सहा०—११। सम्प०—आर्यसमाज मंदिर, ५ एकड़ भूमि, देवभवन अथवा दया. नन्द मठ। पु० स० —१०००। का०—१० शुद्धियां, ३ विवाह। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—२५) आ. वी. द.।

२६०. कादियाँ

रे० स्टे०—व डा० खा०—स्वयम् प्र०—लाला हरीरामजी। मं०—लाला जगदीशमित्र जी। स० सं०—३०। वा० आ०-१००। सम्प०—दो मन्दिर, एक मकान। वेद कौर आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—५०)।

२६१. तलवडीरामां

रे० स्टे०—तलाबगढ़। स्था०—सं० १९६३ वि०। प्र०—रामसहायजी। मं०—श्री लालचन्द। स० सं०-२०। सहा०-१३। सम्प०—३५। पु० सं०—१५। का०-वेद प्रचार, जनगणना प्रचार तथा शुद्धि।

२६२. सुजानपुर

रे० स्टे०—पठानकोट। डा० खा०—सुजानपुर। स्था०—सन् १६०४ ई०। ०—पं० चिरञ्जीलालजी। मं० ·ला० ईश्वरचन्द्र जी। स० सं०—४०। सहा०—४० वा० आ०—७२ रु०। सम्प०—५०००) रु०। पु० सं०—२५०। प्रचारक—१ कार्य—५ शुद्धि, मलेरिया के रोगियों में सेवा कार्य।

२६३. चम्बा (रियासत)

रे० स्टे०—पठानकोट। डा० खा०—शहर चम्बा। स्था०—सं० १९७६ विक्रमी। प्र०—श्री पूर्णचन्द्र जी पुरी। मं०—श्रीराम शरणजी महाराज। स० सं०-११, सह० ०-२१। वा० आ०—१६८१)॥। सम्प०—१००००)। पु० .. ० – ३३४। का०—चम्बा हिन्दी शिक्षा छपवा कर अशिक्षितों में प्रचार किया, शुद्धि १६०० हो चुकी हैं। एक अन्तर्जातीय विवाह। कन्या पाठशाला तथा एक लड़कों का स्कूल चल रहा है।

शेष आर्यसमाज—

२६४. गुरुदासपुर, २६५. बटाला,

२९६. शंकरगढ़, २९७. श्री गोबिन्दपुर, २९८. डेरा बाबा नानक, २९९. धर्मकोट रंधवा, ३००. पठानकोट, ३०१. घुमान, ३०२. बुजर्गवाला, ३०३. भागोवाल, ३०४ दूधाचक, ३०५. नूरकोट, ३०६. कंजरूर, ३०७. सुखोचक, ३०८. कोटनैना, ३०९. नरोट जयमलसिंह, ३१०. इख़लासपुर, ३११. फतहगढ़ चूड़ियाँ, ३१२. घरोटा, ३१३. बारामेगा, ३१४. काला अफ़गान, ३१५. मल्लाह, ३१६. खानेवाल, ३१७. बड़ाला बांगर, ३१८ मुण्डीमाला, ३१९. सुचानियां, ३२०. धारीवाल, ३२१, छीना, ३२२. तेजा कलां, ३२३. पनियाड़, ३२४. बहरामपुर, ३२५. कोटली सूरत वाली, ३२६. धनिये की बांगर।

जिला अमृतसर

३२७. जन्डयाला गुरु

रे० स्टे० व डाकखाना—स्वयम्। स्था०—सं० १९७६ वि०। प्र०—पं० देवसैनजी शादी एम० ए०। मं०—श्री मेहरचन्द जी पसान। स० सं०—२२। सहा०—१०। वा० आ०—२०६। सम्पत्ति—समाज मन्दिर—५०००) २ जगह खाली २००)। संस्था—स्त्री समाज। आर्यकुमार सभा (स०—२०)। पु० सं०—२८७। का०—साधारण।

शेष आर्यसमाज—

३२८. श्रद्धानन्द बाजार अमृतसर, ३२९. नौशहरा पन्नवां, ३३०. मजीठा, ३३१. शामनगर, ३३२. वैरोवाल, ३३३. फतहाबाद, ३३४. व्यास, ३३५. अजनाला, ३३६. सारंगदेव, ३३७. नूरदी, ३३८. सोहल ३३९. खलचियां, ३४०. नुशहर ढाला, ३४१. बुताला, ३४२. कथूनंगल, ३४३. मथेरवाल, ३४४. तरनतारन, ३४५. महलांवाला, ३४६. माकोवाल, ३४७. चाविंडा देवीवाला, ३४८. जलालाबाद, ३४९ चुभाल, ३५०. भंगाली।

जिला लाहौर

३५१. क़िला गूजरसिंह लाहौर

रे० स्टे० व डा० खा०—लाहौर। स्थापना—सन् १९१७ ई०। प्र०—श्री विष्णुदास जी। मं०—ज्ञानचन्द्र जी। स० सं०—२०। सहा०—५। सम्पत्ति—समाज मंदिर। २४४|||=) कोष। कार्य—२ शुद्धियां। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—२००)।

३५२. आर्यनगर चौबुर्जी गार्डन्स लाहौर

स्था०—स० १९९१ वि०। प्र०—श्री आत्मचन्द्र जी। मं०—श्री अमीरचन्द जी। स० सं०—६। सहा०—३०। सम्पत्ति—समाज मन्दिर। कार्य—साधारण।

३५३. चूनियाँ

रे० स्टे०—छांगाँ मंगाँ। डा० खा०—चूनियाँ। स्था०—जून १९१८ ई०। प्र०—

श्री बुलाकीराम जी वकील। मं०—श्री गिरधारी लाल जी। स० सं०—३६। सहा०—६। वा० आ०—४८६॥-)। सम्पत्ति—अचल समाज मन्दिर (लागत ५००० रु०)। पु० सं०—४६४। कार्य—१ शुद्धि, जनगणना का कार्य किया तथा ग्रामों में वेद प्रचार किया। अकालफंड में ३५) रु० व वस्त्र दिये विशेष—एक बरात विश्रामालय है जिसकी लागत ४५००) रु० है।

३५४. खुड्डियाँ खास

रे० स्टे०—व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १९८२ वि०। प्र०—हकीम भगवानदास जी। मं०—पं० दीवानचन्द्रजी। स० सं०—१५। सहा०—१०। वा० आ०—८० रु० सम्प०—समाज मन्दिर लागत ८००)। पु० सं—१५०। संस्था—आ० कन्या पाठशाला। कार्य—साधारण।

शेष आर्यसमाज—

३५५. बच्छोवाली (लाहौर) ३५६. ग्वाल मंडी (लाहौर), ३५७. लाहौर छावनी, ३५८. गुरुदत्त भवन लाहौर, ३५९. कसूर, ३६०. पत्तोकी, ३६१. खेमकरण, ३६२. काहनानौ, ३६३. कोहरियां, ३६४. मुगलपुरा, ३६५. चूनियां, ३६६. कंगनपुर, ३६७. अकबर मण्डी (लाहौर), ३६८. राम गली, ३६९. रायविंड, ३७०. किलालछमनसिंह लाहौर, ३७१. इच्छरा (लाहौर), ३७२. पक्की ठट्टा, ३७३. काहना, ३७४. मण्डी रायविंड, ३७५. छांगा मांगा, ३७६. कोट राधा किशन, ३७७. भारतनगर, ३७८. सन्तनगर।

जिला शेखूपुरा

३७९. क़िला शेखूपुरा

रे० स्टे०—स्वयम्। डा० खा०—शेखूपुरा। स्था०—सन् १९०० ई०। प्र०—ला० शिवनाथ राय बी० ए० एल० एल० बी०। मं०—चौ० हरीराम जी लीडर। स० सं०—६०। सहा०—१५। वा० आ०—३४६७) रु०। सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर (लागत १५०० रु०), दुकानें (कि० ४० रु०मासिक)। पु० सं०—३०० तथा वाचनालय। संस्था—आर्यपुत्री पाठशाला (छा०—११७०)। आ. वी. द. (स०—१५), स्त्री समाज, प्रीतम वैदिक पुस्तकालय। कार्य—२ कन्याओं की रक्षा, दैनिक सत्सङ्ग, पर्व आदि। प्रचारक—पुरोहित व उपदेशक। विशेष—पजाब की दोनों प्रतिनिधि सभाओं से सम्बद्ध है।

३८०. सांगला हिल

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सम्वत् १९६५ वि०। प्र०—म० सोहनलाल जी। मं०—कृष्णलाल जी। स० सं०—४०। वा० आ०—२१५≢)॥। पु० सं०—५३। प्रचारक—१। कार्य—दलितोद्धार व ग्राम प्रचार।

३८१. शरकपुर

रे० स्टे०—लाहौर। डा० खा०-शर्कपुर। स्था०-अक्टूबर सन् १८८६ ई० । प्र०-म० वागीराम जी। मंत्री-म० लालचन्द जी। स० सं०-११। सम्प०-अचल ६००) रु०। पु० सं०-३००। का०-साधारण।

३८२. ननकाना साहब

प्र०—श्री दीवान चन्द बजाज। मं०-श्री हरबन्शलाल जोश। स० सं०-३०-३५। वा० आ०-६६) रु०। संस्था-स्त्री समाज, युवक समाज। सम्प०—समाज मन्दिर (ला. ४००० रु०)। कार्य—बटवाल भाइयों का प्रायश्चित।

३८३. भागीयाँ

रे० स्टे०—वदोमली व महता सूजा। डा० खा०— स्वयम्। स्था०—वैशाख सं० १९६४ विक्रमी। प्र०—श्री खुशीराम जी। मंत्री—श्री धर्मदेव जी। स० सं०—१०। सहा०—७। सम्पत्ति-चल १००), अचल ८००) रु०, आ. स. मन्दिर (ला०-२०००रु.) पु० सं०—३००। कार्य—साधारण।

शेष आर्य समाज निम्न हैं:—

३८४. खानकाह डोगरां, ३८५. मढ़ बिलोचा, ३८६. चूहड़काना, ३८७. सांगलाहिल, ३८८. काला खवाई, ३८९. जड़याला कलसां, ३९०. शाहदरा, ३९१. शाहदरा मिल्ज़, ३९२. बारबर्टन, ३९३. मलकपुर।

ज़िला स्यालकोट

३९४, स्यालकोट

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था० सन् १८७१ ई०। प्र०—ला० चरणदास जी एडवोकेट। मंत्री—श्री सरूप नारायण जी वकील। स० सं०—८०। सहा०—३०। सम्प०-स० मन्दिर, ११ दुकानें, आ० क० हाई स्कूल का भवन, (ला० ५०००० रु.), १ भवन (कि० १०० रु. मासिक)। संस्था०-आ० क० हाई स्कूल, आर्य युवक समाज, आ० वी० द०, आ० वी० सेना, आर्य गर्ल्स दर्जी क्लास। प्रचारक-५ तथा १ पुरोहित। का०-शुद्धि व ग्राम प्रचार।

३९५, साहोवाला

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०-मार्च सन् १९०१ ई०। प्र०—श्री पं० मुकंद लाल। मं०-श्री म० हरिराम। स० सं०- ६। सहा०-१५। वा० आ०-२५) रु०। पु० सं०-३०। कार्य—साधारण।

३९६. पसरूर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। प्र०-श्री खुशहालचन्द जी गेंद। मं०—श्री हरबंस लाल महाजन। स० सं०—१५। सहा०—१२। वा० आ०-६४॥-)। सम्प०-आर्य समाज मन्दिर। पु० सं०—४४। का०-२५ ग्रामों में प्रचार किया गया, ५० शुद्धियां कीं, आ० कु० स० (स०-१३)।

३९७. कोटली लोहारां गरबी

रे० स्टे०—स्यालकोट (८ मील, कि० तां० १२ आ०)। स्था०-मार्च सन् १९३२ ई०। प्र०—श्री प्यारेलाल जी। मं०—श्री भागमल जी। स० सं०—२०। सहा०—३०। वा० आ०-१९७ रु० ६ आ०। सम्प०—२००० रु०। पु० सं०—२५। संस्था०—स्त्री आर्य समाज। कार्य—दलितोद्धार व ग्रामप्रचार।

३९८. किला शोभासिंह

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। प्र०—श्री लाभचन्द्र जी। मं०—श्री राजपाल जी। स० सं०-४३। वा० आ०-४६४ रु० ११ आ०। सम्प०-समाज मन्दिर। (ला० २०००) रु०। चल ४०० रु०। पु० सं० ११५।

३९९. सनखतरा

रे० स्टे०—नारोवाल। डा० खा०—सनखतरा। स्था०-सम्वत् १९७० वि०। प्र०—पं० नाथूराम जी। मं०—श्री रामलाल जी। स० सं०—१०। सहा०—५। सम्प०—स० मं०। पु० सं०-५०। कार्य—साधारण।

शेष आर्य समाज निम्न हैं:—

४००. स्यालकोट छावनी, ४०१. भूपालवाला, ४०२. डसका, ४०३. नारोवाल, ४०४. बम्बांवाला, ४०५. जामकी,

४०६. जफ़रवाल, ४०७. चविंडा, ४०८. क्लासवाला, ४०९. सौकणविंड, ४१०. उगोकी, ४११. गोता फतहगढ़, ४१२. मराकीवाल खुर्द, डा० गुलविहार, ४१३. वीरोंके, ४१४. शहज़ादा, ४१५. आहल, ४१६. रोड़स, ४१७. घढ़तल, ४१८. टपियाला, ४१९. आहलूलाल, ४२०. मीरोवाल, ४२१. मलकपुर, ४२२. मुन्डेकी, ४२३. जोवाला, ४२४. दाऊद, ४२५. सम्बड़ियाल, ४२६. रन्धावा, ४२७. तलवंडी भिंडरां, ४२८. चपराड़, ४२९. मालोमेह, ४३०. वगेर, ४३१. खानांवाली, ४३२. उद्दाफगत, ढोडा, ४३३. धारीवाल, (स्यालकोट) ४३४. गोधपुर, ४३५, रंगपुर पीडीरीइयां, ४३६. भोथ, ४३७. सुन्दरपुर, ४३८. प्रकाशनगर (स्यालकोट) ४३९. चिट्टी शखा, ४४०. डौडा, ४४१. ढपई।

ज़िला गुजराँवाला

४४२. गुरुकुल गुजरांवाला

रे० स्टे०—गुजराँवाला टाउन । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—मार्च सन् १८७८ ई० । प्र०—लाला गोविन्दराम जी । मं०—श्री विश्वम्भरनाथ जी । स० सं०—१२५ । सहा०—२१ । वा० आ०—१२०७॥=) । सम्प०—आ० स० मन्दिर दुकान आदि, चल ११७५) रु० । पु० सं०—१६६४३ व वाचनालय । संस्था—आ० क० मि० स्कूल (छा० ८०)। पुरोहित—१ । कार्य—२ अंतर्जातीय विवाह । ग्रामप्रचार, साहित्यप्रचार, संस्कार ३७ । सहा०—अंध-विद्यालय (अमृतसर) को १५ रु. और हिसार रिलीफ फण्ड में, २०० रु. हरिज़न सेवक संघ देहली को २५) रु० ।

४४३. पिण्डी भटियाँ

रे० स्टे०— सुक्खेकी । डा० खा० — स्वयम् । स्था०— सन् १९६१ ई० । प्र०— तुलसीदास जी आर्य सेवक । मं०—श्री बरकतराम जी वर्मा । स० सं०— ३० । सहा०—१५ । वा० आ०—७००) रु० । सम्प०—६०००) रु० । पु० सं०—१५० । क.०—ग्राम प्रचार, रायपुर में समाज स्थापित कराई, समय समय पर दलितोद्धार, वेद प्रचार, ग्रामप्रचार, बाल विवाह के सम्बन्ध में प्रचार किया गया । है०सत्याग्रह में ११ सत्याग्रही भेजे गये । संस्था— भरांवादेवी वैदिक पुत्री पाठशाला (छा०—७५) ।

शेष आर्यसमाज—

४४४. गुजरांवाला, ४४५. हाफ़िजाबाद ४४६. वज़ीराबाद, ४४७. खानकी, ४४८. कालेकी, ४४९. गक्खड़, ४५०. रामनगर, ४५१. कोटनिक्का, ४५२. किला दीदारसिंह, ४५३. फिरोज़वाला, ४५४. माड़ी भिंडरा, ४५५. चहल, ४५६. अकालगढ़, ४५७. कामोकी, ४५८. कलियानवाला, ४५९. जलालपुर नौ, ४६०. किला मियांसिंह, ४६१. नुशहरां बिरकां, ४६२. मान ।

रियासत जम्मू व कश्मीर

४६३. जम्मू

रे० स्टे०—जम्मू तवी। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १६५० वि०। प्र०—ला० सोहनलाल जी। मन्त्री— म० तुलसीराम जी। स० सं०—४०। सहा०—३१। वा० आ०—१७३५) रु०। सम्पत्ति—चल ८०००), अचल १५०००)। पु० सं०—५०० वाचनालय। प्रचारक–१। का०–ग्राम प्रचार, चिकित्सा, शुद्धि तथा अन्तर्जातीय विवाह। सहा० कार्य–अकाल फण्ड में ५०)। संस्था–आर्य कन्या पाठशाला (छा०—२५०), आर्य पाठशाला बटहड़ा ग्राम व गदाग्राम।

जिला मीरपुर

४६४. कोटली

रे० स्टे०— जेहलम। डा० खा० — स्वयम्। स्था०— सन् १६०५ ई०। प्र०— लाला रामनाथ जी वकील। मं०—ला० मंगतराम जी। स० सं०—१५। सहा०— सं० २५। प्रचारक–पं० ऋषिदेव जी। संस्था–कन्या पाठशाला मिडिल, बाला समाज। आर्य कु० सभा (स०–२०)। विशेष— पंजाब की दोनों प्रतिनिधि सभाओं से सम्बद्ध।

जिला ऊधमपुर

४६५. भद्रवाह

स्था०—१५ आषाढ़ सं० १६८१ वि०। प्र०—कोतवाल लक्ष्मीराम जी। मं०—कविराज विद्यालालजी। स० सं०–११। सहा०–२०। वा० आ०–१२०)। सम्प०–४०००)। पु० सं०—२६६। का०—वेद प्रचार, पांच शुद्धियाँ, छः संस्कार। स० कार्य—५ निर्धन बालक व स्त्रियों को वस्त्र दिये गये।

४६६. नागरिक, श्रीनगर (काश्मीर)

प्रधान—पं० प्रेमनाथ जी कौल। मं०–पं० काशीनाथ जी। स० सं०–४०। संस्था–आर्य कन्या पाठशाला तथा वैदिक स्कूल।

शेष आर्यसमाज—

४६७. मीरपुर, ४६८. ऊधमपुर, ४६६. किष्टवाड़, ४७०. रामनगर, ४७१. रणवीरसिंहपुरा ४७२, कठूआ, ४७३. हीरानगर, ४७४. चकरोही, ४७५. सनौर, ४७६. अखनूर, ४७७. रियासी, ४७८. बटोत, ४७६. विशनाह, ४८०. रामबन, ४८१. रामसू, ४८२. बनिहाल, ४८३. साम्बा, ४८४. बसोहली, ४८५. रामपुर राजोरी, ४८६. अरनियां ४८७. सनूरा, ४८८. डोडा, ४८६. छम्ब, ४६०. मीरपुर सिद्धड़, ४६१. पौनी, ४६२. नुशहरा, ५६३. भिम्बर, ४६४. मनावर, ४६५. काहनाचक्र, ४६६. देवा बटाला, ४६७. धन्ना, ५६८. नड़याल, ५६६. देसासिंह, ५००. रावलाकोट, ५०१. रेनाबाड़ी (कश्मीर), ५०२. हजूरी बाग (श्रीनगर), ५०३. पुन्छ, ५०४. महाराजगंज (श्रीनगर), ५०५. बारामूला, ५०६. मुजफ्फराबाद, ५०७. अनंतनाग।

जिला गुजरात

५०८, हेडरसूल

रे० स्टे०-मंडी भाउदीन । डा० खा०-रसूल । प्र०—ला० चरणदास जी । मं०—श्री लहरीसिंह । स० सं०—५ । सहा०-५ । वा० आ०-५०) रु० । सम्पत्ति-स० मन्दिर व ८० रु० । पु० सं०-बहुत थोड़ी । संस्था-आर्य पुत्री पाठशाला । कार्य—साधारण ।

शेष आर्यसमाज—

५०६. गुजरात, ५१०. डिंगा, ५११. लालामूसा, ५१२. मलकवाल, ५१३. कुंजाह, ५१४. मंगोवाल, ५१५. शादीवाल, ५१६, दौलतनगर, ५१७. खारियां, ५१८. मंडी बहाउद्दीन, ५१६. भाऊघसीटपुर, ५२०. जौड़ा, ५२१. हरिया, ५२२. फालिया, ५२३. खोहार, ५२४. कादरावाड़, ५२५. कोडियावाला, ५२६. पीरोशाह, ५२७. जलालपुर,जट्टां, ५२८. टांडा, ५२६. बुडूढान, ५३०. बिद्धोभट्टी, ५३१. बहलोलपुर, ५३२. नधोर, ५३३. गुजगराई, ५३४. शेखचुङ्गान, ५३५. भागोवाल, ५३६ जलालपुर सोबतियां, ५३७. सुरखपुर ।

जिला झेलम

५३८, हरनपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०-सं० १६६६ वि० । प्र०—ला० लखपतरायजी । मं०—म० रामदास जी । स० सं०—२० । सहा०—२५ । वा० आ०—४० रु० । पु० सं०—१२ । का०-लगभग ४४ रु० विभिन्न संस्थाओं को सहायता ।

शेष आर्यसमाज—

५३६. झेलम, ५४०. पिंडदादनखां, ५४१. सैदपुर, ५४२. हरनपुर, ५४३. रव्यूड़ा ५४४. करियाला, ५४५. भौन, ५४६. चकवाल, ५४७. डलवाल, ५४८. जलालपुर, ५४६. कट्टा मिसराल, ५५०. कटास ।

जिला रावलपिंडी

५५१. रावलपिंडी

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०-सन् १८८७ ई० । प्र०—श्री ला० सीताराम जी । मं०—श्री म० गोपालजी । स० सं०—६३ । सहा०—५२ । वा० आ०—२६०० रु० सम्प०—लगभग ५०००० रु० । पु० सं०—३५० स० प०—१० । पुरोहित-१ । का०—विभिन्न फण्डों में ४७५) रु० सहायता, १२ शुद्धियां, १ अन्तर्जातीय विवाह । संस्था—आर्य महिला विद्यालय (छा० सं०—५१) ।

५५२, रावलपिंडी सदर बाजार

प्र०—म० नरेन्द्रनाथजी मोहन । मं०—श्री वंसीलालजी । स० सं०—५५ । सहा०—१५ । प्रचारक—पं० विश्वकर्माजी अवैतनिक पु० सं०—१००० । संस्था—कन्या पाठशाला (छा०—२००) ।

५५३. मरी पर्वत

रे० स्टे०—रावलपिंडी (३९ मील) स्था०—सन् १८९८ ई० । प्र०—श्री ला० रामलाल जी । मं०—श्री खुशहालचन्दजी । स० सं०—५०-६० । सम्प०—६०००) रु० का मकान । कार्य—साधारण प्रचार । संस्था आर्य हस्पताल (रोगी १५००० वार्षिक)। विशेष—यह आर्य समाज मई से सितम्बर तक खुलता है।

शेष आर्यसमाज—

५५४. लाल कुड़ती (रावलपिंडी) ५५५. डेराबखशियां, ५५६. गूजरखां, ५५७. चोहाभगतां।

जिला मियांवाली

५५८. बांभचरा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १८२४ ई० । प्र०—श्री शिवरामदासजी । मं०—श्री ठाकुरदास जी । स० सं०—१० । सहा०—१५ । वा० आ०—४३६ रु० २ आ० । सम्प०—समाज मन्दिर । पु सं०—२५० । का०—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—७५) वैदिक आश्रम व पुस्तकालय ।

शेष आर्यसमाज—

५५९. मियांवाली, ५६०. कुंदियां ५६१. कमरमिशानी, ५६२. भक्खर, ५६३ माड़ी ५६४. दाऊदखेल ।

५६५. कालाबाग

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १९३५ ई० मं०—श्री तीतारामजी । पुस्तकालय, पु० सं०—२०० ।

सरगोधा (शाहपुर)

५६६. मिठा टिवाना

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १९१७ ई० । प्र०— डा० ओंप्रकाश जी । मंत्री—श्री मोहनलाल जी । स० सं०—२० । सहा०—५ । वा० आ०—१३०॥-)॥ सम्पत्ति—आ. स. मन्दिर (ला०—६००० रु.) पु० सं०—६०, वाचनालय । संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—५०) पाठशाला का मकान ५०००) रु० का है । कार्य—विभिन्न संस्थाओं को १२९) रु० सहायता दी ।

५६७. मलवाल

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—१९६० वि० । प्र०—श्री रामप्यारा जी । मं०—डा० रामस्वरूप जी । स० सं०—५२ । सहा०—७५ । वा० आ०—२०३२) रु. । सम्पत्ति—आ० स० मन्दिर ३००००) रु० की लागत तथा ३००) रु० अन्य । कार्य—ग्रामप्रचार, वेदप्रचार, शुद्धि, संस्कार आदि । पुरोहित—पं० सुखदेव जी सिद्धान्त भूषण । संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—६७) आ. कु. स.—२२ । आ. वी. द.—३३ ।

५६८. मेरा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १८६२ ई० । प्र०— श्री पिंडीदास जी, मं०–भाई रामलाल जी। स० सं० —४० । वा० आ०—७६५–)||| । पु० सं०–३०० । का० – शुद्धि, ग्राम प्रचार, विवाह संस्कार, मृतक, मुण्डन तथा ग्रहप्रवेश संस्कार कराये, संस्था—श्रीमती लक्ष्मी देवी आर्य पुत्री पाठशाला । (छा०—२३४) आर्यकुमार सभा (स०—२०) ।

५६९. झावरियां

रे० स्टे०—शाहपुर सदर (११ मील) । डा० खा० –स्वयम् । स्था०—१९१५ ई० । प्र०—श्री कृष्णचन्द्रजी । मं०—श्री हीरानन्द जी । स० सं०—२५ । वा० आ०—३८) । सम्प०—२०००) रु० । का०—दलितोद्धार, ग्राम प्रचार, वेद प्रचार । ७३ रु० ४ आ० विविध-कार्यों में व्यय ।

शेष आर्य समाज—

५७०. सरगोधा, ५७१. मियानी, ५७२. खुशाब, ५७३. तख्त हजारा, ५७४. भद्राड ५७५. सिलांवाली, ५७६. फुलरवान ५७७. चक नं. १३५ जनूब, ५७८. सभरवाल, ५७९. जहानाबाद, ५८०. शाहपुर-सदर, ५८१. जहानियां।

५८२. कमालिया

रे० स्टे० व डा० खा०—कमालिया । स्था० –२८ दिसम्बर १८९० ई० । प्र०—महता लेखराज जी । स० सं०—५१ । सहा० सं०—४० । वा० आ०—१००) । सम्प०—पुत्री पाठशाला मन्दिर—५०००) । समाज मंदिर—५०००) । पु० सं०–११०० । पुरोहित–१ पुत्री पाठशाला ८ म श्रेणी तक (छा०—३८७) । आ० कु० सभा (स०—३०) ।

५८३. चकझूमरा

रे० स्टे०–व डा० खा०–स्वयम् । स्था०–१२ अगस्त सन् १९२४ ई० । प्र०–श्री खुशहालचन्द जी । मं०–श्री हंसराजजी वैद्य । स० सं०–४५ । वा० आ०–१८०) रु० । सम्प०–आर्यसमाज मंदिर । (ला०–६०००) पु० सं०–१०७ । पुरोहित—पं० सूर्यदेवजी । कार्य—ग्राम-प्रचार ।

शेष आर्यसमाज—

५८४. लायलपुर, ५८५. टोबाटेकसिंह, ५८६. तान्दलयाँवाला, ५८७. गोजरा, ५८८. जड़ावालाँ, ५८९. झिचकोट, ५९०. समुन्दरी, ५९१. चक नं० ६४ रामपुरा (डा० खुड़ियांवाला), ५९२. पपीमहल, ५९३. डगलसपुरा (लायलपुर ।

५९४. चेला

रे० स्टे०–चुण्ड । डा० खा०—चेला । स्था० –सं० १८८३ वि० । प्र०—श्री नत्थनलाल जी । मं०— श्री वजीरचन्द जी । स० सं०—६ । वा० आ० –१००) । सम्प०—

आर्यसमाज मन्दिर (लागत—१००० रु०)। पु० सं०—४४९ (मू० २८७ रु०) का०—ग्रामों में आर्य भाषा का प्रचार।

५९५. रजोआ

रे० स्टे०—चिन्योट। डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९२३ ई०। प्र०—श्री मोहनलाल जी। मं०—डा० कृष्णगोपाल जी। स० सं०—४०। सहा०—१८। का० आ०—७२) रु० सम्प०—समाज मन्दिर (लागत—६००० रु० तथा २००० रु०) अन्य। पु० सं०—४२०, समाचार पत्र ५। संस्था— आर्य पुत्री पाठशाला। कार्य— सभा के आधीन दयानन्द दलितोद्धार सभा द्वारा बाजीगरों और सांसियों में प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

५९६. झंगशहर ५९७. शेरकोट, ५९८. झंगमंघियाना, ५९९. कोटमूलचन्द, ६००. अहमदपुर स्याल, ६०१. न्यूचट।

मिंटगुमरी

६०२. पाकपटन

रे० स्टे० व डा० खा०— स्वयम्। प्र०—श्री रामलाल जी वकील। मं०—ला०

देशराज जी हटई बी० ए० । स० सं० —३० । सहा०— १५ । पु० सं०— २०० । संस्था—१. आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—१५२) २. आर्य कुमार सभा (स०—७०) । का०—२०० के लगभग धानक आर्य बने ।

शेष आर्यसमाज—

६०३. मिन्टगुमरी, ६०४. ओकाड़ा, ६०५. बूड़ेवाला, ६०६. चीचावतनी, ६०७. रीनालाखुर्द, ६०८. गुजीरा, ६०९. आरफवाला, ६१०. रीनालपुर, ६११. कबूला, ६१२. सतघरा, ६१३. नूरशाह, ६१४. हवेली लखा, ६१५. हीरासिंह ।

जिला मुलतान

६१६. मैलसी

रे० स्टे० व डा० खा०—मैलसी । स्था०—सन् १९०० ई० । प्र०—डा० लालचन्द जी मं०—श्री बलदेवदत्त जी । स० सं०—२० । सहा०— १० । वा० आ०— ७५०) रु० सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर (ला० ५०००रु०) संस्था—१. पुत्री पाठशाला— (छा०—६०), २. आर्यकुमार सभा (स०—१५) ।

६१७. लोधरान

प्रधान—डा० किशनचन्द जी । मं०—श्री रामनारायणजी । स० सं०—१८ । सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर ।

६१८. विहाड़ी

रे० स्टे० व डा० खा०—विहाड़ी (मुल्तान)। स्था०—सन् १९३३ ई० । प्र०—डा० भगवानदास जी । मं०—श्री विद्यासागर जी । वा० आ०—६००) रु० । सम्प०—आ० समाज मन्दिर व ५००) रु० । पु० सं०— १२५ । कार्य—१० शुद्धि । हिसार अकाल में १५) रु० और अन्न व वस्त्रों की सहायता ।

६१९. समासट्टा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयं । मं०—श्री बिहारीलालजी । स० सं०—१६ । सहा०—७ । वा० आ०—३००) रु० । सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर । पु० सं०—१० । कार्य—अकाल-फण्डमें २५) रु० तथा अन्य ।

६२०. शुजाबाद

रे० स्टे० व डा० खा०— शुजाबाद । मन्त्री—श्री विष्णुदत्त शास्त्री प्रभाकर । स० सं०—६० । सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर व पुत्री पाठशाला के भवन । कार्य—ग्रामसुधार, शुद्धि १ ।

शेष आर्यसमाज

६२१. मुलतान शहर, ६२२. मुलतान छावनी, ६२३. गुरुकुल मुलतान, ६२४. जलालाबाद, ६२५. सराय सिद्धू, ६२६. मियां चन्नू, ६२७. मखदूमपुर, ६२८. तुलम्बा, ६२९. खानेवाल, ६३०. सरदारपुरा, ६३१. करोड़ पक्का, ६३२. कबीरवाला. ६३३. जोधपुर, ६३४. लड्डानियां, ६३५. विहारी मण्डी, ६३६. [illegible]

नं० ६३।१२, ६३७. आर्यनगर, ६३८. गोबिन्दपुरा (मुलतान), ६ ६, चाह बोहड़वाला, ६४०. बिलाबलपुर ।

ज़ि० मुज़फ्फरगढ़

६४१. अलीपुर

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ़ । डा० खा०—स्वयं । स्थ.०—सं० १६५३ वि० । प्र०—डा० मूलराजजी । मं०—श्री ब्रह्मदेवजी वैद्य । स० सं०—५० । सम्प०—१५०००) रु० चल, अचल । पु० सं०— ४०० । संस्था—पुत्री पाठशाला मिडिल तक (छा०—सं० १५८) । आ० वी० द० (स०—२५) ।

६४२. जतोई

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ़ । डा० खा०—जतोई । स्था०—सन् १६१० ई० । प्र०—श्री ऊधोदास जी । मन्त्री—श्री जयदेवजी । स० सं०—५० । सहा०—२०० । स० सं०—३० । वा० आ०—५०) रु० । सम्प०—पाठशाला भवन ४०००) । पु० सं०—७० । प्रचारक—२ । संस्था— पाठशाला (छा०—स० १५०) ।

६४३. भुग्गीवाला

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ़ । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सं० १६८१ वि० । प्र०—श्री सोनूराम जी हकीम । मं०—श्री खेमचन्द जी । स० सं०—४१ । सहा०—६ । वा० आ०—६०) । सम्प०— समाज मन्दिर का मकान, मूल्य ३००) । पु० सं०— ५० । संस्था—आर्य पुत्र व पुत्री पाठशाला, आ० वी० द० (स०—१६) ।

६४४. खानगढ़

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ़ । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सं० १८६७ वि० । प्र०—पं० मंगतराम जी । मं०—श्री आसूराम जी । स० सं०—२० । सहा०—४० । वा० आ०—३००) । सम्पत्ति—६०००) । पु० सं०—२०० । कार्य—सत्संग, दैनिक और साप्ताहिक । कभी २ ग्राम-प्रचार तथा पत्रों द्वारा प्रचार । आ० कु० स० (स०—१५) आ० वी० द० (स०—३०) ।

६४५. खैरपुर सादात

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ । डा० खा०—स्वयम् । प्र०—पं० तन्नूराम जी । मं०—म० पूर्णचन्द जी । स० सं०—३५ । सहा०—५ । सम्प०—दसहज़ार रुपये । पु० सं०—२०० ।

६४६. शहर सुलतान

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सं० १६८५ वि० । प्र०—डा० सोहनलाल जी । मं०— श्री परमानन्द जी वैद्य । स० सं०—१३ । सहा०—५५ । सम्प०—(ला०—२०५० रु०) चल, ५००) । पु० सं०—२५ ।

६४७. सीतापुर

रे० स्टे०—मुज़फ्फरगढ़ । डा० खा०—

स्वयम् । स्था०—सन् १६०० ई० । प्र०—पं० वासुदेव जी विद्यालंकार । मं०—श्री उत्तमचंद आर्य । स० सं०—४० । सहा०—४० । सम्पत्ति-आ. स. मन्दिर (ला०—६००रु०) । पु० सं०—१०० । संस्था—पाठशाला ।

शेष आर्य समाज—

६४८. मुजफ्फरगढ़, ६४६. कोटअद्दू ६५०. सनावां, ६५१. दायरादीन पनाह, ६५२. लय्या, ६५३. मोची वाली, ६५४. रंगपुर, ६५५. करोड़ पक्का, ६५६. बस्ती गुजरात, ६५७. गुरुकुलबेटसोहनी, ६ ८. सुलतानपुर, ६५६. गुरमानी, ६६०. बस्ती कोट खलीफा ६६१. खानगढ़ ढोमां, ६६२. अलीपुर शुमाली ।

रियासत बहावलपुर

६६३. खानपुर

जि०—रहीमयार खान, रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६१० ई० । प्र०— श्री मुरलीधर जी । मं०— श्री पुरुषोत्तमदास जी । स० सं०—३२ । वा० आ०—२६३।) । सम्पत्ति—२३५०) चल और आर्य समाज मन्दिर, एवं हिन्दू स्कूल का भवन । पु० सं०—२६० । का०— साप्ताहिक सत्संग और वेद प्रचार आदि । संस्था—आर्य कन्या पाठशाला । विशेष— सरकार की आज्ञा के बिना उपदेशक बाहर से आकर प्रचार नहीं कर सकते ।

शेष आर्यसमाज—

६६४. बहावलपुर, ६६५. बहावलनगर, ६६६. सादिकाबाद, ६६७. उच्च, ६६८. समासट्टा, ६६६. खैरपुरटामेवाली, ६७०. अहमदपुर लम्बा, ६७१. अहमदपुर शर्किया, ६७२. रहीमयारखां, ६७३. सञ्जरपुर, ६७४.बादादवाला, ६७५. चिशतियां. ६७६. हसनाबाद, ६७७. गाजीपुर, ६७८. मैकलोडगंज, ६७६. सादिकाबाद, ६८०. पुराई, ६८१. भुग, ६८२. कोट सबजल ।

जि० डेरागाजीखां

६८३. जामपुर

रे० स्टे०—गाज़ीघाट । स्था०—१३ अक्टूबर सन् १८६१ ई० । प्र०—म० गणेशदत्त जी आर्य सेवक । मं०— म० मूलचन्द जी । स० सं०—१०२ । वा० आ०—२६७८॥-)॥ सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर । पु० सं०—१०५४ । (ला०—६०० रु०) । का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, ग्राम सुधार में ४३३)रु० और, ई० स० में ७१०) रु० व्यय । संस्था—हरि कन्या पाठशाला, वैदिक पाठशाला, आर्य महाविद्यालय (छा०—१५७) । आर्य कुमार सभा, आर्य वीर दल ।

६८४. टिब्बी कैसरानी

रे० स्टे०—लैय्या । डा० खा०—खास । स्था०—२ जनवरी सन् १६३२ ई० । प्र०— मेहरचन्द जी । मं०—श्री रलाराम जी । स०

सं०—३० । सहा०—२६ । वा० आ०—३०) । सम्पत्ति—समाज मन्दिर (लागत—२००० रु० तथा नक़द १५० रु०) । पु० स० —२० । का० —वेद प्रचार, २ विवाह-संस्कार, २ विधवा विवाह, ५ यज्ञोपवीत, ७ मुण्डन संस्कार, ४ नामकरण संस्कार । संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—२७), आ० कु० सभा (स०—२४), आर्यवीर दल (स०—२२) ।

६८५. तौंसा

रे० स्टे०—कोट सुल्तान । डा० खा०—स्वयम् । स्था० — आषाढ़ सम्वत् १९६७ विक्रमी । प्र०—मा० दयालचन्द्रजी । मं०—ला० रमेशचन्द्रजी । स० सं०—४० । सहा०—१० । पु० सं०— ५० । आर्य कुमार सभा (स०—३०) ।

६८६. राजनपुर

प्र०—म० राधाकृष्णजी प्लीडर । मं०—ला० जगन्नाथ जी प्लीडर । स० सं०—५० । सम्प०—२ विशाल मन्दिर, भवन पुत्र पाठशाला, अतिथिशाला, स्नान घाट व वाटिका (लागत—६००० रु०) दुकान और थोड़ी सी जिमीदारी (कुल सम्पत्ति मूल्य—३२००० रु०) वा० आ०— १२००) रु० । कार्य— पुत्र प्राइमरी पाठशाला, २ शुद्धि तथा अन्य प्रचार ।

६८७. रोझानगरवी

रे० स्टे०—रहीमयारखां। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—वैशाख सं० १६८६ वि०। प्र०—श्री बवाहरलाल जी। मं०—श्री चेलारामजी। स० सं०—१२। पु० सं०—४०।

शेष आर्यसमाज—

६८८. डेरा गाजीखां, ६८६. कोटछुट्टा, ६६०. दाजल, ६६१. चोटी जोरी, ६६२. व्यवहा, ६६३. झोक अतरा, ६६४. चोटी वालां, ६६५. बड़ोर, ६६६ महतम, ६६७. अजरवर, ६६८. घल्या, ६६६. गदाई ७००. बस्ती लुण्डा, ७०१. पांगा, ७०२. नवां शहर, ७०३. कोटला शेर मुहम्मद, ७०४. मिठन कोट, ६०५. चुरट्टा, ७०६. तुशहरा।

जिला कांगड़ा

७०७. कांगड़ा, ७०८. टौनीदेवी, ७०६. कुल्लू, ७१०. आगपुर, ७११. डेरा गोपीपुर, ७१२. इन्दौरा, ७१३ घंडरा, ७१४. गरली, ७१५. नूरपुर, ७१६. बंजार, ७१७. गोंधला (डा० कीलिंग), ७१८. कीलिंग, ७१६. चुरटा, ७२०. मनौली, ७२१. भवारना, ७२२. मोटली सूरजपुर, ७२३. धर्मशाला, ७२४. नगरी, ७२५. परौल, ७२६. परौला।

जिला डलहौजी

७२७. डलहौजी वैलून, ७२८. डलहौजी सदर, ७२६. कथानी, ७३०. लोहाली।

सीमा प्रान्त

७३१. डेरा इस्माईलखाँ

रे० स्टे०—दरयाखाँ। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८८५ ई०। प्र०—श्री मनोहरलाल जी वकील। मं०—डा. गेलाराम आनन्द। स० सं०-४०। सहा०- ३। वा० आ०—२८०≈)॥। सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर। पु० सं० - ६७७। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०-१२१६) आ. कु० स० (स०—१५)

शेष आर्यसमाज—

७३२. कुलाची, ७३३. टांक, ७३४. भजई, ७३५. बन्नू ७३६. ईसा खैल, ७३७. लकी मरवत, ७३८. रजमक।

जि० कैम्बलपुर

७३६. कैम्बलपुर

प्र०—पं० देवीदास जी। मं०—कविराज नरदेव जी। सम्प०—समाज मन्दिर लागत १०,०००) रु०। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला, हरिजन प्राइमरी स्कूल, स्त्री आर्य समाज।

शेष आर्यसमाज—

७४०. तलागंग, ७४१. गोरगस्ती, ७४२. तुराप, ७४३. पिंडीघेप, ७४४. हजेरा, ७४५. जंड, ७४६. हरिपुर हजारा।

जिला कोहाट

७४७. कोहाट, ७४८. टेहरी।

जि० पेशावर

७४९. पेशावर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९०५ ई०। प्र०—लाला लछमनदास जी। मं०—म० खेमचन्द्र जी। सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर।

७५०. ढकी नालबन्दी (पेशावर)

प्र०—श्री शिवलाल जी। मं०—श्री व्रजलाल जी।

७५१. नौशहरा छावनी

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १९५१ वि०। प्र०—श्री शिवस्वरूप जी मं०—श्री मुल्कराज जी डल। स० सं०—३०। सहा०—२०। वा० आ०—४३०)। सम्प०—लगभग ६०००) रु०। संस्था—कन्या पाठशाला, पुत्री व्यायाम शाला।

७५२. विक्टगंज मरदान

रे० स्टे० व डा० खा०—मरदान। स्था०—सन् १८९० ई०। प्र०—डा० रामरखामल जी वैद्य। मं०—ला० नानकचन्दजी। स० सं०—३६। सहा०—१४। वा० आ०—६१०।≈)॥। सम्पत्ति—एक मन्दिर और तीन दुकानें तथा ८००) रु०। पु० सं०—१०६ का०—साधारण प्रचार और सत्संग।

शेष आर्यसमाज—

७५३. पेशावर छावनी, ७५४. मुहल्ला आसिया (पेशावर), ७५५. रिसालपुर, ७५६. वटखैल, ७५७. मानसैहरा, ७५८. थाना, ७५९. लाल कुड़ती (नौशहरा-छावनी), ७६०. रजाई, ७६१, तखतबाई, ७६२. अखोड़ा खटक।

ब्रिटिश बिलोचिस्तान

क्वेटा

७६३. सिबी

रे० स्टे० व डा० खा०—सिबी। स्था०—सन् १८७६ ई०। प्र०—ला० जयकरणसिंह जी। मं०—श्री सोभराज जी आर्य। स० सं०—३५। वा० आ०—६२३ रु. ६ आ. ९ पाई। सम्पति—समाज मन्दिर व एक दुकान। (लागत लगभग ४ हजार रु.) पु० सं०—७०। संस्था—आर्य स्त्री समाज (स०-३०)। प्र०—श्री लाला झांगीराम। मंत्री—श्रीमती कृष्णादेवी जी)।

शेष आर्यसमाज—

७६४. क्वेटा, ७६५. शाहरंग, ७६६. पिशीन।

आर्य प्रादेशिक प्र० स० से सम्बद्ध

पंजाब प्रान्त

जिला कांगड़ा

१. नूरपुर

रे० स्टे०—नूरपुर रोड। **डा० खा०**—नूरपुर। स्था०—सन् १६०५ ई०। प्र०—श्रीराम शरण सौगुनी लीडर। मं०—श्री धर्मवीर महाजन। स० सं०—२६। वा० आ०—१०६५)। सम्प०—२ मकान, ६६६२) नक़द। पु० सं०—२५७। कार्य—वेद प्रचार, दलितोद्धार सभा, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, आ० कु० स० (स०—३७), आ० वी० द० (स—४५)।

जिला जालन्धर

२. अलावल पुर

रे० स्टे० व डा. खा.—अलावल पुर। स्था०—अक्टूबर सन् १६१६ ई०। प्र०—ला० हरीराम जी। मं०—ला० वृजलाल जी। स० सं०—५२। वा० आ०—६३८-)॥। सम्प०—लगभग ५०००)। पु० सं०—१२७४। (वैदिक पुस्तकालय)। समाचार-पत्र—१२। का०—धर्म्मार्थ औषधालय (रोगी—१५००)। शुद्धि—१। आ० कु० स० (स०—४०)।

जिला शेखूपुरा

३. मंडी नारंग

रे० स्टे०—(शाहदरा मिल्स) शाहदरा। स्था०—ज्येष्ठ सं० १६६७ वि०। प्र०—ला० राधाकिशन जी, मा० कारखाना चावल। मं०—श्री रामकिशोर। स० सं०—२५। सम्प०—समाज मन्दिर के लिए भूमि (दानी—लाला गंडामल जी आढती)।

जिला स्यालकोट

४. उगोकी

रे० स्टे०—उगोकी। स्था०—मार्च १६२३ ई०। प्र०—लाला राजाराम जी। मं०—ला० दीवानचन्द जी। स० सं०—१२। सहा०—१८। सम्प०—समाज मन्दिर। पु० सं०—१५। कार्य—१०० जोगियों की शुद्धि की, १० अन्तर्जातीय विवाह कराये। शुद्धि १५ स्त्रियाँ मुसल्मान, ६ बालक यवन और १० मनुष्य। आ० कु० सभा (स०—१०)। विशेष—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब व प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दोनों से, सम्बद्ध है।

५. जामकी

जि०—स्यालकोट। प्रा०—पंजाब। रे० स्टे०—सम्बेरवाल। स्था०—१६२२ ई०। प्र०—श्री रामलाल जी। मं०—श्री हरिवंशलालजी। स० सं०—१४। सहा०—८। वा० आ०—१०॥)॥। सम्प०—आर्य्य समाज मन्दिर। पु० सं०—५०। का०—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—८०)। आ० कु० स०।

६. गडगोर (आ० यु० स०)

जि०—स्यालकोट। प्र०—श्री रामलाल जी। मं०—श्री सत्यपाल जी। स० सं०—१५।

संस्था—स्त्री आर्य समाज (प्र०—श्री करतार देवी जी)। का०—'साहसी' परिवार की शुद्धि। श्मशान में तालाब बनवाया। स० मन्दिर के लिये १०००) चंदा एकत्र किया और जन-गणना प्रचार।

रियासत जम्मू

७. रियासी

रे० स्टे०—जम्मू। डा० खा०—स्वयं। स्था०—सं० १९९८ वि०। प्र०—ला० अमर नाथ जी। मंत्री—ला० कृपाराम जी। स० सं० २०। सहा०—२५। वा० आ०—२३२) रु०। सम्पत्ति—आ० स० मन्दिर (ला० ५००) रु०)। पु० सं०—७०। का०—संस्कार १९, शुद्धि ३। अकाल पीड़ितों की सहायता में ५५) रु० दिये।

जि० गुजरात

८. खोहार

रे० स्टे०—सराय आलमगीर। डा० खा०—स्वयम्। प्र०—श्री ख्यालीराम कोहली मं०—श्री दयालचन्द चड्ढा। स० सं०—१२। सहा०—१०। सम्पत्ति—१४० रु०। पु० सं०—२५। कार्य—साधारण।

शेष आर्यसमाज—

ज़िला अमृतसर

९. अमृतसर लोहगढ़, १०. लछमन सर अमृतसर, ११. तरनतारन, १२. रमदास, १३. बलहड़वाड़, १४. अजनाला १५. थारेवाल, डा० भङ्गाली, १६. फतेह आबाद, १७. खापड़खेड़ी डा० वासरकी गिल्ला, १८. आनन्दपुर गोराला, १९. सोहियां खुर्द, २०. व्यास, २१. सारंगदेव, २२. कटड़ा सफेद अमृतसर, २३. लारंस रोड अमृतसर।

ज़िला अम्बाला

२४. अम्बाला शहर, २५. अम्बाला छावनी, २६. डेराबसी, २७. शहजादपुर, २८. खरड़, २९. निहोनी, ३०. मुस्तफाबाद, ३१. मुबारकपुर, ३२. रामगढ़, ३३. ललहाड़ी, ३४, बधावली।

ज़िला अटक

३५. पिंडीघेप, ३६. जंड, ३७. तलागङ्ग, ३८. खौड़, ३९. थुआ मरहम खां।

ज़िला बन्नू

४०. बन्नू, ४१. रज़मक।

जिला बिलोचिस्तान

४२. क्वेटा, ४३. फोर्टसंडेमन, ४४. लोरालाई,।

ज़िला डेराइस्माइलखां

४५. डेराइस्माइलखां, ४६. टांक, ४७. कुलाची।

ज़िला देहली

४८. सीताराम बाजार देहली, ४९. न्यू देहली।

ज़िला फीरोज़पुर

५०. फीरोजपुरशहर, ५१. फीरोज़पुर

छावनी, ५२. मुक्तसर, ५३. मोगा, ५४. फाजिलका, ५५. कोटईसाखां, ५६. गुरहर सहाय, ५७. सलीना, ५८. जलालाबाद गरबी।

जिला गुजरांवाला

५९. एमनाबाद, ६०. वजीराबाद, ६१. अकालगढ़, ६२. शाहीनीवाला, ६३. मढ़बलोचां, ६४. सोहदरा, ६५. कामोंकी

जिला गुजरात

६६. जलालपुर जट्टां, ६७. दौलतानगर, ६८. पेरूशाह, ६९. हेलां, ७०. मन्डी बहाउद्दीन, ७१. फतेहपुर, ७२. भागनगर, ७३. चौड़ा करनाना, ७४. कड़ियांवाला, ७५. सराय आलमगीर।

जिला गुरदासपुर

७६. गुरदासपुर, ७७. बटाला, ७८. कलानौर, ७९. धारीवाल, ८० कंजरूढ़, ८१. कादियां, ८२. दीनानगर, ८३. घसीटपुर, ८४. पकीवां, ८५. बैहरामपुर, ८६. दबुर्जी।

जिला हजारा

८७. ऐबटाबाद, ८८. मानसेहरा, ८९ कोट नजीव उल्लाह।

जिला होशियारपुर

९०. होशियारपुर, ९१. ऊना, ९२. जेजों, ९३. दौलतपुर, ९४. दसूहा, ९५. पट्टी, ९६. शामचुरासी ९७. रोड़ मजारा, ९८. हरयाना, ९९. बसीकलां, १००. झींगड़कलां, १०१. बजवाड़ा, १०२. सतनावर १०३. काठगढ़, १०४. गढ़दीवाला, १०५. सन्तोषगढ़, १०६. अम्ब, १०७. उड़मुड़, १०८. परसा मांसर डा० भंगाला तहसील दसूहा।

जिला हिसार

१०९. हिसार, ११०. नारनौंद, १११. दीनौद, ११२. हांसी, ११३. बुढ़लाडा मण्डी, ११४. टोहना, ११५. मिर्चपुर।

जिला जेहलम

११६. जेहलम, ११७. चकवाल, ११८. जलालपुर किकना, ११९. पिण्डी सैदपुर, १२०. भौन, १२१, संघोई।

जिला जालन्धर

१२२. जालन्धर शहर, १२३. पासला १२४. रुड़की, १२५. धनीपिंड, १२६. पंडारी मटवाला, १२७. फराला, १२८. ढासयां काहना, १२९. रुड़का कलां, १३०. कुलथम, १३१. साहल जागीर, १३२. सिविल लाइन जालन्धर, १३३. डी. ए. वी. कालिज जालन्धर।

जिला झंग

१३४. झङ्गमघयाना, १३५. चिन्योट १३६. रजोआ।

रियासत जम्मू

१३७. जम्मू, १३८. मीरपुर, १३९. कोटली, १४०. श्रीनगर, १४१. रामपुर राजौड़ी, १४२. भिम्बर, १४३. बसोहली

१४४. अखनूर, १४५. ऊधमपुर, १४६. पुंछ, १४७. नोशहरा, १४८. कांगड़ी, १४९. खूई रट्टा, १५०. सोहामा, १५१. साम्बा, १५२. बारा मूला, (श्रीनगर) १५३. रामनगर, १५४. मुजफ्फराबाद, (काश्मीर), १५५. सोपर (काश्मीर)।

जिला कोहाट

१५६. कोहाट, १५७. हंगू, १५८. टीरी १५९. टल।

जिला कांगड़ा

१६०. कांगड़ा, १६१. धर्मशाला, १६२. पालमपुर, १६३. सलयाना, १६४. हमीरपुर, १६५. मण्डी, १६६. सुजानपुर टीरा, १६७. डेरागोपीपुर, १६८. योगेन्द्र नगर, १६९. पपरोला, १७०. धनेटा, १७१. सुलह तहसील पालमपुर, १७२. मेड डा० उखली तहसील हमीरपुर, १७३. जबाली।

जिला करनाल

१७४. करनाल शहर, १७५. शाहाबाद, १७६. पुण्डरी, १७७. कुरुक्षेत्र, १७८. डालाह, १७९. थानेसर, १८०. क्याड़क डा० गुमथला गढ़, १८१. रामसरन माजरा, १८२. ब्याना, १८३. मुरा दगढ़, १८४. बराना डा० समाना भाऊ, १८५. रायपुर रोडां डा० समाना भाऊ, १८६. ख्वाजा अहमदपुर डा० तरावड़ी।

जिला लाहौर

१८७. अनारकली लाहौर, १८८. इच्छरा, १८९. पट्टी, १९०. कोट राधाकृष्ण, १९१. बागवानपुरा, १९२. चूनियां १९३. पत्तोकी, १९४. रामगली लाहौर १९५. ग्वाल मण्डी लाहौर, १९६. धर्मपुरा लाहौर, १९७. रामगढ़ लाहौर, १९८. भाईफेरू, १९९. रायविंड, २००. भारतनगर सुदर्शननगर (लाहौर). २०१. मोहनी रोड गुरुदत्त भवन लाहौर।

जिला लायलपुर

२०२. लायलपुर, २०३. चक झुमरा, २०४. गोजरा।

जिला लुधियाना

२०५. लुधियाना।

जिला मुजफ्फरगढ़

२०६. लैय्या, २०७. रङ्गपुर, २०८. सीतपुर, २०९. कहरोड, २१०. शहर सुल्तान।

जिला मुल्तान

२११. मुल्तानशहर, २१२. नवांशहर (मुल्तान), २१३, खानेवाल, २१४ कच्चा खूह, २१५. शुजाबाद, २१६. मियां चन्नू, २१७. कहरोड़ पक्का।

जिला मिण्टगुमरी

२१८. मिण्टगुमरी, २१९, ओकाड़ा, २२०, रिनाला खुर्द।

जिला पेशावर

२२१. पेशावरशहर. २२२, होती मरदान, २२३, नोशहरा छावनी, २२४, रिसालपुर छावनी।

जिला रावलपिण्डी

२२५, रावलपिण्डी ।

जिला रोहतक

२२६. रोहतक, २२७. सांघी, २२८. नानदल, २२९. मोखड़ा ।

जिला स्यालकोट

२३०. स्यालकोट शहर, २३१ स्यालकोट पूरणनगर, २३२. बद्दोमल्ली, २३३. मुण्डेकी गोराया, २३४. मीरकपुर २३५. चूहड़मुण्डा, २३६. नङ्गल सूतकां, २३७. जरसड़, २३८. पनवाना तहसील पसरूर, २३९. शहजादा, २४०. सोरांवाली ।

जिला शाहपुर

२४१. शाहपुर शहर, २४२. शाहपुर सदर, २४३. वानभचरां, २४४. सरगोधा, २४५. मियानी, २४६. खुशाब, २४७. मिढरांझा, तहसील भलवाल ।

जिला शिमला

२४८. शिमला, २४९. कालका २५०. पछाद, ।

जिला शेखूपुरा

२५१. शेखूपुरा, २५२. बारबरटन, २५३. शाहकोट, २५४. सांगलाहिल, २५५. बावगवाल ।

बहावलपुर रियासत

२५६. सत्संग सभा बहावलपुर ।

रियासत पटियाला

२५७. भटिंडा ।

जिला गुड़गांवा

२५८. शाहजानपुर ।

सिन्ध

२५९. करांची, २६०. गरीबाबाद सक्खर, २६१. शिकारपुर, २६२. हैदराबाद, २६३. खारादार (करांची), २६४. लाड़काना ।

आसाम प्रान्त

२६५. गोहाटी, २६६. शिलांग, २६७ नवगांग, २६८. दार्जलिंग, २६९. तेजपुर ।

बंगाल प्रान्त

२७०. भवनीपुर (कलकत्ता) ।

मालावार

२७१. कालीकट ।

ब्रह्मा

२७२. माण्डले ।

अफ्रीका

२७३. नैरोबी ।

आ० प्र० स० संयुक्तप्रान्त से सम्बद्ध

जिला देहरादून

१. देहरादून

रे० स्टे० व डा० खा०-स्वयम्। स्था०-२३ जून १८७९ ई० । प्र०-श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री एम० ए० । मं०—श्री म० कृष्णलाल जी । स० सं०-२५० । सहा०-१०० । वा० आ०—२४२७॥=)। सम्प०—समाज मन्दिर व भूमि व ३ मकान (मूल्य लगभग ६००० रु०)। पु० सं०-१०००। संस्था-श्रद्धानंद अनाथ वनिताश्रम (सम्प०-३५०००रु. का भवन)। का०—मेलों पर प्रचार, जिले में ३ जगह समाज स्थापित की, ग्राम प्रचार किया, मादकद्रव्य निषेध प्रचार, १२ शुद्धियाँ, ३० ट्रक्ट बांटे, आर्य वीर दल (स०—९५)। प्रचारक—पं० गेंदाराम जी भजनोपदेशक।

२. डोईवाला

रे० स्टे० व डा० खा०—डोईवाला। स्था०— अप्रैल सन् १९१३ ई० । प्र०—श्री ज्वालाप्रसादजी ठेकेदार। मं०—श्री केशचन्द्र जी तोमर। स० सं०—६०। सहा०-७५। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर (ला०-४००० रु०) तथा भूमि आदि ७०० रु०। पु० सं०-५५। का०-५ अन्तर्जातीय विवाह, साहित्य प्रचार, ट्रेक्टों द्वारा प्रचार।

३. कर्णपुर

रे० स्टे० व डा० खा० — देहरादून। स्था०—११ मार्च १९३४ ई०। प्र०—श्री अनन्तदास जी बनर्जी एम. ए. बी. एल.। मं०—श्री आनन्दस्वरूप जी सिन्हा एम. ए. एल. टी.। स० सं०—३४। सहा०-१५। वा० आ०—३६३॥≈)॥। सम्प०—भूमि १५००)। पु० सं०—१३५। संस्था-कन्या पाठशाला (छा०—८०)।

४. चूहड़पुर

रे० स्टे०—चूहड़पुर आउट एजेन्सी। डा० खा०—स्वयम्। स्था०-१८९० ई०। प्र०—श्री शान्तिस्वरूपजी। मं०—आनन्दकुमारजी। स० सं०-३३। सम्प०-समाज मन्दिर (ला० १००००० रु०) दो दुकानें। पु० सं०—२५०।

५. मसूरी

रे० स्टे०—देहरादून। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८६७ ई०। प्र०—श्री महरचन्दजी शर्मा। मं०—श्री० तेजपाल सिंहजी रावत। स० सं०—१००। वा० आ०—१२२७।≈)। सम्प०-समाज मंदिर ३००००) रु०। का०—साधारण प्रचार, शुद्धि, ग्राम प्रचार इत्यादि।पु० सं०-५००। संस्था—आर्य समाज धर्मशाला। आर्यकुमार सभा (स० २०)। आर्यवीर दल (स० ३०)। विशेष- मार्च से दिसम्बर तक नियम से सत्संग होता है।

शेष आर्यसमाज—

६. चकरोता, ७. कालसी, ८. ऋषिकेश।

जिला सहारनपुर

६. रुड़की

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १६३५ वि० । प्र०—रा. सा. ला० मथुरादास एम. एल. सी । मं०—श्री ला० रामचन्द्र गुप्त । स० सं०—८६ । वा० आ०—७७० रु० । सम्प०—मन्दिर समाज । पु० सं०—१०००, समाचार पत्र । कार्य—१ पठान परिवार की शुद्धि (७ व्यक्ति शुद्ध हुए)।

१०. औरङ्गाबाद

रे० स्टे०—सहारनपुर । डा० खा०—फतहपुर । स्था०—१२ अक्टूबर सन् १६२७ ई० । प्र०—श्री बूलीरामजी । मं०—श्री शेर सिंहजी आर्य । स० सं०—१५ । सहा०—५ । वा० आ०—२२) रु० । पु० सं०—२० । का०—अकाल में सहायता, शुद्धि तथा दलितोद्धार ।

११. गंगोह

रे० स्टे०—सहारनपुर । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—१५ फरवरी सन् १८८५ ई० । प्र०—श्री सुमेरचन्द्रजी । मं०—श्री शिवकुमार जी । स० सं०—२४ । सहा०—२० । वा० आ०—८६६॥=)। । सम्प०—लगभग २५००० रु० । पु० सं०—११३७ । (मू०—७०८≤)॥। । का०—साप्ताहिक सत्संग, समय समय पर उपदेशों व प्रचारकों द्वारा वेद प्रचार, ग्राम प्रचार ट्रेक्टों द्वारा प्रचार । संस्था—कन्या पाठशाला (छा० ६४)।

१२. तीतरों

रे० स्टे०—थानाभवन (देहली शाहदरा रेलवे) । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—१८६५ ई० । प्र०—श्री धीरजसिंहजी मं०—श्री श्रीराम आर्य । स० सं०—१८ । वा० आ०—७१) । सम्प०—२ मकान । पु० सं०—२०८ । संस्था—कन्या पाठशाला । का०—साधारण ।

१३. अफगान

रे० स्टे०—सहारनपुर । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—३ सितम्बर सन् १८६६ ई० । प्र०—श्री लाला गणेशीलाल । मं०—श्री० धर्मदेवजी गुप्त । स० सं०—१५ । सहा०—१ । वा० आ०—५७॥)॥ । सम्प०—आ. स मन्दिर (मू० लगभग २२५४ रु०) पु० सं०—१६३ (मू० ११६ रु०) ।

१४. भगवानपुर

रे० स्टे०—रुड़की । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सं० १६६४ वि० प्र०—श्री० ज्योति प्रसादजी । मं०—श्री माड़ेरामजी । स० सं०—२३ । पु० सं०—१२० । संस्था—आर्य पाठशाला (छा०—३६) ।

१५. रुहलकी किशनपुर

रे० स्टे०—पथरी । डा० खा०—बहादुराबाद । स्था०—सन् १६८४ वि० । प्र०—श्री आत्मारामजी । मं०—श्री कबूलसिंहजी । स०

सं०—१७। वा० आ०—१०८=) रु०। पु० सं०—२।

१६. सहारनपुर (पुरानी मण्डी)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६२५ ई०। प्र०—बा० ज्वालादत्तजी। मं०—पं० अमोलकरामजी। स० सं०—३०। सहा०—३५। पु० सं०— ५। संस्था—आ. कन्या पा. (छा० २०)।

शेष आर्य समाज—

१७. सहारनपुर। १८. गढ़ी अब्दुल्ला खां, १६. अम्बहटा, २०. महेवड़ कलां (डा. रुड़की), २१. ज्वालापुर, २२. नगला खटौली, (डा० पहाड़पुर), २३. दावकी खेड़ी, (डा० गोर्धनपुर) २४. लिब्बरहेड़ी (डा० मंगलौर) २५ रामपुर मनिहारिन, २६. बहादुराबाद (डा० सलेमपुर), २७. फेराहेड़ी (डा० सलेमपुर, २८. नारसन कलां (डा० राजपुर), २६ मुजफ्फराबाद, ३०. इमली खेड़ा (डा० पिरानकल्पुर) ३१. सिविललाइन्स (सहारनपुर) ३२. म० वि० ज्वालापुर, ३३. शेरपुर (डा० फतहपुर) ३४. बसेड़ा (डा० पहाड़पुर), ३५. माड़ेवांस (डा० कैलाशपुर), ३६. बहेड़ा सुन्दरसिंह (डा० मुजफ्फराबाद), ३७. गदड़जूड़ा (डा० मंगलौर) ३८. लुक्सर स्टेशन, ३६. जि० आर्य उपसभा सहारनपुर।

४०. जि. आर्य उपसभा (मुजफ्फरनगर)

४१. कैराना

रे० स्टे०—शामली (एस. एस. लाईट रेलवे)। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८६० ई०। प्र०—बा० गुरुचरणदास जी। मं०—श्री केशवदास जी। स० सं०—११। सहा०—७। सम्प०—आर्य धर्मशाला, ६ दुकानें व भूमि, समाज मन्दिर व नकद—कुल सम्पत्ति—१०००० रु०। पु० सं०—५००। कार्य—हैजे आदि के समय यज्ञ। तथा अन्य।

४२. जानसठ

रे० स्टे०—खतौली। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६१० ई०। प्र०—श्री महेशचन्द्र जी। मं०—श्री हंसराजसिंहजी। स० सं०—२६। वा० आ०—७८) रु.। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर।

४३. खतौली

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् स्था०—१६१२ ई०। प्र०—ला० हीरालाल जी। मं०—पं० लक्ष्मीनारायण जी। स० सं०—५१। वा० आ०—६०) रु०। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर (ला० १५०० रु०)। पु० स०—२५० (ला० ३०० रु०)।

शेष आर्यसमाज—

४४. मुजफ्फरनगर, ४५. बमत, ४६. चौसाना, ४७. लुहारी, ४८. बुढ़ाना, ४६. कान्धला, ५०. कुर्माली (डा० बनत), ५१.

नवला, ५२. आनामपन, ५३. गढ़ी पुख्ता ५४ दतियाना (डा० छपार), ५५. दूधाहेड़ी (डा० मन्सूरपुर) ५६. चरथावल, ५७. दूधली, ५८. गोपला (डा० शाहपुर), ५९. पिपलापुरी (डा० पुरकाजी), ६०. नई मंडी (मुजफ्फरनगर), ६१. सिसौली ६२. शामली, ६३. भोकड़ हेड़ो, ६४ मिर्ज़ापुर पूरनपुर (डा० गोवर्धनपुर)।

ज़िला मेरठ

६५. वैदिकधर्म ज़िला प्रचार सभा मेरठ

स्था०—सन् १९३१ ई०। प्र०—श्री ब्रह्म स्वरूप जी गुप्त। मं०—पं० रामचन्द्र जी शर्मा वकील। सम्प०—३००) रु०। प्रचारक—पं० रघुवीरदत्त शास्त्री, प. मुरारीलाल शास्त्री। व. म. ललताप्रसाद। का०—मेला प्रचार।

६६. मेरठ शहर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८७८ ई०। प्र०—चौ० जयदेव सिंह एडवोकेट। मं०—श्री विजयसिंह जी जिज्ञासु। स० सं०—५७। सहा०—६७। सम्प०—३७०००) रु०। संस्था-आर्य कन्या पाठशाला (छा०—२८६) आ. कु. स. (स०—२८)। वा० आ०—२६१४) रु०। का०—टैक्ट द्वारा शुद्धि प्रचार, दलितोद्धार। पु० सं०—७००।

६७. स्त्री आर्य समाज (मेरठ शहर)

स्था०—५ दिसम्बर १९१४ ई०। प्र०—विद्यावती जी, मं०—शकुन्तला जी गोयल। स० सं०—८५। सम्प०—४१४≶)। पु० सं०—२५। का०—मुहल्ला प्रचार।

६८. सदर बाज़ार (मेरठ)

स्था०—सन् १८९४ ई०। प्र०—म० रघुनन्दन स्वरूप जी एम. ए. एल. एल. बी.। मं०—म० हरद्वारीलाल जी। स० सं०—९२। वा० आ०—४०५) रु०। सम्प०—(ला०—१५०० रु०) समाज मन्दिर। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला—(छा०—१९१) आर्यकुमार सभा—(स०—४२)। पु० सं०—१९४। का०— २ शुद्धि, ३ अन्तर्जातीय विवाह, दलितोद्धार, वेद प्रचार इत्यादि।

६९. लालकुर्ती (मेरठ)

रे० स्टे०—मेरठ छावनी, डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८८८ ई०। प्र०—श्री कालीचरण जी, मं०—ला० विद्यासागरजी। स० सं०—३७। सहा०—२५। वा० आ०—९०८॥≶)॥। सम्प०—समाज मन्दिर। (मू० ६००० रु०) आ० क० पा० का भवन। पु० सं०—४७५। का०—वेद-प्रचार, शुद्धि, ग्राम प्रचार, भागीरथ आर्य कन्या पाठशाला, (छा०—१५०)।

७०. स्त्री समाज (लालकुर्ती) मेरठ

स्था०— सं० १९९६ वि०। प्र०—श्रीमती

कलावतीदेवी, मं०—श्रीमती शम्भावतीदेवी। स० सं०-२६। वा० आ०-५६≈)। सम्प०-२५०)। का०—ग्राम प्रचार।

७१. मवानां कलाँ

रे० स्टे०—मेरठ शहर, डा० खा०—स्वयम्। स्था०-सन् १८८६ ई०। प्र०—ला० जगदीशचन्द्रजी, मं०—बा० माधोशरण जी। स० सं०—६०। सहा०—५०। वा० आ०-७८७|||)|||। सम्प०-मन्दिर, दुकान, मकान इत्यादि २००००)। पु० सं०-१५००) की लागत की। संस्था-१. गुलाबदेवी कन्या-पाठशाला (छा०-१६०), २. आर्यकुमार (स०-४०)।

७२. डौरली

रे० स्टे०—मेरठ छावनी, डा० खा०-रजवन (मेरठ)। स्था०—सन्१६८०। प्र०-श्री पं० शिवदयालु जी, मं०-श्री नारायणदेव जी। स० सं०—२८। वा० आ०—४४)

७३. गाजियाबाद

रे० स्टे० व डा० खा०-स्वयन्। स्था०-१८६० ई०। प्र०—श्री हरिराम जी, मं०—श्री जर्नादन जी शर्मा। स० सं०—६०। सहा०—४४। वा० आ०—१४२१)। सम्प०-आर्यसमाज मन्दिर (ला० १५००० रु०)। पु० सं०—३००। संस्था—आ० कु० स० (स०—४६)।

७४. हापुड़

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८६० ई०। प्र०—पं० बद्री-प्रसाद जी। मं०—श्री घासीराम जी। स० सं०—५६। सहा०—६६। वा० आ०—६००≈)४पाई। सम्प०—१५६००) रु०। पु० सं०—३५६।

७५. बावली

रे० स्टे०—बावली (एस. एस. लाईट रेलवे), डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १६६५ वि०। प्र०—श्री खजानसिंह जी, मं०—श्री मुख्तारसिंह जी। सम्प०—भूमि, समाज मन्दिर (मू०—२५० रु०) पु० सं०—८४। का०—स० में ३००) रु० और ६ सत्याग्रही भेजे।

शेष आर्य समाज

७६. सनौता (डा० फलावदा) ७७. बड़ौत, ७८. परीक्षितगढ़, ७६. कपसाढ़, ८०. किरठल, ८१. नगलाहेरु (डा० फला वदा), ८२. सरधना, ८३. बेगमाबाद, ८४. बहसूमा, ८५. फलावदा, ८६. सलावा ८७. मुरादनगर, ८८. खानपुर (डा० धौलड़ी), ८६. सालहनगर, (डा. निवाड़ी) ६०. खेकड़ा, ६१. धौलड़ी, ६२. गढ़मुक्तेश्वर, ६३. मैंसा (डा० मवानाकलां), ६४. फफूँडा (डा० खरखौदा) ६५. चौगांवा, (डा० दाहा) ६६. स्त्री आ० स० मवाना

कलां, ९७. ग्राम मंडल डोरली, ९८.टटीहरी, ९९. छपरौली, १००. आर्य स्त्री समाज गाजियाबाद, १०१. लावड़।

जि० बुलन्दशहर

१०२ खुर्जा

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८९८ ई०। प्र०—ला० बुधसेन सर्राफ। मं०—बाबू निरञ्जन प्रसाद एम० ए० वकील। स० सं०—५२। सहा०—५८। वा० आ०—३२६।)॥। सम्प०—बल्देवआश्रम (१००० रु०) समाजमन्दिर (५००० रु०), अन्य २५० रु०। पु० सं०—४३३ (मू० ४९८ रु० ५ आ० ६ पा०)। कार्य—वेद प्रचार, दलितोद्धार, अन्तर्जातीय विवाह। संस्था—आर्यकन्या पाठशाला अपर मिडिल तक (छा—१९८)।

१०३. सिकन्दराबाद

रे० स्टे०—दनकौर। डा० खा०—सिकन्दराबाद। प्र०—श्री जमनाप्रसाद जी। मं०—म० दानमल जी। स० सं०—२५। सहा०—३। वा० आ०—२४०) रु०। सम्प०—भूमि समाजमन्दिर। पु०सं०—२५०। का०—२ शुद्धि व प्रचार।

१०४. जेवर

रे० स्टे०—खुर्जा जङ्क्शन ई. आई. रे. डा० खा०—जेवर। स्था०—चैत बदी सप्तमी सं० १९७५ वि०। प्र०—पं० निरञ्जनदेव जी। मं०—श्री बाबूराम मिश्र। स० सं०—४५। वा० आ०—६०) रु०। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर, कन्या पाठशाला की भूमि। पु० सं०—५०२। संस्था—डी. ए. वी. मिडिल स्कूल (छा०७५) प्रचारक—४।

१०५. गुलावठी

रे० स्टे० व डा० खा०—गुलावठी। स्था०—१ जनवरी सन् १९२५ ई०। प्र०—ला० सागरमल जी। मं०—ला० सोहनलाल जी। स० सं०—३७। वा० आ०—१०७।-)रु० सम्प०—समाज मन्दिर व क० पा० भवन। पु० सं०—३१६ (मू०—२५० रु०)। स० पत्र—२। संस्था०—आ० क० पा० (छा० १३०)।

१०६. अनूपशहर

रे० स्टे०—डिबाई (ई. आई. आर.)। डा० खा०—स्वयम्। प्र०—बाबू दुर्गाप्रसाद जी। मं०—बाबू भगवती प्रसाद जी। स० सं०—२५। सहा०—१०। सम्प०—२५००) चल और १००) अचल। पु० सं०—१००। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला अपर मिडिल (छा०—१२५)

१०७. जहाँगीराबाद

स्था०—सन् १८९० ई०। प्र०—श्री रामचन्द्र जी। मं०—पं० गंगाप्रसाद मिश्र वैद्य। सम्पत्ति—समाज मन्दिर (लागत—३००० रु०)।

१०८. नगला महीउद्दीनपुर

रे० स्टे०—खुर्जा सिटी । डा० खा०—खुर्जा । प्र०—ठा० धर्मसिंह जी । मं०—ठा० उदयसिंह जी । स० सं०—२० । सहा०—१० । वा० आ०—४३॥) रु० । पु० सं०—१० । कार्य—ग्राम रसूलपुर में २०० जाटवों को ईसाई होने से बचाया ।

शेष आर्यसमाज—

१०६. बुलन्दशहर, ११०. सांखनी, १११ नगलिया उदयमान (डा० अरनियां) ११२. बेलौन (डा० ननौरा) ११३. पहासू, ११४. भऊ बहादुरनगर, ११५. घुँघरावली (डा० बुलन्दशहर) ११६. लालगढ़ी (डा० छतारी), ११७. बेराफिरोजपुर (डा० स्याना), ११८. स्याना, ११९. डिबाई, १२०. अरनियां, १२१. गोंठनी (डा० जहांगीरपुर), १२२. सैदपुर, १२३. टिटौटा बीरगांव (डा० जहांगीराबाद), १२४. गंगागढ़ (डा० पहासू) १२५. दनकौर, १२६. आर्य स्त्री समाज बुलन्दशहर, १२७. निमचाना (डा. औरङ्गाबाद, १२८. मानकपुर (डा० सराय) ।

जि० अलीगढ़

१२९. अलीगढ़

रे० स्टे० व डा० खा०—अलीगढ़ । स्था०—सन् १८८५ ई० । प्र०—श्री रामप्रसाद जी एम. ए. एल. एल. बी. । मं०—श्रीभूपसिंह मुख्तार । स० सं०—५७ । सहा०—३०० । वा० आ०—१२५८) रु० । सम्प०—समाज मन्दिर । पु० सं०—१००० । कार्य—शुद्धि, विधवा विवाह इत्यादि ।

१३०. मई

रे० स्टे—अलीगढ़ । डा० खा०—बुढ़ासी । स्था०—दिसम्बर सन् १९२४ ई० । प्र०—श्री रामचन्द्र शर्मा । मं०—श्री सरदार सिंह जी आर्य । स० सं०—२१ । सहा०—६ । वा० आ०—७०।)६ पाई । सम्पत्ति—समाज मन्दिर । पु० सं०—१०८ । कार्य—१६ विधवा विवाह व ३६ शुद्धि ।

१३१. अलीगढ़

रे० स्टे०—अतरौली रोड । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—अश्विन शु० १० सम्वत् १९४८ वि० । प्र०—श्री बाबू काली चरण जी । मं०—पं० राजेन्द्रजी । स० सं०—२३ । सहा०—८ । सम्प०—आर्य समाज मन्दिर तथा एक अहाता । पु० सं०—३६० । का०—ग्राम प्रचार ।

१३२. बरौठा हरदुआगंज

रे० स्टे०—हरदुआगंज । डा० खा०—स्वयम् । प्र०—ठा० सरनामसिंह जी । मं०—पं० गोकलचन्द शर्मा । स० सं०—२७ । सहा०—१५ । वा० आ०—३३१॥) रु० । सम्प०—समाजमन्दिर (लागत—३००० रु०) तथा एक दुकान । पु० सं०—४०० । पुरो-

हित-१। का०—शुद्धि, ग्राम प्रचार आदि।

१३३. जलाली

रे० स्टे०—अलीगढ़, डा० खा०—स्वयम्। स्था०—२० जनवरी सन् १९१३ ई०। प्र०—श्री सालिगराम जी, मं०—श्री ज्योतिप्रसाद जी। स० सं—१२५। सहा०—१४१ वा० आ०—२४१॥≋)॥। सम्प०—दुकानें, समाज मन्दिर आदि। पु० सं०—८६। का०—ग्रामों में वेद-प्रचार किया गया तथा उत्सव मनाये गये। संस्था—नित्यानन्द वैदिक पाठशाला (कक्षा—४ तक, छा० सं०—५४)। अ०—२। विशेष—सरकार द्वारा वार्षिकोत्सव पर पाबन्दी लगी जो पीछे से हटी। २—समाज के अधिकारियों पर फौजदारी के मुकदमे चले जिन पर १०००० रु० व्यय हुआ। सब मामले खारिज हुए।

१३४. इगलास

रे० स्टे०—अलीगढ़। डा० खा०—इगलास। प्र०—ठा० किशनसिंह जी, मंत्री—म० उत्तमचन्दजी। स० सं०—२७। सहा०—२१। सम्प०—एक दुकान। पु० सं०—१५०) रु० की। उपदेशक—मा० छेदालाल जी, म० उत्तमचन्द जी व मा० लाला बाबू 'निर्भय'। कार्य—जाटवों में विशेष प्रचार।

१३५. सिकन्दराराऊ

रे० स्टे०—सिकन्दराराऊ (बी. बी. एंड. सी. आई.) डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९०४ ई०। प्र०—म० गङ्गाप्रसाद जी, मं०—श्री श्यामलालजी मुख्तार। वा०—आ० १०७ रु० ५ आ० ६ पाई। सम्प०—समाज मन्दिर व दो दुकान (ला०—६००० रु०)। पु०सं०—३७। (मू०—५६रु० ६ आ० ३ पा०)। का०—मौजा टीकरी बुजर्ग में प्रचार।

१३६. बरला

रे० स्टे०—अलीगढ़। डाकखाना—बरला। स्था०—जनवरी सन् १९१५ ई०। प्र०—श्री नन्दकिशोर जी, मंत्री—श्री ओ३म् प्रकाश जी। स० सं०—२२। सहा०—६। वा० आ०—१८)। पु० सं०—७। कार्य—वेद-प्रचार तथा ग्राम प्रचार।

१३७. फरौली

रे० स्टे० व डा० खा०—हाथरस। स्था०—१ अक्तूबर सन् १९०१ ई०। प्र०—रघुवीरसिंह जी, मं०—जयपालसिंह जी। स० सं०—२७८। सहा०—३०। वा० आ०—५० रु०। पु० सं०—५०। कार्य—एक शुद्धि, वेद-प्रचार, दलितोद्धार, ४ अन्तर्जातीय विवाह, आ० कु० स० (स०—४०) आ० वी० द० (स०—५०)।

१३८. कोड़ियागंज

रे० स्टे०—अलीगढ़। डा० खा०—स्वयम्। स्थापना—चैत्र शुक्ला १ संवत् १९९५ वि०। प्र०—श्री शिवनन्दनजी, मं०—

श्री राधावल्लभजी। स० सं०—२५। सहा०—१०। वा० आ०—६७) रु०। पु० सं०—१५। संस्था—हिन्दी पाठशाला (कक्षा ४ तक, छा० ५३)।

१३६. मेंडू

रे० स्टे०—हाथरस जंक्शन तथा मेंडू। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—मार्च सन् १६१२ ई०। प्र०—श्री रामप्रसाद जी आदि, मं०—श्री किशोरीलाल जी। स० सं०—१०७। पु० सं०—१०००। संस्था—आ० कु० स० (स०—२५)।

१४०. एंहन

रे० स्टे०—पुरा, डा० खा०—लाखनू। स्था०—चैत्र शुक्ला पंचमी १६६१ वि०। प्र०—बा० उलफतराय जी, मंत्री—होतीलाल जी। स० सं०—१५। सम्पत्ति—समाज मन्दिर। पु०सं०—३०। कार्य—दलितों के यज्ञोपवीत कराये तथा उनके यहां सहभोज कराया।

शेष आर्यसमाज—

१४१. विजयगढ़, १४२. शाहगढ़ डा० कौड़ियागंज, १४३. छत्तरपुर डा० सलेमपुर, १४४. हाथरस, १४५. पहाड़ीनगला डा० गोंडा, १४६. काजिमाबाद, १४७. खैर, १४८. बमनोई, १४६. लोधा डा० व जिला अलीगढ़, १५०. न्होंटी महराक डा० शाहपुर महराक, १५१. कचौरह, १५२. मांड़पुर डा० दादों, १५३. इरनोट डा० दादों, १५४. सांसनी १५५. जिला आर्य उप सभा अलीगढ़, १५६. बारेना डा० पनेटी, १५७. नगौला, डा० जवां, १५८. सिकन्दरपुर डा० बुढ़ासी, १५६. धनौली डा० बमनोई, १६०. स्त्री आर्यसमाज अलीगढ़, १६१. मुरसान, १६२. बधनूं डा० सांसनी, १६३. नौजलपुर बसई डा० शाहपुर मडराक, १६४. खोरना डा० सांसनी, १६५. महुआ डा० हसतपुर, १६६ भवीगढ़ डा० बरला, १६७. बाडौन व जिला डा० अलीगढ़, १६८. कैथवारी डा० हसतपुर, १६६. कुतुबपुर डा० कौड़ियागंज।

१७०. मथुरा

रे० स्टे०—मथुरा। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—माह बदि ११ सम्वत् १६३८ वि०। प्र०—श्री माताप्रसाद जी। मं०—श्री हरिप्रसाद जी बी. ए.। स० सं०—६०। सहा०—२५। वा० आ०—२०८|||≠)|। सम्पत्ति—१७१=)|| नकद तथा आर्य समाज मन्दिर, ३ मकान। पु० सं०—१०००। संस्था—आ. क. विद्यालय (छा०—३६७) का०—दलितोद्धार, अन्तर्जातीय विवाह ट्रैक्ट बांटे जाते हैं।

१७१. सुरीर

रे० स्टे०—राया। डा० खा०—सुरीर।

स्था०—२२ जून सन् १६०४ ई० । प्र०—म० धीरजलाल जी । मं०—म० मोतीलालजी । स० सं०—१० । सहा०—१ । वा० आ०—५३॥≡)६ पाई । सम्पत्ति—एक भवन (बिना छत), एक पक्का कुँआ, एक बगीची । पु० सं०—१२ । कार्य—साधारण प्रचार ।

शेष आर्यसमाज—

१७२. आंगई (डा० बल्देव), १७३. वृन्दावन, १७४. सामरा (डा० सहारनपुर) १७५. दरबे (डा० मांठ) ।

जिला आगरा

१७६. आगरा (नगर)

रे० स्टे०—आगरा सिटी । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—लगभग सन् १६३७ ई० । प्र०—श्री बिहारीलाल जी एडवोकेट । मं०—श्री अवधनारायण जी एडवोकेट । स० सं०—३०० । सम्प०—समाज भवन, अनाथालय भवन, विधवा आश्रम भवन तथा अन्य चल व अचल सम्पत्ति । पु सं०—पुस्तकालय है । कार्य—४ भजन मण्डलियाँ, श्री मद्दयानन्द अनाथालय, विधवाआश्रम, कन्या पाठशालाएँ—२, (१) शीतलागली पाठशाला, (२) गोकुलपुरा पाठशाला (छा०—२००), डी. ए. वी. हाई स्कूल, प्रेस, समाज ने वेद प्रचार तथा शुद्धि सभा द्वारा शुद्धि, तथा विधवा आश्रम द्वारा अन्तर्जातीय विवाह कराये ।

१७७. एत्माद पुर

रे० स्टे० व डा० खा०—एत्मादपुर । स्था०—सं० १६८१ वि० । प्र०—श्री सुनहरी लाल जी । मं०—श्री जगमोहनसिंह जी । स० सं०—१४ । सहा०—३ । वा० आ०—३६—) । पु० सं०—१७५ । कार्य—विशेषतः मेलों पर प्रचार का कार्य होता है ।

१७८. किरावली

रे० स्टे० व डा० खा०—किरावली । स्था०—जनवरी सन् १६१२ ई० । प्र०—ठा० तुलसीराम जी । मं०—मं० दयाशङ्करजी । स० सं०—१२ । वा० आ०—७१) रु० । सम्पत्ति—समाज मन्दिर (ला०—१०००) रु० । पु०—सं०—१३० ।

१७९. नामनेर (छावनी)

रे० स्टे०—आगरा कैन्ट । डा० खा०—आगरा । स्था०—सन् १६०६ ई० । प्र०—श्री बाबूराम बी. ए. । मं०—श्रीकालिका प्रसाद आर्य । स० सं०—१०५ । वा० आ०—४५६—)३ पाई । पु० सं०—१०० । प्रचारक—म० मुहरसिंह जी । संस्था—आ० क० पाठशाला (५ कक्षा, छा०—७५), ए. वी. स्कूल (क०—५ छा०—२७) । कार्य—हरिजनों में शिक्षा प्रचार ७२५) रु० व्यय, १ शुद्धि, २ पुनर्विवाह ।

१८०. बाह

रे० स्टे०—शिकोहाबाद । डा० खा०—बाह । स्था०—अगस्त सन् १६१८ ई० । प्र०—म० महीपति सिंह जी । मं०—श्री मेवारामजी ।

स० सं०–३१ । सहा०–१० । वा० आ०–१५०) रु० । सम्प०–समाज मन्दिर के लिए भूमि । पु० सं०—५० ।

शेष आर्यसमाज—

१८१. फिरोजाबाद, १८२. फतेहाबाद, १८३. जरार डा० बाह, १८४. टून्डला, १८५. शमशाबाद, १८६. नगलादियाली, मजराखाँड़ा डा. बरहम, १८७. कागारौल १८८. सवाई डा० एत्मादपुर, १८६. जगनेर, १६०. मिढ़ाखुर, १६१. बेलनगंज आगरा, १६२. धिमिश्री डा० शमशाबाद १६३. पैंतखेड़ा डा० खन्दौली

जिला मैनपुरी

१६४. जिला उपसभा मैनपुरी

मुख्य कार्यालय–शिकोहाबाद। स्था०–सन् १६२४ ई० । प्र०—पं० सुनहरी लाल शर्मा एम० ए० । मन्त्री—पं० दयारामजी। स० सं०—४० । वा० आ०—४२११) । उपदेशक—१. म० गोविन्द वर्मा, २. पं० ज्वालानन्द जी भजनीक, ३. ब्र० महेन्द्र, ४. म० मिजाज़ीलाल जी, ५. स्वा० धर्मदेव जी, ६. पं० वेदानन्द जी । कार्य—जनगणना प्रचार, १२ सम्मेलन, ४०० ईसाइयों की शुद्धि । इस सभा के लेखानुसार जिले में २७ समाजें हैं ।

१६५. शिकोहाबाद

रे० स्टे० व डा०खा०–स्वयम्। स्था०–सन् १६०५ ई० । प्र०—बा० बृजलाल जी । मं०—जयपाल सिंह जी । स० सं०—५२ । सहा०–११ । सम्प०–समाज मन्दिर (ला० ७००० रु०), एक खेत (लगान ६ रु०) । कार्य—शुद्धि १, तथा अन्य प्रचार ।

१६६. जगतपुर

रे० स्टे०—भोगाँव । डा० खा०—आर्यपुर खेड़ा । स्था०—सं० १६३८ ई० । प्र०—श्री रघुवीरसिंह जी । मं०—श्री विश्राम सिंह जी । स० सं०—४० । सहा०—१५ । वा० आ०—७६६।)३ पाई । सम्प०—समाज मन्दिर के लिए भूमि । पु० सं०—६५ ।

१६७. कौरारा खुर्द

रे० स्टे०–कौरारा (ई० आई० आर०) डा० खा०—तिलयानी । स्था०–सं. १६८४ वि० । प्र०—ठा० जापानसिंह जी । मं०—श्री लक्ष्मीनारायण सक्सैना । स० सं०–२० । सहा०—१० । वा० आ०—६६।)। । पु० सं०—४२ । प्रचारक—श्री गोविन्द वर्मा ।

१६८. कुसमरा सिटी

रे० स्टे०—भोगांव । डा० खा०–कुसमरा । स्था०–३० सितम्बर सन् १६३१ ई. । प्र०—म० दीपसिंह जी । मं०—श्यामसुन्दर लाल जी । स० सं०—१६ । सहा०—५ । वा० आ०—१३१।–) । सम्पत्ति—८॥।)३ पा० । पु० सं०—१५० । का०—अकाल व संक्रामक रोगों में सेवा की गई, वेद प्रचार,

शुद्धि व ग्राम प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

१९९. मैनपुरी, २००. गढ़िया छिनकौरी डा० बेवर, २०१. सिरसागंज, २०२. उरावर डा० मदनपुर, २०३. बेवर, २०४ मक्खनपुर, २०५. भोगांव, २०६. इलाबाँस डा० कुसमरा, २०७. घिरोर, २०८ सौथरा डा० सिरसागंज, २०९. केसरी डा० मदनपुर, २१०. जसराना, २११. शाहजहांपुर डा० घिरोर।

जिला एटा

२१२. एटा

रे० स्टे०—कासगंज। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८८५ ई०। प्र०—बाबू किशोरीलाल जी। मं०—श्री छैल बिहारी लाल जी। स० सं०—४०। सहा०—५०। वा० आ०—२२७ रु०। सम्पत्ति—६ दुकानें और एक कमरा। पु० सं०—२५०। का०—३ मुसल्मानों को शुद्ध किया गया।

२१३. बेरी

रे० स्टे० व डा० खा०—मारहरा। स्था०—१९१२ ई०। प्र०—श्री कंचनसिंहजी। मं०—श्रीराजाराम वर्मा। स० सं०—१३। सहा०—५। वा० आ०—२०) रु०। सम्पत्ति—आर्य समाज मन्दिर। पु० सं०—३५। का०—शुद्धि, हरिजनों में प्रचार, ग्राम प्रचार, जनगणना के सम्बन्ध में प्रयत्न, आ० कु० स० (स—७)

शेष आर्यसमाज—

२१४. कासगंज, २१५. स्कीट, २१६. नरदौली, २१७. सराय अगहत, २१८. ऊँचागांव डा० जलेसर, २१९. बुलाकीनगर डा० अलीगंज, २२०. निधौलीकलां, २२१. जिटौली डा० पिलुआ, २२२ सिधावली डा० मिरहची, २२३. मोहनपुर, २२४. अलीगंज, २२५. राजाकारामपुर, २२६. गंजडुडवारा, २२७. श्री आर्य समाज कासगंज।

जिला बरेली

२२८. अलीगंज

रे० स्टे०—अशांतगंज डा० खा०—गैनी। स्था०—सन् १८६५ ई० । प्र—श्री कन्हीलाल जी, मं०—श्री हरप्रसाद जी । सहा०—१ । स० सं०—१५ । सम्प०—५००) का आर्यसमाज मन्दिर । पु० सं०—१० ।

२२६. नवाबगंज

रे० स्टे०—विजौरांल्या (आर० के० आर०) स्था०—मार्च सन् १६२३ ई० । प्र०—श्री रामसहाय जी, मं०—श्री जानकीप्रसाद जी । स० सं०—६ । पु० सं०—२ ।

२३०. आर्यस्त्री समाज भूड़ बरेली

स्था०—सन् १६०६ ई० । प्र०—चन्द्रमुखी जी, मन्त्री—विद्यावती जी । स० सं०—३३ । सहा०—१ । वा० आ०—३०) ।

२३१. भूड़ बरेली

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६०१ ई० । प्र०—डा० कुन्दनलाल जी एम० डी०, मं०—श्री रामप्रसाद जी, स० सं०—४१ । सहा०—४३ । वा० आ०—८२६) रु० । सम्प०—१००००) रु० । पु० सं०—२०० । कार्य—चिकित्सा, वेद-प्रचार । संस्था—क० पा० (छा०—४५०), आ० कु० स० (स०—५०), आ० वी० द० (स०—३०) ।

शेष आर्यसमाज—

२३२. बरेली, २३३ अहमदाबाद डा० सैंथल, २३४. आंवला, २३५. शिवपुरी डा० टिसुआ, २३६. जंकशन बरेली, २३७. राजपुरकलां डा० गैनी, २३८. सरदारनगर डा० भमोरा, २३९. रतना डा० सैंथल, २४०. गुड़गांवां २४१. जगतपुर डा० पुरानाशहर बरेली, २४२. कुत्तरा डा० भिटोरा, २४३. फरीदपुर, २४४. धन्तिया डा० भिटोरा, २४५. खड़ारामनगर डा० दौरनियां २४६. चठिया, २४७. आयस्त्रीसमाज बरेली, २४८. क्योलडिया डा० अटगाचांदपुर, २४९. शरीपुर डा० सदरबाजार, २५०. दिपीचरा डा० भमोरा २५१. बहेड़ी ।

जिला बिजनौर

२५२. इस्माईलपुर

रे० स्टे०—चाँदपुर, डा० खा०—चांदपुर स्याऊ । स्था०—१ अप्रैल सन् १६३२ ई० । प्र०—श्री बलवीरसिंह जी । मं०—रघुनन्दनप्रसाद जी । स० सं०—२० । सहा०—३ । सम्प०—समाज मन्दिर । पु० सं०—५६ । का०—वेद तथा ग्राम प्रचार किया गया ।

२५३. सेन्धार

रे० स्टे०—चांदपुर स्याऊ, डा० खा०—चाँदपुर । स्था०—मार्च सन् १६०२ ई० । प्र०—श्री हरगुलालसिंह जी, मं०—श्री रामस्वरूप जी । स० सं०—१६ । सहा०—४ । वा० आ०—१४८) । सम्प०—

समाज मन्दिर (ला०—१५०० रु०) अन्य १५०)। पु० सं०—१०५। का०—अन्तर्जातीय विवाह २। दलितों में विशेष प्रचार।

२५४. भोजपुर-बरमपुर

रे० स्टे०—मुअज्जमपुरनरायण, डा० खा०-बरमपुर। स्था०—१३ जून सन् १६-१५ ई०। प्र०—हरगोविन्दसिंह जी, मं०—उमंगूलालजी आर्य "भिषग भूषण"। स० स०—२४। सहा०—११। वा० आ०—१७०।=)। सम्प०—३०६-)॥। पु० सं०—२५०। संस्था—वैदिक कन्या पाठशाला, आ० वी० द० (स०—११)।

२५५. हल्दौर

रे० स्टे०—बिजनौर, डा० खा०—स्वयम्। प्र०—ला० डालचन्द जी, मं०—मा० शिवराजसिंह जी। स० सं०—३०। सहा०—२। वा० आ०—४४०=)॥। पु० सं०—१०८।

२५६. नजीबाबाद

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—२३ जून सन् १८६१ ई०। प्रधान-श्रीचंद जी, मं०-श्री धीरजसिंहजी। स० सं०—३३। सहा०—१। वा० आ०—३००)। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—२५००० रु०), मकान साहनपुर में (ला०—१००० रु०)। पु० स०—५००। का०—५ शुद्धियाँ। संस्था—आर्य कु० पाठशाला (ला०—२५०), आ० कु० स० (स०—२०), आ० वी० द० (स०—४०)।

२५७. शेरकोट

रे० स्टे०—धामपुर, डा० खा०—शेरकोट। स्था०—चैत्रशुदि १ सं० १६४० वि०। प्र०—म० प्यारेलालजी, मं०—पं० परमानन्द जी आर्यमुसाफिर। वा० आ०—१४६५॥।=)। सम्प०—२ आर्य मन्दिर, दो गाँव (मूल्य—२५००)। पु० सं०—४५। प्रचारक—पं० परमानन्दजी। का०—नित्य हवन, मेलाप्रचार व १ अन्तर्जातीय विवाह।

२५८. स्योहारा

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८६० ई०। प्र०—श्री चौ० देवदत्त जी रईस। मं०—चौ० दिग्विजयसिंह जी रईस। स० सं०—३०। वा० आ०—४००) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर (अपूर्ण)।

शेष आर्यसमाज—

२५६ बिजनौर, २६० रेहड़, २६१. नगीना, २६२. बढ़ापुर, २६३. चांदपुर। २६४. नांगल, २६५. पुरैनी, २६६. अस्करीपुर, २६७. धामपुर, २६८. कीरतपुर, २६६. मुहम्मदपुर देवमल, २७०. भागुवाला डा० नांगल, २७१. आर्य उपसभा बिजनौर मण्डल डा० पुरैनी, २७२. महमूदपुर डा० सहसपुर, २७३. नहटौर, २७४. गजरौला डा० मोहम्मदपुर, २७५. आर्य स्त्री समाज नजीबाबाद, २७६.

आर्य स्त्री समाज बिजनौर, २७७. गोहावर, २७८.जटपुरा डा० महाबतपुर।

जि० बदायूं

२७९. बदायूं

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—जुलाई सन् १८९९ ई०। प्र०—श्री राबबहादुर जी, मं०—श्री धर्मपाल जी विद्यालंकार। स० सं०—६१। सम्पत्ति—२ आर्य समाज मन्दिर तथा २०००)रु०। पु० सं०—२४००। का०—वेद प्रचार, ग्राम प्रचार, शुद्धियां, विधवा विवाह तथा संस्कार आदि। संस्था—१. पार्वती पाठशाला (छा०—३५०) आ० कु० स० (स०—५०), श्री जयनारायण वाचनालय (१५ समाचार पत्र), पुरोहित—१।

२८०. इस्लामनगर

रे० स्टे०—बहजोई। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८९० ई०। प्र०—ठा० हेतसिंह जी। मं०—ला० रामनरायण जी। स० सं०—२२। सहा०—१०। वा० आ०—१३१॥)॥।। सम्प०—समाज मन्दिर ५०००), दो मकान जिनमें कन्यापाठशाला है ५०००)। जायदाद ग्राम उठेला (आय १००रु० वार्षिक, अनुमानिक मूल्य ३००० रु०), पु० सं०—७००। उपदेशक—१ अवैतनिक। का०—वेदप्रचार, दलितोद्धार, ग्राम प्रचार, अन्तर्जातीय विधवा-विवाहहुए। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—१००), आ० कु० सभा (स०—१५)।

२८१. गवाँ

रे० स्टे०—बबराला। डा०खा०—स्वयम्। स्था०—१० जनवरी सन् १९३५ ई०। प्र०—श्री रघुनन्दनसहाय जी। मं०—श्री मुनहरीलाल मिश्र। स० सं०—३०। सहा०—५०। वा० आ०—२५०) रु०। सम्पत्ति—जमीन। पु० सं०—२०। संस्था—कन्या पाठशाला (छा०—३०)। कार्य—शुद्धि तथा वेद प्रचार।

२८२. देहगवाँ

प्र—श्री मुंशीलाल जी बजाज। मं०—कविराज धर्मपाल पाण्डेय।

शेष आर्यसमाज—

२८३. दातागंज, २८४. उझियानी, २८५. बिलसी, २८६. बिसौली, २८७. हरफरी डा० धनारी, २८८. रिसौली डा० सिरसौली, २८९. मुढ़िया धुरेकी, २९०. सहसवान, २९१. सोरहा डा० करियामई २९२. जिला आर्य उपसभा उझियानी, २९३. पूर्वी नगला डा० बदायूँ, २९४. बराही डा० सबलपुर, २९५. सिठौली डा० इस्लामनगर।

जिला मुरादाबाद

२९६. मुरादाबाद

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१८७९ ई० प्र०—ला० बैजनाथ जी। मं०—वैद्य आत्मस्वरूप जी आयुर्वेद शिरोमणि। स० स०—१७। वा० आ०—८२)

सम्प०—समाज मन्दिर (लागत—५००० रु०), एक मकान (ला०—३० ० रु०) पु० सं०—१५२४। संस्था०—आर्यकुमार सभा, आर्य वीर दल (स०—४३)। का०—साधारण प्रचार, जनगणना।

२९७, चन्दौसी

रे० स्टे० व डा० खा०—चन्दौसी। स्था०—सितम्बर सन् १८८५ ई०। प्र०—जगदेवप्रसादजी एम. ए. बी. काम। मं०—श्री रामप्रशादजी। स० सं०—२८। सहा०—२२। २२वा० आ०—१६७२।।।)।। सम्प०—समाज मन्दिर (लागत—१५००० रु०) तथा अन्य १०००)। पु० सं०—४५८। कार्य—अछूतों में प्रचार, ४ शुद्धि, ग्राम-प्रचार।

२९८, कांठ (मुरादाबाद)

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९१२ ई०। प्र०—ला० तोताराम जी। मंत्री—ला० बालमुकुन्द जी। स० सं०—२७। सहा०—७। वा० आ०—५५० रु०। सम्प०—मन्दिर। पु० सं०—२४५०। का०—प्रचार ग्रामों में, अन्तर्जातीय विवाह इत्यादि। संस्था—आर्य कुमार सभा।

२९९, अमरोहा

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—१९ अक्टूबर सन् १९०२ ई०। प्र०—श्रीराम-स्वरूप जी। मं०—सुशीलेन्द्र जी। स० स०—२४। सहा०—८८। सम्प०—१५४९८।—) लागत का समाज मन्दिर। कार्य—आर्य पाठशाला; आर्य औषधालय स्थापित होनेकी आशा जिसके लिए स्थान व ५००) रु० वार्षिक आमदनी की जायदाद है।

३००, सरायतरीन हयातनगर

रे० स्टे०—सम्भल या हातिमसराय। डा० खा०—सरायतरीन। स्था०—अप्रैल सन् १९१३ ई०। प्र०—श्री बाबू शिवचन्द्र जी आर्य। मं०—श्री मित्रानन्द मुख्तार सि० भू०। स० सं०—१८। सहा०—२०। वा० आ०—२००) रु०। सम्प०—दो गांव (आय लगभग १५० रु०)। पु० सं०—३५०। संस्था—आ. कु. स. व स्त्री समाज। का०—प्रधान जी ने वेद भाष्य के लिए १५००० रु० नकद प्रतिनिधि सभा को दिए।

३०१, बहजोई

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—१९११ ई०। प्र०—श्री रमाशंकर जी हेड मास्टर। मं०—श्री सत्यव्रत जी आयुर्वेद शिरोमणि। स० सं०—५५। सहा०—२१। वा० आ०—५६२≈)। सम्प०—४०००) रु०। पु० सं०—३३० (मू० १६६।।–)।।। कार्य—मेलों पर प्रचार, वैदिक प्रचार, मुफ्त औषधी वितरण।

३०२, सुरजननगर

रे० स्टे०—स्योहारा। डा० खा०—स्वयम् प्र०—डा० हरिदत्त जी। मं०—श्री प्रवीण

सिंहजी। स० सं०—२०। सहा०—२। पु० सं०—६८।

३०३. फतहपुर बिशनोई

रे० स्टे०—हकीमपुर। डा० खा०—अगवानपुर। स्था०—मार्च सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री रामस्वरूपसिंह जी। मं०—श्री जगदीश शरण। स० सं०—२०। सहा०—२०। सम्प०—४०) रु०। पु० सं०—४०। कार्य—ग्राम प्रचार।

३०४. सम्भल

रे० स्टे०—सम्भल-हातिमसराय। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८६५ ई०। प्र०—पं० शिवचरण जी जैतली। मं०—श्री बनवारीलाल वर्मा। स० सं०—३१। सहा०—२४। वा० आ०—३१५॥≶)॥। सम्प०—समाज मन्दिर (ला० १६००० रु०)। पु० सं०—१२५ (मू०—२५० रु०)।

३०५. भटपुरा

रे० स्टे०—सम्भल-हातिमसराय। डा० खा०—असमोली। स्था०—सन् १६२४ ई०। प्र०—श्री लेखराम नम्बरदार। मं०—श्री रामदेव शास्त्री, स० सं०—६। सहा० १३। वा.आ. ४२॥), समा०—६०) रु.। कार्य—जन्मना जाति तोड़कर विवाह। प्रचारक—प्रधान, मंत्री, व स्वामी अमृतानन्दजी (अवैतनिक (उपदेशक)।

शेष आर्य समाज—

३०६. टाँडाअफ़ज़ल, डा० सुरजननगर, ३०७. सिरसी, ३०८. गंज मुरादाबाद, ३०६. अगवानपुर, ३१०. सहसपुर बिलारी डा. बिलारी, ३११. हसनपुर ३१२. मण्डी धनौरा, ३१३. ठाकुर द्वारा, ३१४. अदलपुर सालारपुर, डा० बिलारी, ३१५. मसेबी डा० कुन्दरखी, ३१६. जिला, आर्य उपसभा मुरादाबाद।

जिला शाहजहाँपुर

३१७. तिलहर

रे० स्टे० व डा० खा०—खास। स्था०—सन् १८६७ ई०। प्र०—श्री गोकलप्रसादजी रईस व चेयरमैन डिस्ट्रिक्ट बोर्ड। मं०—श्री लक्ष्मीनारायण जी आर्य। स० सं०—२७। सहा०—४५। वा० आ०—२००।–)। सम्प०—ज़मीन व आर्यसमाज मन्दिर। पु० सं०—१७१। का०—२ शुद्धियाँ, ६ कोरी अछूतों का समाज में प्रवेश।

३१८. खुदागंज

रे० स्टे०—मीरानपुर कटरा। डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६०२ ई०। प्र०—श्री रामबिलास जी। मं०—श्री लाला राधेलाल जी। स० सं०—१६। सहा०—४। वा० आ०—१७५)। सम्प०—३५००)। पु० सं०—६५।

३१९. जलालाबाद

रे० स्टे०—शाहजहाँपुर। डा० खा०—स्वयं। प्र०—श्री जानकीप्रसाद जी मुखतार। मं०—श्री ब्रजलाल जी। स० सं०—१६। सहा०—१६। पु० सं०—१००।

शेष आर्यसमाज—

३२०. शाहजहांपुर, ३२१. पुवायां. ३२२. ठकियाबराह डा० ढकियारथा, ३२३. बिलन्दपुर गद्दीपुर डा० सिधौली, ३२४. आर्य स्त्री समाज शाहजहांपुर, ३२५. शहजापुर डा० सेहरामऊ दक्षिणी, ३२६. जगतियापुर डा० जैतीपुर।

जिला पीलीभीत

३२७. पूरनपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९०१ ई०। प्र०—श्री बिलेरामसिंह। मं०—श्री रामबहादुरजी मुखतार। स० सं०—३१। सहा०—८। सम्प०—चल १००) अचल ६०००)। पु० सं०—३६०। का०—वेद प्रचार, ४ शुद्धियां, दो विधवा विवाह।

शेष आर्यसमाज—

३२८. पीलीभीत, ३२९. बीसलपुर, ३३०. घुघचिहाई, ३३१. जहानाबाद, ३३२. खांडेपुर, डा० बीसलपुर, ३३३. आर्य स्त्री समाज पीलीभीत।

जिला कानपुर

३३४. अकबुर

रे० स्टे०—रूरा (ई. आ. आर.) लालपुर (जी. आई. पी.)। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१६०२ई.। प्र०—म० लक्ष्मीनारायण। मं०—म० वृन्दावन जी। स० सं०—१४। सहा०—२। वा० आ०—२५६।।।-)।। सम्प०—एक मकान (मूल्य ५०० रु०) तथा १।। बीघा भूमि (मूल्य ५० रु०)। पु० सं०—१५६। का०—साधारण।

३३५. बिल्हौर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—स० १८७२ वि०। प्र०—श्री प्रयागनारायण द्विवेदी। मं०—श्री रामलाल शर्मा। स० सं० १३। वा० आ०—८१।।-)।। का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, तथा ग्राम प्रचार।

३३६. सीसामऊ (कानपुर)

रे० स्टे० व डा० खा०—कानपुर। स्था०—२६ जनवरी सन् १६३४ ई०। प्र०—प० विश्वम्भरनाथ जी। मं०—श्री रामचन्द्र एम० ए० एल० टी०। स० सं०—२७। सहा०—५। वा० आ०—५६३।।≈)।।।। सम्प०—अधबना समाज मन्दिर। का०—वेद प्रचार, परिवार कथा, २६ संस्कार, ४ विधवा विवाह।

शेष आर्य समाज—

३३७. कानपुर, ३३८. मूँसा नगर ३३९. बिधनूँ, ३४०. सरैयां, डा० चौबेपुर, ३४१. नवाबगंज, ३४२. रेल बाजार कानपुर, ३४३. मौफक, ३४४. कुली बाजार कानपुर, ३४५. रामनगर, डा० मधना, ३४६. जिला आर्य उपसभा कानपुर।

जिला फतहपुर

३४७. फतेहपुर

रे०स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६०८ ई०। प्र०—श्री उमाशंकर जी वकील। मं०—श्री केशव शरण जी वकील। सम्प०—समाज मन्दिर। पु० सं०—१०००। संस्था०—आर्यवीर दल। पूर्व इतिहास—पं० भोजदत्त जी, पं० रामचन्द्र जी, पं० शिव शर्मा जी, पं० दुनीचन्द्र जी व स्वामी विशान भिक्षुजी ने ईसाई-मुसलमानों से शास्त्रार्थ किये। सन् १६२५ व १६२६ में नगर कीर्तन पर आक्रमण हुआ, जिसका मुकाबिला किया गया, कार्य—शुद्धि, है० स० में १५०० रु० व १२ सत्याग्रही दिये।

३४८. बिन्दकी

रे० स्टे०—बिन्दकी रोड। डा० खा०—बिन्दकी। स्था०—सन् १६०८ ई०। प्र०—पं० शिवदत्त जी। मं०—ला० बचईलाल जी। स० सं०—६१ सहा०—१००। वा० आ०—२५०) रु०। पु० सं०—१३४। का०—ग्राम प्रचार।

३४९. बिन्दकी

रे० स्टे०—खागा (ई. आ. आर.)। डा० खा०—हथगाँव। स्था०—फाल्गुन सं० १९८२ वि०। प्र०—श्री महावीर स्वामी। मं०—श्री अवधराम जी। स० सं०—४६। वा० आ०—११५॥≡)॥। पु० सं०—४५६। का०—बाल विवाह और मद्य-मांस का अवरोध, अछूतोद्धार।

शेष आर्य समाज—

३५०. बहुआ, ३५१. अर्जुनपुर गढ़ा डा० किशनपुर, ३५२. जहानाबाद डा० कोड़ा जहानाबाद, ३५३. हस्वा, ३५४. अमौली, ३५५. असोथर, ३५६, बौरा कलां डा० हुसनगंज, ३५७. शाह, ३५८. खागा, ३५९. बिसौर डा० गाजीपुर, ३६० गाजीपुर, ३६१. अलीपुर आदर डा० गौती, ३६२. समेहटा डा० गाजीपुर, ३६३. गौराकलां, ३६४. हथगांव, ३६५. इंटगांव, ३६६. रमवां, ३६७. बिरुई, ३६८. रेल बाजार फतहपुर।

अन्तिम पांच का आ०प्र० सभा से सम्बन्ध नहीं है।

जिला इटावा

३६९. औरैया

रे० स्टे०—फफूंद। डा० खा०—स्वयम्। प्र०—रामसेवक जी मिश्र। मं०—रामकरन जी। स० सं०—२१। सहा०—६६। सम्प०—समाज मन्दिर भूमि मय खत्तियाँ ८; १ पुख्ता कुँआ। पु० सं०—८७, (मूल्य ८१ रु० ६ आ० ६ पाई। का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, ३ पुनर्विवाह तथा १ मुण्डन संस्कार।

३७०. अजीतमल

रे० स्टे०—फफूंद या इटावा। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—चैत्र कृष्ण ९ सं० १९५९ वि०। प्र०—म० रामकृष्ण आर्य। मं०—म० गोविन्दराम जी। स० सं०—१४। वा० आ०—४०)। सम्पत्ति—४०००) लागत का मन्दिर। पु० सं०—२५०। कार्य—साधारण वेद प्रचार।

शेष आर्य समाज—

३७१. इटावा, ३७२. जसवन्तनगर, ३७३. लहरापुर डा० सहायल, ३७४. भरथना, ३७५. बकेवर, ३७६. बेला, ३७७. पाली खुर्द, ३७८. मल्हौसी।

जिला इलाहाबाद

३७९. इलाहाबाद (कटरा)

रे० स्टे०—प्रयाग (ई० आ० आर०) डा० खा०—कटरा। स्था०—सितम्बर १९०१ ई०। प्र०—म० प्रभुदयाल जी आर्य। मं०—मनोहरलाल जी। स० सं०—५४। सहा०—६६। सम्प०—समाज मन्दिर। पु० सं०—५००। का०—उपदेशक १, भजनीक १, आर्य-सभा प्रयाग द्वारा नगर तथा ग्राम प्रचार का कार्य कया जाता है। समाज अपनी आय का

चतुर्थांश उक्त सभा को प्रचारार्थ देता है। ४ शुद्धियां की गई।

३८०. कीटगंज प्रयाग

रे० स्टे०—इलाहाबाद जं०। डा. खा.—कीटगंज। स्था०—सन् १९१० ई०। प्र०—श्री बल्देव प्रसाद जी। मं०—शिवदत्त जी शर्मा। स० सं०—२७। सहा०—१४। पु० सं०—५००। का०—प्रयाग आर्य सभा के अन्तर्गत नगर प्रचार में सहायता दी जाती है। शुद्धि कराई जाती है। आ० वी० द० मुट्ठीगंज (स०—२५) आ कु. सभा (स०—२०)।

शेष आर्य समाज—

३८१. चौक इलाहाबाद, ३८२. रानी मण्डी, ३८३. जिला आर्य उपसभा प्रयाग ३८४. आर्य स्त्री समाज अत्तर सूय्या इलाहाबाद। ३८५. फतेहपुर कायस्थान डा० मेंडारा।

जि० फर्रुखाबाद

३८६. फर्रुखाबाद

रे० स्टे०—फर्रुखाबाद जंक्शन। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८७९ ई०। प्र०—शिवनारायण जी अग्रवाल। मं०—श्री कृष्ण दत्त जी वकील। स० सं०—९३। सहा०—५०। वा० आ०—३१२२॥≈)८ पाई। पु० सं०—१४०० (मू० १५०० रु०)। संस्था—कन्या पाठशाला हाई स्कूल (छा०—२०९) कार्य—३ शुद्धि, दे० स० में १५०॥)॥ व्यय किया। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—१०००० रु०), पाठशाला भवन (ला०—२२००० रु०) स्थिर कोष २९६०० रु०।

३८७. तिर्वा

रे० स्टे०—कन्नौज। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—३१ दिसम्बर सन् १९३१ ई०। प्र०—डा० सदानन्द जी तिवारी। मं०—पं० जगदीशचन्द्र जी आर्य। स० सं०—१८। वा० आ०—२०॥≈)। सम्प०—२०) चल। पु० सं०—२५। का०—ट्रैक्ट बंटवाये गये प्रचार तथा आर्य समाज का प्रचार।

शेष आर्य समाज—

३८८. पिलखना डा० मेरापुर, ३८९. भोलेपुर, ३९०. कन्नौज, ३९१, जलालाबाद, ३९२. तेरा जाकट, ३९३. जसुरापुर, ३९४. रसीदाबाद डा० सिकन्दरपुर ३९५. सीदेचकदपुर डा० अलीगढ़, ३९६ नीमकरोड़ी डा० तालग्राम. ३९७. तालग्राम, ३९८. सिरौली डा० मुहम्मदपुर, ३९९. कमालगंज, ४००. अनौगी, डा० जलालाबाद, ४०१. कायमगञ्ज, ४०२. फतेहगढ़, ४०३. ज्यौंता डा० खिमसेपुर, ४०४, औसेर डा० सौरनगर, ४०५. रम्पुरा डा० फतेहगढ, ४०६. ठठिया।

जि० झाँसी

४०७. झांसी शहर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१५ दिसम्बर १८८४ ई०। प्र०—श्री फग्गू-

मल जी। मं०—श्री अजुध्यालाल जी चौरासिया। स० सं०—४३। सहा०—४२। वा० आ०—१६५॥≈)। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०-२०००० रु०) और १००० रु. चल। पु० सं०—५८५। कार्य—४ शुद्धियां, १ अन्तर्जातीय विवाह। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—८०) आर्य कुमार सभा।

४०८. झांसी (सीपरी बाजार)

रे० स्टे०—झाँसी। डा० खा०—सीपरी बाज़ार झांसी। स्था०—अक्तूबर सन् १६१२ ई०। प्र०—ला० लछाराम जी। मं०—श्री सोहनलाल जी आनन्द। स० सं०—२०। सहा०—१०। वा० आ०—५१६।≥)॥। सम्प०—चल ५००) रु० और अचल ५००० रु०। पु० सं०—२५०। का०—वेद प्रचार, १ शुद्धि, ग्राम प्रचार, जनगणना के संबंधमें प्रचार। संस्था—आ. क. पाठशाला (छा. १६०)। विशेष—नगर कीर्तन के मार्ग को पुलिस ने बदलना चाहा, परन्तु अन्त में साधारण मार्ग से निकला।

४०६. मऊ रानीपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—मऊ रानीपुर। स्था०—१५ अप्रैल सन् १६२५ ई०। प्र०—बाबू केदारनाथ जी। मं०—बाबू हरप्रसाद जी अग्रवाल। स०सं०—१३। सहा०—३। वा० आ०—२०६।)। सम्प०—समाज मंदिर (ला०-५००० रु०) पु० सं०—३०।

शेष आर्य समाज—

४१०. ललितपुर, ४११. नगरा, ४१२. सदर बाजार झांसी।

जिला जालौन

४१३. उरई

रे० स्टे०—उरई। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—जून सन् १६१२ ई०। प्र०—बा० रमा शङ्कर जी। मं०—बा० श्रीधरदयालु जी। स० सं०—११। सहा०—२। सम्प०—समाज मन्दिर से संबन्धित ३ दुकानें हैं तथा कुछ जमीन है जिसके द्वारा २०० रु० वार्षिक आय हो जाती है। पु० सं०—लगभग २००। संस्था—डी. ए. वी. हाई स्कूल (छात्र—२५०), आर्य कन्या हाई स्कूल (छा०—१३७)। का०—समय समय पर ट्रैक्ट वितरण किये जाते हैं। १ विवाह आर्य विवाह एक्ट के अनुसार कराया गया।

४१४. कालपी

जिला बांदा

४१५. बांदा

रे० स्टे०— व डा० खा०—बाँदा। प्र०—आनन्दीप्रसाद जी निगम। मं०—श्री बालकृष्णजी। स० सं०—५०। सम्पत्ति—समाज मन्दिर। संस्था—आ० क० पा० (छा—४००), बुन्देलखंड अनाथालय, (प्र० सेठ बचालाल जी) डी. ए. वी. स्कूल (मैनेजर कुँवर हरप्रसाद जी वकील)।

दयानन्द . वाचनालय, (संचालक—मुंशी मथुराप्रसाद जी) आ० कु० स० (मं०—श्री बलवीरसिंह जी) ।

जिला हमीरपुर

४१६. हमीरपुर, ४१७. राठ, ४१८. महोबा, ४१६. मुसकरा ।

जिला बनारस

४२०. काशी (विश्वविद्यालय)

रे०स्टे०—बनारस केन्ट । डा० ख ०—विश्वविद्यालय । स्था०—सन् १६१६ ई० । प्र० डा० राजबली पांडे, मंत्री रमेशचन्द्र जौहरी, रु० सं०—४० । विशेष—यह आर्य समाज विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों का है । वि० वि० के शिक्षकगण व बाहर के विद्वानों के उपदेश होते हैं, साप्ताहिक अधिवेशन नियमपूर्वक होते हैं ।

४२१. बनारस छावनी (भोजूबीर)

रे० स्टे०— व डा० खा०—बनारसकैंट स्था०—नवम्बर सन् १६२४ ई० । प्र०—श्री सत्यनारायण लालजी, मं०—श्री कालिका प्रसादजी, स० सं०—२० । सहा०—५ । वा० आ०—३६८॥≤) । सम्प०—६००) । पु० सं०—१०० । का० वेदप्रचार, १ शुद्धि, ३ अनाथ बालकों की रक्षा, तीन स्त्रियां अनाथालय भेजी गईं ।

४२२. मुगलसराय

रे० स्टे०— व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६२५ ई० । प्र०—श्री गणपतिजी । मं०—श्री हरिशंकरजी । स० सं०—३१ । सहा०—१० । वा० आ०—२३१॥) सम्पत्ति—समाज मन्दिर बन रहा है । (व्यय १३०० रु०) पु० सं० १३१ । कार्य—सीमा प्रान्त व सिन्ध के पीड़ितों को सहायता । मेलों में प्रचार । १ अन्तर्जातीय विवाह ।

शेष आर्यसमाज—

४२३. बनारस । ४२४. शिवपुर । ४२५. सुनारपुरा डा० शिवाला ।

जिला मिर्जापुर

४२६. मिर्जापुर

रे० स्टे० व डा० खा० मिर्जापुर (ई० आ०) स्था०—सन् १८६४ ई० । ०—बा० मुरलीधरजी श्रीवास्तव । मं०—बा० लक्ष्मण दासजी । स० सं—१८ । सहा०—३० । वा० आ० ४३।)॥ । सम्प०—मन्दिर समाज (आ० क० पा० भवन सहित) पु० सं०—४२७ । कार्य—साधारण, बाल विवाह निषेध कमेटी द्वारा । पु० ४०० । संस्था—१ आर्य कन्या पाठशाला (छा०—२००) २ आर्य-समाज अनाथालय (स—११) ।

४२७ पचर्गाव

रे० स्टे०—डगमगपुर (२ मील) चुनार (५ मील) डा०खा०—सीखड़ (चुनार) । प्र०—श्री स्वामी अभयानन्द जी सरस्वती । मं०—श्री पं० सूर्यदत्तजी त्रिपाठी । स० सं०—३४ ।

सहा०—११ । वा०आ०—४२) । सम्प० ३००) । पु० सं०—२५० । का०—साधारण प्रचार हिन्दू रक्षा इत्यादि । प्रचारक—२ उपदेशक, १ भजनीक ।

शेष आर्यसमाज

४२८. रामगढ़ डा० सीखड़, ४२६, बगही डा० चुनार, ४३०. मगरहां डा० सीखड़, ४३१. चुनार ।

४३२ गोरा बाजार

रे० स्टे०—गाजीपुर सिटी । डा० खा०—पीरनगर (गाजीपुर) स्था०—जनवरी सन् १६२७ ई० । प्र०—सूर्यनारायणजी । मं०—लक्ष्मीप्रसाद जी, स० सं०—६ सहा० ८ । सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर । पु० सं०—१०० का०—ग्रामों में वेदप्रचार शनिवार को होता है । उपदेशक—१ अवैतनिक ।

शेष आर्यसमाज

४३३. गाजीपुर, ४३४. दिलावार नगर, ४३५. बहरियाबाद, ४३६. मोहम्मदाबाद, ४३७. सैदपुर ।

जिला बलिया

४३८. बलिया

रे० स्टे०—बलिया (बी. एन. डब्लू.) डा० खा०—स्वयम् । स्था०—नवम्बर सन् १६१३ ई० । प्र०—श्री कन्हैयालाल जी । मं०—श्री जमनाप्रसाद गुप्त । स० सं०—२६ । सहा०—१० । वा० आ०—४८५॥।) । सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर (ला० लगभग ६०००) । पु० सं०—२५० । का०—मेलों में प्रचार, अछूतोद्धार शुद्धि आदि । संस्था—आ० कु० स० (सदस्य—२०), आ० वी० द० (स० ३५) ।

४३९. सिकन्दरपुर

रे० स्टे०—बिल्थरा रोड (बी० एन० डब्लू) । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—८ जून सन् १६२५ ई० । प्र० श्री शंकरदत्त जी । मं०—डा० बैजनाथप्रसाद जी । स० सं०—२६ । सहा०—७ । वा० आ०—२५०) रु० ।

शेष आर्यसमाज—

४४०. रसड़ा, ४४१. खरसंडा डा० जिगिरसंड, ४४२. रतसंड, ४४३. सीयर डा० बिलथरारोड, ४४४, रेवती, ४४५. गड़वार, ४४६. जिला आर्य उपसभा बलिया ।

जिला जौनपुर

४४७ जौनपुर, ४४८. मछली शहर, ४४६ केराकत, ४५०. शाहगंज, ४५१. खेतासराय, ४५२. चौक जौनपुर ।

जिला गोरखपुर

४५३. गोरखपुर

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम् । स्था०—अक्टूबर सन् १८६८ ई० । प्र०—श्रीहोतीलाल जी । मं०—श्री बालकृष्ण जी । स० सं०—१८६ । वा० आ०—१६२८।=)॥ । सम्प०—

अचल ११०००) और चल १०६००)। पु० सं०—३०००। कार्य—वेद-प्रचार, शुद्धि तथा दलितोद्धार। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (कक्षा ८ तक, छा०—१५६)।

४५४. गोरखपुर (नगर)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—११ दिसम्बर सन् १६३८ ई०। प्र०—श्री बा० हृदयनारायण जी। स० सं०—६१। सहा०—४४, वा० आ०—८१६॥-)॥। पु० सं०—५८। का०—१५ शुद्धि, ३६ अन्य संस्कार जिसमें १ अन्तर्जातीय विवाह, सन्ध्या पुस्तकों तथा भाषणों द्वारा वेद-प्रचार।

४५५. गोरखपुर (लोको क्वार्टर)

रे० स्टे० व डा० खा०—गोरखपुर। स्था०—सन् १६२८ ई०। प्र०—श्री परमानन्द सिंह जी, मं०—डा० हरिनन्दन प्रसाद शर्मा। स० सं०—२७८। सहा०—२। वा० आ०—३५ रु०। पु० सं०—५०। सम्प०—चल, लगभग १५०)। कार्य—साधारण प्रचार।

४५६. घुघली

रे० स्टे० व डा० खा०—घुघली। स्था०—अगस्त सन् १६३० ई०। प्र०—ला० केसरराम जी नारङ्ग। मं०—श्री गोरखनाथसिंह जी। स० सं०—४६। वा० आ०—४६५)। सम्प०—६५)। पु० सं०—१०२। का०—१ उपदेशक, तथा भजनीक द्वारा ३०० ग्रामों में प्रचार, वार्षिकोत्सव कराये गए, ३ शुद्धियाँ अनेक अबलाओं की रक्षा की गई। ५ संस्कार कराये गए।

४५७. भाटपार रानी

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री अयोध्याप्रसाद जी आर्य। मंत्री—दूधनाथप्रसाद आर्य। स० सं०—४०। सहा०—५। वा० आ०—३६)। सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर (ला० ५००० रु०), अन्य २५०) रु०। पु० सं०—१३१। का०—२५ हिन्दुओं को ईसाई होने से बचाया, ग्राम प्रचार, १० अबलाओं की रक्षा की गई।

४५८. पडरौना

रे० स्टे०—पडरौना (बी. एन. डब्ल्यू)। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६२६ ई० प्र०—डा० ब्रजलाल अष्ठाना एम. आर. सी. (ऑनर्स) इंगलैण्ड। मं०—श्री जगन्नाथ जी मरिगा। स० सं०—१८। सहा०—२२। वा० आ०—२४२६॥-)। सम्प०—समाज मन्दिर व बाग (५ एकड़)। पु० सं०—६। का०—साधारण।

४५९ पिपराइच

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६३२ ई०। प्र०—श्री हरीलाल आर्य। मं०—श्री महावीरप्रसाद जी आर्य। स० सं०—२७। सहा०—६३। वा० आ०—

१६२॥-)॥। का०—साकारक प्रचार, जनगणना के सम्बन्ध में प्रचार, ४ अबलाओं का उद्धार।

शेष आर्यसमाज—

४६०. देवरिया ४६१. बड़हलगंज, ४६२. हाटा, ४६३ निचलौल, ४६४. बांसगांव, ४६५ भागलपुर, ४६६. मिरजापुर, ४६७. भौवापार, ४६८. आर्य स्त्री समाज गोरखपुर डा० गोरखपुर, ४६९. खड़ा बाजार गोरखपुर, ४७०. रामपुर धुंसवा डा० बडहरा, ४७१. मिठौरा बाजार डा० निचलौल, ४७२ चौरीचौरा, ४७३. जिला आर्य उपसभा मण्डल गोरखपुर।

जिला बस्ती

४७४. बस्ती (पक्का बाजार)

रे० स्टे० व डा० खा०—बस्ती। स्था०—सन् १८८३ ई०। प्र०—श्री श्यामबहादुरलाल जी। मं०—श्री दधीशचन्द्र जी। स० सं०—३२। सहा०—४३। वा० आ०—२०७॥=)॥। सम्प० —आर्यसमाज मन्दिर (लागत—६००० रु०) अचल, २००) चल। पु० सं०—१२५। कार्य—३ शुद्धियाँ, १ अन्तर्जातीय विवाह, मेलों पर प्रचार, संस्कार आदि। संस्था—आर्यकुमार सभा (स०—३०), श्री मद्दयानन्द अनाथालय (भवन (४००० रु०, बच्चे ४०, बैण्ड आदि से ५०० रु० वार्षिक आय)।

४७५. बढ़नी बाज़ार

रे० स्टे०—बढ़नी (बी. एन. डब्लू.)। डा० खा०—रामदेव गंज। स्था०—१६ जनवरी सन् १९३९ ई०। प्र०—श्री मनबहाल सिंह आर्य। मं०—श्री काशीराम जी आर्य। स० सं—२२। सहा०—७। वा० आ०—३१) रु०। सम्प०—समाज मंदिर (ला० १५०० रु०)। पु० सं०—२०। का०— वेद का स्वाध्याय तथा वेद प्रचार, अछूतोद्धार, ३ अन्तर्जातीय विवाह। संस्था०—आर्य कन्या पाठशाला (छा० २२) आ० कु० स०—(स०—२५) आ. वी. द.। (स—२८)।

शेष आर्य समाज—

४७६. गजाधरपुर, डा० बानपुर, ४७७. बाँसी, ४७८. मैंहदावल, ४७९. शोहरतगंज, ४८०. बाल्टरगंज,

४८१. आजमगढ़

रे० स्टे०—आजमगढ़। डा० खा०—आजमगढ़। स्था०—सं० १९५१ वि०। प्र०—म० ब्रजबासी लाल जी। मं०—म० छबीलचन्द्र जी। स० सं —३६। सहा०—१०४। सम्प०—समाज मन्दिर मूल्य लगभग ५०००) रु० और चल १०००) रु०। पु० सं०—लगभग १०००। का०—१? शुद्धिया, २० अनाथ तथा विधवाओं की रक्षा की गई, २ अन्तर्जातीय विवाह हुए। संस्था—डी. ए. वी. हाई स्कूल (२५ छात्र), आर्य कन्या पाठशाला (८५ छात्राएं)। आ. कु. सभा—(३२ सदस्य)।

जिला आजमगढ़

४८२. मऊनाथ भंजन

रे० स्टे०—मऊ जंकशन। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९०४ ई०। प्र०—सेठ रामगोपाल जी आर्य। मं०—मा० हरिप्रसाद जी। स० सं०—४५। सहा०—३। वा० आ०—६०५-)॥ संस्था—डी० ए० वी० स्कूल। पु० सं०—३५०। कार्य—वेद-प्रचार, ग्राम प्रचार, शुद्धि ४ दलितोद्धार, ४।

४८३. देवगांव

रे० स्टे०—डोभी, डाकखाना—स्वयम्। स्था०—सन् १९०३ ई०। प्र०—रा० सा० दीनदयालजी साह असिस्टैंट कलक्टर। मं०—श्री रामानन्द जी। स० सं०—२७। वा० आ०—३३॥)। सम्प०—आर्य समाज मंदिर। पु० सं०—२०। कार्य—विधवा रक्षा। संस्था—संस्कृत पाठशाला (छा०—३२)।

४८४. घोसी बड़ा गांव

रे० स्टे० घोसी डा० खा०—घोसी। स्था०—सन् १९१० ई०। प्र०—बा० रमाशङ्करलाल जी। मं०—बा० अविनाशचन्द्र जी। स० सं०—१५। सहा०—१०। वा० आ०—३६)। सम्प०—अचल आर्य समाज मन्दिर। पु० सं०—५०।

शेष आर्यसमाज—

४८५. गोंडा (डा० दोहरीघाट), ४८६. कोपागंज, ३८७. भगवानपुर (डा० मुहम्मदाबाद गोहना)।

जिला गढ़वाल

४८८. गोदी (दुगड्डा)

रे० स्टे०—कोटद्वार। डा० खा०—दुगड्डा। स्था०—सन् १९२६ ई०। प्र०—श्री कृपाराम जी। मं०—श्री बुद्धिराम जी आर्य। स० सं०१—४। वा० आ०—१०॥) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर। का०—१८ शुद्धियां, १ अन्तर्जातीय विवाह, वेदप्रचार समय-समय पर ग्रामों में मेलों पर प्रचार।

४८९. दुगड्डा

रे० स्टे०—कोटद्वार। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१९ अक्टूबर १९३८ ई०। श्री मुकुन्दरामजी। मं०—श्री दौलतसिंहजी। स० सं०—३३। सहा०—१७। वा० आ०—३९≋)। प्रचारक—५।

४९०. जहरीखाल

रे० स्टे०—कोटद्वार। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१६ अगस्त सन् १९३६ ई०। प्र०—श्रीमस्तुसिंहजी आर्य। मं०—श्रीतोतारामजी जगराण, स०सं०—३। वा०आ०—१०५रु०। सम्प०—समाज मन्दिर। कार्य—वेदप्रचार ३६ परिवार दलितों के जिनकी संख्या ३५० है और दो घर मुसलमानों के जिनकी संख्या ७ है, १ अन्तर्जातीय विवाह।

४९१. जडियाण पट्टी तलाबदलपुर

रे० स्टे०—कोटद्वार। डा० खा०—लैन्स डाउन। प्र०—श्रीलखनलालजी साहा मं०—श्रीकेवलरामजी साहा। सं०स०—२५। वा०

आ०—१५) रु० का०—ग्राम प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

४९२. चौन्दकोट डा०खा० रिगबाड़ी, ४९३. लैन्सडौन, ४९.. बिदलगांउपट्टी, अजमिरतल्ला डा० दुगड्डा, ४९५. कोटद्वार, ४९६. पौड़ी, ४९७ कूरीखाल पट्टी अजमिर-तल्ला डा० पोखाल, ४९८. शीला डा०खा० दुगड्डा।

जिला अल्मोड़ा

४९९. अल्मोड़ा

५००. रानीखेत

जिला नैनीताल

५०१. काशीपुर

रे०स्टे०—काशीपुर (आर० के० आर०) डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८८५ ई०। प्र०—म० जितेन्द्रनाथजी। मं० श्री कृष्ण-स्वरूपजी। स०सं०—२४। सहा०—६। वा०-आ०—३१२॥)॥। सम्प०—समाज मन्दिर, (लागत १०००० रु०) एक मकान, कुछ भूमि, ३०००) नकद। पु०सं०—४००। का०—वेद प्रचार, ३ अन्तर्जातीय विवाह-अनाथालय तथा महिला रक्षा। संस्था—आ० कु० स० (स-१६)।

५०२. हलद्वानी

रे०स्टे०—व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १८९७ई०। प्र०—म० बद्रीप्रसादजी पेंशनर। मं०—प० हरिदत्तजी दुकानदार। स०सं०—१३। सहा०—३५। वा० आ०—६००) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर व भवन, १ बाग, ४ दुकानें (मू० ३०००० रु०)। का०—संक्रांति-मेले पर राम बाग में प्रचार। संस्था—आर्य-अनाथालय।

शेष आर्यसमाज—

५०३. नैनीताल, ५०४. जसपुर, ५०५. रामनगर, ५०६. रामगढ़, ५०७. भुवाली।

जिला लखनऊ

५०८. आर्यनगर (लखनऊ)

रे० स्टे०—व डा० खा०—लखनऊ। स्था०—सितम्बर सन् १९३६ ई०। प्र०—श्री लब्भूराम जी एडवोकेट। मं०—श्री बाल्मीक शर्मा। स० सं०—११। सहा०—१०। वा० आ०—१५०) रु०। पु० सं०—४५। का०—ई० स० में २१८) रु० दिये, शुद्धि कार्य।

५०९. कैन्टूनमेंट, सदर बाजार (लखनऊ)

रे०स्टे०—लखनऊ चारबाग। डा०खा०—लखनऊ, सदर बाजार (दिलकुशा)। प्र०—श्री म० केदारनाथजी वैश्य मं०—डा०त्रिलोकीनाथजी गुप्ता। स० सं०—३०)। वा० आ०—४८) रु०। सम्प०—१००) रु०। प्र०सं०—१००)। का०—ग्राम प्रचार। संस्था—आ० कु० सभा व हिन्दूसंघ।

५१०. सिविल लाइन्स बरही (लखनऊ)

रे० स्टे०—चारबाग। डा० खा०—हसरतगंज। प्र०—डा० बी० एस टंडन मं०—श्रीगणेश प्रसाद। स० सं०—२८। सहा०—२। वा० आ०—५७३≡)। सम्प०—३२१=)। पु० सं०—२००। का०—साधारण। संस्था—कन्या पाठशाला।

५११. समेसी

रे० स्टे०—निगोहाँ (ई० आ० आर)। डा० खा०—नगराम। स्था०—१ फर्वरी सन् १९२३ ई०। प्र०—श्री बिहारीलाल जी वर्मा विशारद। मं०—श्री रामावतार शर्मा। स० स० १०। वा० आ०—२०) रु०। सम्प०—मन्दिर आर्यसमाज। का०—दलितोद्धार। संस्था—श्रीदयानन्द परोपकारी चिकित्सालय।

शेष आर्यसमाज—

५१२. लखनऊ, ५१३. सिटी लखनऊ, ५१४. हसनगंज पार लखनऊ, ५१५. गोसाईंगंज, ५१६. मलिहाद, ५१७. निगोहां, ५१८. चौक लखनऊ, ५१९. महावीरगंज डा० अलीगंज, ५२०. बादशाह नगर।

जिला उन्नाव

५२१. पुरवा

रे० स्टे०—बसियाँ (ई० आ० आर०)। डा० खा०—खास। स्था० फाल्गुन शुदी ११ सं० १९६५ वि०। प्र०—श्री विशनुदयालजी। मं०—श्री विश्वेश्वरप्रसाद जी। स० सं०—२४। वा० आ०—१९७॥=) ७ पाई। सम्प०—समाज मन्दिर (१५८६ रु० ४ आ० ३ पा०)। पु०—(मू० १०५ रु० ३ आ०)। का०—साधारण, ई० स० में ७६॥) रु० दिये।

५२२. पाठकपुर

रे० स्टे०—अजमैन। डा० खा०—असोहा। स्था०—२६ अप्रैल सन् १९११ ई०। प्र०—श्री वंशगोपालजी। मं०—श्री लालमन प्रसाद जी। स० सं०—१४। वा० आ०—

१४६॥।=) ५ पाई । सम्पत्ति—समाज मन्दिर (लाο १००० रुο) १०५) चल । पुοसंο—१३३० । काο—दलितोद्धार, औषधालय। संस्था—श्री आर्य औषधालय, पाठकपुर द्वारा रोगियों की सेवा (रोगि संख्या १६५३)।

शेष आर्यसमाज—

५२३. उन्नाव, ५२४. औरास ५२५. नसिरापुर डाο बाँगरमऊ, ५२६. सोनेखेड़ा डाο भगवन्तनगर, ५२७. जिला-आर्य उपसभा उन्नाव,।

जिला रायबरेली

५२८, रायबरेली

रेο स्टेο—रायबरेली (ई. आई. आर.) डाο खाο—स्वयम्। स्थाο—२ जून सन् १८६५ ईο । प्रο—पंο सत्यनारायण जी शुक्ल। मंο—मο राम नारायणजी विद्यार्थी। सο संο—१७। सहाο—२०। बाο आο—१११० रुο १० आο ५ पाई । सम्पο—दो समाज मन्दिर (मूο४००० रुο) पुस्तक आदि अन्य ८०० रुο लगभग। पुο संο – ४०० कार्य—ग्राम प्रचार। सेवा कार्य—लावारिस मृतकों का शव संस्कार।

जिला सीतापुर

५२९. सलौन

५३०. सीतापुर, ५३१. बिसवां, ५३२ आर्य स्त्री समाज सीतापुर।

जिला हरदोई

५३३. हरदोई

रेο स्टेο व डाοखाο—हरदोई। स्थाο—२५ सितम्बर सन् १८८४ ईο। प्रο—श्री बाबू रामकिशोर जी। मο—श्री ब्रजबिहारीलाल जी। सο संο—५८। सहाο—६२। बाο आο—(सन् १९४०) ११९९ रुο २ आ ११ पाई । सम्पο—समाज मन्दिर व आο कο पाठशाला (लाο ५०००० रुο)। संस्था—आο कन्या हाईस्कूल (छाο—२९६)। कार्यο—शुद्धि जिले की पुरानी समाजों को जाग्रत व १२ समाज मन्दिर बनवाये गये। प्रचारक—श्री बाबू लालताप्रसादजी (अवैतनिक)।

शेष आर्यसमाज—

५३४. शाहाबाद, ५३५. माधोगञ्ज, ५३६. मल्लावां, ५३७. ऊधरनपुर, ५३८. खसौरा, ५३९. पाली, ५४०. चठिया डाο शाहाबाद, ५४१. फतेहपुर गयन्द, ५४२. सिमरिया डा. हरपालपुर, ५४३. लालपालपुर डाο हरदोई, ५४४. सोरसा, ५४५. गौना डाο अतरौली, ५४६. सांडी, ५४७ सण्डीला, ५४८. सरवा डाο अतरौली, ५४९ बिलसर हलन डाο पाली, ५५०. जिला आर्य उपसभा हरदोई।

जिला खीरी

५५१. आर्य स्त्री समाज लखीमपुर खीरी

रेο स्टेο व डाο खाο—स्वयम्। स्थाο—

२५ जनवरी सन् १६१० ई० । प्र०—श्री गोदावरी देवीजी गुप्ता । मं०—श्री सुशीलादेवी जी चौहरी बी० ए० टी० डी० एफ० आर० जी एस । स० सं०—२७ । पु० सं०—४० । कार्य—साधारण ।

५५२. सर्वाङ्गपुर

रे० स्टे०—जंगबहादुर गंज । डा०खा०—बरबर । स्था०—चैत्र शुक्ला पूर्णिमा सं० १६८३ वि० । प्र०—पं० युधिष्ठिर जी शर्मा । मं०—श्री भगवानदीन शर्मा । स० सं०—६ । सहा०—३ ।

५५३. पयला

रे० स्टे०—लखीमपुर (१४ मील) । डा० खा०—जीमगांव । प्र०—श्री रामकृष्ण जी निगम एम. ए. एल. एल. बी. । मं०—श्री गोकरणप्रसाद जी ।

शेष आर्यसमाज—

५५४. लखीमपुर, ५५५. मुहम्मदी, ५५६. गोला गोकरन नाथ, ५५७. हैदराबाद डा० गोला ५५८. हयातपुर डा० सिकन्दराबाद ।

जिला फैजाबाद

५५९. फैजाबाद

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—१८८६ ई० । प्र०—श्री बा० मदनमोहन जी वर्मा । मं०—म० राजनारायणजी । स० सं०—५८ । सहा०—३६ । वा० आ०—१२६११≋) ८ पाई । सम्प०—समाज मन्दिर, गोपाल लाल आश्रम, राजकरण वैदिक पाठशाला भवन, आ. पा. कन्या भवन, रेतिया रात्रि पा. भवन, एक और भवन व ५ बीघा भूमि (ला० ६० रु० वार्षिक, होवार्ट पार्क । चल १२००० रु०, एवं १०००) रु० की पुस्तकें व अन्य सामान । पु० सं०—१००० । संस्था—(१) राजकरण वैदिक मिडल पाठशाला (अ० ७, छा० १६५) (२) रेतिया रात्रि पाठशाला—१ अ०, छा ३५) । (३) आ० क० पाठ—(वा० व्यय, २१०० रु० छा० १२५) । (४) विधवाश्रम फैजाबाद ।(५) श्रद्धानन्द वाचनालय । (४ दैनिक व ७ सा०) । कार्य—ई० म० में १०००रु० व २२ सत्याग्रही भेजे, १२ शुद्धि, ६ अन्तर्जातीय विवाह तथा मेला प्रचार । प्रचारक—२ ।

शेष आर्यसमाज—

५६०. टांडा, ५६१. कुम्भिया डा० नया, ५६२. भदरसा डा० भरतकुंड ५६३. सआदतगंज, ५६४. मुबारिकपुर ।

जिला गोंडा

५६५. नवाब गंज

रे०स्टे०—व डा०खा०—स्वयम् । स्था०—७ अगस्त १६२५ ई० । प्र०—श्रीराम शिरोमणि लाल जी । मं०—श्री हरिशरण जी । स० सं०—१४ । सहा०—१६ । वा० आ०—६३०)११ पाई । सम्पत्ति—समाज मन्दिर

(ला० २५००० रु०)। पु०सं –१०१। संस्था–१. आ० कु० स० (स–७५), २. डी० ए० वी० स्कूल (८ वीं कक्षा तक)।

५६६. बलरामपुर

रे०स्टे०–व डा०खा०–स्वयम्। स्था०–सन् १९१६ ई०। प्र०–श्री नर्मदेश्वर सहाय जी। मं०–श्री शालिगरामजी। स०सं०–२७। सहा०—२४। वा० आ०—३७०॥=)। सम्प०–अचल लगभग ३५०००) रु०। चल, २१०)। पु० सं०–१५३। संस्था–दयानन्द पाठशाला।

शेष आर्यसमाज—

५६७. गोंडा, ५६८. पयागपुर डा० वजीरगंज, ५६९. मनकापुर।

जिला बहराइच

५७०. जमलार्जनपुर

रे० स्टे०–जरवल रोड (बी० एन० डब्लू०)। डा० खा०–केसर गंज। स्था०–२६ अगस्त सन् १९१४ ई०। प्र०–श्री शिवलखण शर्मा। मंत्री–श्रीगयावक्ष सिंह जी। स० सं–२३। वा० आ०—१००॥≶)। पु० सं०–६६।

५७१. बहराइच

रे०स्टे० व डा० खा०–स्वयम्। स्था०–२८ अगस्त सन् १८९८ ई०। प्र०–श्री बा० श्यामलाल जी वकील। मं०—श्री मन्नीलाल जी (आर्यमुनि)। स० सं०—३५। सहा०—१०। वा० आ०—३६० रु०। सम्प०—समाज मन्दिर (मूल्य—१५०० रु०) भवन आर्य कन्या पाठशाला (मूल्य—६००० रु०) भवन हरिजन पाठशाला (लागत–४०० रु०) एक दुकान (ला०–२००० रु०) चल ०० रु० पु० सं०—५००। कार्य०—मेला प्रचार, ३ विवाह सस्कार, ४ शुद्धि। संख्या—आ० क० पाठशाला (छा०–२०६) हरिजन पाठशाला ४ कक्षा तक। आ० कु० स० (स०–२५)।

शेष आर्य समाज—

५७२. नानपारा, ५७३. तुलसीपुर।

जिला बाराबंकी

५७४. बाराबंकी

रे० स्टे० व डा० खा०–स्वयम् स्था०–जनवरी सन् १९२२ ई०। प्र०—श्री मा० मंगलप्रसादजी। मं०—श्री म० रमाशंकरजी। स० सं०–१७। संस्था—आ. कु. पा. (छा. ६५ निःशुल्क)। वा० आ०—४८७ रु० २ आ०। सम्प० १३३७५) रु०। पु० सं०–२०२। कार्य—५ शुद्धि, ११ लावारिस शव-संस्कार।

५७५ रुदौली

जिला सुल्तानपुर

५७६. अमेठी

रे० स्टे०–अमेठी। डा० खा०–स्वयम्। स्था०—सन् १९१७ ई०। प्र०—श्री विजयपाल पाण्डेय। मं०–चन्द्रभानुजी। स०सं०–

४६ । वा० आ०—६७ रु. ७ आ. । सम्प०—समाज मन्दिर । पु० सं०—५३ ।

५७७. सुल्तानपुर

५७८. मायंगम संबारा, डा० मायंग

जिला प्रतापगढ़

५७९. प्रतापगढ़

५८०. पट्टी

५८१. कालाकाँकर राज्य

जिला बुन्देलखण्ड (मध्यभारत)

५८२. महाराजपुर डा० छतरपुर प्रान्त नौ गाँव

जिला रामपुर

५८३. रौरा कलाँ

रे०स्टे-मिलक । डा० खा०—मिलक । (समाज का कार्यालय धमौरा में है) । स्था०—फाल्गुण कृष्ण १३ सं० १९६५ वि० । प्र०—छेदालाल जी आर्य जिमीदार । मं०—पं० सत्यदेव जी शर्मा । स० सं०—३८ । सहा०—५० । वा० आ०—२२५) रु० । सम्पत्ति—१ कुआं व अन्य सामान । पु० सं०—३२ । कार्य—वेद प्रचार, १ अन्तर्जातीय विवाह । संस्था—वैदिक कन्या पाठशाला धमोरा (१५ छात्रायें) ।

५८४ रामपुर स्टेट

जि० वंथवाई (स्याम)

५८५. बंकोक

आ० प्र० सभा राजस्थान से सम्बद्ध

राजस्थान प्रान्त

रियासत अलवर

१. अलवर

रे० स्टे० व डा० खा०—अलवर। स्था०—२० जुलाई सन् १९०० ई०। प्र०—मुन्शी गणेशीलाल जी। मं०—श्री दुर्गाप्रसाद जी। स० सं०—१८। सहा०—१५। वा० आ०—५६१॥≶)॥। सम्पत्ति—अचल, ५८००) रु०, चल, ४८६॥) रु०। पु० सं०—१३७१ (मू०—११०४ रु० ६ आ० ६ पा० का०—दलितोद्धार, विवाह विवाह, अन्तर्जातीय विवाह व पुस्तकादि वितरण।

२. चाँदपुर

रे० स्टे०—हरसौली। डा०खा०—मुंडावर। स्था०—२८मई सन् १९३२ ई.। प्र०—श्री रणजीतसिंह जी। मं०—श्री प्रसादीलाल जी। स० सं०—१६। सहा०—६। वा० आ० २५)। सम्प०—३५)। पु० सं०—२५। कार्य—दलितोद्धार, ग्राम प्रचार व औषधि वितरण। प्रचारक—२।

३. बहरोड़

रे० स्टे०—इटेली। डा० खा०—बहरोड़। स्था०—सन् १९१३ ई०। प्र०—श्री नत्थूराम जी गुप्त। मं०—श्री गणपति शर्मा जी आर्य। स० सं०—१३। सहा०—२। वा० आ०—३०।) रु०। सम्प०—आर्य समाजमन्दिर। पु० सं०—१०। संस्था—गोशाला। कार्य—अकाल में गोरक्षा। प्रचारक १ भजनोपदेशक व मन्त्री जी अवैतनिक प्रचारक का कार्य करते हैं।

शेष आर्यसमाज—

४. लक्ष्मणगढ़ (स०—७), ५. राजगढ़ (स—१०), . वांस कृपालनगर (स०—१०), ७. हिजरा (स०—१५, ८. खेटली (स०—१०)।

रियासत भरतपुर

९. भुसावर

रे० स्टे०—ब्याना। डा०खा०—भुसावर। स्था०—जून सन् १९०६ ई०। प्र०—श्री हीरालाल जी मं०—श्री रघुनाथप्रसाद जी। स० सं०—३०। सहा०—७। वा० आ०—४५०) रु०। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर (ला०—२९०४ रु०) अन्य ३८०) पु० सं०—२८०। कार्य—अग्निकाण्ड में जनसेवा, व वेद प्रचार।

१०. बयाना

रे० स्टे० व डा० खा०—बयाना। स्था०—फाल्गुण कृ० १४ सं० १९८३ वि०। प्र०—ला० टीकाराम जी। मं०—ला० गनेशीलाल जी ठेकेदार। स० सं०—१७। वा० आ०—७२०) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—२००० रु०) अन्य ५०० रु०। पु० सं०—३००। संस्था—आर्य पाठशाला। का०—अग्निकाण्ड में तथा अनाथों की सेवा। तीन नवीन समाजोंकी स्थापना—सभासद्लगभग५०।

११. बल्लभगढ़

रे० स्टे०—बयाना । डा० खा०—भुसावर । स्था०—फाल्गुण सुदी १५ सं० १९७६ वि० । प्र०—श्री शान्तिप्रिय जी आर्य । मं०—श्री सत्यप्रियजी आर्य । स० सं०—१७ । सम्प०—समाज मन्दिर (ला० २५०० रु०) । पु० सं०—३०२ । संस्था—आर्यपुत्री पाठशाला (छा० १५) दयानन्द ब्राह्म विद्यालय ।

१२. निठार

रे० स्टे०—खेड़ली व्याना । डा० खा०—भुसावर । स्था०—फाल्गुन सं० १९९६ वि० । प्र०—श्री पं० रामजीलाल जी । मं०—म० रामस्वरूप जी । स० सं०—२० । सम्प०—२५) रु० । पु० सं०—१० ।

१३. भरतपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—भरतपुर । स्था०—सन् १८९९ ई० । प्र०—श्री बा० बैजनाथप्रसाद जी आर्य । मं०—श्री बा० गुलाबसिंह जी । स० सं०—७१ । बा० आ०—४३१।)॥। सम्प०—लगभग १००००) रु० । पु० सं०—३०० । संस्था—आर्यपुत्री पाठशाला (५वीं कक्षा तक, छा० सं० १०३, आय ७६६ रु० १२ आ० ३ पा०, व्यय ६०४ रु० १ आना मन्त्री श्री बा० शालिग्राम गुप्त), आ० कु० सभा (स – १०; प्र० श्री सत्यव्रत जी बी० ए०, मन्त्री श्री रामस्वरूप जी गोयल) ।

शेष आर्यसमाज—

१४. कुम्हेर, (स०–१३), १५. कबई, १६. खंसवाड़ा, डा० नन्दबई (स०– ५), १७. जुरहरा, १८. डीग (स०—६). १९. नन्दबई, २०. नगर (स०—३०), २१. बैर, २२. भदीरा, डा० नन्दबई (स०—१६) २३. सिही, डा० कुमेर (स०—१४), २४. सेवक (स०—१०), २५. पथैना, २६. मुहम्मदपुरा, डा० बन्धबरेठा ।

रि० जयपुर

२७. जयपुर सिटी किशनपोल बाजार

रे० स्टे० व डा० खा०—जयपुर । स्था०—सन् १८७७ ई० । प्र०—सेठ गणेशनारायण जी । मं०—श्री फरायालाल जी चंदौक । स० सं०—१०० । सहा०—५० । वा० आ०—६००) रु० । सम्प०—अचल १०००) चल६०००) रु. । पु० सं०–१००० । कार्य—औषधि वितरण तथा प्रचार । आ० कु० स० तथा आर्य स्वयंसेवक । वृहत् वृष्टि यज्ञ ।

२८. बाँदीकूई

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—लगभग सन् १९०५ ई० । प्र०—श्रीमान् घीसूलाल जी । मं०—श्रीमान् पूरण चन्द जी । स० सं० —२५ । सहा०–१० । वा० आ०—३००) । संस्था—१. आर्य कन्या पाठशाला (छा० सं०—५०), २. स्त्री समाज (सं०—१५)

पु० सं०—२५४। का०—साधारण प्रचार और १ विधवा विवाह।

२६. टमकोर

रे० स्टे०—हड़ियाल। डा० खा०—बिसाऊ। स्था०—सं० १६४१ वि०। प्र०—श्री रावतमलजी सेठ। मं०—श्री मेघराजजी सेठ। स० सं०—४०। वा० आ०-३०५)। सम्प०—२०००)। का०—जनगणना सम्बन्धी प्रचार। संस्था—आ कु. सभा (स—१५)।

३०. वजीरपुर

रे० स्टे० व डा०खा०—पिलौदा। स्था०—सं० १६६७ वि०। प्र०—श्री नत्थनलाल जी गुप्त। मं०- पं० दयानन्द जी उपाध्याय। स० सं०—१०। सहा०—६। वा० आ०—२०॥)। सम्प०—१०)। पु० सं०—३०।

३१. दौसा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१५ फर्वरी सन् १६४० ई०। प्र० -पंडित कल्याण सहाय शर्मा। मं०—जगदीश नारायण मुदगल। स० सं०—४०। वा० आ०—५०)। पु० सं०—११५। का०—साधारण प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

३२. गङ्गापुर सिटी (स०-१२), ३३. फतहपुर, ३४. फुलेरा (स०—३०), ३५. स्त्री आर्य समाज बांदी कुई (स०-६), ३६. बौली डा. टोंक (स०—३०), ३७. भगवतगढ़ डा. माधोपुर (स०-१५), ३८. रामगढ़, ३६. सामोद (स०—२२), ४०. हिन्डोन (स०—२०), ४१. सांभरलेक (स०—६६), ४२. सूरोठ डा. फतहसिंह पुरा, ४३. मंडावा (स०-२५), ४४. सीकर ४५. झुंझनूँ, ४६. नवलगढ़ (स०-४२)।

४७. बीकानेर

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—१६११ ई०। प्र०—श्री बन्सीधर जी। मं०—श्री रामचन्द्र जी रघुवंशी। स० सं०—५३। वा० आ०—६२)। सम्प०—समाज मन्दिर (मू०—५००० रु०) तथा ६०० रु० अन्य। पु० सं०-५००। का०-अन्तर्जातीय विवाह। संस्था—१. व्यायामशाला, २ श्री रामदेव पाठशाला, ३. हरिजन पाठशाला, ४. आर्य स्त्री समाज, ५. आर्य कुमार सभा।

४८. गंगानगर

रे० स्टे० व डा० खा०-श्री गङ्गानगर। स्था०—२८ अगस्त १६१५ ई०। प्र०-वैद्य भूषण ला० शिवदयाल जी दीनोदिया। मं०—श्री शिवशरण जी बी० ए०। स० सं०—४०। सहा०—१५०। वा० आ०-४००)। सम्प०-अचल ७०००) तथा चल ४५०)। पु० सं०-५५०। का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, ग्रामप्रचार, साहित्यप्रचार हुआ। प्रचारक—२ म० और दो पुरोहित। है० स० में ३१ के ३ जत्थे व ६३१।≶) व्यय हुआ। ५ स्त्री व ४ बच्चों को विधर्मियों के हाथ से बचाया।

शेष आर्यसमाज—

४६. फेफाना (यहाँ एक आर्य व्यवसाय मण्डल है), ५०. राजदलेसर, ५१. रायसिंहनगर, ५२ सुजानगढ़ (स०–२४) आर्य पुत्री पाठशाला है), ५३. श्री करणपुर, ५४ दूधवा खारा, ५५. जैतपुरा डा. सादुलपुरा। ५६. आर्य स्त्री समाज बीकानेर।

५७. अजमेर नगर

रे० स्टे० व डा०खा०–स्वयम्। स्था०–१६२८ ई०। प्र०—पं० भगवान स्वरूप जी न्याय भूषण। मं०—बा० बलवीर सिंह जी। स० सं०—६०। वा० आ०—२५६।–)॥। उपदेशक ८ अवैतनिक। का०—साधारण प्रचार, ग्राम प्रचार, शुद्धि, अन्तर्जातीय-विवाह, इस वर्ष अकाल पीड़ितों में अन्न, वस्त्र आदि बाँटे गये। नवीन ५ आर्य समाजों की स्थापना की, विशेष पर्वों पर बाहर के महानुभावों के भी भाषण कराये, साहित्य का वितरण किया।

५८. ब्यावर

रे० स्टे० व डा०खा०–स्वयम्। स्था०–१६४४ वि०। प्र०–कुँ० गोपालसिंहजी पंवार। मं०—श्री जयदेव आर्य। स० सं०—७७। सहा०–१२५। वा०आ०–८७०॥)।॥, सम्प०–भवन (ला० १५६४२ रु. १४ आ. ३ पा.) चल ६४२॥।=)। पु० सं०–२००। का०–प्रचार, ५३ शुद्धियाँ, (स्वा० सच्चिदानन्दजी के प्रयत्न से)। संस्था—१. आर्य व्यायाम शाला (स० १२५), अध्यक्ष–पं० नानकराम जी पहलवान २. गोदावरी आर्य कन्या पाठशाला (छा० सं०–१००)।

५६. कड़ैल

रे० स्टे० व डा०खा०–कड़ैल। स्था०–१६५७ वि०। प्र०—श्री दयाराम जी शर्मा। मं०–श्री पन्नालाल वोहती। स० सं०–१८। वा० आ०—१५)। सम्प०—भवन (ला० २००० रु०)। पु० सं०—१००। का०—साधारण प्रचार व जनगणना प्रचार।

६०. बूबानी

रे० स्टे०–व डा० खा०–गेमल आखरी स्था०—३१ मई १६३६ ई०। प्र०—श्री कामड़ासिंह जी, मं०–श्री पं० रामभजन मिश्र स० सं०–१३। सहा०–८। वा. आ. १५) पु० सं०–५०। का०—अकाल पीड़ितों में ७०० वस्त्र, ५ मन अन्न, व औषधि वितरण।

६१. सावर

रे० स्टे० व डा० खा० सावर। स्था०–चैत्र शुक्ल प्रतिपदा। स० सं० २। विशेष–नियम-पूर्वक चुनाव नहीं हुआ। श्री भूरालाल आर्य स्वर्णकार व ठाकुर शिवनाथसिंह जी विशेष कार्य कर रहे हैं।

शेष आर्यसमाज—

६२. अजमेर (स०–५२) आर्यनागरी पाठशाला, (छात्र सं० ६०, कक्षा ३ तक),

६३. दयानन्दवाटिका (स-१०) साधु आश्रम, ६४. आदर्श नगर (स-१६) ६५. श्री आर्यसमाज (स-४०) ६६ अरड़का, डा० किशनगढ़ (स-६) ६७. केकड़ी, ६८. घटियाली, डा. सावर, ६९. जेठाना डा. मांगलियाबास (स०-१०) ७०. नसीराबाद, ७१. पीसागन, ७२. विजयनगर, ७३. मदारपुरा (स०-७) ७४. मकरेड़ा, ७५. राजगढ़ डा० सरधना (स-२०) ७६. रामसर (स-१०) ७७. सराधना (स-११) ७८. श्रीनगर, ७९. श्री आर्यसमाज ब्यावर, ८०. भवानीखेड़ा डा० नसीराबाद (स-५) ८१. जेठाणा डा० मांगलियावास (स-१०) ८२. लीड़ी डा० खरवा (स-३०) ८३. देवली (छावनी) ८४. मोहनी डा० लाड़पुरा, ८५. भूडोल, ८६. आखरी, ८७ दौराई, ८८. तवीजी, ८९. पाबूथान पो० खरवा, ९०. होकरा डा. पुष्कर, ९१. भगवानगंज ९२. किशनगढ़, ९३. विडकच्यावास डा. मांगलियावास (स-१२) [सार्वजनिक औषधालयसे २० रोगी प्रतिदिन लाभ उठाते हैं, पुस्तकालय भी है]

९४. अजमेर

स्था०-८ जौलाई १८८२ ई० । प्र०—रा० ब० पं० मिट्ठनलाल जी भार्गव, मं०—बाबू बिचाराम जी, स० सं०-२०० । सहा० ४० । सम्प०—आर्यसमाज भवन, लागत १लाख रुपये दो अन्य मकान मूल्य २० हजार रुपये, अन्य चल सम्पत्ति, भूल्य २ हजार रुपये । पु० सं० ९०० । का० — उपदेशक १५, इस वर्ष अकाल पीड़ित लोगों को मदद पहुंचाने में सहायता की गई है । स्त्रियों तथा बच्चों को विधर्मियों से छुड़ाने के १०० के लगभग मामलों में सहायता दी गई । तथा अन्य मेलों पर भाषण व साहित्य वितरण द्वारा पुष्कर के प्रचार की व्यवस्था की गई । महकूपुरा में में पाठशाला चल रही है । अन्तर्जातीय विवाह, शुद्धि व अछूतोद्धार की ओर भी बराबर प्रयत्न किया गया और अनेकों शुद्धि कराई गईं । आर्यसमाज के अन्तर्गत २४ अखाड़े हैं । संस्था—डी. ए. वी. हाई स्कूल (छा० —८००), श्री मद्दयानन्द आश्रम (१७५ छात्र व छात्राएँ), श्री मुन्नालाल नागरी प्रचारिणी सभा, ग्राम प्रचार सभा, मिडिल स्कूल (छा०—३००) अग्निदल । आ० कु० सभा (स-१५०) आ० वी० दल (स०—१००)। विशेष—प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा से इस समाज का अभी सम्बन्ध नहीं है ।

रियासत उदयपुर

९५. उदयपुर

रे० स्टे०—व डा० खा०—उदयपुर । स्था०—कार्तिक कृष्णा ३०, १९४४ वि० । प्र०—कुँवरलाल जी सक्तावत, रेवेन्यू एण्ड सेटलमेन्ट कमिश्नर । मं०—पं०बख्तावरलाल जी, स० सं०-९१ । सम्प०—समाज भवन

(लागत ७००० रु०) पु० सं०—७००, (मूल्य लगभग ४००रु.)। संस्था–१ रात्रि पाठशाला हरिजन मुहल्ले में, (३० छात्र), प्रचारक–१ उपदेशक तथा १ भजनीक, का०—शुद्धियाँ ५, अन्तर्जातीय विवाह ३, ६ ग्रामों में प्रचार किया गया। मेवाड़ राज्य में होने वाले सभी मेलों में साहित्य प्रचार किया जाता है। आ० वी० द० (स–२०)

९६. छोटी सादड़ी

रे० स्टे —नीमच, डा० खा०—छोटी सादड़ी। स्था०–२८ अक्तूबर १९२७ ई०। प्र०–श्री रामचन्द्र शर्मा, मं०— श्री शंकरलाल पुरोहित, स० सं०–६। सहा०–१०। वा० आ०—४३)। सम्प०–समाज मन्दिर भूमि आदि ४५०), चल–३५)। पु० सं०–७०। का०—रोगिसेवा, लावरिसशव-संस्कार, वेद प्रचार, ग्राम प्रचार, २ शुद्धियां, दलितोद्धार व साहित्य प्रचार। संस्था—आ० कु० स० (स–१६)। आ० वी० द० (स०–२४) ओंकार व्यायामशाला।

९७. खैरोदा

रे० स्टे०—फतेनगर। डा० खा०—भीन्डर जिला डीखा। प्र०–श्री मोडीलाल जी शर्मा। मं०–श्री नाथूलाल जी। स० सं०—७। वा० आ०–१४)। पु० सं०–४। का०–३ यज्ञोपवीत संस्कार। औषधि वितरण।

९८. नन्दराम

रे० स्टे०—भीलवाड़ा, डा० खा०—बीगोद, स्था०—१५ मई सन् १९१२ ई०। प्र०—श्री देवकरण जी संचेती, मं०–श्री भूपालसिंह जी चौधरी, स० सं०—६०। सहा०–२२। वा० आ० – २०)। सम्प०—१५४।।≡)। पु० सं० – ५। का०—एक औषधालय द्वारा रोगिसेवा। संस्था—आ० कु० स० (स–१०) आ० वी० द० (स०—१२)

शेष आर्य समाज—

९९. चित्तौड़गढ़ (स०–७) १००. बनेड़ा (स०–१२) १०१. सनवाड़ (स० २०) १०२. बसेड़ा डा० छोटी सादड़ी, १०३. शाहपुरा रियासत (स० सं० ९६) [दयानन्द रात्रि पाठशाला] १०४. फूलिया (शाहपुरा)

रियासत जोधपुर

१०५. सरदारपुरा, जोधपुर

रे० स्टे० व डा० खा०–स्वयम्। स्था०—२३ मई सन् १९३६ ई०। प्र०—राव राजा उदयसिंह जी। मं०—म० रामनारायण जी। स० सं०–६०। सहा०–२०। वा० आ०–६००)। सम्प०—६५००) रु० लागत का समाज मन्दिर। पु० सं—४००। उपदेशक–२। का०—वेद प्रचार, वृष्टि यज्ञ।

१०६. फलोदी

रे० स्टे० व डा० खा० — फलोदी। स्था०—सं० १९२३ वि०। प्र०—श्री गोपीलाल जी वाड़मेरा । मं०—वल्लभदास जी

अरोड़ा। स० सं०—४०। सहा०—५। वा० आ०—१२५ रु०। सम्प०—भवन (ला० ५६८ रु०) तथा अन्य २००) रु०। पु० सं०—५००। का०—ग्राम प्रचार, मलार व पोकरण में समाज स्थापना।

१०७. लाडनू

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—श्रावण शुक्ल ३ सम्वत् १६८५ वि०। प्र०—श्री हरिश्चन्द्र जी। मं०—श्री चमनलाल जी। स० सं०—२५। वा० आ०—२६।)। पु० सं०—४००। का०—लावारिस शव संस्कार आदि।

१०८. पुंजला नयापुरा

रे० स्टे०—महा मन्दिर और जोधपुर। डा० खा०—जोधपुर। प्र०—ठेकेदार बाबू रामसुख साँकला। मं०—पं० बसन्तीलाल शर्मा स० सं०—११। सहा०—१६। वा० आ०—६००)। सम्प०—समाज मन्दिर (लागत ८००) रु० तथा अन्य २०० रु०। पु० सं०—१०२। का०—पाठशाला संस्कार आदि। संस्था—श्री हनुमन्त प्रेम पाठशाला २. श्री वैदिक धर्म प्रचार मंडल ३. अखाड़ा, ४. रोगिसेवा।

१०६. डाँगावास

रे० स्टे० व डा० खा०—मेड़ता सिटी। स्था०—सन् १६०७ ई०। प्र०—श्री धर्मचन्द जी। मं०—श्री रामनारायण जी। स० सं०—१०। सहा०—२०। सम्प०—४००) पु० सं०—७०। का०—अबला रक्षा, श्री स्वामी भास्करानन्द जी द्वारा ३ शुद्धि तथा औषधि वितरण।

११०. पीलवा

रे० स्टे०—अजमेर। डा० खा०—पीलवा। स्था०—सं० १६८३ वि०। प्र०—श्री मूलचन्द शर्मा। मं०—श्री रामजीव शर्मा, स० सं०—१५। वा० आ०—२०)। सम्प०—२४)॥। पु० सं०—१२०। का०—अकाल में सहायता कार्य।

१११. भीनमाल

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—मार्गशीर्ष सुदी ११, सं० १६६७ वि०। प्र०—श्री पृथ्वीनाथ जी। मं०—श्री जगतसिंह जी। स० सं०—२६। वा० आ०—१८०)। (चार मास) ६०) रु०। का०—साधारण।

११२. फलोदी

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१८ अगस्त सन् १६३६ ई०। प्र०—गोपीनाथ जी। मं०—श्री वल्लभदास जी, अरोड़ा। स० सं०—४०। सहा०—५। वा० आ०—१२५)। सम्प०—चल २००), अचल ४४३।)। पु० सं०—५००)। का०—ग्राम प्रचार, समाजों की स्थापना, लावारिस शव संस्कार, अबला रक्षा।

शेष आर्य समाज—

११३. कुचेरा (स० १५), ११४. छोटी खाटू, ११५. जोधपुर सिटी (सदस्य २३६), ११६. डीडवाना, ११७. दुजार, डा० लाडनू, ११८. नागौर (स० २६) ११६. पाली (स० ३०), १२०. पीपाड़ सिटी (स० २५), १२१. बाड़मेर, १२२. बीलाड़ा (स० २६), १२३. मारोठ वाया कुचामन, १२४. सोजत सिटी, १२५. सोमेसर, (स० ८), १२६ श्री आ० स० सरदारपुरा, १२७. सरवाड़ (किशन गढ़), १२८. मेड़ता सिटी, १२६. महामंदिर (स० सं० ६), १३०. सूरसागर (स० सं० १३)।

सिरोही

१३१. आबूरोड

सिरोही राज्य (राजपूताना)। स्टे०—आबूरोड। स्था०—लगभग सन् १६२३ ई० प्र०—पं० हजारीलाल जी मिश्र। मं०—श्री गुमानसिंह जी। स० सं०—४७। सहा०—११। सम्प०—३००) चल। पु० सं०—१५४। का०—प्रति गुरुवार को पारिवारिक उपासना, पतित अथवा त्यक्त स्त्रियों की विधर्मियों से रक्षा, २ स्त्रियों को राजस्थान बनिता आश्रम अजमेर में प्रवेश कराया। आ० कु० सभा आबूरोड (स० ४८) तथा आ० कु० सभा सांतपुर (स० १८)।

रियासत रतलाम

१३२. रतलाम

रे० स्टे० व डा० खा०—रतलाम (बी० बी० एण्ड सी० आई०)। स्था०—सन् १६११ ई०। प्र०—सेठ ओंकारलाल जी। मं०—बा० रूपसिंह जी। स० सं०—५०। सहा०—७२। वा० आ० · ३६० रु०। सम्प०—समाज मन्दिर व पुस्तकालय। पु० सं०—६०। का०—३ शुद्धि, २ अनाथ रक्षा, ३ अन्तर्जातीय विवाह, ११ अबलाओं की रक्षा।

झालावाड़

१३३. झालरापाटन (शहर)

रे० स्टे०—छमपुर। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—२० मार्च सन् १६२७ ई०। प्र०—डा० मेखलाल जी, मं०—श्री सहसराम जी त्यागी। स० सं०—३०। वा० आ०—४०)। सम्प०—समाज भवन। पु० सं०—१०१। संस्था—आर्य वीरदल। २. श्री मद्दयानन्द आयुर्वैदिक औषधालय (रोगी संख्या प्रतिदिन १५) ३. व्यायाम शाला का०—औषधि वितरण, असमर्थों का भोजनादि प्रबन्ध, अनाथ बालकों की रक्षा, वेदप्रचार। प्रचारक—१. पं० धर्मवीरजी, २ पं० मदनलाल जी भट्ट।

शेष आर्य समाज—

१३४. अजनगर, (३ हरिजन पाठशाला), १३५. भवानीगंज।

मध्यभारत

१३६. महू छावनी

रे० स्टे० व डा० खा०—महू छावनी स्था०—सन् १८६२ ई०। प्र०—श्री चुन्नीलाल जी, मं०—श्री जमनाप्रसाद जी। सं० सं०—३२। सहा०—३२। वा० आ०—२६७।≈)। सम्प० -समाज मन्दिर। पु० सं० ३००। का०—३ शुद्धि, १ विवाह, वेद प्रचार साहित्य वितरण आदि।

रि० देवास जूनियर

१३७. देवास जूनियर

रे० स्टे०—इन्दौर और उज्जैन। स्था०—सन् १८६० ई०। प्र०—श्री चेतनदेव सरस्वती जी महाराज। मं०—श्री वासुदेव राव केशवराव जी बिडवाई बी. ए. एल. एल. बी.,। स० सं०—३०। वा० आ०—३००)। सम्प०—चल ११००) अचल ४०००) पु० सं०—१०००। संस्था—आ० वी० द० (स० ३) का०—साधारण।

रियासत इन्दौर

१३८. इन्दौर (जूना तोपखाना)

रे० स्टे०—इन्दौर। डा० खा—जूना तोप खाना। स्था०—११ अप्रैल १६४० ई। प्र०—श्री सेठ राम विलास जी। मं०—श्री ताराचन्द जी। सं० स०—६०। सहा०—३। वा० आ०—३००)। पुस्तक सं०—२००। समाचार पत्र—२६। संस्था०—कुमार सभा।

१३६. नारायण गढ़

जि० रामपुरा भानपुरा गरोठ। रे० स्टे०—पिपल्या.। डा० खा०—नारायणगढ़ वाया नीमच। स्था०—सं० १६८५ वि०। प्र०—श्री दीपचन्द जी शर्मा। मं०—श्री केशव प्रकाश विद्यार्थी। स० सं०—५०। सहा०—५। संस्था—आ० कु० पाठशाला बादरी (क०—४, छा० ६०)। का०—मारवाड़ी रिलीफ फंड द्वारा अकाल पीड़ितों की सहायता। प्रचारक—पं० भैरव लाल जी। विशेष—कनघट्टी ग्राम के हरिजनों की जेवर पहनने की बाधा दूर की गई। प्रधान जी का विशेष उद्योग रहा।

१४०. गौतमपुरा

रे० स्टे०—चम्बल डा० खा०—स्वयम्। स्था०—चैत्र शुदि १ सं० १६८५ वि०। प्र०—हुकुमसिंह जी। मं०—श्री भगवानलाल जी। सं० स०—१२। सहा०—१। वा० आ०—२०। सम्प०—समाज मन्दिर आदि १०००) रु०। पु० सं०—२०७। कार्य—वेद प्रचार और शुद्धि १।

१४१. साठखेड़ा

जि०—रामपुर भानपुरा। रे० स्टे०—गरोठ (हो० स्टे० रे०)। डा० खा०—गरोठ (हो० स्टे०)। स्था०—कार्तिक शुक्ला ११ सं० १६६१ वि०। प्र०—श्रीनानालाल जी गुप्त। मं०—श्री हीरालाल जी शर्मा। स० सं०—१०। सहा०—५। वा० आ०—१५) रु०। पु० सं०—६३। समाचार पत्र—१। कार्य—वेद प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

१४२. मल्हारगंज (इन्दौर), १४३. संयोगितागंज इन्दौर, (स. सं—२३, म. हा.—२५), १४४. कनगेटी (स. सं.—१५), १४५ गरोठ, (स. सं.—३०), १४६. महीदपुर। (स. सं०—१०), १४७. राम-

पुरा, १४८. सुनेल (स. सं०—१२), १४६. बड़गौदा (डा० महू), १५०. तराना।

रि० ग्वालियर

१५१. ग्वालियर सिटी

रे० स्टे०—ग्वालियर (जी० आई० पी०)। डा० खा०—ग्वालियर सिटी। स्था०—११ फरवरी सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री गिरजासहाय जी। मं०—गिरधारीलाल जी। स० सं०—७६। सहा०—१३०)। वा० आ०—१४२४॥≡)॥। सम्प०—१३०००)। पु० सं०—१०००। समाचार पत्र ८। का०—१५ शुद्धियां, ६ विधवा विवाह, ३ समाजें स्थापित कीं, ४२ यज्ञोपवीत संस्कार, ३० विवाह-संस्कार और १५ नामकरण संस्कार कराये गये, ६ अबलाओं की रक्षा। पुरोहित—पं० सुदर्शनजी साहित्य रत्न, वैद्यरत्न शास्त्री। अन्य प्रचारक—२। संस्था—आ० वी० दल (स०—६०)। २ आर्य पाठशाला।

१५२. लश्कर नयाबाजार (ग्वालियर)

रे० स्टे०—ग्वालियर। डा० खा०—लश्कर। स्था०—सन् १८८८ ई०। प्र०—पं० शिवशंकर जी गौड़ बी. ए. एल. एल० बी० (मुन्तजिम जागीरदारान)। मं०—डा० महावीर-सिंहजी एम. बी. बी. एस. डी. टी. एम. एच. तथा डी. पी. एच. (इंगलैण्ड)। स० सं०—७०। सहा०—३५। वा० आ०—३१००)रु० सम्प०—लगभग २६०० रु०। पु० सं०—१००० पत्र—५। संस्था०—डी. ए. वी. स्कूल, (छा० सं०८०, मिडिल कक्षा तक आयव्यय लगभग ८०० रु०), प्रचारक—श्री पं० यशपालजी शास्त्री काव्य व व्याकरण तीर्थ। कार्य—२२ व्याख्यान, २४ संस्कार, ३ विधवा विवाह, १ शुद्धि, २ प्रीतिभोज तथा अन्य पर्व, ३ बालविवाह रुकवाये गये।

१५३. चित्रगुप्तगंज (लश्कर)

रे० स्टे०—ग्वालियर। डा० खा०—लश्कर। प्र०—श्री पं० रामनाथ जी शर्मा रि० चीफ फारेस्ट आफीसर, मं०—बा० रामशरण जी वर्मा परसनल डायरेक्टर कोआपरेटिव सोसायटीज डिपार्टमेंट। स० सं०—२५। सहा०—६। वा० आ०—३००)रु० वार्षिक चन्दा, ३००) वार्षिक सरकारी सहायता पाठशाला। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—१५०० रु०)। पु० सं०—३००। स्था०—चित्रगुप्त पाठशाला (छा०—६५), (२) चन्द्रगढ़ पाठशाला (छा०—५०) का०—विशेषतः दलितोद्धार, व मीनाओं की शुद्धि।

१५४. गुना

रे० स्टे० व डा० खा०—गुना। स्था०—७ जुलाई १६२६ ई०। प्र०—श्री शिवशरण जी गुप्त। मं०—श्री राधेचरणजी। स० सं०—८, सहा०—१००। वा० आ०—२२०८=)॥। सम्प०—समाज मन्दिर (मू०—११०० रु०), अन्य ६०४॥≡)। पु० सं०—१०६३।

समाचार पत्र—१२। का०—५ नामकरण संस्कार, १३ उपनयन, ३ विवाह, ६ पुनर्विवाह, ७ शुद्धि, ६ अन्त्येष्टि, शुद्धि, वेद-प्रचार, ग्राम प्रचार आदि। संस्था–१ आर्य साहित्य भवन (पु० सं–१०६३, सदस्य २५), २. आ० वी० द० (स०—३८), ३. सरस्वती पाठशाला (चार कक्षा, छा०—११३), ४. व्यायाम शाला, ५. बगीचा। (अध्यक्ष स्वामी धर्मानन्द जी)।

१५५. भेलसा

रे० स्टे० व डा० खा०—भेलसा। स्था०—संवत् १९६४ वि०। प्र०—श्री भगवान् स्वरूप जी। मं०—श्री रामसहाय जी। स० सं०—६। सहा०—६। वा० आ०—२४। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—२५०० रु०), पु० सं०—२१। का०—१५ शुद्धि।

१५६. शाजापुर

रे० स्टे०—बेरछा (बी० आई० पी०)। डा० खा०—शाजापुर। स्था०–१ मई सन् १९११ ई०। प्र०—बा० रामप्रसाद जी गौड़ वकील। मं०—म० द्वारकाप्रसाद जी। स० सं०—४७। सहा०—२०। वा० आ०—१४४) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर (ला० ५०० रु०)। पु० सं०—३० (ला०—३० रु०)। शाखा समाजें—कानड़ व पनवाड़ी स्थान पर। उपदेशक—(अवैतनिक) १. श्री आज़ाद भूषण ब्रह्मचारी प्रचारक, २. भागीरथ जी मालक भजनोपदेशक। का०—ग्राम प्रचार व नगर के मुहल्लों में प्रचार। गणपति मन्दिर आन्दोलन में प्रचार।

१५७. मुरार

रे० स्टे०—ग्वालियर। डा० खा०—मुरार। स्था०—सन् १९२८ ई०। प्र०—श्री पन्नालाल जी रे० इंजीनियर। मं०—श्री देवदत्त जी मौद्गिल्य। स० सं०—२०। सहा०—२४। वा० आ०—२५०)। सम्प०—समाज मन्दिर (लागत—१०,००० रु०)। पु० सं०—२००। संस्था–व्यायाम शाला। प्रचारक—(अवैतनिक) श्री बाबूलाल जी 'प्रेम' सिद्धान्त शास्त्री।

१५८. अम्बाह

रे० स्टे०—मुरैना (जी० आई० पी०)। स्था०—अगस्त सन् १९२५ ई०। प्र०—श्री कुंजीलाल जी। मं०—श्री बाबूलाल जी। स० सं०—१२। सहा०—२३। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—३००० रु०)। पु० सं०—१०। संस्था–आ० कु० सभा (स०—६)।

१५९. जावद

रे० स्टे०—केसरपुरा (बी बी. एण्ड सी. आई.)। डा० खा०—जावद। स्था०—संवत् १९६३ वि०। प्र०—श्री भक्तिराम जी पटेल। मं०—श्री हजारी लाल जी आर्य। स० सं०—७। सहा०—२। वा० आ०—११) रु०। सम्प०—६००) रु०। संस्था—१ विधवा

विवाह सहायक सभा—२, नवयुवक आर्य मण्डल। का०—३ शुद्धिया, है० स० में ३ सत्याग्रही व ७५) भेजे गये।

शेष आर्यसमाज

१६०. आंतरी, १६१. उज्जैन (स० सं०—५५), १६२. कोलारस, १६३. कुम्भराज, १६४. खाचरोद, १६५. गोरमी, १६६. जोरा, १६७. दिगठान बाया मउ, १६८, पछार (स० सं०—३३), १६९. पिपरई, १७०. भिन्ड, १७१. मुरेना, १७२. मुँगावली (स० सं०—१८), १७३. मन्दसोर (स० सं०—७), १७४. लक्ष्मीगंज, १७५. शिवपुरी (स० सं०—३०), १७६. शुजालपुर, १७७. सिरसी डा० मनवर, १७८. देवगढ़ डा० मनवर, १७९. जिर्ण, १८०. डबरामंडी, १८१. बड़नगर (स० सं०—१२), १८२. राघोगढ़ (स० सं २९)

रि० भोपाल

१८३. भोपाल (आर्य मित्र सभा)

रे० स्टे० व डा खा०—भोपाल। स्था०—२४ सितम्बर १९०९ ई०। प्र० —श्री गौरीशंकर जी। मं०—श्री भोगचन्द जी। स० सं०—२८। सहा०—५। वा० आ०—१७१॥≥)२ पाई। सम्प०—समाज मन्दिर (ला० ६ ०० रु०)। पु० सं०—१९२ (ला०—५०० रु०)। का०—वेद प्रचार, शुद्धियाँ, संस्था—कन्या विद्यालय (छा०—१०२)।

१८४. आर्य स्त्री समाज (सं०—४०)।

१८५. सीहोर छावनी गंज

रे० स्टे०—सीहोर कैन्ट। डा० खा०—सीहोर छावनी। प्र०—श्री बिहारी लाल जी पटेल। मं०—श्री हरिकृष्णसिंह जी आर्य। स० सं०—१५। सहा०—१४। वा० आ०—१००) रु०। सम्प०—अचल। पु० सं०—४०, ३ समारचार पत्र। संस्था—आ. क. पा. (छा०—४५), आ. वी. सेवा दल (स०—१०), का०—महिलाओं की रक्षा, ३ शुद्धि। विशेष—विधर्मियों से संघर्ष।

प्रान्त के शेष आर्य समाज—

रि० कोटा

१८६. अकलेरा, १८७. कोटा (स० सं—४२), १८८. किशनगंज, १८९. छीपा बड़ौद, १९०. बारां (स० सं०—३२), १९१ मांगरोल, १९२. सुकेत रोड।

रि० धार

१९३. कुक्षी, १९४ धर्मपुरी (स. सं. १८), १९५. धार (स० सं०—२५, सहा०—४०), १९६. बख्तगढ़।

नीमाड़

१९७. कूँआ, १९८. मनावर, १९९. समसपुरा डा० मँडलेश्वर।

मध्य भारत

२००. नरसिंह स्टेट, २०१. नाहरगढ़, २०२. मनसा (मालवा), २०३. धौलपुर, २०४. नीमच छावनी, २०५. बड़वानी, २०६. जुलवानिया (नीमच स्टेट) २०७. व्यावरा (राजगढ़ स्टेट)।

आ० प्र० सभा बिहार से सम्बद्ध

बिहार प्रान्त

जिला पटना

१. बांकीपुर

रे० स्टे०—पटना जंकशन (ई० आ०) और महेन्दूघाट (बी० एन० डब्लू०) । स्था०—सन् १६०८ ई० । प्र०—श्री ब्रह्मदेव नारायण एडवोकेट । मं०—श्री मंगलदास देव बी. ए. बी. एल. । स० सं० - ३२ । सहा०—८ । वा० आ०–१००) । सम्प०—२ बीघा जमीन, पक्का मकान । का०—वेद प्रचार, आर्य कन्या पाठशाला (मिडिल कक्षा छा० २००) आ० कु० स० (स–१४) ।

२. ब्यापुर

रे० स्टे०—दानापुर डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६०७ ई० । प्र०—श्री राम भरोसा शाह । मं०—श्री बा० रामचन्द्रप्रसाद । स० सं१–२८ । सहा०—१३ । वा० आ०—२७५) । सम्प०—आ० स० मन्दिर, दो मकान व भूमि बगीचा आदि । पु० सं०—५० ।

३. बिहार शरीफ़

रे० स्टे०—व डा० खा०—बिहार शरीफ स्था०—सं० १६६५ वि० । प्र०—श्री भीष्मदेव आर्य ।मं०—श्री रामेश्वरगोपाल वैद्य शास्त्री, स० सं०—२३ । सहा०—२४ । वा० आ०—६०) । सम्प०—३०००) । पु० सं०—३०० का०—वेदप्रचार, शुद्धि, ग्राम प्रचार आदि आ० कु० स० [स०—१५] ।

४. बाढ़

रे० स्टे०—व डा० खा०—बाढ़ । स्था०—फाल्गुन बदी ५ सन् १६०५ ई० । प्र०—श्री भगवानदास जी । मं०—श्री भुवनेश्वरदास जी । स० सं० –२६ । सहा०—७ । वा० आ०—६४३।–)॥ । सम्प०—समाज मंदिर । पु० सं० —१२५ । संस्था—श्री मद्दयानन्द संस्कृत पाठशाला ।

५. खुसरूपुर

रे० स्टे०—व डा० खा०—खुसरूपुर । स्था०—१६६० वि० । प्र०—डाक्टर रामकृष्ण प्रसाद जी । मं०—श्री महावीर प्रसाद जी । स० सं०—३१ । सहा०—६ । वा० आ०—३००) सम्प०—२६,०००) । पु० सं०—३००) । का०—२ शुद्धि । संस्था—श्री मद्दयानन्द कन्या पाठशाला [छा०—६५०] आ० कु० सभा (स–२५) । आर्य वीर दल [स–१०] ।

६. जूनियार

डा० खा०—कोशियामा । स्था०—२६ सितम्बर सन् १६३६ ई० । प्र०—श्री नन्दन प्रसादसिंह जी मं०—श्री बालगोविन्दप्रसाद जी स० सं०—१५ । सम्प०—समाज मंदिर के लिये भूमि, मूल्य लगभग ७५ रु० । पु० सं० ४५ । संस्था—एक पाठशाला [छा–२५]

७. मोकामा

रे० स्टे०—व डा० खा०—मोकामा ।

स्था०–सं. १९९९ वि०, प्र०–श्री पं० त्रवेणी दत्त शर्मा। मं०—श्री देवेन्द्रनाथ (इन्द्र) स० सं०–५०, सहा०–४५, वा० आ०—२५२॥=)। पु० सं०—२५० । का०–साधारण प्रचार। संस्था—१ आर्य कन्या पाठशाला (छा० २०) २ आर्य कन्या पाठशाला मोकामाघाट (छा०–४५) ३ आर्य कुमार सभा (स—२५)।

८. मनेर

रे० स्टे०—विहरा डा० खा०—मनेर, स्था०–१९१५ ई० । प्र०—रायबहादुर ब्रजनन्दनसिंह जी मं०—श्री रामचन्द्रदास जी, स० सं०–३५ । वा० आ०–२७) सम्प–आर्य प्रतिनिधि सभा पटना, सम्प०–समाज मन्दिर। पु० सं०—३०० । का०–साधारण संस्था—आर्य कुमार सभा (स–१५)।

९. नौबतपुर

रे० स्टे०—दीनापुर, डा० खा०—नौबतपुर। स्था०–१९०० ई० । प्र०—बा० दसईलाल जी, मं०–श्री रामचन्द्रप्रसाद शर्मा स० सं०–२० । सहा०–१० । वा० आ०–३३|||)। सम्प–समाज मन्दिर (ला०-७००) तथा ४२||) नक़द। पु० सं०—१५० । प्रचारक—दो।

१०. खगोल

रे० स्टे०–दानापुर। डा०खा०–खगोल । स्था०–सन् १९१० ई । प्र०–बा. महाबीरप्रसाद जी। मं०—बाबू विहारीलाल जी शाह। स० सं०–७२ । वा०आ०–७२)। सम्प०–मकान आदि। पु० सं०—८४ । यज्ञ आदि हुए। संस्था—खगोल व्यापार मण्डल।

११. मसौढ़ी

रे० स्टे०—तरेगना (ई. आई. आर.) डा० खा०—मसौढ़ी। स्था०—१९२५ ई । प्र०–बाबू लखपतसिंह जी आर्य। मन्त्री—खूबलाल सिंह जी आर्य। स० सं०—४५ । सहा०—१०० । वा० आ०—२३४|=)||| । सम्प०–मन्दिर की ज़मीन (ला० ७०९ रु०) पु० सं०—१०० । का०—३ अन्तर्जातीय विवाह, ५ अबलाओं की रक्षा। संस्था–आर्य नव युवक सङ्घ (स०–३५)।

१२. नूर सराय

रे० स्टे०—सोहसराय। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१९९४ वि० । प्र०–श्री गुरु चरण जी साहू ज्येष्ठ। मं०—श्री अम्बिका प्रसाद कनिष्ठ। स० सं०—१२ । सहा०—२ । वा० आ०–१८) । का०—२ अबलाओं की रक्षा की गई, है० स० में ८०) नक़द व १ सत्याग्रही भेजे गये।

१३. आतासराय

रे० स्टे०—इस्लामपुर। डा० खा०—आतासराय। स्था० अक्टूबर सन् १९३१ ई० । प्र०—रामचरण दास जी। मन्त्री—मिथिला शरण जी । स० सं०—१५ ।

सहा०—१६ । वा० आ०—२०८=) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर । उपदेशक—१ । का०—शुद्धियाँ २, अन्तर्जातीय विवाह १ । आर्य वीर दल (स०—१४) ।

१४. परसा

रे० स्टे०—सिमरा । डा० खा०—फुलवारी शरीफ । स्था०—कार्तिक कृष्णा पंचमी सं० १६६० वि० । प्र:—श्री रामगोविन्द प्रसाद आर्य । मं०—श्री नथुनी प्रसाद आर्य । स० सं०—२६ । सहा०—१८ । वा० आ०—२००) । पु० सं०—२०० । का०—२ दलितोद्धार, ११ विधवा विवाह, विधर्मियों से अबलाओं की रक्षा की । संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—२४), आ. कु स. (स०—१५), आर्य वीर दल (स०—६) ।

शेष आर्य समाज

१५. दानापुर, १६. पटनासिटी, १७. गुड़हट्टा, १८. फतुहा, १६. नगर नौसा, २०. हिलसा, २१. तिल्हाड़ा डा. एकंगरसराय २२. हाथीटोला डा. मनेर, २३. बिहटा, २४. विक्रम, २५. पुनपुन, २६. रानीगंज, २७ सकरैचा डा० फुलबारी शरीफ, २८. गोन पुरा डा० फुलवारी शरीफ, २६. पाली-गंज, ३०. मीठापुर, ३१. नदपुरा, ३२. सोह सराय, ३३. मोगलपुरा डा० पटना सिटी, ३४. आर्यटोला डा० बेगमपुर, ३५. धर्मटोला डा० बेगमपुर, ३६. आर्य स्त्री समाज बिहार शरीफ, ३७. आर्य स्त्री समाज दानापुर, ३८. बेगमपुर, ३६. हर-नौत, ४०. दाउदपुर, ४१. औंता डा० मोकाम घाट, ४२. मेहनावां मनेर, ४३. तिल्हारी डा० वहपूरा ।

जिला शाहाबाद

४४. आरा

रे० स्टे०—आरा । डा० खा०—आरा । स्था०—सन् १८८७ ई० । प्र०—श्री राजेन्द्र-प्रसाद सिंह जी । मं०—श्री गोपाल जी । स० सं०—३२ । सहा०—३३ । सम्प०—मकान ज़मीन, जमीदारी । पु० सं०—५८६ । संस्था—गुरुकुल आरा (छा०—१६) । का०—आपत्ति काल के समय आरा हस्पताल के ६ लावारिस मृतकों की अन्त्येष्टी संस्कार किए गए, वेद प्रचार अच्छी तरह से हुआ, दलितोद्धार, दो शुद्धियाँ हुई जिनमें १ मुसलमान तथा १ क्रिश्चियन थे, कई ग्रामों में प्रचार हुआ, आर्य कुमार सभा (स०—२०) ।

४५. रघुनाथपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—२५ मई १६०५ ई० । प्र०—बाबू ईश्वरनाथ सिंह जी । मं०—श्री पंडित मकरन्द शर्मा । स० सं०—२० । सहा०—१० । वा० आ०—४०) रु० । पु० सं०—५० । का०—हैजा में ओषधि वितरण द्वारा ५० रोगियों की सेवा, ग्राम प्रचार ।

४६. जगदीशपुर

रे० स्टे०—बिहिया। डा०खा०—जगदीश पुर। स्था०—१६ नवम्बर सन् १६३८ ई०। प्र०—श्री रामानन्द सिंह जी। मं०—श्री राधा-कृष्ण पाण्डे। स० सं०—११। सहा०—१७। वा० आ०—७३|||-)|||। पु० सं०-५०। का०—ग्राम प्रचार।

४७. लमाड़ी

रे० स्टे०-गड़हनी (वाया आरा, ससराम लाईट रेलवे)। डा०खा०—अगीआव। स्था०—दिसम्बर सन् १६३७ ई०। प्र०—श्री राम-विलास सिंह आर्य। मं—श्रीरामप्रीत सिंह जी आर्य। स० सं०-२१। सहा०—२। वा० आ—१६|||)६ पाई। का०—साधारण।

शेष आर्यसमाज—

४८. बक्सर, ४६. भभुआँ, ५०. ससराम, ५१. कोआथ, ५२ नासरीगंज, ५३ केशठ, ५४. पीरू, ५५. बिहिया, ५६. बलुआ डा० आरा, ५७. नया मुहम्मद-पुर, ५८ देहरी ऑन सोन।

जिला सारन

५६. छपरा

रे० स्टे०—छपरा कचहरी डा० खा०—छपरा। स्था०—कार्तिक कृष्ण १५ सम्वत् १६४२ वि०। प्र०—श्री बाबू रामकृष्ण-प्रसाद पंसारी। मं०—श्री रामबिहारी पांडे। स० सं०—४६। सहा०-१०। वा० आ०—८४०) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर व एक यज्ञ शाला। पु० सं०—४५०। का०-वेद प्रचार, १५ शुद्धियाँ, दलितोद्धार, २४ अन्त-र्जातीय विवाह। संस्था—आर्यन बैंड (स० २४) डी. ए. वी. कन्या पाठशाला (छा.—७०) आर्य वीर दल (सदस्य ३०), प्रचारक —१ पं० रामबिहारी पांडेय, २. शिवनन्दन प्रसाद वर्मा।

---

६०. गोपालगंज

रे० स्टे०— हरखुआ। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१६२४ ई०। प्र०—बाबू दीनानाथ जी आर्य। मं०—पं० हरिनन्दन जी पारामेय आर्य। स० सं०—५०। सहा०—५०। वा० आ०—६००)। सम्प०—५०००) रु०। पु० सं०—५००। संस्था—डी. ए. वी. हाई स्कूल। और पाठशाला छात्र सं० ४३५ और २५, आ० कु० स० (स० ३१) का०—बाढ़ में वस्त्र आदि का दान, शुद्धि और ग्राम प्रचार, वेद प्रचार।

६१. बगौरा

रे० स्टे०—चैनवा। डा० खा०—बगौरा। स्था०—अग्रहण कृष्ण ७ सं० १६६५ वि०। प्र०—श्री रामकृष्ण प्रसाद जी आर्य। मं०—बा० गायत्रीप्रसाद जी आर्य। स० सं०—१६। वा० आ०—७७) रु०। सम्प०—चार कट्टा भूमि। पु० सं०—३००। (मू० २३० रु०) प्रचारक—५।

६२. सोनपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१ जनवरी सन् १६३२ ई०। प्र०—श्री बाबूराम शर्मा। मं०—डा० कैलाशदेव यति। स० सं०—२१। सहा०—५१। वा० आ०—२५) रु०। सम्प०—योगार्य कुटी। पु० सं०—१०५। संस्था—आर्य हरिजन पाठशाला (छा० ४२)।

शेष आर्यसमाज—

६३. सीवान, ६४ हरपुरजान डा० राजापट्टी, ६५ गड़खा, ६६. महाराजगंज ६७. परसागठ, ६८. कटसा डा. धनाव, ६६. डोरीगञ्ज, ७० बसन्तपुर, ७१. मीरगंज, ७२. करमैनी डा. जलालपुर, ७३. दिघावारा।

जिला मुजफ्फरपुर

७४. बैरगिनियाँ

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१६२२ ई.। प्र०—श्री लक्ष्मीप्रसादजी, मं०—श्री बिन्दाप्रसाद जी, स० सं०—२८। सहा०—५। वा० आ०—३४४।।−)।। सम्प०—१००) चल, २५००) अचल। का०—वेद प्रचार दो शुद्धियां। संस्था—डी. ए. वी. कन्या पाठशाला (छा० ३५) आ० कु० स० (स० ३०) आ. वी० द० (स० ४१)।

७५. आलीसराय

रे० स्टे०—ढोली (शकरा, बी. एन. डबल्यू) डा० खा०—चन्दनपट्टी। स्था०—नवम्बर सन् १६२६ ई०। प्र०—श्री डा० जैगोविन्दप्रसादसिंह। मं०—श्री यदुनाथसिंह (वैद्य शास्त्री)। स० सं०—२५। सहा०—११। वा० आ०—२६) रु०। सम्प०—भूमि, आर्य हैंड प्रेस, आर्य औषधालय तथा पुस्तकालय के भवन। पु० सं०—२५०।

का०—औषधि एवं साहित्य वितरण।

शेष आर्यसमाज—

७६. मुजफ्फरपुर, ७७. लालगंज. ७८. सराय, ७६. चक सिकन्दर, ८० महुआ, ८१. सीतामढ़ी, ८२. महनार, ८३. प्रताप टांड, ८४. हाजीपुर, ८५. तुर्की।

जिला दरभंगा

८६. दरभंगा

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६२० ई०। प्र०—श्री सरयूप्रसाद जी। मं०—श्री भरतशाह जी। स० सं०—२५। सहा०—३५। सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर। पु० सं०—१२५। का०—७ वेद प्रचार, ३. ग्राम प्रचार, ६ शुद्धि, २ साहित्य प्रचार, १ दलितोद्धार, २ विवाह संस्कार। संस्था—आ० कु० स० (स० ४०) आ० वी० द०।

८७. जयनगर

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—नवम्बर सन् १६३५ ई०। प्र०—श्री रघुनाथ प्रसाद जी आर्य। मं०—श्री दानमल जी। स० सं०—२१। सहा०—७। वा० आ०—१३६॥-)। सम्प०—भूमि। पु०सं०—१०। का०—१ शुद्धि, जनगणना सम्बन्धी प्रचार।

८८. समस्तीपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६१६ ई०। प्र०—पं० सत्यव्रत जी। मं०—कविराज वैद्यनाथ वेदव्रती वैद्यशास्त्री। स० सं०—२१। सहा०—१०। वा० आ०—५१) रु०। प्रचारक—२ अवैतनिक। का०—३ शुद्धियां, २ स्थानों पर वेद प्रचार, १ अन्तर्जातीय विवाह, साहित्य वितरण।

८६. कमतौल

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—अक्तूबर सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री जानकीप्रसाद जी। मं०—श्री महेश्वरप्रसाद जी। स० सं०—१२। सहा०—१०। वा० आ—३६)। पु० सं०—१५। का०—वेद प्रचार, आर्य कु० स० (स०—२५)।

६०. मधुवनी

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६२३ ई०। प्र०—श्री बा० रामावतार साह। मं०—त्रिवेणीलाल गुप्त। स० सं०—२०। वा० आ०—११। पु० सं०—३५८। का०—साधारण प्रचार आदि। संस्था—आर्य हरिजन पाठशाला (छा०—३६), आर्य पुस्तकालय।

६१. दिघड़ा

रे० स्टे०—पूसारोड। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६२५ ई०। प्र०—श्री केशवशर्मा। मं०—श्री सत्यानन्द जी शर्मा। स० सं०—१०। सहा०—१५। सम्प०—३॥ कट्ठा भूमि।

शेष आर्यसमाज—

६२. पूसारोड, ६३. रोसड़ा, ६४.

अरथुआ, ६५. लहेरिया सराय ।

जि० मुंगेर

९६. मुंगेर

रे० स्टे व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १८९७ ई० । प्र०—डा० कार्तिकप्रसाद देव एल. एच. एस. । मं०—श्री पं० बद्रीनारायण शर्मा । स० सं०—३० । सहा०—१५ । वा० आ०—५७॥) । सम्प०—आर्य आर्यसमाज मन्दिर तथा २ बीघा जमीन। लाजपत सभा भवन । संस्था०—मुंगेर अनाथालय, आर्यकुमार सभा (स०—१५) । पु० सं०—३०० । का०—२ शुद्धियां, ग्राम प्रचार ।

९७. मुंगेर (महिला आर्यसमाज)

स्था०—सन् १९३२ ई० । प्र०—श्रीमती मखेश्वरीदेवी । मं०—श्रीमती इन्दिरादेवी । स० सं०—१५ । सहा०—५ । वा० आ०—२४) । का०—ग्राम प्रचार ।

९८. खगड़िया

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—८ मार्च सन् १९१४ ई० । प्र० -श्री बाबू जयगोविन्दलाल जी । मं०-श्री रामस्वरूपलाल जी । सम्प०—१५०००), १०००) की जायदाद और ५०००) का स्थिर कोष है । पु० सं०-४२७ । का०—६ अनाथ बच्चों की रक्षा और ६ शुद्धियां कीं, १६ विधवाओं को गुण्डे तथा विधर्मियों से बचा कर उन्हें विधवाश्रम भेजा, १७ असमर्थ व्यक्तियों के शव-संस्कार में सहायता दी, २५०० आदमियों को हैजा, पेचिस आदि बीमारियों की दवा दी । शहर में आर्यसमाज की स्थापना । हैदराबाद सत्याग्रह में २००) तथा ५ वीरों का एक जत्था भी भेजा गया ।

९९. बरबिगहा

रे० स्टे०—शेखपुरा । स्था०—१९७३ वि० । प्र०—श्री जयनारायण जी गुप्त । मं०—श्री शंकरप्रसाद गुप्त । स० सं०—४६ । सहा०—१३ । वा० आ०—२१५) । सम्प०—१०००) के लगभग । पु० सं०—२२४, का०—वेद प्रचार, १ शुद्धि, २ अन्तर्जातीय विवाह । संस्था०—डी. ए. वी. यू. पी. स्कूल (छा०—९०) ।

१००. बारा

रे० स्टे० व डा० खा०—बरौनी । स्था०—सन् १९३५ ई० । प्र०—श्री सत्यनारायण लाल । मं०—श्री रामऔतार वैश्य । स० सं०—११ । सहा०—८ । वा० आ०—१४१)॥ । पु० सं०—१५० । का०—२ शुद्धि, १ विधवा विवाह, ५ संस्कार । संस्था०—आर्यकुमार विद्यालय, आर्यवीरदल ।

शेष आर्यसमाज

१०१. जमालपुर, १०२. खड़गपुर हवेली, १०३. बेगूसराय, १०४. चैथा डा. मन्सी, १०५. मोहद्दीपुर डा० मुंगेर, १०६, शेखपुरा, १०७. माड़र डा० मन्सी

१०८. गोगरी डा० मुश्कीपुर, १०९. केशोपुर (जमालपुर) ११०. लखीसराय, १११. अलीगंज, ११२. नसीबचक डा० बरबिगहा, ११३. शेखपुराबाजार डा० बरबिगहा, ११४. घहटरा।

जिला गया

११५. गया

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०—अगस्त सन् १९३१ ई०। प्र०—श्री तेजनारायण सिंह जी, मं०—श्री यदुवंशीसहाय, स० सं — ६०। सम्प०—समाज मंदिर (ला०—१५०० रु०)। पु० सं०—२००। कार्य—३ शुद्धि, ३ अन्तर्जातीय विधवा विवाह, अबला रक्षा। संस्था—आर्य स्त्री समाज, शांतिआश्रम (गुरुकुल नगर से ४ मील दूर पर), आर्य कन्या विद्यालय (अपर प्राइमरी तक, छा० सं०—५८) आ० कु० स० (स०—१०)

११६. बारसलीगंज

रे० स्टे०—व डा० खा०—बारसलीगंज। स्था० – सं० १९७९ वि०। प्र०—श्री योगी लालजी आर्य, मं०—श्री गणेशलाल जी आर्य स० सं०—५१। सहा०—७१। वा० आ०—१२५)। सम्प०—समाजमंदिर के लिये भूमि (मूल्य ५०० रु.) नक़द ५०१ रु.। अन्य सम्पत्ति ८०० रु.। पु० सं०—६०१, समा० पत्र २२। संस्था०—वैदिक पाठशाला, श्री मुनीश्वरानन्द पुस्तकालय। आ. वी. द. (स—५०) का०—वेदप्रचार ४, दलितोद्धार ११. शुद्धि २, ग्रामप्रचार ५, अन्तर्जातीय विवाह १०, साहित्यप्रचार तथा औषधि वितरण। विशेष—सर्प विष की औषधि बिना मूल्य वितीर्ण की जाती है।

शेष आर्य समाज—

११७. टेइटा, ११८, नवादा, ११९. जहानाबाद, १२०. अकबरपुर डा० रजहत, १२१. नेमदारगंज, १२२. गोबिन्दपुर, १२३. रजौली, १२४. हंसुआ, १२५. कौआकोल, १२६. धमनी, १२७. लौन, १२८. मदडीह डा० बजीरगंज।

जिला चम्पारण

१२९. मोतीहारी

रे० स्टे०—व डा० खा०—मोतीहारी (बी. एन. डब्लू) स्था०—सन् १९१४ ई०। प्र०—श्री बाबू गणेशप्रसाद सार, मं०—श्री बाबू पशुपतिनाथ। स० सं०—२५। सहा०—१३। वा० आ०—४८७॥)।, सम्प०—समाज मंदिर, भूमि व अन्य (लगभग ५००० रु०) पु० सं०—४९। का०—साधारण प्रचार।

१३०. गोबरी

मोतीहारी से ६ मील दूर। स्था०—सन् १९३५ ई०। इस वर्ष फरवरी सन् १९४१ में प्रधान जी ने स्वामी रामानन्द जी संन्यासी से संन्यास ग्रहण किया और 'ब्रह्मानन्द' नाम रखा।

१३१. केशरिया

रे० स्टे०—चाकिया, डा० खा०—केशरिया। स्था०—७ फरवरी सन् १९३७ ई०। प्र०—बा० सरयूप्रसाद जी। मं०—पं० विद्या सागरजी विद्यावाचस्पति विशारद काव्यतीर्थ स० सं०—३३। सहा०—३००। वा० आ०—१००)। पु० सं०—२५। का०—जनगणना प्रचार, अछूतों में प्रचार, ४ शुद्धि, लावारिस शव संस्कार ४। संस्था०—आ० कु० स० (स—१५) २. आ० वी० द० (स—१४) ३. संस्कृत हिन्दी पाठशाला, ४. महिला संघ (स०—२० महिला)

१३२. मलाही

रे० स्टे०—बेनिया डा० खा०—मलाही। स्था०—जून सन् १९३१ ई०। प्र०—श्री जगन्नाथप्रसाद जी आर्य। मं०—श्री जगदेव प्रसाद जी आर्य। स० सं०—१७। सहा०—४। वा० आ०—३६०)। सम्प०—२०००)। पु० सं०—१५०। का०—१ अन्तर्जातीय विवाह।

१३३. महेसी

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—११ सितम्बर सन् १९३२ ई०। प्र०—पं० श्री मथुरा जी शर्मा वैद्य। मं०—डा० यदुनन्दनसिंह जी। स० सं०—५। सहा०—२२। वा० आ०—१०)। सम्प०—खेत, बाग, आदि। पु० सं०—२५। का०—२५० रोगियों की चिकित्सा तथा २ दलितोद्धार। विशेष—सन् १९३४ ई० के भूकम्प के समय पंजाब प्रतिनिधि सभा द्वारा १४०००) रु० के अन्न-वस्त्र बाँटे गये।

१३४. बगहा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१ म दिसम्बर सन् १९४० ई०। प्र०—श्री परमेश्वरराम जी। मं०—श्री भगवानप्रसाद जी। उप मन्त्री—श्री मुन्नीलाल जी। कोषाध्यक्ष—श्री महादेवप्रसाद जी। स० सं०—२०। सहा०—२। प्रचारक—१। का०—ग्राम प्रचार व शुद्धि।

शेष आर्य समाज—

१३५. नेतिया, १३६. चनपटिया, १३७. रक्सौल, १३८ रामनगर, १३९. नरटिया गंज, १४० रामनगर, १४१ सकरार, १४२ संग्रामपुर, १४३. ढाका, १४४. सुगौली, १४५ घोड़ासहन, १४६. रामगढ़वा, १४७. लौरिया।

जिला हजारीबाग

१४८. राजधनवाद

रे० स्टे०—हजारीबाग रोड। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९३५ ई०। प्र०—श्री मंगरूशाह। मं०—श्री जगन्नाथराम 'आर्य'। स० सं०—१५। सहा०—२०। वा० आ०—२१०) रु०। पु० सं०—१००। का०—३ शुद्धि, २ अन्तर्जातीय विवाह। संस्था०—

कन्या पाठशाला (छा०—६३)।

शेष आर्यसमाज—

१४६. माल्डा डा० गाँबा, १५०. हजारीबाग, १५१. डोमचाँच, १५२. बड़डीहा, १५३. रामगढ़ ।

संन्थाल परगना

१५४. साहबगंज

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—१८ जनवरी सन् १९३८ ई० । प्र०—श्री बैजनाथप्रसाद जी आर्य। मं०—श्री गुलाबचन्द प्रसाद जी। स० सं०—४४। सहा०—७। वा० आ०—२५१=)॥। सम्प०—२५०) रु० चल। पु० सं०—१५०। का०—साधारण।

शेष आर्यसमाज—

१५५. बरहरवा, १५६. पथरगाँवा, १५७. मधुपुर, १५८. गोड्डा, १५९. राजमहल, १६०. दुमका।

जिला पूर्णिया

१६१. पोठिया

रे० स्टे०—कुरसल अथवा बरारी (बी. एन. डब्लू.)। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—११ अक्तूबर सन् १९३६ ई०। प्र०—देवराज आर्य। मं०—श्री मोहितलाल जी यादव। स० सं०—२२। सहा०—४५। पु० सं०—८२। का०—साक्षरता प्रचार, हरिजन शिक्षा, दलितोद्धार, वैदिक धर्म का प्रचार। सहा० का०—मलेरिया के रोगियों की सेवा।

शेष आर्यसमाज—

१६२. कस्बा पूर्णियाँ, १६३. कटिहार, १६४. किसुनगंज।

जिला मानभूमि

शेष आर्यसमाज—

१६५. आरिया, १६६. कतरासगढ़, १६७. धनवाद।

ज़िला सिंहभूमि

१६८. जमशेदपुर

रे० स्टे०— टाटानगर। डा० खा०—जमशेदपुर। स्था०—सन् १६२३ ई०। प्र०—श्री धर्मचन्द अहूजा। मं०— श्री एस. एल. कोछड़। स० सं०—११४। सहा०—४०। वा० आ०—१५००)। सम्प० — समाज मन्दिर (भूमि किराये पर लागत २० हजार रुपये) आर्य वैदिक पाठशाला, मुहुल बेड़ा का भवन, आर्य वैदिक पाठशाला हरगर गुट्टू के भवन तथा अन्य सामान (लागत लगभग ८०० रु०)। का०—४ शुद्धियाँ, अबलाओं की रक्षा इत्यादि।

१६९. चक्रधरपुर

जिला पलामू

१७०. गढ़वा

रे० स्टे०—गढ़वा रोड। डा० खा०—गढ़वा रोड। स्था०—१ म अप्रैल सन् १६-३५ ई०। प्र०— श्री बिहारीलाल जी। मं०—श्री अवधबिहारीलाल जी। स० सं०—११। सहा०—१०। वा० आ०—४५)। पु० सं०—२५१। का०—वेद प्रचार, ७ शुद्धियाँ, २ अन्तर्जातीय विवाह, हैजे में रोगियों की विशेषतः दलित वर्ग की सहायता। संस्था—आर्य वीर दल (स० २०)।

१७१. डाल्टनगंज

जिला भागलपुर

१७२. भागलपुर

रे० स्टे० व डा० खा०— भागलपुर। स्था० — सन् १६१६ ई०। प्र०—डा० श्री रामनारायण वंशीकर। मं०— कविराज श्री नरेन्द्र विशारद। स० सं०—२५। सहा०—३०। का०— वेद प्रचार दलितोद्धार, ६० शुद्धियाँ, ग्राम प्रचार, ७ अन्तर्जातीय विवाह। औषधि वितरण। संस्था — आ० कु० स० (स० ५०) आ० वी० द० (स० २५)।

शेष आर्यसमाज—

१७३. सुल्तानगंज, १७४. सहर्षा, १७५. कीर्तनियाँ।

जिला रांची

१७६. राँची

रे० स्टे०— राँची (बी. एन. आर.) अथवा राँची रोड (ई० आई० आर०)। डा० खा०—स्वयम्। स्था०—अप्रैल सन् १८६४ ई०। प्र०—श्री म० रामकृष्णसहाय जी बैरिस्टर। मं० - जगदीश्वरप्रसाद। स० सं०—२६। सहा०—४। आय—५११≋)। सम्प०—समाज मन्दिर (लागत १५०००) रु०। पु० सं०—२७०। का०—१ शुद्धि, १ अन्तर्जातीय विवाह, ईसाइयो से शास्त्रार्थ, है० स० में २३० रु० १२ आ० ६ पा० भेजे गये।

आ० प्र० सभा बंगाल व आसाम से सम्बद्ध

बंगाल प्रान्त

१. कलकत्ता, १६ कार्नवालिस स्ट्रीट

समाज मंदिर—रे० स्टे० हावड़ा से २ मील पर। अतिथियों के लिए ठहरने का स्थान है, परिचय लाना चाहिए। स्था०—लगभग सन् १८८५ ई०। प्र०—श्री सेठ दीपचन्द जी पोद्दार। मं०—श्री पं० रघुनन्दन लाल जी। कार्य—(१) आर्यसमाज के अन्तर्गत कन्याओं के लिए एक आर्य कन्या महाविद्यालय है। यह २० कार्नवालिस स्ट्रीट में विशाल भवन में अवस्थित है। मैट्रिकुलेशन परीक्षा और प्रयाग के महिला विद्या पीठ की विदुषी परीक्षा तक की पढ़ाई होती है। इसमें बंगला और हिन्दी, ये दो विभाग हैं। बंगला विभाग में १५० और हिन्दी विभाग में ३००, कुल ४५० लड़किया शिक्षा पाती हैं। विद्यालय की छात्राओं के लिये धर्म शिक्षा और व्यायाम अनिवार्य हैं। बंगला विभाग की कन्याओं के लिये राष्ट्र-भाषा हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य है। विद्यालय के अन्तर्गत एक बाला-समाज भी है। (२) आर्य कन्या विद्यालय भवानीपुर ३१ चक्रबेरिया रोड। इसमें मैट्रिक कक्षा तक की पढ़ाई होती है। २०० लड़कियां शिक्षा पाती हैं। (३) आर्य विद्यालय, ४८ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट में अवस्थित है। इसमें ४५० लड़के हैं और मैट्रिक तक की पढ़ाई होती है। धर्मशिक्षा और व्यायाम अनिवार्य है। (४) दलितोद्धार पाठशाला, इसमें ३५ विद्यार्थी निःशुल्क प्राइमरी परीक्षा तक की शिक्षा पाते हैं। धर्म शिक्षा और व्यायाम अनिवार्य है (५) श्री मद्दयानन्द वैदिक पुस्तकालय वाचनालय। पुस्तक प्रकाशन और विक्रय विभाग भी हैं। समाज के प्रकाशन विभाग से छोटे बड़े लगभग ५० ग्रन्थ वैदिक सिद्धान्त सन्बन्धी हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला में प्रकाशित किए गये हैं। (६) समाज के अन्तर्गत एक अबला-अनाथ-रक्षा-विभाग ८ वर्षों से काम कर रहा है और इसके द्वारा लगभग १८ स्त्रियों और बच्चों का उद्धार हुआ है। (७) आर्य समाज के अन्तर्गत एक महिला समाज है जिसका अधिवेशन प्रत्येक बृहस्पतिवार को होता है।

२. हावड़ा सलकिया, ३८ चेत्र मित्र लेन कलकत्ता

जिला हावड़ा रे० स्टे०—हावड़ा (ई० आ०) डा० खा०—सलकिया। स्था०—सन् १६२२ ई०। प्र०—श्री मिहिरचन्द धीमान् कुसुमाकर। मं०—म० वीरूरामजी मैनी 'दिवाकर'। स० सं०—५३४। वा० आ०—२६३७ रु० ६ आ० ६ पा०। सम्प०—भवन (लागत ५००० रु०) तथा अन्य दो हजार रु०। पु० सं०—३००। का०—११ शुद्धि, १५ अबला रक्षा, १५ विधवा-विवाह,

३ अनाथ रक्षा। उपदेशक—४ अवैतनिक, १ वैतनिक। संस्था०—आर्य विद्यालय, (७ कक्षा, १५० छा०), आ० कु० स० (स०—१५०) आ० वी० द० (स०—४०)।

३. कलकत्ता, बड़ा बाजार

ज़ि० २४ पर्गना। रे० स्टे०—हावड़ा। डा० खा० —स्वयम्। स्था०—सन् १९०५ ई०। प्र०– श्री विश्वनाथसिंह जी एम०ए० बी० एल०। मं०—श्री सीताराम जी वानप्रस्थ। स० सं०–२०२। सहा०–६। वा० आ०–३००)। पु० सं०—लगभग १००। प्रचारक—३ (१ वैतनिक, २ अवैतनिक) का०—इस समाज द्वारा हर साल अनेक अनाथ, अबला और भूले भटके बच्चों को उनके संरक्षकों के पास पहुँचाया जाता है। तथा शुद्धियाँ एवं अन्तर्जातीय विवाह कराये जाते हैं। आ० वी० द० (स०—२७)।

४. कलकत्ता-खिरदपुर ११ सरक्यूलर गार्डन रीच रोड

स्था०—शिवरात्रि संवत् १९५८ वि०। प्र—श्री नन्दलाल जी शाह। मं०—सभापतिराय जी। स० सं०–११६। सम्प०—भवन निर्माण के लिए ४००) का कोष है। १ भजनोपदेशक (अवैतनिक)। कार्य–प्रचार, अबला उद्धार, २२ शुद्धि, १३ अन्तर्जातीय विवाह; एक अनाथ उद्धार। ई० स० में २१ सत्याग्रही भेजे गये।

५. मल्लिक बाजार ६८ पार्क स्ट्रीट, कलकत्ता

रे० स्टे०–हावड़ा। डा० खा०—सर्कस। स्था०–३० मार्च १९३६ई०। प्र०—श्रीरामेश्वर प्रसाद जी गुप्त। मं०—श्री बैजनाथसिंह जी। स० सं० – ५५०। सहा०— १०। वा० आ०— १३६२॥)॥। पु० सं०—३००। समाचार पत्र ६। का०—४ मुसलमानों की शुद्धि (३ पुरुष १ महिला), गुण्डों द्वारा बहकाई तथा भगाई गई १० महिलाओं का उद्धार किया गया, ३ असहाय बच्चों की रक्षा की गई। २ पुरुष और ३ महिलाओं को आर्थिक सहायता दी गई। ४ अन्तर्जातीय विवाह हुए। प्रचार सम्बन्धी ६००० हैण्डबिल बांटे गए। महल्लों में भजनों व व्याख्यानों द्वारा प्रचार किया गया। आ० वी० द० (सदस्य २०)।

६. बेलिया घाट, कलकत्ता

रे० स्टे०—स्यालदह। डा० खा०—इटाली जिला २४ परगना। स्था०—अप्रेल सन् १९२६ ई०। प्र०—श्री लक्ष्मीनारायण जी। मं०—गयाप्रसाद जी। स० सं०—५५। सहा० सं०—३०। वा० आ०–१७० रु०। सम्प०—३३१॥) कोष। पु० सं०—१७५। उपदेशक-२ अवैतनिक। का०—अबला रक्षा तथा अनाथों की रक्षा। शुद्धियां ६, अन्तर्जातीय विवाह ४, अस्पताल में ४ मनुष्य भेजे। १५ ग्रामों में वेद प्रचार किया गया।

७. इच्छापुर

रे० स्टे०— इच्छापुर (ई. बी. आर.) डा० खा०—इच्छापुर नवाबगंज, जिला २४ परगना, स्था०—२६ जून १९३२ ई० । प्र०—श्री शिवप्रसादसिंहजी जमादार, मं०—श्री रामनाथ जी आर्य, स० सं०—२४ । सहा० सं—१९ । सम्प०— समाज मन्दिर, ६००) की भूमि, भवन निर्माण में लगभग २०००) व्यय हो चुका है, अभी मन्दिर अपूर्ण है । पु० सं०—७५ । संस्था—श्री मद्दयानन्द वैदिक पुस्तकालय तथा वाचनालय ।

८. कांकिनारा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । जिला २४ परगना । स्था०—१९१९ ई० । प्र —महाशय सुक्खूराम जी गुप्त, मं०—श्री गंगाप्रसाद जी आर्य, स० सं०—१५७ । सहा०—८६ । वा० आ०—७१६।=)॥ । सम्प० —६॥ कट्ठे जमीन में अर्धनिर्मित आर्य मन्दिर कांकिनारा में, ५ कट्ठे जमीन में अर्धनिर्मित मन्दिर भाटपाड़े में । पु० सं०—२४८ । का०—सप्ताहिक सत्संग, २० उपनयन संस्कार, १० शुद्धि, ६ जाति संस्कार, ३ नामकर्ण संस्कार, ६ विधवा विवाह । संस्था—कन्या पाठशाला आ० कु० सभा (स—२०) आ. वी. द. (स०—२०) ।

९. कचरापाड़ा

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । जिला २४ परगना, स्था०—सन् १९२५ ई० । प्र०—श्री बाबू विद्यासिंह जी, मं०—श्री सरयूप्रसादजी शर्मा । स० सं०—४० । सहा०—१०० । वा० आ०—४००) । का०—वेद प्रचार ।

१०. टीटागढ़

जिला २४ परगना । स्था०—जनवरी १९३० ई० । प्र०—श्री शिवशंकरसिंह जी । मं०—श्री तेजनारायणसिंह जी । का०—वेद प्रचार, अबला रक्षा, शुद्धि तथा अनाथ बच्चों की रक्षा, १८० शुद्धियां । ६० स० में ११५) दिये गये ।

११. दमदमकेंट (जि० २४ परगना)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १९३० ई० । प्र०—पंडित टालमणि जी विश्वकर्मा । मं०—श्री रूपनारायण जी साहू । स० सं०—२६ । सहा०—२० । वा० आ०—१२०) । पु० सं० ६५० । का०—२ शुद्धि । है० स० में १४८॥≥) दिये ।

१२. जगदल (जि० २४ परगना)

रे० स्टे०—श्यामनगर कांकिनारा । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—११ मई सन् १९३३ ई० । प्र०—श्री रामप्रसादसिंह । मं —श्री सर्वजीतसिंहजी । स० सं०—१५१ । सहा०—१५० । वा० आ०—३२५।=) । पु० सं०—२५० । का०—वेद प्रचार, ५०० दलितों का उद्धार, १६५ शुद्धि, ५० अन्तर्जातीय विवाह, वेद भाष्य तथा अन्य साहित्य का प्रचार । संस्था—आर्य वीर दल, कृष्णपरिषद, बजरंग परिषद ।

१३. मेलंदहबाजार (जि. मेमनसिंह)

रे० स्टे०—दागा। डा० खा०—स्वयम्। मं०—जोगेन्द्रचन्द जी आर्य। स० सं०—४०। संस्था—आ० क० पाठशाला, आ० कु० स० (स०—१५०) आ० वी० द० (स०—३५०)।

१४. आसनसोल (जि० बर्दवान)

रे०स्टे०—आसनसोल। डा०खा०—स्वयम्। स्था०—मई सन् १९१४ ई०। प्र०—स्नेहीराम जी, मं०—श्री सूर्यनारायणसिंह जी। स० सं०—४६। सहा०—३००। सम्प०—समाज मन्दिर, ७ मकान वृहत् यज्ञशाला, ४ बीघे जमीन हाता के अन्दर, मूल्य लगभग १०००० रु०। पु० सं०—६२८। संस्था—डी. ए. वी. मिडिल स्कूल, हिन्दू अनाथालय। कार्य—८ शुद्धियाँ, ४ अन्तर्जातीय विवाह, १६ महिलाओं तथा १५ लड़कियों की विधर्मियों से रक्षा।

१५. कुलटी (जि० बर्दवान)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९२६ ई०। प्र०—श्री रामलखनशाह। मं०—श्री गौरीशंकर गुप्ता। स० सं०—६१। का०—अन्तर्जातीय विवाह १, दलितोद्धार, वेद प्रचार व अबला रक्षा।

जिला मिदनापुर

१६. खड़गपुर (जि० मिदनापुर)

रे० स्टे०—खड़गपुर (बी. एन. आर.) डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १९०५ ई०। प्र०—श्री पाद पाण्डुरंगाचार्य जी। मं०—श्री काशीनाथ "माठाके"। स० सं०—४०। सहा०—२०। वा० आ०—८००॥)॥। सम्प०—अचल २०००)। पु० सं०—३५। का०—६ शुद्धियां, १ पुरुष व ५ स्त्रियाँ, ६ अन्तर्जातीय विवाह, ट्रैक्टों द्वारा वेद प्रचार किया गया। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (छा०—९१)। सहा० का०—मिदनापुर बाढ़ में सहायता पहुंचाई गई।

१७. सुल्तानपुर

रे० स्टे०—पुष्कुरा। डा० खा०—ईश्वर-पुर। स्था०—अगस्त सन् १९३७ ई०। प्र०—श्री गोपीनाथ साहू। मं०—राखाल राज साहू। स० सं०—३००। वा० आ०—२१ रु०। उपदेशक—३।

१८. चापदानी

रे० स्टे०—वैद्यवाटी (ई. आई. आर.)। डा० खा०—वैद्यवाटी जि० हुगली। स्था०—माघ शुक्ल ५ संवत् १९८५ वि०। प्र०—भाबोलाल जी गुप्त बैंकर। मं०—पं० उमादत्त जी अवस्थी। स० सं०—७०। सहा०—१००। वा० आ०—५९५।)। सम्प०—भूमि आदि। पु० सं०—३३। का०—७ शुद्धि, ८ अबलाओं का उद्धार, ३ अन्तर्जातीय विवाह तथा १५ जगह वेदप्रचार किया गया।

शेष आर्यसमाज—

१९. भवानीपुर १६ पदीपुकार रोड। २०. आलम बाजार कलकत्ता, २१. कमर

हटी (२४ परगना), २२. विरलापुर, २३. बैरकपुर, २४ सामनगर डा० गरुलिया बाजार, २५. गौरीपुर, २६. हाजी नगर डा० हालीशार, २७. तेलनीपाड़ा, २८. आसंसोलरेलपार २९ काकदीपबाज़ार ३० अरंगनगर डा. नंदपुर, ३१. मालती डा० नगरवाड़ी, ३२. पारखी डा. बालरतनगंज, ३३. सरिसवाड़ी, ३४.गुजराठ डा. मोयल बगदीपुर, ३५. नातिबपुर वाया आमटा, ३६. पोल डा० पातुल, ३७. कंकरोल डा. कुन्दली, ३८. पलास वाई वाया आमटा, ३९. दक्षिण हरकुली डा० मोयना, ४०. रामचन्द्रपुर डा० मोयना, ४१. कोरचंडी डा० कोलाघाट, ४२. राष्ट्र डा० घटल, ४३. चकवलायी घाट डा० विश्नुपुर, ४४ भिखुरखाली डा० गोलावचक, ४५. केशव चक डा० दासपुर, ४६. भूता डा० सोना खाली, ४७. राधाकांतपुर डा. सोनाखाली ४८. मोथावाड़ी, ४९. नन्द कुमार डा० कल्याण चक्र, ५०. जहांगीर पुर डा० मदन, ५१. रिसरा, ५२. बाली खाल।

आसाम प्रान्त

५३. औरंगाबाद डा. भंग बाजार, ५४. सिलहट, ५५. कर्मीगंज, ५६. गोला घाट, ५७. शिवसागर, ५८. तिनसुकिया ५९. डिबरूगढ़, ६०. नौगाँव, ६१. बाला ग्राम डा. रंगापानी गोल पारा।

आ. प्र. सभा मध्यप्रांत व विदर्भ से सम्बद्ध

मध्यप्रान्त व विदर्भ

जि० आमला

१. बैतूल बाजार

रे० स्टे०-बतूल (४ मील)। डा ख़ा०-बैतूल बाजार। स्था०-दिसम्बर १९०८ ई०। प्र०—श्री पंडित कन्हैया लाल आर्य। मं०-श्री घनश्यामसिंहजी आर्य। स० सं०—१२। सहा०—५। पु० सं०—१३६। का०-वेद प्रचार, ५ शुद्धियाँ।

शेष आर्यसमाज—

२. आमला, ३. चिचोली, ४. शाहपुर, ५. बैतूल गंज।

६. बन्हारशाह

रे० स्टे० व डा०खा०-स्वयम्। स्था०-सन् १९२० ई०। प्र०—श्री विद्याधर जी। मं०— श्री लक्ष्मण जी कान्हू। स० सं०—६। का०—प्रचार में बाधा डाली जाने के उदाहरण हैं।

जि० चाँदा

७. नागरी

रे० स्टे० व डा०खा०-स्वयम्। स्था०-सन् १९३६ ई०। प्र०-ठा० नारायणसिंह जी दीक्षित। मं०—श्री मुन्नालाल अग्रवाल। स० सं०-४०। वा० आ०—१७) रु०। का०-अछूतोद्धार, अबला रक्षा तथा वेद प्रचार।

शेष आर्यसमाज—

८. वल्लड़पुर, ९. चांदा, १०. बरौड़ा ११. गोंड पिपरी, १२. बीसापुर।

जि० छिन्दवाड़ा

१३. छिन्दवाड़ा

जि० नागपुर

१४. नागपुर (सदरबाज़ार)

स्थान-रेलवे स्टेशन नागपुर से १ मील पर है। प्र०-श्री के. सी. दुर्गाया। मं०-श्री बद्रीनाथ जी वर्मा।

१५. कामठी

रे० स्टे० व डा०खा०-कामठी। स्था०-कार्तिक वदी अमावस्या संवत् १९६४ वि०। प्र०—श्री ठा० शेरसिंह साहित्य रत्न। मं०-श्री ठाकुर राम सेवकसिंह जी। स० सं०—१३। सहा०-३। वा० आ०—२६।।) रु०। सम्प०—आर्य समाज मन्दिर।

शेष आर्य समाज—

१६. सदर महिल नागपुर, १७. हंसापुरी, डी० ए० वी० हाई स्कूल।

जि० होशंगाबाद

१८. इटारसी

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम्। स्था०-१९ अप्रैल सन् १९३८ ई०। प्र०—बाबू राधाकृष्ण जी। मं०—डा० डी. टी. जौंजाल स० तथा सहा० सं०—२७५। पु० सं०—१६०। वा० आ०—६४२) रु०।

शेष आर्यसमाज—

१९. होशंगाबाद, २०. नरसिंहपुर, २१. हरदा।

जिला जबलपुर।

२२. जबलपुर, श्रीनाथ तलैया

रे० स्टे०—जबलपुर से प्रायः २ मील पर। समाज मन्दिर में अतिथियों व यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०-श्री जयनारायण जी आर्य मं०-श्री दीनानाथ जी चड्ढा। संस्था-श्री मद्दयानन्द चिकित्सालय (वैद्य पं० सत्यव्रत जी शास्त्री, बिना मूल्य औषधि वितरण)

२३. जबलपुर (गन कैरिज फैक्टरी)

रेलवे स्टेशन व डा० खा०-जबलपुर। स्था०-१ वैसाख १९९५ वि०। प्र०-श्री ईश्वरी प्रसाद जी सल्तनत बहादुरसिंह। मं०—पंडित श्रीरामजी शर्मा, स० सं०-२५। सहा०-३, वा० आ०-२०८।।।≶)। सम्प०-समाज मंदिर, लागत २०००)। पु० सं०-२००। का०—८ शुद्धियां, १ पुनर्विवाह, १ अबला रक्षा।

२४. महिल जबलपुर

जिला मंडला

२५. नैनपुर

रेलवे स्टेशन व डा० खा०—नैनपुर। स्था०—१० जुलाई सन् १९३३ ई०। प्र०—

श्री भगवानदास जी, मं०—श्री मोतीलालजी, स० सं०—११ । सहा०—५ । वा० आ०—२०) । सम्प०—साधारण सामान, का०—वेद प्रचार, २ शुद्धियां, आ० वी० द० (स०—२०) ।

शेष आर्यसमाज—

२६. बहमनीबाजार, २७. मंडला ।

जिला नीमाड़

२८. खंडवा

रे० स्टे० व डा० खा०—खंडवा । स्था०—११ अगस्त सन् १८९१ ई० । प्र०—श्री बाबू शंकरलालजी । मं० —श्री डाक्टर रघुनाथसिंह जी वर्मा एम. बी. बी. एस. । स० सं०—३० । वा० आ०—७०६॥≤)। । सम्प०—समाज मंदिर व भूमि । पु० सं०—५३ । प्रचारक—पंडित बहोरीलाल जी भजनीक । का०—ग्राम प्रचार, वेद प्रचार, दलितोद्धार, शुद्धि आदि । संस्था०—आर्य कुमार सभा (स० सं०—३५) ।

२९. बुरहानपुर

रे० स्टे०—व डा० खा०—बुरहानपुर । स्था०—बसन्त पंचमी १९५८ वि० । प्र०—श्री हरिकृष्णजी, मं०—श्री पुरुषोत्तम जी पाटीदार । स० सं०—३२ । वा० आ०—२८६॥-) । सम्प०—आर्य समाज मन्दिर । पु० सं०—११ । का०—वेदप्रचार, दलितोद्धार, शुद्धि, ग्राम प्रचार, अन्तर्जातीय विवाह, चिकित्सालय, वेदभाष्य आदि साहित्य प्रचार ।

जिला सागर

३०. सागर

रे० स्टे०—सागर । डा० खा०—सागर कैन्ट । स्था०—२१ जनवरी सन् १८९१ ई० । प्र०—ठा० गोपालसिंह जी वर्मा, मं०—श्री रा० सा० ठाकुर रामसिंह जी । स० सं०—२२ । सहा०—१० । वा० आ० १०५०॥≈)४ पाई सम्प०—आर्य समाज मंदिर, सभा भवन व अहाता तथा ८ दुकानें (किराया मासिक ८५ रु० । पु० सं०—४३९ । ६ समाचार पत्र ।

शेष आर्यसमाज—

३१. हट्टा, ३२. दमोह, ३३. खुरई ।

जिला बिलासपुर

३४. बिलासपुर

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—पहले पहल सन् १९०३ ई० में हुई । पुनः स्थापना—१९२७ ई० । प्र०—श्री गुरुदत्तमल जी ठेकेदार । मं० — श्री कृष्ण सेवक जी स० सं०—५० । सहा०—५० । वा० आ०—३०४) रु० । सम्प०—समाज मन्दिर (ला० ३००० रु०) । पु० सं०—१०० (मू० ५० रु.) का —५ शुद्धियाँ, लगभग ३०००० व्यक्तियों में वैदिक धर्म का सन्देश, ३ अनाथों की रक्षा, २ विधवाओं की रक्षा । संस्था—आर्य कुमार सभा (स०—४०) ।

३५. बिलासपुर (रेलवे स्टेशन)

रे० स्टे०— बिलासपुर । स्था० —सन्

१६३६ ई० । प्र०—श्री प्यारेलाल जी गुप्त । मं०—निरंजन प्रसाद जी अग्रवाल । स०सं०—३५ । सहा०—१५ । वा० आ०—१६७=) । पु० सं०—५५ । का०—३ शुद्धि, ६ विधवा विवाह और १ अनाथ की रक्षा । संस्था—आर्य कुमार सभा (स०—१५) ।

शेष आर्यसमाज—

३६. कोटा करगी रोड, ३७. मुँगेली, ३८. रामगढ़ ।

जिला बालाघाट

३६. बालाघाट

जिला दुग

४०. दुग

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १६१० ई० । प्र०—श्री रामदयाल जी साहू लीडर । मं०— श्री इन्द्रसेन जी वर्मा । स० सं०— २० । सहा०—१० । वा० आ०—६४=) । सम्प०—समाज मन्दिर लागत १५०० रु० । पु० सं०— ३४ । का०—वेद प्रचार, ग्राम प्रचार आदि ।

शेष आर्यसमाज

४१. राजनान्द गाँव, ४२. संजारी बालोद ।

जिला रायपुर

४३. धमतरी

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम् । स्था०—१५ अगस्त सन् १८३६ ई० । प्र०—श्री रामपाल सिंह जी बिसेन । मं०—श्री दयाशंकर जी यादव स० सं०—३० । वा० आ०—१४४) चल ३०) रु० अचल २०००) रु० । का०—१३ शुद्धियाँ, ४ अनाथों की रक्षा, २ विवाह और एक उपनयन संस्कार ।

शेष आर्यसमाज—

४४. कुर्द, ४५. पिथौरा डा० सरायपाली, ४६. रायपुर सिटी, ४७. सराय पाली, ४८. भाटापारा ।

जिला अकोला

४६. आकोला

रे० स्टे० व डा० खा०—आकोला । स्था०—सन् १६०१ ई० । प्र०—ठा० गोविन्दसिह मनसबदार । मं०—श्री टी. पी. रामेश्वर । स०—२७ । सहा०—६० । वा० आ०—७५० रु० । सम्प०—६ मकान । पु० सं०—१५० । उपदेशक—१ । का०—जनगणना प्रचार, ग्राम प्रचार । लगभग १००० ट्रैक्ट मुफ्त बांटे गए । 'समाज सुधार' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन ।

५०. आकोट

रे० स्टे०—आकोला । डा० खा०—आकोट । स्था०—सन् १६११ ई० । प्र०—डाक्टर मदन मोहन जी एम. बी. बी. एस. । मं०—श्री कान्तीलाल जी वर्मा । स० सं०—२८ । सहा०—५०० । वा० आ०—२१६ रु० ६ आ० ६ पा० । सम्प०—४०००) । पु०

सं०—१२० । संस्था—महिला आर्यसमाज
का०—मराठी सत्यार्थ प्रकाश का वितरण ।

५१. कारजा (लाड)

रे० स्टे० व डा०खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १९२८ ई० । प्र०—श्री बाबूसिंहजी आर्य । मं०— श्री दुर्गाप्रसाद चतुर्भुज आर्य । स० सं०—१३ । सहा०—२ । वा० आ०—२८) । पु० सं०—५० । का०—६ शुद्धि, २ अनाथ रक्षा विधवा विवाह ।

शेष आर्यसमाज—

५२. हिवरखेड (रूपशव) ५३. मुर्तिजापुर, ५४. महल अकोला, ५५. महिला समाज आकोट, ५६. बासिम, ५७. मलिगाँव, ५८. रिसोट ।

जिला अमरावती

५९. अमरावती

रे० स्टे०—अमरावती । डा० खा०—अमरावती । स्था०—सन् १८८९ ई० । प्र०—श्री भवानीलाल जी, मं०—श्री चुन्नीलाल जी स० सं०—२१ । सहा०—३० । सम्प०—अचल २० हजार रुपये, चल ५००) । पु० सं०— २०४ । का०— छत्तीसगढ़ अकाल पीड़ित ३ बच्चों की रक्षा तथा चार विधवाओं को सहायता दी गई । ५ शुद्धि तथा ४ अन्तर्जातीय विवाह हुए ।

शेष आर्यसमाज—

६०. चान्दूर रेलवे, ६१. धामनगाँव, ६२. ऐलिचपुर शहर, ६३. परातवाड़ा डाकखाना ऐलिचपुर कैम्प, ६४. अंजन गाँव सुर्जी तहसील दर्यापुर, ६५. कापूस सलणी त० दर्यापुर, ६६. निमखेड़ा डा. चौसाला ६७. चौसाला, ६८. परसापुर डा. अंजन गाँव, ६९. आरेगाँव डा. एलिचपुर, ७०. तवलार डा. पथरोट, ७१. शीन्दी, ७२. कासमपुर डा. पथरोट ७३. लखाड़ डा. चौसाला ७४. चिंचोली डा० दर्यापुर ।

जिला बुलडाणा

७५. खामगाँव

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम् । स्था०—३ मार्च सन् १९२४ ई० । प्र०—श्री बाबीराव जी नामदेव बोवडे वकील । मं०— श्री लक्ष्मैया जी बरसैया, । स० सं०—३० । वा० आ०—१४०) । सम्प०—३०० रु० चल और ७००) अचल । का०—व्याख्यान द्वारा वेद प्रचार, १० शुद्धि. २ विवाह, लावारिस शव संस्कार ।

शेष आर्यसमाज—

७६. मल्कापुर, मोतल, ७८. लोनार, ७९. चीखली ।

जिला यवतमाल

८०. पुसद

रे० स्टे०—दारव्हा । डा० खा०—पुसद । स्था०—सन् १९३२ ई० । प्र०—श्री डा. भगवानसिंहजी आर्य । मं०—श्री गुरुचरणजी आर्य ।

स० सं०—३१। सहा०—१८। वा० आ०—५३, सम्प०—१०००) अचल।

शेष आर्यसमाज

८१. राजूर कौलरी, ८२. उमरखेड़, ८३. बुन, ८४. यवतमाल।

जिला भंडारा

८५. गोंदिया (झरिया वार्ड)

मध्यभारत

८६. सतना (नागौद)

बघेलखंड व बुन्देलखंड की एक मात्र आर्यसमाज है। स्था०—सन् १६१८ ई० में हुई थी। गत वर्ष श्री वाचस्पति जी उपदेशक सार्वदेशिक सभा के प्रयत्न से पुनः स्थापना हुई। आपने अस्पृश्य जातियों में विशेष प्रचार किया है। संस्था०—अनाथालय सन् १६१२ ई० से ही स्थापित है।

आ० प्र० स० निजाम राज्य से सम्बद्ध

रि० हैदराबाद

१. सुल्तानबाजार (हैदराबाद)

रे० स्टे०—नामपल्ली हैदराबाद। डा० खा०—हैदराबाद। स्था०—मार्च सन् १८६२ ई०। प्र०—पं० विनायकरावजी विद्यालङ्कार बैरिस्टर। मं०—पं० नरेन्द्रजी। स०सं०—१०५। सहा०—२००। वा० आ०—२००० रु०। सम्प०—समाजमन्दिर, देवीदीनबाग़ा नारायण गुड़ा का मकान। उपदेशक—पं० लक्ष्मीशंकर जी शास्त्री। पु० सं०—७००। सहा०—५। संस्था—आ० क० पा०—(५ वीं कक्षा तक, छा०—८०), आ० कु० स०—(स० -८०), का०—४४ विविध संस्कार।

२. आर्य स्त्रीसमाज सुल्तानबाजार

स्था०—२ फर्वरी सन् १६३८ ई०। मं०—श्रीमती पद्मम्मोहिनी देवी।

३. कृष्णगंज (महाराजगंज)

रे० स्टे०—नामपल्ली। डा० खा०—टप्पाखाना अफजलगंज। स्था०— भाद्रपद शु० ६ सं० १६८४ वि०। प्र०—पं० विठ्ठल प्रसाद जी वैद्य। मं०—श्री वि० रामदेव। स० सं०—७४। सहा०—४५। वा० आ०—६५० रु०। पु० सं०—१००। संस्था—व्यायामशाला (स०—५०), शस्त्रशाला, केशव वाचनालय (५ दैनिक व ४ साप्ताहिक पत्र)। का०—शुद्धि व अन्तर्जातीय विवाह।

४. ध्रुवपेठ (धूलपेठ)

रे० स्टे०—नामपल्ली हैदराबाद। डा० आबिदशाप हैदराबाद दक्षिण। स्था०—चैत्र कृष्ण ८ सं० १६८७ वि०। प्र०—श्री ठाकुर उमरावसिंह जी। मं०—श्री ठाकुर सूरजसिंह जी। स० सं०— ४०। सहा०— १३१। वा० आ०—३१८||=)||। सम्प०—अचल ६००० रु०, चल १५०० रु०। पु० सं०—५०१। संस्था—आर्य वीरदल (स०—४८),

आ० कु० स० (स०-३०), कन्या पाठशाला (छा०—५३), वाचनालय, शिक्षाप्रचारक मण्डल । प्रचारक—३ (अवैतनिक) का०—ग्राम प्रचार, साहित्य प्रचार, १ शुद्धि ।

५. बोलारम (ता० सिकंदराबाद दक्षिण)

रे० स्टे०—बोलारम। स्था०—२० मई सन् १९०८ ई० । प्र०—सेठ बालकृष्णजी । मं०—श्री नारायण रेड्डी जी । स० सं०—२५ । सहा०—२२ । वा० आ०—२००) । सम्प०—समाज मन्दिर (लागत—८००० रु०) का०—१० अन्तर्जातीय विवाह, ५ शुद्धि, ग्रामप्रचार । संस्था०—आ० कु० स० (स०—५०) ।

६. काचीगुडा

स्था०— सन् १९३४ ई० । प्र०—श्री सूरजचन्द जी वकील । मं०—श्री के० प्रेमराज आर्य । का०—वेद प्रचार, २ हिन्दू देवियों का उद्धार, ५ शुद्धि, १ भिक्षुणी स्त्री का मृतक संस्कार । संस्था०—रात्रिपाठशाला, व्यायामशाला तथा वाचनालय ।

७. गुलबर्गा

रे०स्टे० व डा० खा०—गुलबर्गा । स्था०—सन् १९२५ ई० । प्र०—श्री रामलाल जी । मं०—श्री तुकाराम जी । स० सं०—२०० । सहा०—५० । वा० आ०—५००) रु० । सम्प०—आर्य समाज मन्दिर । पु० सं०—५००, समाचार पत्र ६ । का०—साप्ताहिक सत्संग, वेद प्रचार, दलितोद्धार, शुद्धि आदि । सहायता कार्य—प्लेग में रोगियों की सेवा । संस्था०—आ० वी० द० (स०—६०) ।

८. दामरगिद्दा (ताल्लुका—गुलबर्गा)

रे० स्टे०—नारायण पेठ रोड (सैदापुर) । डा० खा०—ब्रिटिश—नारायणपेठ । स्था०—ज्येष्ठकृष्ण सं० १९९४ वि० । प्र०—श्रीनागप्पागाँग जी । मं०—श्री मामडप्पामद कुंटी । स० सं०—१० । सहा०—१० । पु० सं०—२० ।

९. यादगिरी

रे० स्टे० व डा० खा०— यादगिरी । स्था०—सं० १९९६ वि० । प्र०—पं० ईश्वरलाल जी । मं०— पं० बन्शीलाल जी व्यास । स० सं०—९ । सहा०—१०१ । सम्प०—१००) । वा० आ०—३००) । संस्था—वैदिक वाचनालय तथा हिन्दी पाठशाला, पु० सं०—३२, का०—हरिजन वार्ड में हवन तथा प्रचार, औषधि वितरण । सहा० का०—प्लेग तथा अन्य प्रकार से मृत लावारिस शवों का संस्कार ।

१०. नलगोंडा

रे० स्टे०—भुवनगिरि । डा० खा०—नलगोंडा । स्था०—१९२९ वि० । प्र०—श्री रामचन्द्र चन्दूलाल जी । मं०— श्री लक्ष्मीकान्त राव वकील, स० सं०—४० । सहा०—५० । वा० आ०—१००) । संस्था—वैदिक बालिका पाठशाला (छा०—५५), आ. कु. स. (स०—५०), का०—वेद प्रचार ।

११. सूर्यापेट

ताल्लुका—नलगोंडा। रे०स्टे०—खम्म-मेट (निजाम स्टेट रेलवे) डा० खा०—स्वयम्। स्था०—२० नवम्बर सन् १६४० ई०। प्र०—श्री महेन्द्रकार पेद्दो जी। स० सं०— ३०। सहा०— २००। वा० आ०—२००। पु० सं०—१५०। प्रचारक—श्री हनुमंतराव जी संस्था—पाठशाला। का०—वेद प्रचार, दलितोद्धार, एक स्त्री का तीन बच्चों सहित पुनः प्रवेश संस्कार।

१२. साकोल

ताल्लुका—बीदर। रे० स्टे०—हेर (एन. एस. रे.)। डा० खा०—(ब्रि०) लातूर, (नि०) साकोल। स्था०— आश्विन शुक्ल १४ संवत् १६६२ वि०। प्र०— श्री गुलाब चन्द जी। मं०—श्री भगवानरावजी साकोले। स० सं०—१६। सहा०—५०। वा० आ०—३०० रु०। पु० सं०—१००।

१३. कोहीर

जि०—बीदर। रे० स्टे०—कोहीर। डा० खा०—कोहीर तथा (ब्रि०) हुमनाबाद। स्था०—सन् १६३६ ई०। प्र०— श्री शंकरराव जी वकील। मं०—श्री बस्वप्पा उर्फ महावीरजी। स० सं०—२५। सहा०—३०। वा० आ०—३५)। पु० सं०—८०। उपदेशक—१ अवैतनिक। १००) हरिजनों को सहायतार्थ दिये।

१४. बगदल

जि०—बीदर। रे० स्टे०—बीदर। डा० खा०—(नि०) बगदल, (ब्रि०) हुमनाबाद। स्था०—सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री रामानन्द जी। मं०—श्री बंडअप्पा स्वामी। स० सं०—२५। सहा०—१०। वा० आ०—२५) रु०। सम्प०—अचल २५) रुपया, चल १५) रु०। पु० सं०—२५।

१५. चाकूर

जि०—बीदर, ता०—राजूर। उपमन्त्री—श्री तुलसीराम जी। संस्था— व्यायाम शाला (भवन लागत—५०० रु०), पुस्तकालय तथा रात्रि पाठशाला। का० — शुद्धि संस्कार ८ (जन्मजात मुसलमान भाइयोंका), ४० अबलाओं की रक्षा तथा प्रचार।

१६. कलम

जि०—उस्मानाबाद। रे० स्टे०—कलम रोड (बी. एल. रेलवे)। डा०खा०—कलम। स्था०—११ भाद्रपद सम्वत् १६६७ वि०। प्र०—श्री काशीराम जी वकील। मं०—श्री देवदत्त जी वकील। स० सं०—५०। सहा०—१२५। वा० आ०— ३४६०)। सम्प०—समाज मन्दिर। पु० सं०—१००। का०—विशेषतः साहित्य द्वारा प्रचार किया जा रहा है, आर्य समाज के क्षेत्र के १४३ गावों में से १२६ में प्रचार हो रहा है। संस्था—१. कन्या पाठशाला (छा०—१००), २. अनाथालय, पाठशालायें—१३, रात्रि पाठशालायें—३६। सहा० का०— प्लेग में अन्न-वस्त्र व औषधि द्वारा सहायता। उपदेशक—६ वैतनिक, ६२ अवैतनिक तथा अध्यापक।

१७. बेल कुण्ड

जि०—धाराशीव (उस्मानाबाद)। रे० स्टे०—लातूर (बी. एल. रेलवे)। डा० खा०—औसा। प्र०—काशीनाथ राव जी। मं०—श्री नन्दलाल जी। स० सं०—४०। सहा०—१०१। वा० आ०—१००) रु०। पु० सं०—१६।

१८. वाशी

जि०—उस्मानाबाद ता० कलम। रे० स्टे०—मेडशी। डा० खा०—(ब्रि०) उस्मानाबाद (नि०) वाशी। स्था०—चैत्र शुक्ल १ सम्वत् १६६३ वि०। प्र०— श्री विश्वम्भर-कृष्ण देवडीकर। मं०—श्री अनन्दराव भगवन्तराव जी कवड़े। स०सं०—८००। सहा० ४५। सम्प०—मन्दिर के लिए भूमि। पु० सं०—५००।

१६. लातूर

रे० स्टे० व डा० खा०—लातूर। स्था०—सन् १६३३ ई०। प्र०—श्री डी. आर. दास। मं०—श्री रामचन्द्र जी। स० सं०—१०२। सहा०—५००। वा० आ०—१५५० रु०। सम्प०—मन्दिर फण्ड में १००० रु० जमा है। पु० सं०— २५०। प्रचारक— ५। संस्था— दयानन्द पाठशाला, आर्य महिला समाज। सहा० का०—प्लेग में कार्य किया गया; वेद प्रचार, दलितोद्धार, शुद्धि और ग्राम प्रचार, औषधि वितरण।

२०. सदाशिव पेठ

जि०—मेदक (आंध्र)। रे० स्टे०—मुरंग पल्ली। डा० खा०—(ब्रि०) हैदराबाद (नि०) सदाशिवपेठ। स्था० — माघ सम्वत् १६६३ वि०। प्र० - श्री शिवचन्द्र जी। मं० — श्री शिवराम जी। स० सं०— २०। सहा०—१८। वा० आ०— ६५) रु०। सम्प०— अचल २५०) रु०। पु० सं०—६०। संस्था—हिन्दी पाठशाला (छा०—३०)।

२१. रायचूर

रे० स्टे० व डा०खा —स्वयम्। स्था०—सम्वत् १६६० वि०। प्र०—श्री रंगराव जी। मं०—श्री माणिकराव जी। स० सं०—१५। सहा०—६। पु० सं०—६७। प्रचारक—२।

२२. खम्मापेट (जिला वरंगल)

रे० स्टे० व डा० खा०—खम्मापेट (निजाम स्टेट रेलवे) स्था०—१ म अक्टूबर सन् १६४० ई०। प्र०—श्री पं० रामनारायण जी ठेकेदार। मं०—श्री बी. वेंकर रंगा रेड्डी। स० सं०—८०। वा० आ०—१८०)। पु०सं०—१००। प्रचारक—श्री केशवार्य शास्त्री।

२३. मुशोराबाद

रे०स्टे० व डा० खा०—लातूर। स्था०—सन् १६३८ ई०। प्र०—श्री नारायण जी। मं०—श्री तुकाराम जी। स० सं०—१९। सहा०—७। पु० सं०—८। वा० आ०—१०)। विशेष—सभासदों का रजिस्टर ज़ब्त कर लिया गया।

२४. आलन्द (तालुका पायगा)

रे० स्टे०-गुलबर्गा। डा० खा०—गुलबर्गा दुधनी। जि०— बिरवाराबाद। स्था०—वैसाख शुक्ल १, संवत् १६६५ वि०। प्र०—श्री नेमीनाथ नारायणराव पुकाले आर्य, मं०—तुकाराम जी, स० सं०—२५। सहा० सं०—२०। सम्प०—स्थावर जायदाद १५०)। पु० सं०—२००। उपदेशक—२।

निज़ाम राज्य के शेष आर्य समाज—

सं०	नाम समाज	तालुका	मुगलई पोस्ट	ब्रिटिश पोस्ट
२५.	शाहालीवाड़ा	हैदराबाद	हैदराबाद	हैदराबाद दकन
२६.	सिकन्द्राबाद	सिकन्द्राबाद		सिकन्द्राबाद
२७.	गोशामहल	हैदराबाद	हैदराबाद	हैदराबाद दकन
२८.	धाराशीव	धाराशीव	धाराशीव	धाराशीव
२९.	कोडंगल	कोडंगल	कोडंगल	गुलबर्गा
३०.	औसा	लातूर	औसा	लातूर
३१.	गुरमटकल	यादगीर	यादगीर	गुलबर्गा
३२.	कल्यानी	कल्यानी	कल्यानी	हुमनाबाद
३३.	बीदर	बीदर	बीदर	हुमनाबाद
३४.	उदगीर	उदगीर	उदगीर	लातूर
३५.	गुडसूर	,,	गुडसूर	लातूर
३६.	औरादशाहाजानी	निलंगा	औरादशाहाज़ानी,	हुमनाबाद
३७.	चिटपोगा	चिटपोगा	चिटपोगा	हुमनाबाद
३८.	नलगीर	उदगीर	उदगीर	लातूर
३९.	रावणगाँव	,,	,,	,,
४०.	निलंगा	निलंगा	निलंगा	लातूर
४१.	अंबुलमाबुजरुम	,,	औरादशाहजानी,	लातूर
४२.	तलीखेड	,,	,,	,, ,,
४३.	कासार शीर्शी	,,	कासारशीर्शी	हुमनाबाद
४४.	मुधाले बुजुर्ग	उदगीर	कुशनूर	लातूर
४५.	भालकी	भालकी	भालकी	हुमनाबाद
४६.	बेमलखेडा	चिटगोपा	चिरागपल्ली	हुमनाबाद
४७.	धारूर	मोमिनाबाद	धारूर	मोमिनाबाद
४८.	परली	,,	परली	परली
४९.	रेणापूर	मोमिनाबाद	रेणापूर	लातूर
५०.	अंधौरी	राजूर	अंधौरी	लातूर
५१.	कानडी	मोमिनाबाद	धारूर	मोमिनाबाद
५२.	हिंगोली	हिंगोली	हिंगोली	हिंगोली
५३.	निजामाबाद	निजामाबाद	निजामाबाद	निजामाबाद
५४.	कोंडलवाडी	बिलोली	कोंडलवाडी	धर्माबाद
५५.	हुमनाबाद	हुमनाबाद	हुमनाबाद	हुमनाबाद
५६.	मोमिनाबाद	मोमिनाबाद	मोमिनाबाद	मोमिनाबाद
५७.	चांदोरो	देवनी	कुशनूर	हुमनाबाद
५८.	वरंगल	वरंगल	वरंगल	वरंबगल
५९.	हलीखेड	हलीखेड	हलीखेड	हुमनाबाद
६०.	परभनी	परभनी	परभनी	परभनी
६१.	कंधार	कंधार	कंधार	नांदेड
६२.	मुखेड़	कंधार	मुखेड़	नांनेड
६३.	बरवालराजूर	अहमदपुर	राजूर	लातूर
६४.	उमर्गा	उमर्गा	उमर्गा	हुमनाबाद
६५.	मार्डी	लोहारा	लोहरा	उस्मानाबाद

सं०	नाम समाज	तालुका	मुगलई पोस्ट	ब्रिटिश पोस्ट
६६.	मुरुम	तुलजापुर	मुरुम	„
६७.	मालेगाँव	कल्यानी	औराद शाहजानी	हुमनाबाद
६८.	हनमकुंडा	हनमकुंडा	हनमकुंडा	वरंगल
६९.	माजलगाँव	माजलगाँव	माजलगाँव	परलो
७०.	ढाका	बोरी	औसा	लातूर
७१.	अणदूर	तुलजापुर	नलदुर्ग	उस्मानाबाद
७२.	लखनगाँव	हलीखेड	भालकी	हुमनाबाद
७३.	हलगरा	निलंगा	हलगरा	लातूर
७४.	नागरसोगा	लातूर	औसा	„
७५.	बडूर	राजेश्वर	कासारशीर्शी	हुमनाबाद
७६.	लोहारा	लोहारा	लोहारा	उस्मानाबाद
७७.	सयाखान	निलंगा	निलंगा	लातूर
७८.	कमलापूर	गुलबर्गा	कमलापूर	हुमनाबाद
७९.	यहेलगांव(तुकाराम)	कमलनूरी	कमल०	परभनी
८०.	सुलतानशाही अंदरुन हैदराबाद		हैदरा०	हैदराबाद
८१.	जनगांव	नलगुंडा	जनगांव	वरंगल
८२.	यलन्द	यलन्द	यलन्द	„
८३.	नलेगांव	अहमदपुर	नलेगांव	लातूर
८४.	औराद	गुंजोटी	गुंजोटी	हुमनाबाद
८५.	गोंदी	अंबड	गोंदी	जालना
८६.	उजलब	राजेश्वर	गुंजोटी	हुमनाबाद
८७.	अंबड	अंबड	अंबड	जालना
८८.	मानवत	पाथरी	मानवत	मानवत
८९.	सिराढोन	कलम्ब	सिराढोन	उस्मानाबाद
९०.	भोनगीर	भोनगीर	भोनगीर	वरंगल
९१.	चिठाकलेदेव	कल्याण	मंढाल	हुमनाबाद
९२.	एकंवा	परतापुर	गुंजोटी	„
९३.	जालना	जालना	जालना	जालना
९४.	आरमूर	आरमूर	आरमूर	निजामाबाद
९५.	कडवनबागनाथ	अहमदपुर	नडवल	लातूर
९६.	तुगांव	अलद	गुंजाटी	उस्मानाबाद
९७.	गौडगांव	निलंगा	कल्यान	हुमनाबाद
९८.	गंदुर्गा	लोहारा	लोहारा	लातूर
९९.	विचकुंडा	देगलर	विचकुंडा	नांदेड
१००.	कर्जखेडा	उस्मानाबाद	लोहारा	लातूर
१०१.	टाकली	उस्मानाबाद	लोहारा	उस्मानाबाद
१०२.	बोरगांव	लोहारा	आवसा	लातूर
१०३.	होंसाल	गुंजोटी	लोहारा	उस्मानाबाद
१०४.	चिंचोली	चिंचोली	चिंचोली	लातूर
१०५.	भलामपुर	प्रतापपुर	कल्यानी	हुमनाबाद
१०६.	कोराली	कल्यानी	काशार शीर्शी	„
१०७.	किलज	तुलजापुर	लोहारा	उस्मानाबाद
१०८.	कलमुगली	कल्यानी	कल्यानी	हुमनाबाद

१०९. निर्गुंडी राजेश्वर कल्यानी ,,
११०. ब्राह्मणवाडी बेरून हैदराबाद हैदराबाद याकूत, हैद्राबाद
१११. बेलूर दुगलगुण्डी कल्यानी हुमनाबाद
११२. केलगांव निलंगा निलंगा लातूर
११३. देवरजन मुकरमाबाद साकोल लातूर
११४. किलारी लातूर किलारी ,,
११५. लामजना ,, आयसा ,,
११६. मंगरूल लोहारा किलारी ,,
११७. आसीव ,, लोहारा उस्मानाबाद
११८. मालेगांव कल्यानी औरादशाहजानी हुमनाबाद
११९. गुलखेड़ा लोहारा आयसा लातूर
१२०. कोंडजी ,, लोहारा ,,
१२१. महनपुरी निलंगा महनपुरी ,,
१२२. ललवाडा झालकी कालगापुर हुसनाबाद
१२३. धुत्ता लोहारा लोहारा उस्मानाबाद
१२४. नरगल बुजर्ग देगलूर देगलूर नांदेड
१२५. शिरगुर कल्यानी कल्यानी हुमनाबाद
१२६. सुन्नठान ,, ,, ,,
१२७. ममदापुर परतापुर ,, ,,
१२८. हन्नाकी राजेश्वर मंटाव राजेश्वर ,,
१२९. चिंचोलीरेब लोहारा किलारी ,,
१३०. नेलवाडा गुलबर्गा कासार शीर्शी ,,
१३१. सावरी कल्यानी कल्यानी ,,
१३२. लासोना उस्मानाबाद ढोकी उस्मानाबाद
१३३. जामखण्डी देवनी देवनी ,,
१३४. जुक्कल खड़का जुक्कल नांदेड
१३५. बिखली लातूर आवसा लातूर
१३६. अष्टी अष्टी अष्टी मुरशदपुर
१३७. बीड बीड बीड मुरशदपुर
१३८. मंजलेगाँव मंजलेगाँव मंजलेगाँव ,,
१३९. पाँढरी भालकी भालकी हुमनाबाद
१४०. सायगाँव भालकी भालकी ,,
१४१. सोनत गुलबर्गा चिटगोपा ,,
१४२. ससतापुर कल्यानी कल्यानी ,,
१४३. होली गुजाँटी गुंजाटी लातूर
१४४. राजेगाँव लोहारा लोहारा ,,
१४५. पाडोली लातुर लातुर ,,

द० भारत आर्यप्रतिनिधि सभासे सम्बद्ध

मद्रास प्रान्त

१. चन्नापाटन रि० मैसूर जि०बंगलोर

रे०स्टे०—स्वयम्। स्था०—६ जनवरी सन् १६३४ ई०। प्र०—श्री एच. वेंकटेश्वर मूर्ति। मं०-श्री एम. आर्य मूर्ति। स० सं०-२५। सहा०—१०। वा० आ०-२५ रु०। सम्प०—विद्यालय भवन और समाज मन्दिर पु० सं०—२००। प्रचारक-१. श्री श्रीकांत जी। का०——साहित्य वितरण द्वारा प्रचार। सहायता कार्य-अग्निकांडमें सहायता, ताल्लुका में आठ स्थानों पर पशु-बलि रुकवाई गई। संस्था-हरिजन विद्यालय तथा आश्रम (छा० २०)।

२. कार्कल

प्रदेश—कर्नाटक जि० दक्षिण कर्नाटक रे० स्टे०—मंगलौर। डा० खा०-कर्नाटक। स्था०-१२ जनवरी सन् १६३६ ई०। प्र०—के० वेंकटेश प्रभु। मं०-श्री केशव रामचंद्र। स० सं०—२५। वा० आ०—१००)। पु० सं०—१००। प्रचारक—१। का०—१ शुद्धि १ हिन्दू कन्या की रक्षा। सहायता—श्रद्धानन्द अनाथालय को ६० रु०, एक विद्यार्थी को दयानन्द उपदेशक विद्यालय में पढ़ने के लिए ६० रु० सहायता और है० स० में २६० रु० दिये गये। संस्था—श्री श्रद्धानन्द पुस्तकालय।

जि० मदुरा

३. मदुरा

रे० स्टे० व डा० खा०-मदुरा। स्था०-शिवरात्रि सन् १६४१ ई०। प्र०—श्री एम. वी. वटेसन। मं०—श्री शिवचन्द्र जी। स० सं०—३५। विशेष—दिसम्बर सन् १६४० ई० में मदुरा में प्रथम दक्षिण भारत आर्यन कांफ्रेंस हुई थी उसके पश्चात् इस समाज की स्थापना हुई।

४. शिमोगा (Shimoga)

रि० मैसूर। रे० स्टे० व डा० खा०-स्वयम्। स्था०-१४ जनवरी सन् १६४१ ई०। प्र०—श्री ज्ञानेन्द्र प्रभु। उप प्र०—श्री सत्यदेव जी। स० सं०-१०। सहा०-२।

५. हिरियडका (Hiriadka)

जि० दक्षिण कनारा। रे० स्टे०—मंग-लौर। डा० खा०—हिरियड का। स्था०-२६ अगस्त सन् १६३८ ई०। प्र०—श्री एम. अनन्तय्य किणि। मं -श्री ही० के० अनन्तय स० सं०—१०। वा० आ०—१२ रु०। सम्प०—चल २५)। पु० सं०—१००। का०-साधारण।

शेष आर्यसमाज—

मद्रास नगर

६. मद्रास, १७० चाइना बाजार रोड

७. कुट्टी, थाम्बीरन स्ट्रीट पेरम्बूर बैरेक्स (Thambiran Street, Peramboor

Barracks) ८. साउथ इण्डिया आर्यसमाज, ६७ मुल्ला साहिब स्ट्रीट, जी० टी०।

आंध्र

९. हिन्दुपुर जि० अनन्तपुर, १०. नेलोर (Nellore), ११. राजमंदरी (Rajmundry), १२, विजिगापट्टम (Vizagapatam), १३. मदनपल्ली, १४. गंटूर।

रि० मैसूर

१५. बैंगलोर शहर, ६३ कैलाशपल्यम (Kalaspalyam), १६. बंगलौर छावनी, ३ सेण्ट्रल स्टेशन १७. भक्तिविलास यलबाल रोड, १८. बंग्लोर शहर, रामचन्द्र पुरम्। १९. बंगलौर शहर, कर्नाटक आर्यसमाज, नागरथपेट (Nagrthpet) २० चुनचन केट (chunchan Katte) कृष्णा राजनगर २१. गुडियाथान बैलोर, दक्षिण आरकट (Gudia than Vellore S. Arcott) २२. गुरुकुल कैंगरी। (Kengri)।

मालाबार

२३. कालीकट (Calicut), २४. कनानूर (Cannanor), २५ बेलगाम (Belgaum), २६. हुबली जि० धारवार।

दक्षिण कनारा

२७. संन्यासीगुडे मंगलोर (Sanyasigudde Mangalore), २८. पुट्टर (Putter), २९. (Udupi), ३०. उडुपी सनूर (Sanoor, near Karkla)

आ० प्र० सभा बम्बई से सम्बद्ध

बम्बई नगर

१. बम्बई ठिकाना (काकड़ वाड़ी)

आर्य समाज लेन बम्बई ४।

रे० स्टे०—विक्टोरियाटर्मिनस (जी. आई. पी.)। डा० खा०— स्वयम्। स्था०— चैत्र शुक्ल प्रतिपदा सं० १९३१ वि०। ऋषि दयानन्द द्वारा संस्थापित, सर्व प्रथम आर्य समाज यही है। प्र०—श्री विजयशंकर मूलशंकर जी। मं०—श्रीसभाजीत मिश्र। स० सं०—३०८। सहा०—६६। वा० आ०—७६०५॥।-)३ पाई। सम्प०—आर्यसमाज मन्दिर (लगभग ६२००० रु०) आर्य समाज भवन (लगभग—६८००० रु०) अन्य सामान ३६००) रु०, विभिन्न कोषों का जमा लगभग १५००० रु०। संस्था—श्री ओच्छवलाल नाभर आर्य धर्मार्थ औषधालय, श्रीमती मीठाबाई संस्कृत पाठशाला, अतिथि आश्रम (इसवर्ष २५० अतिथियों ने लाभ उठाया, आर्य समाज की ओर से भोजनादि का भी प्रबन्ध है), आर्य समाज व्यायामशाला (सदस्य—१५० बालक व बालिकायें), डी० ए० वी० नाइट स्कूल, श्रीमद्दयानन्द पुस्तकालय। पु० सं०—२ हजार। वाच-

नालय (लगभग २० समाचार पत्र) विक्रयार्थ पुस्तकालय। मुख पत्र—आर्य ज्योति (साप्ताहिक)। सहायता कार्य—१८ शुद्धि, लगभग ३३ अबलाओं व बालकों की रक्षा, ३३ विवाह तथा पुनर्विवाह, ३७ अन्य संस्कार। प्रचार कार्य—प्रति बुधवार को शंका समाधान व शास्त्रार्थ, पर्वों पर प्रचार, रिफार्मेंटरी स्कूल माटुङ्गा, वी. जे. होम माटुङ्गा, उमर खाडी चिल्ड्रन्स एण्ड सोसाइटी व वीमेन्स रेसक्यू होम में प्रति सप्ताह नियमित प्रचार। आर्य वीर दल—सदस्य लगभग ५००। शाखायें—१. कोट, २. गिरगाँव, ३. लोअर परेल, ४. कीर्ति वाड़ी, ५. नयागांव, ६. मोरबाग, ७. भोईवाड़ा शिवड़ी, ८. माटुङ्गा, ९. गोपी तालाब, १०. धारावी. ११. कुर्ला चूना भट्टी। सेनापति—पं० विजयशंकर भट्ट। राजार्य सम्मेलन—११ मार्च सन् १९४१ को श्री स्वामी शंकरानन्दजी के सभापतित्व में हुआ। शाखा समाजें—इस समाज की ओर से नगर में शाखा समाजें स्थापित हैं। इनका विवरण निम्न है।

२. गोपी तलाब (माटुङ्गा)

रे० स्टे०—माटुङ्गा (बी. बी. एन्ड सी. आई.)। स्था०—सन् १९३९ ई०। प्र०—श्री मानसिंह कालूराम रत्नाकर। मं०—श्री नन्दलाल जी आर्य। का०—६० सभायें, आर्य वीर दल द्वारा विधवा तथा अनाथों की रक्षा, लावारिस शव संस्कार आदि।

३. भोईवाड़ा (मोरबाग)

स्था०—सन् १९३८ ई०। स० सं०—१५। प्र०—श्री भगवान जी हीराभाई पटेल। मन्त्री—श्री राजदेव जी। का०—आर्य वीर दल व पुस्तकालय द्वारा सेवा, ४ अबलाओं की रक्षा, १ शुद्धि, ४८ सभायें। विशेष—प्रारम्भ में पौराणिक और मुस्लिम धर्मावलम्बियों ने ऊधम मचाया परन्तु कार्य कर्ताओं, विशेष पं० विजशयङ्कर जी व पं० सभाजीतजी की दृढ़ता के कारण समाज अच्छा कार्य कर रहा है।

४. शिवरी

स्था०—सन् १९३९ ई०। स० सं०—६०। प्र०—श्री सभाजीत मिश्र। मं०—श्री कन्हैयालाल जी शर्मा। का०—आर्य वीर दल व दो व्यायाम शाला तथा पुस्तकालय।

५. लोअर परेल (बम्बई १३)

रे० स्टे०—लोअर परेल (बी. बी. एन्ड सी. आई.)। डा० खा०—लोअर परेल बंबई १३। स्था०—सन् १९३३ ई०। प्र०—श्री पं० लक्ष्मणराव ओधले। मं०—श्री विट्ठलराव जी यादव। स० सं०—४०। सहा०—२०। वा० आ०—४०० रु०। पु०—२०० रु० मूल्य की। संस्था—आर्य वीर दल, वाचनालय, आर्यमहिला मंडल (प्र०—श्री रुक्मिणी बाई। मं०—श्री मती देवकी बाई)। का०—४५ संस्कार। बेकार व्यक्तियों को धन्धे से लगाने में सहायता दी गई।

६. कुर्ला चूनाभट्टी

स० सं०—७५ । वा० आ०—१०० रु. लगभग । प्र०—पं० ज्वाला प्रसाद जी । मं०—श्री दत्तात्रय जी आर्य ।

७. नया गाँव

प्र०—श्री डा. आर. वायराणे । मं०—श्री नागसीभारसी सेठिया । का०—संस्कार २, आर्य वीर दल द्वारा ६ बालकों की रक्षा ।

८. कीर्तिकरवाडी (दादर)

मुख्य कार्य कर्ता—श्री ध्रुवराजसिंह जी ।

९. कोट

१०. माटुङ्गा (बम्बई १९)

रे० स्टे०—माटुङ्गा (जी. आई. पी.) । डा० खा०—स्वयम् । स्था०—सन् १९२६ ई० । प्र०—श्री हरगोविन्द जी काँचवाला । मं०—श्री लक्ष्मणराव ओघले । स० सं०—११६ । सहा०—१९ । वा० आ०—६७६॥)९ पा० सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—१४००० रु.) पु० सं०—२५० । प्रचारक—श्री पं० लक्ष्मण राव ओघले (अवैतनिक पुरोहित) । का०—७ शुद्धि, ८ अन्तर्जातीय विवाह । संस्था—आर्य स्त्री समाज माटुङ्गा, (स्था०—सन् १९३९ ई० । प्र०—श्री मती सरला पंडित । मं०—डा० विद्यावती जी ।)

११. वेलापारला

१२. पूनानगर (प्रान्त महाराष्ट्र)

रे० स्टे०—पूना, डा० खा०—पूना सिटी । स्था०—सन् १९१८ ई० । प्र०—श्री एकनाथ विश्वनाथ सिंदेकर, मं०—श्री मोहनलाल जी सामंत, स० सं०—५० । वा० आ०—४०२ रु. १४ आना ७ पाई । सम्प०—भवन; २४८ नानापेठ में (ला०—५००० रु०); चल ५००) । पु० सं०—१५४ । संस्था—वाचनालय ।

१३. पूना छावनी

प्र०—श्री प्रेमराज तुलजाराम वर्मा, मं०—श्री आर. एस. श्रीनिवास । का०—४० सभायें ४ शुद्धि, ४ विवाह संस्कार 'दीनबन्धु' मराठी पत्र द्वारा प्रचार कार्य ।

१४. कोल्हापुर, रियासत कोल्हापुर

रे० स्टे०—कोल्हापुर (एम. एण्ड एस. एम. रे०) डा० खा०—कोल्हापुर (स्टेट) स्था०—१८ मार्च सन् १९१८ ई० । प्र०—श्री डा. अविनाशचन्द्र जी बोस एम. ए., पी. एच. डी. । मं०—श्री दत्तात्रय तातोबा मलिक स० सं०—५० । सहा०—१५० । वा० आ०—७७४६।≈)॥ । सम्प०—३००००) । पु० सं०—३५० । संस्था—श्री शाहू दयानन्द हाईस्कूल (छा०—३००) । आर्य समाज वर्नाक्यूलर स्कूल (छा०—२००) । आर्यसमाज गुरुकुल व अनाथालय (छा०—८५) । श्री दयानन्द हिन्दी निःशुल्क विद्यालय (छा०—१००) आर्य कुमार सभा (स—८०) आर्य्य भानु मुद्रणालय,

वैदिक साहित्य प्रसारक मंडल, आर्य्य बुकडिपो, निःशुल्क वैदिक वाचनालय, ग्रामोद्धार और वैदिक प्रचार मण्डल, हेरला आर्य्य समाज, दुर्दण्डेश्वर लाला लाजपतराय, हाईस्कूल तथा आर्य्य औषधालय। कार्य—शुद्धि २६५। ६० अबलाओं व असहायों की रक्षा, १५० गांव व २५ नगरों में प्रचार कार्य्य, औषधि वितरण (१२०० व्यक्तियों में)।

१५. बलसाड़ जि० सूरत (गुजरात)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६०० ई०। प्र०—श्री डा. मदनजीत जी देसाई, मं०—श्री मदनलालजी परागजी मिस्त्री, स० सं०—४०। वा० आ०—१४०)रु०। सम्प०—समाज मंदिर (७००० रु०), अन्य भवन (४०००रु.) व्यायामशाला (२०० रु.) पु० सं०—५००।

१६. सूरत

रे० स्टे० व डा० खा०—सूरत। स्था०—सं० १६४८ वि०। प्र०—श्री दिनेश त्रिवेदी, मं०—श्री नन्दशंकर जोशी। स० सं०—६५। सहा०—१०। वा० आ०—१००० रु.। सम्प०—समाज मन्दिर आदि। पु० सं०—१५००। समाचार पत्र—१५। प्रचारक—५-७। कार्य—वैदिक कर्मकांड मंडल, हिन्दू शुद्धि सभा आदि।

१७. भड़ौंच

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६०१ ई०। प्र०—श्री वृजभूषण द्वारकादास वैश्य, मं०—श्री नमीनलाल हरिवल्लभ वैश्य। स० सं०—३। सहा०—१०। वा० आ०—६०)। सम्प०—समाज मंदिर ५०००) अन्य १००० रु.। पु० सं०—१६५४। [मूल्य ६०० रु०]।

१८. आनन्द (चरोतर प्रदेश) जि० खेड़ा

रे० स्टे०—आनन्द। डा० खा०—स्टेशन रोड। स्था०—नवम्बर सन् १६२४ ई० प्र०—श्री डाह्याभाई जेठाभाई पटेल, मं०—श्री बापूभाई कुबेरदास पटेल। स० सं०—२५०। वा० आ०—२०००)। सम्प०—४०,००० रु०। पु० सं०—१५००। का०—१६ शुद्धियां, २ अन्तर्जातीय विवाह, संस्था—गुरुकुल ब्रह्मचर्य्य आश्रम और गुरुकुल महाविद्यालय (छा०—१५)।

१९. दाबोल जि० खेड़ा

रे० स्टे०—बोरसद। स्था०—सं० १६६१ वि०। प्र०—श्री शिवाभाई आर्य्य, मं०—श्री छुपाभाई खुशालभाई आर्य। स० सं०—३१। सहा०—५।

२०. कांकरिया रोड (अहमदाबाद)

रे० स्टे०—कालुपूर। डा० खा०—कांकरिया रोड। स्था०—सं० १६५० वि०। प्र०—श्री भाईशंकर जी, मं०—श्री अम्बालाल जी, स० सं०—२६। सहा० सं०—४३। वा०

आ०–६५१)। सम्प०–समाज मंदिर (ऋण ग्रस्त) पु० सं०–५६७। उपदेशक–१।

२१. लुनसावाडा (अहमदाबाद)

रे० स्टे० व डा० खा०–अहमदाबाद। स्था०–सं० १९७९ वि०। प्र०–श्री जेठालाल बापालाल आर्य, मं०–श्री शकराभाई प्रभुदास आर्य। स० सं०–३०। वा० आ०–१०० रु० सम्प०–२॥ बीघा भूमि (१००० रु०) अन्य २००)। पु० सं०—२००। उपदेशक–पं० त्रिकमलालजी (अवैतनिक) का०–संस्कार ५५, व्याख्यान २२, १००० प्रति मांडूक्य उपनिषद् वितरित की गई। है. स. में २५) दिये।

२२. मोरवी (काठियावाड़)

रे० स्टे० व डा० खा०–मोरवी। स्था०–सं० १९८४ वि०। प्र०—श्री डूंगरसी डाह्या-भाई ठेकेदार। मं० श्री मोहनसिंह जीवन सिंह डाकोर, स० सं०—१०। सहा०–२। वा० आ०—३५ रु०। सम्प०—मन्दिर के लिये भूमि [मू०–३२५ रु.] पु० सं०–४००। सहा० का०—अकाल में गरीबों को सहायता तथा एक बच्चे की रक्षा।

२३. टकारा (ज़िला मोरवी)

रे० स्टे० व डा० खा०—टंकारा। स्था०–३० मार्च १९३५ ई०। प्र०–गिरधारी-लाल गोविन्द जी। मं०—श्री डुगरंसी भाई राम जी। स० सं०–१२। वा० आ०–१५) सम्प०—मन्दिर व अन्य १५५००)। पु० सं०—५००। कार्य–वार्षिकोत्सव व सभायें। संस्था–दयानन्द पुत्री पाठशाला (छा०–५०)।

२४. राजकोट (काठियावाड़)

रे० स्टे०–राजकोट जंकशन। डा० खा०–राजकोट। स्था०–सन् १८७४ ई०। प्र०—श्री भागजी भाई डाह्या भाई जंगबार। मं०–श्री कन्हैय्यालाल जोशी, दन्तचिकित्सक। स० सं०–२५। सहा०–५। वा० आ०–१५०) रु०। पु० सं०—२००। का०—शुद्धि ५, अन्तर्जातीय विवाह—१, तथा ग्राम प्रचार।

२५. बिसनगर (ज़िला महेसाणा)

स्था०—सं० १९९३ वि०। प्र० - श्री रामराय हरिशंकर शर्मा वैद्य। मं०—पण्डित लक्ष्मणदत्त जी वैद्य। स० सं०–१५। सहा०–१५। वा० आ०—१००) रु०। सम्प०—१८००) रु० अचल। पु० सं०–४०।

२६. भावनगर (मामाकोडा रोड)

स्था०—संवत् १९४४ वि०। मं०–श्री ऊद्धवजी कालीदास आर्य। वा० आ०–३००) रु०। पु० सं०—३००। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०–८००० रु०)।

शेष आर्यसमाज—

२७ येवला जिला नासिक, २८ नासिक, २९. वालोड़ जिला सूरत, ३०. हाथुका डा० वालोड़ जि. सूरत, ३१. सेगवा डा० सायड़ जि० सूरत, ३२. केलोद जि० भड़ौंच, ३३. वेडच डा० जम्बुसर जि०

भड़ौंच, ३४. इटोला डा० वाया मीयागाम जिला बड़ौदा, ३५. बड़ौदा सिटी, ३६. मोगर डा० वाया आणंद जि. खेड़ा, ३७. खम्बोलज वाया आणंद जि. खेड़ा, ३८. त्रणोल वाया आणंद जि. खेड़ा, ३९. सामरखा वाया आणंद जि० खेड़ा, ४०. भालेज वाया आणंद जि. खेड़ा, ४१. चिखोद्रा वाया आणंद जि. खेड़ा, ४२ वघासी वाया आनन्द जिला खेड़ा, ४३. अडास वाया आनन्द जिला खेड़ा, ४४. नरसंडा वाया आनन्द जि. खेड़ा, ४५. नदिआड़ वाया अनन्द जि० खेड़ा, ४६. करमसद वाया आनन्द जिला खेडा, ४७. पंडोली वाया आनन्द जि० खेड़ा, ४८. भूरा कोई वाया आणंद ता० पेटलाद पो० बड़तुला जिला खेड़ा, ४९. निकोरा डा० नबीपुर जि० भड़ौंच ५०. लीवासी वाया भातर जि० खेड़ा, ५१. खडोल वाया वासद जि. खेड़ा, ५२. आंकलाव वाया वासद जिला खेड़ा, ५३. निसराया डा० बोरसद जि० खेड़ा, ५४. रास डा० बोरसद जि० खेड़ा ५५. आसी डा० बोरसद जिला खेड़ा, ५६. नावली वाया आणंद जिला खेड़ा, ५७. सूई डा० डाकोर जिला खेड़ा, ५८. देव डा० पेटलाद जि. खेड़ा, ५९. वाघोडीआ जि० बड़ौदा, ६०. कालोल जिला बड़ौदा, ६१. अहमदाबाद, ६२. शालपुर जिला अहमदाबाद, ६३. सरसपुर जिला अहमदाबाद, ६४. बावला जि. अहमदाबाद, ६५. जामनगर काठियावाड़, ६६. पोर बन्दर काठियावाड़, ६७. ध्रागन्ध्रा काठियावाड़, ६८. दिव काठियावाड़, ६९. बांकानेर, ७०. राणपुर, ७१. अमरेली, ७२. धोलेरा डा० धंधुका, ७३. भड़ीआद जिला अहमदाबाद।

आर्य प्रतिनिधि सभा सिन्ध से सम्बद्ध

सिन्ध प्रान्त

१. करांची (रतन तालाब)

रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सं० १९४३ वि०। प्र०—श्री सेठ चमनलाल जी। मं०—श्री भोलाराम जी। स० सं०—८७। सहा०—१५०। पु० सं०—२०००। संस्थायें— (१) धनपतमल आर्य पुत्री पाठशाला (हाई स्कूल)। (२) आर्य कुमार सभा। व्यायाम शाला में प्रतिदिन २०० व्यक्ति भाग लेते हैं।

२. खानपुर (जिला सक्खर)

रे० स्टे०—शिकारपुर। डा० खा०—खानपुर। स्था०—२७ दिसम्बर सन् १९३३ ई०। प्र०—कविराज श्री सुगनाराम जी वैद्य। मं०—श्री चप्रूलाल हासानन्द। स० सं०—१५। सहा०—३। सम्प०—समाज मंदिर (अधूरा)। पु० सं०—८००००। समाचार पत्र—२।

इस प्रान्त के शेष आर्य समाजों की सूची निम्न है। * चिन्हांकित स्थानों के आर्य समाज प्रायः शिथिल अवस्था में हैं।

३. आर्य सेवक दल, बम्बई बाजार करांची, ४. बम्बई बाजार करांची, ५. कियामारी करांची, ६. * ठटा, ७. हैदराबाद ८. *टन्डो केसर जिला हैदराबाद (सिन्ध), ९. सक्खर, १०. * पुराना सक्खर, ११. घोटकी, १२. उबावरो जि. सक्खर, १३. *कादरपुर तालुका घोटकी १४. शिकारपुर, १५. लड़काना, १६.*रतोदेरो, १७. नओंदेरो जिला लड़काना १८. बाडह जिला लड़काना, १९. *बारह जि. लड़काना, २०. कंडियारों (सन्ध) २१. दादू (सिन्ध) २२. मेहर जिलादादू (सिन्ध) २३. काज़ी अरफ़ तालुका मेहर जि. दादू २४. खैरपुर नाथनशाह, जिलादादू, २५. थररी महब्बत जिला दादू, २६. बुटरा जि० दादू वाया वालीशाह N. W. R. २७. *मंगवानी जिला दादू तालुका मेहर २८. मीरपुर खास, २९, छाछरो जिला थारपारकर (सिन्ध) ३०. छोर नओं जि. थारपारकर ३१ अमरकोट जि० थारपारकर, ३२. सांघर जिला थारपारकर, ३३. मिठी जि० थारपारकर ३४. जेकोबाबाद जिला थारपारकर, ३५. शाहपुर चाकर जिला नवाबशाह, ३६, नगर पारकर जि. थारपारकर, ३७. कम्बर अलीखान जिला लड़काना (सिन्ध) ३८. डोकरी जि० लड़काना, ३९. टण्डो अलाहयार, ४०. टण्डो महमूद खान, ४१. नवाबशाह।

आर्यप्रतिनिधि सभा ब्रह्मा से सम्बद्ध

बरमा प्रान्त

रंगून

जि०—रंगून। रे० स्टे० व डा० खा०—रंगून। स्था०—जुलाई सन् १९३९ ई०। प्र०—श्री डा० गुरुदत्त जी सरीन। मं०—श्री रामराजसिंह जी। स० सं०—९२। सहा०—४०। वा० आ०—५७६१) रु० ६ आ० ६ पाई। सम्प०—समाज मन्दिर (ला० लगभग १ लाख रुपया)। पु० सं०—६१७। स० पत्र—१०। संस्था०—डी. ए. वी. स्कूल (छा०—१४०); रात्रि पाठशाला (छा०-५०); आर्य धर्मशाला। प्रचारक—१. पं० रामबिहारी शास्त्री, २. श्री निजानन्द जी। का०—प्रति दिन यज्ञ व सत्संग।

२. प्रोम—(Prome)

जि०—प्रोम। रे० स्टे० व डा० खा०—प्रोम। स्था०—सन् १९३६ ई०। प्र०—श्री डा० के० आर० महाजन। मं०—श्री विद्यासागर जी टंडन। स०सं०—९। सहा०—३५। सम्प०—केवल १२५ रु०।

३. बसीन—(Bassien)

जि०—बसीन। रे०स्टे० व डा० खा०—बसीन। स्था०—६ दिसम्बर सन् १६३७ ई०। प्र०—श्री ला० राधाकिशन जी। मं०—श्री हरिदत्त जी। स० सं०—४। सहा०—२६। वा० आ०—६०४।।।=)।

४. काँबलू—(Kambalu)

जि०—श्वेबो। रे० स्टे० व डा० खा०—काँबलू। स्था०—मई सन् १६१४ई०। प्र०—श्री रामलोटनसिंह। मं०—श्री मुनेश्वरसिंह। स० सं०—२०। सहा०—२५। वा० आ०—६० रु०। सम्प०—दो मंजिला समाज भवन। पु० सं०—३६। संस्था०—डी. ए. वी. स्कूल (छा०—४०)।

५. कलौ

जि०—दक्षिणी शान स्टेट्स। रे० स्टे० व डा० खा०—कलौ। प्र०—श्री परम वेदालङ्कार। मं०—श्री गोविन्द पटेल। स० सं०—१३। सहा०—१५। वा० आ०—६२ रु० ६ आ० ६ पाई। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—५००० रु०)। का०—कई यज्ञोपवीत संस्कार, सत्यार्थप्रकाश की कथा।

६. मनेवा—(Monywa)

जि०—लोअर चिन्डविन। रे० स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—सन् १६१७ ई०। प्र०—श्री शान्तिलाल जी। मं०—श्री वेदव्यासजी भारद्वाज। स०सं०—२०। सहा०—२५। वा० आ०—२११ रुपया १५ आ०। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—२०००० रु०) तथा ११६ रुपया अन्य। पु० सं०—१००। संस्था हिन्दू स्कूल मनेवा (छा०—१५०), अपर बरमा में यह सर्व प्रथम हिन्दू स्कूल है। प्रचारक—१ अवैतनिक तथा स्कूल के अध्यापक गण। का०—पर्वों के समय विशेषप्रचार।

७. चौक (Chouk)

(अपरबरमा जि० मंगोई) रे० स्टे०—चपडाँव। डा० खा० —चौक। स्था०—सन् १६३५ ई०। प्र०—ब्रा० भगतरामजी द्विवेदी। मं०—श्री बैजनाथ शर्मा। स० सं०—३०। सहा०—३। वा० आ०—१२००) रु०। सम्प०—समाज मन्दिर व दो अन्य भवन (ला०—१०००० रु०)। पु० सं०—३२। संस्था०—डी. ए. वी. पाठशाला (छा०—८०)। का०—३ अन्तर्जातीय विवाह।

८. मचीना

जि०—मचीना। रे०स्टे० व डा० खा०—स्वयम्। स्था०—मई सन् १८८६ई०। प्र०—श्री हरिनन्द जी शर्मा। मं०—श्री लब्भूराम जी शर्मा। स० सं०—३०। सहा०—३०। वा० आ०—४०२ रु० २ आ०। सम्प०—समाज मन्दिर (ला०—१०००० रु०)। पु० सं०—६००। संस्था—डी० ए० वी० स्कूल मचीना (छा०—१६१), आ.कु. सभा (स०—

२००), आर्य स्त्रीसमाज, आर्य मुसाफिरखाना। का०— श्री रामनाथ जी अध्यापक बरमा के दूसरे जत्थे के सत्याग्रही बन कर गये।

६. एनानजाँव—(Yenangyaung)

जि०—मंगोई। रे० स्टे०—चौपडांव। डा० खा०—एनानजांव। स्था०—अगस्त सन् १६३५ ई०। प्र०—श्री रानावेदनाथसिंह। मं०— श्री तेजभानसिंह। स० सं०—३०। सहा०—३०। वा० आ०—१५०। सम्प०—समाज मन्दिर दो मंजिला। पु० सं०—३००। स. पत्र—३। संस्था—हिन्दूस्कूल (छा०—६०)। प्रचारक—१। का०—८० स्थानों पर प्रचार।

१०. इन्सिन

जि०—इन्सिन। रे०स्टे० व डा० खा०—इन्सिन। स्था०—जून सन् १६३६ ई०। प्र०—श्री आर. पी. विश्वकर्मा। मं०—श्री संसवचन्द धीमान्। स० सं०—१२। सहा०—४५। वा० आ०—१०० रु०। सम्प०—नकद ६० रु०। पु० सं०—२४। का०—विधवा विवाह।

११. थ्याटम्बो

जि०—थ्याटम्बो। घाट—इरावदी नदी के तट पर थ्याटम्बो। रे० स्टे०—प्रोम। डा० खा०—थ्याटम्बो। स्था०— सन् १६४० ई०। प्र०—श्री विन्देसरीसिंहजी। मं०—श्रीमती मंशादेवी जी। स० सं०—१०। सहा०—१२। पु० सं०—३०। स. पत्र—२। का०—सन् १६४० के अग्निकाण्ड में भोजन व वस्त्र वितरण। प्रचारक—१।

१२. अकयाब—(Akyab)

स्था०—७ फरवरी सन् १६२२ई०। प्र०—श्री बटालियासिंह जी। मं०—श्री रामनाथ जी अमर। सं० स०—६। सहा०—२०। वा० आ०१७५ रु०। सम्प०—निजी भवन तथा नकद ४०० रु०। पु० सं०—५०। स. पत्र—३। संस्था—हरिजन स्कूल (छा०—३०)। का०—है० स० में एक सत्याग्रही भेजा। प्रचारक—१।

१३. मेम्यो (Maymyo)

जि०—माण्डले। रे० स्टे० व डा०खा०—मेम्यो। स्था०—सन् १६०५ ई०। प्र०—प्रभुदयाल जी। मं०—श्री प्यारेलाल जी। स० सं०१—३। सहा०—१०। वा० आ०—६४२)॥। सम्प०—१३६५॥-)। पु० सं०—१५०। पुरोहित—पं०सीताराम जी। संस्था—डी. ए. वी. आर्य कन्या स्कूल (स्था०—सन् १६२७ ई०, मं०—श्री के० एल० साकिब, (श्रेणी—४, छा०—१८०, व्यय—२५०० रु० वार्षिक, शिक्षक—६)।

शेष आर्य समाज

14. Henzada, 15. Mandlay, 16. Tavinggyi, S.S.S. 17. Ye-u 18. Lashio, 19. Mamtu, 20. Meitktyila.
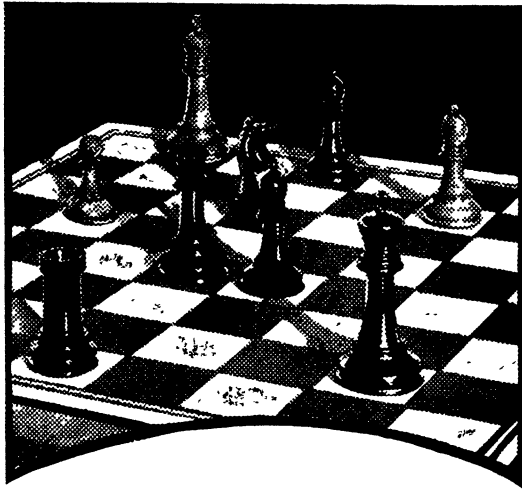
परिशिष्ट

निम्न आर्य समाजों का विवरण देर से प्राप्त हुआ। इनकी गणना यथा स्थान हो चुकी है।

१. देहली नयाबांस

स्था०—१७ मार्च सन् १९२३ ई०। रे० स्टे०—देहली जंकशन। प्र०—श्री ला० बुद्धिप्रकाश जी। मं०—श्री राधेमोहन जी। स० सं०—१६०। सहा०—११। वा० आ०—२२५६॥=)॥। सम्प०—समाज मंदिर (ला० १६००रु.)। पु० सं०—१२६०। स० पत्र—८। संस्था—आर्य वैदिक पाठशाला (क०—४, छा०—१५०, अ०—४) का०—अन्तर्जातीय विवाह १, शुद्धि ५। हिसार के अकाल पीड़ितों को सहायता दीगई। विशेष—अतिथियों के ठहरने का प्रबन्ध है।

२. सीताराम बाजार

प्र०—श्री लाला घासीराम जी लोहिए, मं०—श्री ला० सांवलदास जी लोहिए। रेलवे स्टेशन से लगभग २ मील पर समाज मन्दिर है। अतिथियों के ठहरने का प्रबन्ध है। संस्था—आर्य कु० स०, २ स्वाध्याय परिषद्।

३. सब्ज़ी मण्डी

रे० स्टे०—सब्ज़ी मण्डी से २ फर्लाङ्ग, अतिथि दो-तीन दिन तक समाज मन्दिर में ठहर सकते हैं। प्र०—श्री बा० नवलकिशोरजी बी. ए. मं०—श्री वैद्य लक्ष्मीराम जी भारद्वाज का०—६ शुद्धि, ४ विवाह (आर्य विवाह ऐक्ट के अनुसार) एक अनाथ बालक की ईसाइयों से रक्षा।

४. शाहदरा देहली

रे० स्टे०—शाहदरा से २ फर्लांग दूर। समाजमन्दिर में ठहरने का प्रबन्ध है, प्र०—श्री चौ० हुकमसिंहजी, मं०—श्री श्यामलालजी।

५. नई देहली

रेलवे स्टेशन से लगभग २॥ मील पर है। प्र०—ला० निहालचन्द जी। मं०—श्री कृष्णचन्द्र जी, संस्था—डी. ए. वी. हाई स्कूल नई देहली, ग्रामप्रचार सभा, आर्य पाठशाला गोंडली, डी. ए. वी. स्कूल यूसुफ़ सराय।

पंजाब

६. गुड़गांवां

रे० स्टे०—गुड़गांवां, समाज मंदिर २। मील पर है, ठहरने का प्रबन्ध है, प्र०—श्री आनन्दपालजी एम. ए. एल. एल. बी. मं०—श्री चन्द्रगुप्त वैद्य भिषगाचार्य, स० सं—०३५।

७. करनाल (गुरुकुल विभाग)

रे० स्टे० करनाल से १॥ मील, समाज मन्दिर में ठहरने का प्रबन्ध है, प्र०—बा० गणपतराय वकील, मं०—ला० मातूराम जी, संस्था—आ. क. पा. (क—५, छा०—१००)

पुस्तकालय, (पु० सं०—६००) तथा वाचनालय। सम्प०—अचल ४६००० रु.। चल २६१७ रु.। स्था०—७अक्टूबर सन् १८८३ ई।

८. कैथल

रेलवे स्टेशन कैथल (१ मील दूर) समाज मन्दिर में ठहरने का प्रबन्ध है। स्था०—सन् १८६६ ई०। प्र०—बा० गनपतराय जी वकील मं०—बाबू सच्चिदानन्द वकील। स० सं०—२०। का०—छोता, माल्लेवाला चन्दाना, तारागढ़, क्योडक, कवाड़, डयोंला, जाजमपुर, सारसा और कठाना में शाखा समाजें हैं। २० वर्ष से अछूत पाठशाला थी जो बन्द कर दीगई। सहा० का०—१६३८-३६ के दुर्भिक्ष में ५००००) का भूसा लागत मूल्य पर वितरण किया। है. स. में १५० सत्याग्रही भेजे और ४५००) व्यय किया। श्री शहीद फकीरचन्द जी यहीं के सत्याग्रही थे।

६. अम्बाला छावनी

स्था०—सन् १६२७ ई०। प्र०—रा. सा. अमृतराय जी रिटायर्ड इंजिनीयर, मं० म०—बुलाकीदासजी, समाज मन्दिर (लागत लगभग १५०००रु.)। रेलवे स्टेशनसे १मील दूर है। ठहरने का प्रबन्ध है। स० सं०—८०। संस्था मुसद्दीलाल आर्य कन्या पाठशाला (इसका अपना भवन है, छा. सं.—२००, शिक्षा निःशुल्क है, निर्धन छात्राओं को पुस्तकें दी जाती हैं, मासिक व्यय १६० रु० २ स्त्री आर्य समाज (प्र०—श्रीमती मानकौर जी, मन्त्री—श्रीमती दयावती जी) आर्य कुमार सभा, ग्राम प्रचार मंडली, दलित जातियों में प्रचारार्थ है इसका व्यय ६०) मासिक है।

१०. अम्बाला छावनी लालकुर्ती बाजार

स्था०—सन् १६२५ ई०। प्र०—श्री ठा. रामदयाल जी. मं०—श्री नरसिंहदेव जी, समाज मंदिर रेलवे स्टेशन से १ मील पर है, ठहरने का प्रबन्ध है। संस्था—श्री विश्वेश्वरनाथ आर्य कन्या पाठशाला (छा०—१००, अध्यापक—२)

११. अम्बाला शहर

रे० स्टे०—अम्बाला शहर से समाज मन्दिर लगभग २०० पग पर है। ठहरने का प्रबन्ध बहुत अच्छा है। प्र०—श्री म० बूलचन्द जी स्टेशन मास्टर। मं०—श्री बेली प्रसाद जी शर्मा। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (क०—५, छा०—२००) आर्य स्कूल स्वतन्त्र है। छा०—७०० हैं। आर्य वीर दल भी स्वतन्त्र है।

१२. सोलन (शिमला)

रे० स्टे०—सोलन से समाज मन्दिर दो फर्लाङ्ग पर है। प्रमाणित आर्य भाई दो दिन तक ठहर सकते हैं। प्र०—श्री दीनानाथ जी वकील। मं०—श्री विद्याधरजी विद्यालङ्कार वैद्य। संस्था—पुस्तकालय। का०—अछूतोद्धार।

१३. नाहन

रे० स्टे०—बराड़ा (३६ मील) समाज मन्दिर है। आर्य धर्म शाला—समाज मंदिर के समीप है। प्र०—श्री पं० दुर्गादत्त जी। मं०—श्री रामचन्द्र वर्मा।

१४. रोपड़

स्थान—रेलवे स्टेशन रोपड़ से लगभग १ मील दूर। समाज मन्दिर में यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था है। स्था०—सन् १८६२ ई०। शुद्धि के कार्य में यह समाज विशेषतः अग्रसर रहा है। संस्था—श्री सोमनाथ आर्य कन्या पाठशाला (प्रायः ४० वर्ष से स्थापित है, १३००० रु० स्थिर कोष है) स० सं०—लगभग ५०।

१५. भटिंडा

स्थान—भटिंडा रेलवे स्टेशन से लगभग १ फर्लाङ्ग के अन्तर पर समाज मन्दिर है। आर्य सज्जनों के उतरने के लिए सब सुविधायें हैं। स्था०—सन् १८६४ ई०। प्र०—श्री ला० मिठुमल जी रईस। मं०—डा० भगवन्त राय जी। संस्था—गुरुकुल शिल्प विद्यालय (स्था०—सन् १६२३ ई०), आर्य मिडिल कन्या पाठशाला (रत्न व भूषण कक्षायें भी), आर्य निःशुल्क हिन्दी पाठशाला, आर्य वीर दल, आर्य स्त्री समाज। सम्प०—अचल ६०००० रु०। है० स० में ५००० रु० की सहायता व ३५ सत्याग्रही भेजे गये।

१६. सिरसा

स्था०—सन् १६०१ ई० में हुई। सम्प० समाज मन्दिर (यज्ञशाला व कुँआ समेत)। पुस्तकालय, तथा वाचनालय। पुरोहित—१ वैतनिक।

१७. जालन्धर छावनी

स्था०—सन् १८८६ ई०। संस्था—नारायणदास विक्टर हाई स्कूल, कुन्दनलाल आर्य पुत्री पाठशाला।

१८. फिरोजपुर छावनी

समाज मन्दिर—रे० स्टे० फिरोजपुर छावनी से लगभग आधा मील पर है। यात्रियों के ठहरने का अच्छा प्रबन्ध है। प्र०—बाबू शिवराम जी। मं०—श्री भगवानदासजी।

१६. मोगा

समाज मन्दिर—(लागत १५००० रु०) रे० स्टे० मोगा से ३ फर्लाङ्ग दूरी पर है। अतिथियों और यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। संस्था—पुत्री पाठशाला (छा०—३५०, वा० व्यय—३००० रु०), द० म० हाई स्कूल (छा०—७००, वा० व्यय—१०००० रु०), दयानन्द मथुरादास कालेज (बी.ए. तक, व्यय १०००० रु०), अन्तिम दोनों संस्थायें आ० प्र० सभा पंजाब के प्रबन्ध में हैं। व्यायामशाला—(स०—१००)। स० सं०—१२०।

२०. बटाला (जौहरी चौक)

समाज मन्दिर—(सन् १६०४ ई० में बना), रे० स्टे० बटाला से १ मील पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री ला० मेहर चन्द्र जी पुरी। मं०—पं० खुशीराम जी भारद्वाज। संस्था०—वैदिक कन्या पाठशाला (मिडिल कक्षा तक, छा०-५००)

२१. गुरुदासपुर

स्था०—सन् १८७७ ई०। सम्प०—समाज मन्दिर।

२२. पठानकोट

समाज मन्दिर-रे० स्टे०से २॥ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था है। प्र०—श्री कुलदीपचन्द जी मं०—म० जगन्नाथ जी। संस्था०—श्री वजीरचन्द आर्य कन्या पाठशाला (शिक्षा रत्न श्रेणी तक)।

२३. अमृतसर (पशम बाजार)

स्था०—संवत् १६३४ वि० सम्प०—समाज मंदिर (पशम बाज़ार में) ला०—७१-००० रु० तथा अन्य लगभग ३०००० रु०। संस्था०—वैदिक कन्या पाठशाला, आर्य-कुमार सभा।

२४. लोहगढ़ (अमृतसर)

स्था०—सं० १६३४ वि०। प्र०—श्री शांतिस्वरूप जी लीडर बी० ए० एल० एल० बी०। मं०—ला० भगतराम जी एम. ए.। समाज मन्दिर रे० स्टे० अमृतसर से लगभग १ मील पर, उपदेशकों के ठहरनेका प्रबन्ध है। संस्था—आर्य गर्ल्ज मिडिल स्कूल, इण्टरमीडियेट कालेज (कन्याओं के लिये) डी० ए० वी० हाई स्कूल, ब्राह्म महाविद्यालय, महात्मा हंसराज होम्योपैथिक हस्पताल।

२५. लारेन्स रोड, अमृतसर

समाज मन्दिर—रे० स्टे० अमृतसर से लगभग १ मील है यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री केप्टेन केशवचन्द्र जी मं०—श्री वासदेव वैहल एम० ए०।

२६. लछमनसर (अमृतसर)

समाज मन्दिर—रे० स्टे० अमृतसर से १॥ मील पर है। अपना भवन नहीं है, तथापि अतिथियों और उपदेशकों के उतरने का प्रबन्ध है। प्र०—म० गंगाराम जी। मं०—श्री रुद्रदत्त जी शर्मा। संस्था—१ मातृभाव-वर्धिनी सभा (संस्कारों विशेषतः मृतक संस्कारों में सम्मिलित होना सभासदों के लिए आवश्यक है) दैनिक सत्संग विभाग (इसके सभासद दैनिक पारिवारिक सत्संग में अनिवार्य रूप से भाग लेते हैं)।

२७. बच्छोवाली (लाहौर)

स्था०—जेठ सुदी १३ सं० १६३४ वि० प्र०-पं० ठाकुरदास जी वैद्य मुल्तानी। मं०—पं० देवेन्द्रनाथ जी। सम्प०—समाज मन्दिर संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (छा०—लगभग ४५०)।

२८. गुरुदत्त भवन (लाहौर)

स्था०—सन् १६३० ई०। प्र०—श्री

पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार। मं०—पं० यशपाल जी सिद्धान्तालङ्कार। विशेष उद्देश्य—१. नवयुवकों का संगठन, २. दलितवर्ग में प्रचार व उन्हें आर्य बनाना। ३. पं० बुद्धदेव जी के नेतृत्व में वर्ण व्यवस्था की योजना को क्रियान्वित करना।

२६. ग्वालमंडी (लाहौर)

रे० स्टे० से १ मील पर स्थित है। प्र०—श्री पं० भानुदत्त जी वैद्य मुल्तानी। मं०—श्री हितैषी अलावलपुरी सम्पादक 'प्रकाश' व 'आर्यावर्त' लाहौर।

३०. शाहदरा (शेखूपुरा)

स्थान—रे० स्टे० शाहदरा से १ मील दूर पर है। प्र०—ला० खरायतीराम जी रईस। मं०—मा० मुल्कराज जी 'शाह'। संस्था—वैदिक पुत्री पाठशाला (स्था० सन् १६३१ ई०, पंजाब आर्य शिक्षा समिति से सम्बद्ध, प्र०—ला० त्रिलोकचन्द्र जी, मंत्री मा० मुल्कराज जी।

३१. स्यालकोट छावनी

समाज मन्दिर—रे० स्टे० स्यालकोट शहर से १ मील पर है। टम टम मिल जाती है। छावनी स्टेशन से १॥ मील, सवारी नहीं मिलती। प्र०—श्री जयदयाल जी वर्मा। मं०—म० मोहनलाल जी।

३२. गुजरांवाला

स्थापना—सन् १८७८ ई० । समाज मंदिर–रे० स्टे० से ३ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। संस्था०—आर्य कन्या मिडिल स्कूल (कक्षा ८ तक, छा०—११२) पंजाब आर्य शिक्षा समिति से सम्बद्ध है। शिक्षा माध्यम हिन्दी है।

३३. वजीराबाद

समाज मन्दिर रे० स्टे० से २ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री बाबू मुन्शीरामजी नारङ्ग। मं०–श्री देवीदित्तामल जी। संस्था–नन्दलाल आर्य मिडिल स्कूल। स्था०—लगभग सन् १९०१ ई०।

३४. ऊधमपुर (जम्मू)

स्था०—सन् १९६१ वि० । समाज मंदिर–अपना है। जम्मू काश्मीर रोड पर जम्मू रे० स्टे० से ४२ मील पर है। यात्रियों के ठहरने का अच्छा प्रबन्ध है। का०–मेघोद्धार इस समाज का विशेष कार्य रहा है। प्र०—ला० डेरामल जी वकील हाईकोर्ट। मं०— ला० जगन्नाथ जी मुसाफर वकील।

३५. हजूरी बाग (श्रीनगर काश्मीर)

स्थापना—सं० १८४६ वि०। समाज मंदिर—(लागत ३१०००)। जम्मू रे० स्टे० से २०० मील मोटर का मार्ग, लारी के अड्डे से १० मिनट का मार्ग है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। संस्था— पुत्री पाठशाला। (मिडिल तथा प्रभाकर परीक्षा तक की शिक्षा) विधवा पाठशाला (छा २०) प्र०–श्री ला० चिरञ्जीलाल जी वानप्रस्थ। मं० श्री हंसराज जी सोनी।

३६. गुजरात

समाज मंदिर—रे० स्टे० से १ मील पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—म० चरणदास जी वकील। मं०—मं० मनोहरलाल जी। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (कक्षा ८ तक, तथा प्रभाकर श्रेणी)।

३७. लालकुर्ती बाजार (रावलपिंडी)

स्था०—११ सितम्बर सन् १९२७ ई०। समाज मन्दिर रे० स्टे० से लगभग १। मील पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—मास्टर त्रिलोकचन्द जी। मं०— बाबू जगन्नाथ जी। स० सं०—२५। सहा०—२५। वा० आ०—५०२॥।)॥। सम्प०—समाज मन्दिर व एक मकान पु० सं०–७०। का०—शुद्धि ३। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (स्था० सन् १९२५ ई०, छा० लगभग १००, मासिक व्यय १०० रु०, प्र०—ला० सेवकराम जी, प्रबन्धकर्ता–ला० रामप्रसाद जी।)।

३८. सरगोधा (गुरुकुल विभाग)

स्था०–सन् १९०३ ई०। समाज मन्दिर

(ला० ६०००० रु०) स्टेशन से लगभग २ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। पुरोहित—पं० सोमदत्त जी विद्यालङ्कार।

३९. सरगोधा (कालेज विभाग)

समाज मन्दिर सरगोधा स्टेशन से २ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। स्था०—सन् १९२५ ई०। प्र०—डा० गोविन्दराम जी। मं०—श्रीराम जी सक्सेना। संस्था—विधवा आश्रम।

४०. लायलपुर

स्था०—सन् १८९८ ई०। समाज मन्दिर रे० स्टे० से १ मील पर है। जंजघर में यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र० –श्री सेठ दीवानचन्द जी। मं०—श्री मास्टर लद्धाराम जी। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (हाई स्कूल तक निजी भवन में है। आर्य अनाथालय। (प्रबन्धकर्ता पं० देवराज जी; निजी भवन) आर्य स्त्री समाज। विशेष—डगलसपुरा तथा फैक्टरी एरिया में गु० विभाग मि० के समाज हैं। कालेज विभाग के आर्य समाज के आधीन डी० ए० एस० हाई स्कूल चल रहा है।

४१. मुल्तान शहर (बोहड़ दरवाजा)

स्था०—४ अप्रैल सन् १८७८ ई०। समाज मन्दिर रे० स्टे० मुलतान शहर से आध मील पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री बा० मदनमोहनजी वकील। मं०—ला० मुरलीधर जी। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला ए० २। (मिडल तथा प्राइमरी तक) गुरुकुल, (८ म कक्षा तक, इसके मन्त्री ला० मोतीराम जी रईस जिमींदार हैं।)

४२. मुजफ्फरगढ़

स्था०—सन् १८८० ई०। समाज मंदिर निजी है। स० सं०—२५ के लगभग। विशेष—समाज द्वारा ५ हजार से अधिक व्यक्तियों की शुद्धि की गई।

४३. बहावलपुर (रियासत)

रे० स्टे०—बहावलपुर ईस्ट से ४ मील व बहावलपुर वैस्ट से २ मील है। आर्य-यात्रियों के ठहरने की व्यवस्था है। प्र०—महाशय ज्येष्ठानन्द जी। मं०—म० चन्द्रभानु जी आर्य।

४४. डेरागाजीखां

समाज मन्दिर—रेलवे स्टेशन गाजीघाट से १८ मील। सिन्ध नदी के पश्चिमी तट से ६ मील दूर है। निजी है, अतिथियों के ठहरने का प्रबन्ध है। स्था०—सन् १८८६ ई० प्र०—पं० वासुदेव जी विद्यालंकार, मं०—ला० फकीरचन्द जी। संस्था—आर्य पुत्री पाठशाला (सन् १९०७ ई० से स्थापित, मासिक व्यय ४५० रु० छा० ५०० से अधिक, ८ म कक्षातक हिन्दी तथा धर्मशिक्षा आवश्यक) विशेष—जिला वेद प्रचारिणी सभा में सबसे अधिक धन यह समाज देता है।

४५. नूरपुर (जि० कांगड़ा)

रे० स्टे०—नूरपुर रोड से समाज मंदिर ३ मील पर है। समाज मन्दिर में यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र० - प० रामशरण जी सौगुनी लीडर। मं०—श्री धर्मवीर जी महाजन।

४६. डलहौजी (सदर बाजार)

स्था०—१७ मई सन् १६२४ ई०। सम्प०—समाज मन्दिर ला० ८००० रु०। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला।

४७. बन्नू

रे० स्टे०— बन्नू से १ मील पर है। समाज मन्दिर में यात्री ठहर सकते हैं। प्र०—डाक्टर लोकनाथ जी। मं०—म० नयनसुख जी। संस्था–दौलतराम आर्य कन्या पाठशाला (मिडल कक्षा तक) आर्य कुमार सभा, स्त्री आर्य समाज, आर्य वीर क्लब।

४८. पेशावर (छावनी)

रे० स्टे०- से पौन मील पर है। समाज मन्दिर में यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है, दो कमरे इसके लिये नियत हैं। प्र० — श्री लाला नारायणदास जी अग्रवाल, मं०—श्री बा० कृष्णचन्द्र जी गुप्त। संस्था–आर्य कन्या पाठशाला, आर्य स्त्री समाज, आर्य कुमार सभा और पहलवान मंडली।

४६. पेशावर (शहर)

स्था०—सन् १८७३ ई०। समाज मन्दिर निजी है। इस समाज की स्थापना प्रातः स्मरणीय पं० लेखरामजी ने अपने घरपर की।

५०. पेशावर शहर (आमिया)

रेलवे स्टेशन से १ मील दूर पर समाज मन्दिर है। यात्री ५ दिन तक ठहर सकता है। प्र०—महाशय लछमनदास जी। मं०—म० खेमचन्दजी। स्था०—सन् १६०५ ई०।

५१. क्वेटा (ब्रिटिश बिलोचिस्तान)

स्था०—सन् १८८४ ई०। मई सन् १६३५ के प्रलयंकर भूकम्प से समाज का भव्य मन्दिर भी नष्ट हो गया था, वह पुनः बन गया है। यात्रियों के ठहरने का विशेष प्रबन्ध नहीं है। प्र०—श्री मलिक परमानन्द जी। मं०—म० मनोहरलाल जी। संस्था—आर्य समाज रेलवे कालोनी, स्त्री आर्य समाज रेलवे कालोनी, हरिकृष्ण आर्यपुत्री पाठशाला, स्त्री आर्यसमाज (नगर) आर्यकुमार सभा पुस्तकालय तथा वाचनालय। स० सं०—३५०।

संयुक्त प्रान्त

१. सहारनपुर (खालापार)

समाज मन्दिर—रे० स्टे० से १ मील पर है। अतिथियों के ठहरने का उचित प्रबन्ध है। प्र०—श्री बाबू हरप्रसाद जी रिटायर्ड इन्स्पेक्टर पुलिस। मं०—कविराज श्री प्रकाश चन्द जी शास्त्री विद्याभास्कर। संस्था—आ० कु० पा० (छा०—३००, धर्मशिक्षा व व्या-

याम का प्रबन्ध है) अछूतोद्धार पाठशाला। का०—६ शुद्धि, ४ विवाह संस्कार, १०००० गायत्री मन्त्रों से एक बृहद् यज्ञ।

२. बुलन्दशहर

समाज मन्दिर—रे० स्टे० से १ मील पर है। केवल आर्य समाजी भाई ठहर सकते हैं। प्र०—बाबू शिवनन्दन स्वरूप जी। मं०—श्री रघुवीर शरण जी। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (६ ठी कक्षा, संस्कृत प्रथमा व अंग्रेजी मिडिल तक शिक्षा, छा०—१७७)। डी. ए. वी. हाई स्कूल (१० वीं कक्षा तक, छा०—५००)।

३. अलीगढ़

समाज मन्दिर—रेलवे स्टेशन से आध मील पर है। यात्रियों के ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री रामप्रसाद जी एम. ए. एल. एल. बी. वकील। मं०—ठाकुर भूपसिंहजी मुख्तार।

४. आर्यप्रतिनिधि सभा

(बिजनौर गढ़वाल प्रान्त)

स्था०—सन् १६१६ ई०। उद्देश्य—बिजनौर व गढ़वाल में संगठित वेद प्रचार। समाजें—७० आर्य समाज जिला बिजनौर की और २१ समाजें जि० गढ़वाल की सभा से सम्बद्ध हैं। प्र०—श्री ला० बनारसीलाल जी आर्य नजीबाबाद निवासी। मं०—श्री म० ईश्वरदयालजी आर्य बिजनौर निवासी। आय—१८४१।≈), व्यय १५१३≈)। का०—है. स. में ६० सत्याग्रही तथा धन दिया। वहां रचनात्मक कार्य के लिये ५००) सार्वदेशिक सभा को भेजे गये।

डोला पालकी समस्या

(इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिये देखो पृष्ठ २२६) इस समस्या को सुलझाने के लिये इस उपसभा की ओर से पूरा प्रयत्न किया गया। सभा का ध्यान इस उपसभा की ओर आरम्भ से रहा है और इसने कई मुकदमे भी इस सम्बन्ध में लड़ाने पड़े हैं। इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि हाईकोर्ट ने सन् १६३६ ई० में आर्यों के डोला-पालकी में वर-वधू को लेजाने के अधिकार को मान लिया। कुछ दिन तक यह मामला नहीं उठा। इस वर्ष यह समस्या फिर उठी। अनेक स्थानों पर आर्यों की डोला पालकी रोकी गई। जिसका विस्तृत विवरण पृष्ठ २२६ पर दिया गया है। इस उपसभा ने अधिकारियों की सेवा में डेपूटेशन भेजा। सर्वदल सम्मेलन भी हुआ। सभा ने सार्वदेशिक सभा व प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा को भी सूचित किया, उनके प्रतिनिधि भी सम्मेलन में आये। परन्तु उसका कुछ फल नहीं निकला। इस उपसभा की ओर से इस प्रयत्न में श्री बनारसीलाल जी प्रधान, व म० ईश्वरलाल जी मन्त्री लगे रहे।

५. कानपुर (मेस्टन रोड)

समाज मन्दिर—रे० स्टे० से १ मील

पर है। अतिथियों व यात्रियों के ठहरने और आवश्यकतानुसार भोजन का भी प्रबन्ध है। प्र०—रा० ब० डा० ब्रजेन्द्र स्वरूप जी एल. एल.डी., एम.एल.सी.। मं०—बाबू कालका प्रसाद जी एम. ए. व पं० विद्याधर जी। संस्था—१ धर्मार्थ औषधालय (रोगी सं०—४०००० से अधिक वार्षिक), २. श्री बंसी बाबू पुस्तकालय (उपस्थिति दैनिक—१००), ३. श्री मूलचन्द आर्य महाजनी पाठशाला (हिन्दी व मुड़िया छा०—८४) श्री मद्यानन्द ऐंग्लो वैदिक हाई स्कूल (पृथक् कालेज ट्रस्ट और प्रबन्ध कर्त्री सभा है। इसमें आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व है)।

६. इटावा

समाज मन्दिर—रेलवे स्टेशन से ४ फर्लाङ्ग पर है। यात्रियों के तीन दिन तक ठहरने का प्रबन्ध है। प्र०—श्री श्यामबिहारी लालजी फर्स्टक्लास आनरेरी मजिस्ट्रेट। मं०—ला० नन्दरामजी अग्रवाल बैंकर एण्ड कन्ट्रेक्टर। संस्था—आर्य कन्या पाठशाला (मिडल तक, छा०—३००) प्र०—बा० चतुर्नारायण जी बी. एस. सी. एल. एल. बी.। मैनेजर—श्री बा० मूलचन्द जी गुप्त एम. ए. वकील।

७. इलाहाबाद, चौक

समाज मन्दिर—रेलवे स्टेशन से ६ फर्लाङ्ग पर है। इसमें दो-चार यात्री ठहर सकते हैं। प्र०—पं० सत्याचरण जी शास्त्री एम. ए. बी. टी. मं०—श्री बैजनाथप्रसाद जी गुप्त, संस्था—आर्य कन्या हाई स्कूल। (भवन अपना है) ३ रात्रि अछूत पाठशालाएँ (भिन्न भिन्न मुहल्लों में किराये के मकानों में लगती हैं) कल्याणी पाठशाला।

आर्यजगत् के अतिथि भवन

आर्यसमाजों का जो विवरण यहाँ दिया गया है उसमें स्थान स्थान पर समाजों के निज् समाज मन्दिरों के होने-न-होने का उल्लेख किया गया है। इन समाजमन्दिरों में प्रायः आर्य भाइयों, विद्वान् उपदेशकों व प्रचारकों के दो-तीन दिन तक ठहरने का प्रबन्ध है। कहीं-कहीं यह प्रबन्ध बहुत अधिक व्यवस्थित रूप में किया गया है। यहां हम कुछ ऐसे स्थानों के नाम दे रहे हैं, जहाँ आर्यसमाज की ओर से यात्रियों के ठहरने आदि की समुचित व्यवस्था भी आर्यसमाज की ओर से की जाती है।

<u>देहली</u>

दीवान हाल

देहली जंकशन से लगभग २ फर्लांग पर पत्थरवाले कुआं पर स्थित है। इस विशाल मन्दिर में विशाल सभा भवन है, वहाँ एक सर्वसाधन सम्पन्न अतिथिशाला भी

है। देहली जैसे विशाल नगर में यहाँ आर्य भाइयों को सब प्रकार की सुविधा मिलती है। गत वर्ष इस अतिथिशाला से १६०७ यात्रियों ने लाभ उठाया।

नया बाँस

देहली जंकशन से लगभग २ फर्लांग पर नया बांस मुहल्ले में है।

सीताराम बाजार

देहली जंकशन से २ मील।

सब्जी मण्डी

सब्जी मण्डी स्टेशन से २ फर्लांग।

हनुमान रोड, नई दिल्ली

नई दिल्ली स्टेशन से लगभग २ मील।

नई दिल्ली

नई दिल्ली स्टेशन से २ मील।

बिरलालाइन्स सब्जी मण्डी

सब्जीमण्डी स्टेशनसे लगभग ३ फर्लांग।

शाहदरा (देहली)

शाहदरा स्टेशन से २ फर्लांग पर।

अन्य समाज

सं०	नाम समाज मन्दिर	स्टेशन से दूरी
१	अजमेर	२ फर्लांग
२	अमृतसर, लारेन्स रोड	१ मील
३	,, (लछमन सर)	१॥ मील
४	अम्बाला शहर	२०० पग
५	,, छावनी (१)	१ मील
६	,, लालकुर्ती बाजार (२)	१ मील
७	अलीगढ़	½ मील
८	अहमदाबाद	२ मील
९	आगरा	½ मील
१०	इटावा	४ फर्लांग
११	इलाहाबाद चौक	६ फर्लांग
१२	ऊधमपुर (रे० स्टे० जम्मू)	४२ मील
१३	करनाल	१॥ मील
१४	कपूरथला	१। मील
१५	कलकत्ता, १९ कार्नवालिस स्ट्रीट	हावड़ा रे० स्टे० से २ मील
१६	कराची	२ मील
१७	कैथल	१ मील
१८	कानपुर (मेस्टन रोड)	१ मील
१९	खुशाब	६ फर्लांग
२०	गुजरात	१ मील
२१	गुजराँवाला	३ फर्लांग
२२	गुड़गाँवा (पंजाब)	२। मील
२३	जगाधरी	१ फर्लांग
२४	जबलपुर (मध्यप्रान्त)	२ मील
२५	धर्मपुर (शिमला)	बिल्कुल समीप
२६	नाहन बराड़ा से ३६ मील मोटर का मार्ग	
२७	नूरपुर (काँगड़ा)	३ मील
२८	पठानकोट	२॥ मील
२९	पानीपत	६ फर्लांग
३०	पेशावर छावनी	६ फर्लांग
३१	पेशावर शहर आसिया	१ मील
३२	पिंडदादनखाँ (पंजाब)	½ मील

३३ फोर्ट सण्डेमन (बलोचिस्तान) १ मील
३४ फिल्लौर (पंजाब) २ फर्लांग
३५ फीरोजपुर (रानी का तालाब) २ मील
३६ फीरोजपुर छावनी ३ फर्लांग
३७ बम्बई २ मील
३८ बन्नू १ मील
३९ बटाला (पंजाब) १ मील
४० बहावलपुर (रियासत) २ मील
४१ मेरठ (शहर) २ मील
४२ मद्रास—चाइना बाज़ार स्ट्रीट
४३ मरी मोटर अड्डे से २ फर्लांग
४४ मियाँचन्नू (आर्य धर्मशाला) १ फर्लांग
४५ मंडी बहाउद्दीन २०० गज
४६ मुल्तान शहर २ मील
४७ मोगा ३ फर्लांग
४८ रावलपिंडी (लालकुर्ती) १। मील
४९ रोपड़ १ मील
५० लाहौर (१) (अनारकली) २ मील
लाहौर—(२) (बच्छोवाली) २ मील
(३) आर्य विश्रामभवन, गुरुदत्तभवन १।। मील
५१ लायलपुर १ मील
५२ लालामूसा (आर्य धर्मशाला) १०० गज
५३ लखनऊ (नारायण स्वामीभवन) १।। मील
५४ शिमला १।। मील
५५ श्रीनगर हज़ूरीबाग (काश्मीर) मोटर अड्डे के समीप
५६ शाहपुर सदर ½ मील
५७ सरगोधा (गुरुकुल वभाग) २ फर्लांग
,, कालेज विभाग २ फर्लांग
५८ स्यालकोट १ मील
५९ सोलन २ फर्लांग
६० सहारनपुर (खालापर) १ मील
६१ बुलन्दशहर १ मील
६२ डेरा गाजीखाँ गाजी घाट से १८ मील
६३ हैदराबाद (दक्षिण) सुल्तान बाजार २ मील

दक्षिण भारत प्रचार

इस सम्बन्ध में "सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा" का विवरण पृष्ठ २१ से २८ तक पढ़िए तथा आर्य समाजों का विवरण पृष्ठ ३४५ से देखिए।

विदेश प्रचार व विदेशों में आर्य समाज

पूर्व इतिहास

आर्य समाज की आदि नियमावली के पहले नियम में ही उसका उद्देश्य 'सब मनुष्यों के हितार्थ आर्य समाज का होना आवश्यक है' बताया गया है। आर्य समाज का संगठन देश विदेश सभी स्थानों पर वैदिक

धर्म का प्रचार करने के लिए किया गया है। ऋषि दयानन्द ने अपने जीवनकाल में इसके लिए प्रयत्न किया—उनके शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा सन् १८७६ ई० में जब लन्दन में पढ़ने गये तो उनको लिखे पत्र में स्वामी जी ने उन्हें बड़े प्रबल शब्दों में प्रेरणा की कि वे समय निकालकर वहां के निवासियों को वेद का संदेश सुनावें। इसके पश्चात् मृत्यु से कुछ दिन पहले ऋषि ने परोपकारिणी सभा को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इस समय लिखे गये स्वीकार पत्र में विदेश प्रचार को परोपकारिणी सभा के सुपुर्द किया है।

लन्दन में

ऋषि की मृत्यु के पश्चात् सन् १८८६ ई० में पंजाब के ला० लक्ष्मीनारायण ने पहले पहल लन्दन में आर्यसमाज की स्थापना की। भारतीय विद्यार्थियों के अतिरिक्त कतिपय विदेशी विद्वानों ने भी इस समय आर्यसमाज में दिलचस्पी दिखाई। प्रतीत होता है कि भारतीय विद्यार्थियों के वहां थोड़ी देर ही ठहरते रहने के कारण यह कार्य सफल नहीं हो सका।

अफ्रीका में

लन्दन में भारतीयों की संख्या केवल छात्रों की होती थी। इधर अफ्रीका आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में पहले पहल जो भारतीय गये वे कुली बन कर गये। उपनिवेशों में जा कर उन्होंने न केवल अपने सब धर्म कर्म ही छोड़ दिये अपितु अपने जातीय अभिमान को भूलकर अपने त्योहारों तक को वे भूल गये। भक्ष्याभक्ष्य की तो कोई चिन्ता ही उन्हें नहीं थी, विवाह की मर्यादा भी बिगड़ चुकी थी। मरने पर शव का संस्कार तक भूलकर उसे ईसाई मुसल्मानों की तरह गाड़ने लग गये थे। वहाँ वे 'कुली' पुकारे जाते थे। इनकी सन्तान वहीं के ईसाइयों के सम्पर्क में आ ईसा को लक्ष्य बना चुकी थी। वे अपने ही पूर्वज इन कुलियों के घृणित जीवन से ऊबकर ईसाई बन रहे थे। इसी समय ऋषि दयानन्द का सन्देश वहाँ पहुंचा।

भारतमें आर्यसमाज के प्रचार के पश्चात् जो भारतीय विदेश गये, उनमें २ कोई आर्य समाजी भी थे। ऋषि के इन्हीं अनुयायियों ने अपना कर्तव्य भी यहाँ पालन किया। सन् १८६६ई० में मौरीशसमें प्रथम नम्बर बंगाल पैदल सेना गई। इसके कुछ आर्य समाजी सूबेदारों ने सत्यार्थ प्रकाश की प्रतियां बांटी और यहीं से आर्य समाज के विचारों ने भारतीयों में प्रवेश किया। ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका में जो भारतीय गये थे, वे प्रायः शिक्षित थे, और सरकारी अथवा रेलवे नौकरियोंपर अधिष्ठित थे। इनमें आर्य समाजी युवक भी थे। सन् १६०३ ई० में ऐसे ही उत्साही युवकों ने उद्योग से केनिया प्राप्त के नैरोबी नगर में आर्य समाज की स्थापना हुई।

प्रचारक

पहले-पहल सन् १९०४ ई० में पंडित पूर्णानन्द् जी नैरोबी गये। सन् १९०५ ई० में भाई परमानन्दजी एम०ए० (आजकल एम० एल० ए०) २७ वर्ष की आयु में दक्षिण अफ्रीका के दबरश्याम स्थान पर पधारे। आप एक सच्चरित्र, दृढ़निश्चयी नवयुवक थे। धर्मप्रचार के प्रति आपका उत्साह अपूर्व था। आपने यहां 'हिन्दू सुधार सभा' स्थापित की। स्मरण रहे कि इन उपनिवेशों के 'हिन्दू' (आर्य) यहाँ अभी आर्य समाज या किसी और समाज के महत्व को नहीं समझ सकते थे— उन्हें सुधारक नाम पर ही इधर लाया गया। इसके पश्चात् सन् १९०९ई० से लेकर स्वामी शंकरानन्द जी ने इन उपनिवेशों में खूब जोर का प्रचार किया। स्वामी भवानीदयाल जीका जन्म दक्षिण अफ्रीका में ही हुआ था। इन्होंने पहले हिन्दी प्रचार को अपनाया और आर्य हिन्दी आश्रम की स्थापना की। वैदिक संस्कार और शुद्धिका भी आपने प्रचार किया।

इस प्रकार धीरे २ आर्य संस्थाओं और स्वतन्त्र उपदेशकों का ध्यान विदेशों की ओर आकर्षित हुआ। कई संस्थाओं ने अपने लिए धन एकत्र करने के लिए अपने उपदेशक भेजे। इन्हें भी वहां अच्छी सफलता मिली। मौरिशस में डा. मणिलाल बैरिस्टर और डा. चिरञ्जीलाल भारद्वाज व उनकी पत्नी ने वहीं के निवासी बनकर बहुत ठोस काम किया। इसी वर्ष जून में 'मौरिशस पत्रिका भी प्रकाशित हुई। यह बात सन् १९११ई० की है। इसके पश्चात् सन् १९१६ ई० में स्वामी भवानी-दयाल जी ने दक्षिण अफ्रीका से 'धर्मवीर' प्रकाशित किया। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी (वर्त-मान कार्य कर्ता प्रधान सार्वदेशिक सभा) ने इन्हीं दिनों इस उपनिवेश में सफल प्रचार यात्रा की। आपने यहाँ आर्य-भाषा के प्रचार पर बल दिया। विवाहों की रजिस्ट्री के लिए जन्म से अब्राह्मण आर्य समाजियों को रजिस्टर दिए जाने का आन्दोलन हुआ। नेत्र कष्ट के कारण आप देर तक विदेश में न रह सके।

प्रचार के साथ-साथ पाठशालाएँ भी इन उपनिवेशों में स्थापित होती गईं। फिज़ी के सामाबूला में एक आर्य कन्या महाविद्यालय भी है। और इसी उपनिवेश में सन् १९२९ ई० से एक गुरुकुल भी सफलता पूर्वक चल रहा है। कन्या महाविद्यालय की सफलता का श्रेय पं० अमीचन्द्र विद्यालंकार को है और गुरुकुल की सफलता श्री गोपेन्द्र नारायण के उद्योग से है।

इस प्रकार धीरे धीरे इन उपनिवेशों में वह सब कार्य हो रहा है जो भारतवर्ष में हो रहा है। अनाथालय, पाठशालायें, स्कूल, समाज मन्दिर सभी कुछ वहां हैं। आर्य प्रति-निधि सभायें भी स्थापित हो चुकी हैं। दक्षिण अफ्रीका के नेटाल में नेटाल प्रतिनिधि सभा

सन् १६२५ ई० में स्थापित हुई । इसकी ओर से दयानन्द जन्म शताब्दी भी सफलता पूर्वक मनाई गई। इसका सम्बन्ध सन् १६२७ ई० में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम में हुआ।

मौरीशस में सन् १६१८ ई० में ही आर्य परोपकारिणी सभा के नाम से केन्द्रीय सभा की स्थापना हो गई थी। यहां की सरकार ने उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से रजिस्टरी स्वीकार नहीं की थी। अन्त में सन् १६१६ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम से ही इसकी रजिस्टरी हुई और सन् १६३८ ई० में सार्वदेशिक सभा से उसका सम्बन्ध हो गया। फिजी में सन् १६१६ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा की स्थापना हुई जिसका सम्बन्ध सन् १६२८ ई० में सार्वदेशिक सभा देहली से हुआ। इस सभा की ओर से वैदिक सन्देश' प्रकाशित होता है।

उत्तगायना के सुरीनाम, सेकेरी, ब्रिटिश गायना, ट्रीनीडाड, आदि में भी इसी प्रकार आर्य समाजों की स्थापना हुई है। गत महा-युद्ध में (सन् १६१४ ई० में) भारतीय सेनाएँ ईराक में गईं। इन सेनाओं के साथ जाने वाले भारतीयों ने बगदाद में भी सन् १६१६ ई० में आर्य समाज की स्थापना की। (इस सम्बन्ध में विशेष डायरेक्टरी के पृष्ठ सं० २८ पर भी देखिये।)

इस समय निम्न स्थानों पर आर्य समाज और आर्य प्रतिनिधि सभायें स्थापित हैं:—

आर्य प्रतिनिधि सभायें—

1. आर्य प्रतिनिधि सभा नेटाल(Netal)
   P. O. Box 1770
   Durban (Netal).
   (South Africa).
2. आर्य प्रतिनिधि सभा पूर्वी अफ्रीका
   (East Africa)
   P.O. Box No. 243, Nairobi,
   (Kenya Colony)
   (British East Africa)
3. आर्य प्रतिनिधि सभा, मौरिशस
   (Mauritius)
   Port Louis.
   (Mauritius)
4. आर्य प्रतिनिधि सभा, फिजी (Fiji)
   151, Lautuka (Fiji)
5. आर्य प्रतिनिधि सभा, सुरीनाम
   (Suriname)
   P.O. Box 450,
   Paramaribo
   (Dutch Guiana)
   (South America)

आर्य डाइरेक्टरी

आर्य प्रतिनिधि सभा, पूर्वी अफ्रीका से सम्बद्ध आर्य संस्थायें (सन् १९३९)

Name	Post Office	Place or Station
1. Arya Samaj	P.O. Box No. 243	Nairobi (Kenya Colony)
2. Arya Istri Samaj	,,	,,
3. Shradhanand Brahm-charya Ashram	,,	,,
4. Arya Samaj	Fort Hall Road	,,
5. Arya Samaj Machakos	C/o M. D. Puri & Sons	Machakos ,,
6. Arya Samaj	P.O. Box 98	Nakuru ,,
7. Arya Samaj Nanyuki	C/o Nanyuki Stores	Nanyuki ,,
8. Arya Samaj Mombasa	P.O. Box 131	Mombasa ,,
9. Education Board Arya Samaj	,,	,, ,,
10. Rest House Arya Samaj	,,	,, ,,
11. Arya Samaj Kisumu	P.O. Box 89	Kisumu ,,
12. Shraddhnnand Rest House	P.O. Box 89 (Arya Samaj Kisumu)	,,
13. Arya Samaj Eldoret	Eldoret	Eldoret ,,
14. ,,	P.O. Box 16	Tororo (Uganda)
15. ,, Mdale		Mdale ,,
16 Arya Sama Jinja	C/o D. B. Desai M.A., Principal	Janja (Uganda)
17 ,, Lugzi	C/o N.K. Mehta M.B.E, P. Box 1	Lugzi ,,
18 ,, Kamapla	P. O. Box 412	Kampala ,,
19 ,, Masindi Town		Masindi Town ,,

20	„ Daree Salaam	P. O. Box 77	Dares-Salaam (T.T.)
21	Arya Girls School, (S. N. K. Mehta)	Fort Hall Road P. O. Box243	Natrobi (Kenya Colony)
22	Arya Girl School Nakura	P. O. Box 98	Nakuru
23	„ „ Kisumu	P. O. 89 Kisumu	Kisumu
24	„ „ Deres-Salaam	P. O. Box 77	Dares-Salaam (Tanganyika)
25	Arya Samaj Zanzibar	P. O. Box 107	Zanzibar
26	Arya Kanya Vidyalaya	P. O. Box 107	Zanzibar
27	Arya Samaj Tabora		(Tanganyika Territory)
28	„ Mwanza	C/o Seth Dhanji Raghavji	(Kenya Colony)
29	„ Miwani	P.O. Miwani	(Kenya Colony)
30	„ Ruiru	P. O. Ruiru C/o M.R. Ghai & Sons Ruiru.	
31	„ Thika	C/o Arya Muni Verma M. H. Principal	(Kenya Colony)
32	„ Arusha	C/o Bhagwandas & Co. P. O. Arusha (T.T)	(Tenganyika)

अन्य आर्य समाज—

1. Arya Samaj, Chaguanas (Trinidad) (British West Indies)
2. Arya Samj, P. O. Box No. 42 Rowell Road, Singapore (Straits Settlement).
3. Arya Samaj, P. O. Box No. 44 Bangkok (Siam)
4. Arya Samaj, P. O. Box 6, Baghdad (Iraq)
5. Arya Samaj, Aden.

साहित्य सेवा

आर्यसमाज ने जहां शिक्षा व सामाजिक सेवाके क्षेत्रमें विस्तृत लोकोपकारी कार्य किया है, वहां साहित्य द्वारा जनता तक वैदिक शिक्षाओं के पुनीत सन्देश को पहुंचाने के लिए अपनी शक्ति भर प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में हम आर्यसमाज द्वारा की गई साहित्य सेवाके विभिन्न अंगों पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

हिन्दी भाषा और नागरी लिपि

ऋषि दयानन्द स्वयं गुजराती थे और थे संस्कृत साहित्य एवं भाषाके प्रौढ़ पंडित एवं अद्वितीय वक्ता। परन्तु सर्वसाधारण में अपने सन्देश का प्रचार करने के लिए उन्होंने दूर-दर्शिता से काम लिया, उन्होंने आर्य (हिन्दी) भाषा और देवनागरीको अपनाया। वे जानते थे कि हिन्दी ही ऐसी भाषा है और देवनागरी लिपि, जो भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें बोली, समझी और आसानी से पढ़ी जा सकती हैं। उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दीमें लिखा। यही नहीं, आर्यसमाजके उप-नियमों में हिन्दी सीखना प्रत्येक आर्य सभासद् के लिए आवश्यक रखा। 'आर्य-समाचार' मेरठसे और 'भारत सुदशा प्रवर्तक' फरुखाबाद से उनके जीवनकाल में ही हिन्दी में प्रकाशित होने लगे थे।

ऋषि के पश्चात् उनके अनुयायियों ने इस सूत्र को पकड़ लिया। स्व० स्वा० श्रद्धानन्द जी (म० मुंशीराम जी) ने अपना 'सद्धर्मप्रचारक' साप्ताहिक घाटे की परवाह न कर हिन्दी में कर दिया। इससे पहिले जो उर्दू पत्र पंजाब से प्रकाशित हो रहे थे या हो रहे हैं उनकी लिपि मात्र ही उर्दू होती है, भाषा सब हिन्दी और संस्कृत मिश्र हिन्दी है।

विविध साहित्य

ऋषि के शिष्यों ने वैदिक, प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यके अनेक ग्रन्थ इन ५०-६० वर्षों में लिखे हैं। उर्दू, अंग्रेजी, बंगला, सिन्धी, मराठी, तैलगू, कनारी आदि सभी भाषाओंमें आर्यसमाज के सिद्धान्तों का साहित्य प्रकाशित किया है; विषय भी सभी विविध हैं, वेद, उपनिषद्, प्राचीन और अर्वाचीन, दर्शन, इतिहास, विज्ञान आदि कोई विषय आर्यसमाजी विद्वानों की लेखनी से बचा नहीं है। कई एक विद्वानों ने अपनी कृतियों पर प्रशंसा पत्रों के अतिरिक्त प्रसिद्ध पारितोषिक भी ग्रहण किये हैं।

इस साहित्यसेवा का एक कारण आर्य-समाज की व्यापक शिक्षा और इसके शिक्षणालय भी हैं। गुरुकुलों की तो मातृभाषा और शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही है। इसलिये इनके स्नातकों और उपाध्यायों ने हिन्दी साहित्य की श्री-वृद्धि करने में बड़ा हाथ बंटाया है। आर्य समाज के उपदेशकों ने जहाँ भारत

और भारत से भी बाहर विदेशों में हिन्दी भाषा द्वारा प्रचारका कार्य किया है, वहाँ साथ-साथ अनेक सिद्धान्त ग्रन्थों और कविता व भजनों का भी निर्माण किया है।

वेदभाष्य

यहाँ हम इन सब का विस्तार से वर्णन न देते हुए केवल वेदभाष्य के सम्बन्ध में आर्यसमाज के प्रयत्न का उल्लेख करते हैं। कारण कि वेद आर्य जाति के आर्य धर्म का आधार है। आर्य सभासद् का तो यह कर्तव्य है कि वह प्रति दिन वेद का स्वाध्याय करे।

वेदभाष्य के पथ-प्रदर्शक तो महर्षि दयानन्द ही हैं। उन्होंने ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में वेदभाष्य के प्रकार व साधनों पर पूर्ण विचार किया है। आपने यजुर्वेद और ऋग्वेद के कुछ भाग (७ मंडल, ४ अध्याय, ६१ सूक्त तक) का भाष्य स्वयं किया। ऋषि दयानन्द का समय इतना व्यस्त था कि वे इससे अधिक न कर पाये—इधर आकस्मिक मृत्यु ने उन्हें हमसे छीन लिया।

ऋषि दयानन्द के पश्चात् आर्य विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। स्व० पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी ने कुछ स्थलों पर अपनी टीकायें लिखीं—पंडित जी ने वेदके स्वाध्यायके लिए ही अष्टाध्यायी पढ़ना आरम्भ किया था। परन्तु आप भी शीघ्र ही हमसे छिन गये। मेरठ के पं० तुलसीराम जी स्वामी ने जहाँ और अनेक वैदिक व प्राचीन साहित्यके ग्रन्थों पर भाष्य लिखे वहाँ सम्पूर्ण सामवेदका भाष्य भी लिखा। आप सामवेद भाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हुए। इधर पं० क्षेमकरणदास जी ने अथर्ववेद का भाष्य लिखा। अजमेर के आर्य साहित्य मंडल की ओर से पं० जयदेव जी शर्मा विद्यालंकार ने चारों वेदों का सरल वेदभाष्य हिन्दी भाषामें पिछले दिनों लिखा। औंध के श्री पं० श्रीपाद सातवलेकर जी, पं० भगवद्दत्त जी रिसर्चस्कालर, पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार (निरुक्तभाष्यकार), पं० विश्वनाथजी विद्यालंकार उपाध्याय गुरुकुल काँगड़ी ने भी वेद के कुछ भागों और वेद के अंगों निरुक्त आदि की व्याख्यायें व भाष्य लिखे हैं।

वर्तमान में पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार वेदभाष्य के सम्बन्ध में विशेष रूप से प्रयत्न कर रहे हैं। आपने इसी प्रयोजन से मेरठ के समीप प्रभात आश्रम की स्थापना की है। (इसका विस्तृत विवरण पृष्ठ २०६ पर देखिए) पं० जी का अथर्ववेद भाष्य प्रथम कांड प्रेस में दिया जा चुका है। 'शतपथ भाष्य' और 'शतपथमें एक पथ' नाम की आपकी पुस्तकें इसी प्रयत्न का एक भाग हैं। ये दोनों प्रकाशित हो चुकी हैं।

इन वैयक्तिक प्रयत्नोंके अतिरिक्त सभाओं की ओर से भी इस दिशामें प्रयत्न जारी हैं। जनता की इच्छा है कि किसी उत्तरदायी सभा की ओर से सब आर्य विद्वानों द्वारा अनुमो-

दित वेदभाष्य प्रकाशित हों। आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के अनुसन्धान विभाग की ओर से वेदार्ष कोश ३ भागों में प्रकाशित हो चुका है। इसके सम्पादक पं० चमूपति जी एम० ए० व स्वामी वेदानन्द जी हैं। पं० भगवद्दत्त जी ने भी वैदिक कोष नाम से एक उपयोगी कोष प्रकाशित किया है। आर्य प्रतिनिध सभा संयुक्तप्रान्त की देख रेखमें एक अनुसन्धान विभाग "वैदिक संस्थान" नाम से गुरुकुल वृन्दावन में खुला है। इसके मुख्य सम्पादक गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक पं० द्विजेन्द्रनाथ जी सिद्धान्त शिरोमणि हैं। इस विभाग की ओर से यजुर्वेद के १५ अध्यायों का भाष्य का एक भाग में प्रकाशित हो चुका है। लाहौर में "विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान" भी इस दिशा में प्रयत्न कर रहा है।

मंगलाप्रसाद पारितोषिक के विजेता

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रतिवर्ष विभिन्न विषयों की सर्वोत्तम हिन्दी पुस्तक पर १२००) रुपये का मंगलाप्रसाद पारितोषिक भेंट करता है। निम्न आर्य लेखक व गुरुकुल के स्नातक इस पारितोषिक को प्राप्त करने का सौभाग्य उठा चुके हैं:—

१. श्री प्रो० सुधाकर जी एम. ए.,
मंत्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा।

२. पं० जयचन्द्र जी विद्यालङ्कार

३. स्व० पं० पद्मसिंह जी शर्मा

४. डा० सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार

५. पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय

इसी सम्मेलन की ओर से सेकसरिया पुरस्कार श्रीमती चन्द्रावती जी लखनपाल एम. ए. (धर्मपत्नी पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार) व 'राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार' पं० सत्यदेव जी विद्यालंकार सम्पादक दैनिक 'हिन्दुस्तान' को भेंट किया जा चुका है।

आर्य समाचार पत्र

इस समय निम्न समाचार पत्र विभिन्न भाषाओं में आर्य संस्थाओं तथा आर्य भाइयों द्वारा सम्पादित या प्रकाशित हो रहे हैं:—

दैनिक—

१. वीर अर्जुन देहली, हिन्दी (साप्ताहिक भी)। संचालक—श्रद्धानन्द पब्लिकेशन लिमिटेड। व्यवस्थापक—श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति। सम्पादक—पं० रामगोपाल जी विद्यालंकार।

२. हिन्दुस्तान नई दिल्ली (हिन्दी) सम्पादक—पं० सत्यदेव जी विद्यालंकार।

३. प्रताप लाहौर (उर्दू) मालिक—म० कृष्ण जी बी० ए०।

४. मिलाप लाहौर (उर्दू) मालिक म० खुशहालचन्द्र जी खुर्सन्द।

५. मिलाप लाहौर (हिन्दी) मालिक म० खुशहालचन्द्र जी खुर्सन्द।

६. हिन्दू लाहौर (उर्दू) संचालक श्री भाई परमानन्द जी एम. ए., एम. एल. ए.

७. तेज देहली (उर्दू) संचालक—श्री देशबन्धु जी गुप्त एम० एल० ए०।

८. जागृति कलकत्ता (हिन्दी) साप्ताहिक भी। संचालक—श्री मिहरचन्द्र जी धीमान्।

साप्ताहिक—

१. प्रकाश लाहौर (उर्दू) मा०—म० कृष्ण जी बी० ए०।

२. आर्य गज़ट लाहौर (उर्दू) संचालक—आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब व सिन्ध। सम्पादक प्रो० दीवानचन्द शर्मा।

३. आर्य मित्र लखनऊ (हिंदी) संचालक—आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत।

४. आर्य गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार (हिंदी) संचालक—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर।

५. आर्यभानु नागपुर (हिंदी) सम्पादक—श्री अमरकादयानी।

६. आर्य मार्तण्ड अजमेर (हिंदी) संचालक—आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा।

७. विजय, अजमेर (हिंदी)।

८. आर्य सेवक, हुशंगाबाद (हिन्दी) संचालक—आर्य प्रतितिधि सभा मध्य प्रांत व विदर्भ।

९. आर्य वीर लाहौर (उर्दू), संपादक—पं० मेहरचंद शर्मा।

१०. जागृति कलकत्ता (हिंदी), संचालक—श्री मिहरचंद जी धीमान्।

११. आर्य प्रकाश आनन्द खेड़ा (गुजराती) संचालक—आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई।

१२. आर्य ज्योति बम्बई, संचालक—(गुजराती) बम्बई आर्य समाज।

१३. ऋषि बिजनौर (उर्दू)।

१४. हिन्दू, देहली, (हिंदी) संचालक—देवता स्वरूप भाई परमानंद जी एम० ए०, एम० एल० ए०।

१५. आर्य कलकत्ता (बंगला) आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल व आसाम की देख-रेख।

१६. आर्यवीर (मौरीशस अंग्रेजी व हिन्दी) पोर्ट लूइस, जैकब स्ट्रीट नं० २, सचालक—आर्य प्रतिनिधि सभा मौरीशस।

मासिक—

१. सार्वदेशिक देहली, हिंदी। संचालक—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा। सम्पादक—श्री प्रो० सुधाकर जी एम० ए० मंत्री।

२. आर्यावर्त लाहौर (हिंदी) सम्पादक—श्री 'हितैषी'।

३. दयानन्द सन्देश दिल्ली (हिंदी) सम्पादक—श्री राजेन्द्रनाथ शास्त्री आर्य दयानन्द वेद विद्यालय मस्जिद मोठ देहली।

४. वैदिक धर्म औंध जिला सतारा (हिंदी) सम्पादक -श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी

५. आर्यजगत् लाहौर (हिन्दी) संचालक—आर्य प्रादेशिक सभा लाहौर।

आर्य पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता

१. वैदिक पुस्तकालय (वैदिक यन्त्रालय अजमेर।
२. सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, पुस्तक-विभाग देहली।
३. आर्य प्रतिनिधि सभा. पंजाब, चमूपति साहित्य विभाग गुरुदत्त भवन लाहौर।
४. महात्मा हंसराज वैदिक साहित्य विभाग आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर।
५. बुकडिपो रिसर्च डिपार्टमेंट, डी० ए० वी० कालिज लाहौर।
६. गुरुकुल पुस्तक भण्डार, डाकघर गुरुकुल कांगड़ी जिला सहारनपुर।
७. ट्रैक्ट विभाग आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त, नारायण स्वामी भवन नं० ५ हिल्टन रोड लखनऊ।
८. आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर।
९. पं० वजीरचन्द्र शर्मा वैदिक पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर।
१०. म० राजपाल एन्ड सन्स सरस्वती आश्रम आर्य पुस्तकालय लाहौर।
११. लाला रामलाल कपूरट्रस्ट लाहौर।
१२. गोविन्दराम हासानन्द आर्य साहित्यभवन नई सड़क देहली।
१३. शारदा मन्दिर लिमिटेड नई सड़क देहली।
१४. चतुर आर्य पुस्तकालय नईसड़क देहली।
१५. मास्टर लक्ष्मण आर्य; दयानन्द पुस्तकालय आर्य होटल लाहौर तथा आ० स० बिड़ला लाइन्स सब्जी मंडी देहली।
१६. स्वामी प्रेस—पं० तुलसीराम स्वामी पुस्तकालय मेरठ।
१७. जयन्तीप्रसाद आर्य पुस्तकालय, निकट तहसील, मेरठ।
१८. वैदिक पुस्तकालय, अध्यक्ष पं० शंकरदत्त शर्मा गंज मुरादाबाद।
१९. वैदिक आर्य पुस्तकालय, श्यामलाल वर्मा बरेली।
२०. वैदिक प्रेस शामली, जिला मुजफ्फरगढ़।
२१. उपाध्याय एन्ड को० सरस्वती प्रेस मुरादाबाद।
२२. गोविन्द ब्रादर्स एन्ड को० अलीगढ़।
२३. चिम्मनलाल अग्रगुप्त, माणिक चौक अलीगढ़।
२४. सरस्वती पुस्तक भंडार, आर्यनगर लखनऊ।
२५. चौधरी एन्ड सन्स, बनारस सीटी।
२६. ज्वालाप्रसाद शर्मा, फुलटी बाजार आगरा।
२७. प्रेम पुस्तकालय, आगरा।
२८. बन्सीलाल तिवारी, बुकसेलर चार महल पटेला बुर्ज हैदराबाद दक्षिण।
२९. शंकरराव यादव बुकसेलर कसार हट्टा हैदराबाद दक्षिण।
३०. अयोध्याप्रसाद, आर्य पुस्तक विक्रेता चौक फैजाबाद।

३१. साहित्य प्रचारिणी सभा, आर्यसमाज लोअर बाजार शिमला।

३२. त्रिकमलाल हरिलाल आर्य पुस्तकालय लूणसावाड़ा धंतुरापोल अहमदाबाद।

३३. जयदेव ब्रादर्स, कारेली बाग बड़ौदा।

३४. ओंकारदत्त आर्य, आर्यपुस्तकालय सदर-बाजार रायपुर सी० पी०।

३५. पं० लक्ष्मणराव ओघले, नं० ४६ हरिन्द्र वील्ला माटुंगा बम्बई नं० १६।

३६. म० धर्मपाल, वैदिक आर्य पुस्तकालय गुलबर्गा निजाम।

३७. के० नारायण गणेशकामठ बुकसेलर, कारकाला, साउथ कानरा।

३८. दक्खन बुकडिपो, आबिदरोड, हैदराबाद दक्खिन।

३९. पं० मंगतराम, प्रकाशक पुस्तकालय साकची बाजार जमशेदपुर (टाटानगर)।

४०. रामदास वैश्य, बुकसेलर १६।१ कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता।

४१. आर्य पुस्तक भंडार, १८० चितरंजन एवन्यू कलकत्ता।

४२. मारवाड़ी प्रेस बुकडिपो, अफजल गंज हैदराबाद दक्षिण।

४३. रघुनाथप्रसाद आर्य, आर्यकुमार बुकसेलर नरकटियागंज (चम्पारण)।

४४. आर० एन० मिश्र, १६६ बिगनडटे स्ट्रीट रंगून।

४५. लक्ष्मीनारायण वर्मा आ० स० मथुरिया मोहल्ला, बिहार शरीफ।

४६. काशीलाल आर्य पुस्तक भंडार, नवादा (गया)।

४७ लक्ष्मीनारायण आर्य वैदिक पुस्तकालय आ० स० मेस्टन रोड कानपुर।

४८. अच्युतानन्द पुस्तक विक्रेता आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार बांकीपुर (पटना)।

४९. ट्रैक्ट विभाग आर्यसमाज चौक प्रयाग।

५०. आर्यसमाज काकड़वाड़ी, गीरगाँव बम्बई।

५१. श्रद्धानन्द पब्लिकेशन्स लिमिटेड, नया बाजार देहली।

५२. प्रभात पुस्तक भंडार, गुरुदत्त भवन लाहौर, तथा देहली।

५३. हरिश्चन्द्र विद्यालङ्कार, ७५१ कटरा लच्छूसिंह, देहली।

रक्षा-कार्य

यों तो आर्यसमाज की स्थापना का एक मात्र उद्देश्य आर्य जाति की चारों ओर से रक्षा करना ही है। महर्षि दयानन्द ने वैदिक-धर्म और उसके मानने वाली आर्य जाति की रक्षा को ध्यान में रखकर ही अपना चौमुखा कार्यक्रम बनाया। अवैदिक रूढ़ियों का खंडन वैदिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, वैदिक कर्तव्यों पर ध्यान देना, वैदिक-सामाजिक-सहयोग, अनाथों, विधवाओं तथा पीड़ितों की रक्षा, दलितोद्धार, शुद्धि, संगठन, यह सारा कार्यक्रम इसी दृष्टि बिन्दु से आर्यसमाज निभाता रहा है।

सन् १९२०-२१ ई० के पश्चात् देश की बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति में जब बात-बात पर हमारे मुसलमान भाई हिन्दू (आय) जाति के नागरिक अधिकारों का विरोध और जहां तहाँ संघर्ष करने लगे तो आर्यसमाज को विशेष चिन्ता हुई। सन् १९२७ ई० में इस कार्य को क्रिया रूप में परिणत करने के लिये आर्य रक्षा समिति की स्थापना हुई और आर्य वीर दल स्थापित किया गया। सन् '९२९ ई० में इस कार्य के लिए ११५०० आर्य वीरों ने अपने नाम पेश किए।

इस समिति और दल की स्थापना का परिणाम आर्य समाज के लिए शुभ हुआ। बहादुराबाद आर्य समाज मन्दिर पर से आर्य ध्वज उतारने और पानीपत के नगर कीर्तन आदि के मामले समुचित रीति से हल हो गए।

पिछले दिनों राजनैतिक स्थिति में और परिवर्तन हुए। पाकिस्तान और खाकसार आन्दोलनों ने आर्य समाज को और भी अधिक चेतन कर दिया। इधर हैदराबाद में किये गए सत्याग्रह के सम्बन्ध में आर्य जनता ने जो उत्साह अपना तन- मन, धन अर्पित करने में दिखाया उसे देखते हुए आर्य सार्वदेशिक सभा को आर्य वीर दलों की आवश्यकता तथा सफलता पर और भी अधिक विश्वास हो गया।

इस बार सभा ने आर्य वीर दल के संगठन को और भी अधिक स्थायी और क्रियात्मक बनाने के लिए अपनी २ जून सन् १९-४० ई० की अन्तरंग सभा में निम्न नियम स्वीकृत किये। इस कार्य के लिए १. श्री महात्मा नारायण स्वामी जी, २. श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज, ३. और श्री ला० देशबन्धु जी गुप्त एम० एल० ए० की उप समिति नियुक्ति की। डोरली और देहली में दो शिक्षक नियत किये और इस प्रकार ५० शिक्षक तैयार हुए। इस कार्य में पं० शिवदयालु जी,

पं० ज्ञानचन्द्र जी व सूबेदार टेकचन्द्र जी ने सभा को प्रशंसनीय सहयोग दिया।

आर्य वीर दल के नियम

आर्य वीर दल की सभा द्वारा स्वीकृत नियम निम्न हैं:—

नाम

इस सङ्घ का नाम आर्य वीर दल होगा। इसका प्रत्येक सदस्य आर्य वीर तथा प्रत्येक सदस्या आर्य वीरांगना कहलायेगी।

उद्देश्य

१—आर्य जाति में क्षात्र धर्म का प्रचार करना एवं आत्म रक्षा की योग्यता उत्पन्न करना।

२—जनता में सेवा भाव का प्रचार करना।

३—आर्य धर्म, सभ्यता, तथा संस्कृति की समस्त उचित उपायों द्वारा रक्षा करना।

विभाग

१—आर्य वीर विभाग—इसमें १८ से ५० वर्ष तक की आयु के वीर प्रविष्ट होंगे।

२—आर्य वीरांगना विभाग—इसमें १८ से ४० वर्ष तक की आयु तक की वीरांगनायें प्रविष्ट होंगी।

३. बाल विभाग—इस विभाग में १० से १७ वर्ष तक की आयु के बालक और बालिकायें इस दृष्टि से प्रविष्ट की जायेंगी कि प्रौढ़ होने पर क्रमानुसार सं० १ व २ में भरती हो सकें। बालक और बालिकाओं के दल पृथक् २ होंगे।

नोट—आयु की अवधि का नियम विशेष अवस्था में शिथिल किया जा सकता है।

सदस्य

आर्य संस्कृति में आस्था रखने वाले जिसमें वैदिक धर्मी, सनातनी, सिक्ख, जैनी, बौद्ध, राधा स्वामी, ब्रह्मसमाजी आदि सब समाविष्ट हैं, इनमें से कोई स्त्री-पुरुष निम्न प्रतिज्ञा-पत्र भरने पर दल के सदस्य बन सकेंगे।

प्रतिज्ञा

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि।

मैं.........................व्रत पति, परमात्मा को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता/करती हूं कि 'मैं आर्य संस्कृति तथा जनता की रक्षा के कार्यों तथा लोक सेवा के लिये तैयार रहूँगा/रहूँगी और आर्य वीर दल के अधिकारियों की आज्ञाओं का तथा आर्य वीर दल के लिये नियत नियन्त्रण का अविचल पालन करूंगा/करूंगी तथा आर्य वीर दल के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सर्वदा उद्यत रहूँगा/रहूँगी

शाखा

किसी भी स्थान पर ११ वीर होने पर दल की शाखा स्थापित की जायेगी।

संगठन

दल का संगठन निम्न प्रकार होगा:—

१. टोली—११ वीर होने पर एक टोली बन सकेगी। जिनमें से १ टोली अध्यक्ष तथा एक सहायक टोली अध्यक्ष होगा।

२. जत्था—४ टोलियों का एक जत्था बन सकेगा। इसके ऊपर एक जत्थाध्यक्ष तथा एक सहायक जत्था अध्यक्ष होगा। इस प्रकार जत्थे में कुल संख्या ४६ होगी।

३. सङ्घ—चार जत्थों का एक सङ्घ बन सकेगा इसके ऊपर एक सङ्घाध्यक्ष तथा दूसरा सहायक सङ्घ अध्यक्ष होगा। इस प्रकार सङ्घ में कुल संख्या १८६ होगी।

४. पथक—चार सङ्घों का एक पथक बनेगा। इसके ऊपर एक पथकाध्यक्ष तथा एक सहायक पथकाध्यक्ष होगा। इस प्रकार इसकी कुल संख्या ७४६ होगी।

५. दल—चार पथकों का एक दल होगा। इसके ऊपर एक दलपति तथा दूसरा सहायक दलपति होगा इस प्रकार उसकी कुल संख्या २६८६ होगी।

६ सेना—चार दलों की एक सेना कहलायेगी। जिसके ऊपर एक सेनापति तथा दूसरा सहायक सेनापति होगा। इस प्रकार इसकी कुल संख्या ११६४६ होगी।

उपर्युक्त सेना तथा उसके विभागों का अधिनायक एक मुख्य सेनापति होगा।

नोटः—आर्य वीर दल के उपर्युक्त विभागों के साथ आवश्यकतानुसार अन्य कर्मचारी भी होंगे जैसे चिकित्सक अपने स्टाफ सहित, स्ट्रेचर उठाने वाले, बिगुलर, सन्देशवाहक, झण्डी वाले, वाहन प्रबन्धक आदि।

दीक्षा

क—दल के प्रत्येक वीर को दल के अधिकारियों द्वारा नियत शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक होगा। जिस समय तक किसी शिक्षण शिविर में रहकर शिक्षा प्राप्त न की जावेगी कोई भी वीर दीक्षित न माना जावेगा।

ख—शिक्षा पूरी होने पर ध्वज के सम्मुख आर्य वीरों तथा वीरांगनाओं के लिये नियत प्रतिज्ञा ग्रहण करनी होगी।

नोटः—शिक्षा तथा दीक्षा की पद्धति दल के अधिकारी नियत करेंगे।

वेश

सभी आर्य वीरों तथा आर्य वीरांगनाओं को दल के अधिकारियों द्वारा नियत वेश पहिनना होगा। वस्त्र सब स्वदेशी तथा यथासम्भव खादी के होंगे।

प्रबन्ध

क—दल के कार्य सञ्चालन के लिये एक "अखिल भारतीय आर्य-वीर दल समिति"

होगी। समिति के सदस्यों की संख्या ११ होगी।

ख—समिति का निर्माण निम्न प्रकार होगा:—प्रधान सार्वदेशिक सभा, मंत्री सार्वदेशिक सभा, कोषाध्यक्ष, सार्वदेशिक सभा द्वारा नियुक्त मुख्य सेनापति तथा आर्य वीर दल समिति का मन्त्री तथा अन्य ६ सदस्य नियुक्त।

ग—सभा का प्रधान ही समिति का प्रधान होगा। उसकी अनुपस्थिति में उपस्थित सज्जनों में से कोई प्रधान चुना जावेगा।

दल के अधिकारी विभाग

आर्य दल के अधिकारियों के दो विभाग होंगे।

१—साधारण अधिकारी जिन्हें मुख्य सेनापति नियुक्त करेंगे।

२—विशेष अधिकारी जिन्हें मुख्य सेनापति की सिफारिश पर अखिल भारतीय 'आर्य वीर दल समिति' नियुक्त करेगी।

नोट:—आवश्यकतानुसार उपनियमों के निर्माण करने का अधिकार अखिल भारतीय "आर्य वीर दल समिति" को होगा।

आर्य वीर दल में प्रवेशार्थ प्रार्थना-पत्र

सेवा में,

श्री० प्रवेशाध्यक्ष जी, सादर नमस्ते!

मैंने आर्य वीर दल के नियम देख और समझ लिये हैं। मैं प्रतिज्ञा करता/करती हूं कि उन नियमों का पालन करूंगा/करूंगी धार्मिक और सामाजिक सेवाओं को अपना कर्तव्य समझूँगा/समझूँगी और उनके लिये आवश्यकता पड़ने पर प्राण तक अर्पण करने के लिए सर्वदा उद्यत रहूँगा/रहूँगी। दल के नियमों के अनुसार जिन आज्ञाओं का पालन करना आवश्यक है, उनके पालन में कभी त्रुटि न करूंगा/करूंगी। अतः प्रार्थना है कि मुझे दल में प्रवेश की आज्ञा प्रदान करने की कृपा करें।

प्रार्थी का नाम————————

पिता का नाम————————

पति का नाम

आयु————पूरा पता————————

————————————————

तिथि———— ह० प्रवेशार्थी————————

आर्य-ध्वज-गीत

जयति ओ३म् ध्वज व्योम बिहारी।
विश्व प्रेम प्रतिमा अति प्यारी॥ जयति०॥
सत्य सुधा बरसाने वाला,
स्नेह-लता सरसाने वाला।
साम्य सुमन विकसाने वाला,
विश्व-विमोहक भव-भय हारी।
॥ जयति०॥

इसके नीचे बढ़ें अभय मन,
सत्पथ पर सब धर्म धुरी जन।
वैदिक रवि का हो शुभ उदयन,
आलोकित होवें दिशि सारी।
॥ जयति० ॥

इससे सारे क्लेश शमन हों,
दुर्मति दानव द्वेष दमन हों।
अति उज्ज्वल अति पावन मन हों,
प्रेम तरंग बहै सुखकारी।
॥ जयति० ॥

इसी ध्वजा के नीचे आकर,
ऊँच नीच का भेद भुलाकर।
मिले विश्व मुद मंगल गाकर,
पन्थाई पाखण्ड बिसारी।
॥ जयति० ॥

इस ध्वज को लेकर हम कर में,
भरदें वेद-ज्ञान घर-घर में।
सुभग शान्ति फैले जग भर में,
मिटे अविद्या की अँधियारी।
॥ जयति० ॥

विश्व प्रेम का पाठ पढ़ावें,
सत्य अहिंसा को अपनावें।
जग में जीवन ज्योति जगावें,
त्याग पूर्ण हो वृत्ति हमारी।
॥ जयति० ॥

आर्य जाति का सुयश अक्षय हो,
आर्य ध्वजा की अविचल जय हो।
आर्य जनों का ध्रुव निश्चय हो,
आर्य बनावें वसुधा सारी।
॥ जयति० ॥

आर्य वीर दल की सूची

जिला	स्थान	आ० वी० द०
देहली	देहली करौलबाग	१०
,,	नरेला	२०
रोहतक	झज्जर	४०
,,	भैंसवाल कलाँ	२७
हिसार	भिवानी	२०
,,	सिरसा	५०
गुड़गांवां	हसनपुर	२०
करनाल	घरौंडा	१५
	करनाल	२०
शिमला	डगशाई	५२
	नालागढ़	३२
पटियाला	नरवाना	२०
	नारनौल	१५
	नाभा	
जींद	भुसलाना	१५
जालन्धर	फिल्लौर	२०
गुरुदासपुर	दीनानगर	
	स्यालकोट	
होशियारपुर	शामचौरासी	५०
	दसूहा	१५
सरगोधा	भलवाल	३३
मुजफ्फरगढ़	अलीपुर	२५

	खानगढ़	३०
	झुग्गीवाला	१५
	कोटअट्टू	१२
डेरा गाज़ीखां	जामपुर	
	टिब्बी कैसरानी	२४
कांगड़ा	नूरपुर	४५
	मंडी नगर	१२०

संयुक्तप्रान्त

देहरादून	देहरादून	६५
	मसूरी	३०
सहारनपुर	खेड़ा अफगान	६
अलीगढ़	फरौली	५०
बिजनौर	भोजपुर-बरमपुर	११
	न्हटौर	२०
	नजीबाबाद	४०
मुरादाबाद	मुरादाबाद	४३
	चन्दोसी	१०
इलाहाबाद	प्रयाग	२५
	मुट्ठीगंज	
बलिया	बलिया	३५
मैनपुरी	जसराना	१५०
	कुसमरा	१४
गढ़वाल	पौड़ी	१०६
झांसी	नगरा	३३
	मऊरानीपुर	१८
खीरी	मुहम्मदी	४४
बस्ती	बढ़नी बाजार	२८

राजस्थान

जयपुर	टमकौर (बिसाऊ)	१०
	मण्डावा	४६
भरतपुर	भरतपुर	११
सिरोही	आबूरोड	२३
इन्दौर	गौतमपुरा	७
भूपाल	सीहोर	२४
अजमेर	अजमेर	१००
उदयपुर	उदयपुर	२०
	छोटी सादड़ी	२४
	नन्दराम	१२
	देवास जुनियर	३
ग्वालियर	ग्वालियरसिटी	६०
	मनावर	१२

बिहार

पटना	खुसरुपुर	१०
	आतासराय	१४
	परसा	६
भागलपुर	भागलपुर	२५
मुजफ्फरपुर	बैरगिनिया	४१
मुंगेर	वारो	६
गया	वारसलीगंज	५०
चम्पारण	केशरिया	१४
पलामू	गढवा	२०
आरा	आरा	३५
दरभंगा	जयनगर	२३

मध्यप्रान्त

आमला	बैतूल बाजार	११
सागर	रहेली	३०

बंगाल तथा आसाम

कलकत्ता	१. मल्लिक बाजार	२०
,,	२. सलकिया	४०
,,	३. बड़ा बाजार	२७
२४ परगना	कांचरापाड़ा	१५
	काँकिनारा	२०
मैमनसिंह	मेलदंह बाज़ार	५०६
	(२४५ देवियां हैं)	
	बगदल	

निजाम राज्य

अ वपेठ	४८
गुलबर्गा	६०
बम्बई नगर (११२ शाखायें)	५००

हमारे हुतात्मा आर्य वीर

आर्यसमाज का इतिहास बलिदानों का इतिहास है। इसकी जीवन व जागृति का एक मुख्य कारण इसके पवित्र बलिदान भी हैं। इस प्रसिद्ध उक्तिके अनुरूप कि हुतात्माओं का रक्त समाज और राष्ट्रके भवन निर्माणमें सीमेंट का कार्य देता है आर्यसमाज की बलि वेदी पर अपने प्राणोंकी आहुति देने वालोंने आर्य-समाज के भवन निर्माण में स्तुत्य और सम्मान योग्य योग दिया है। आर्यसमाज को अपने छोटे से जीवन में जितने बलिदान देने पड़े हैं उतने इस युगमें शायद ही अन्य किसी समाज या संस्था ने दिये हों। अपने वीर हुता-त्माओं के प्रति विनीत श्रद्धाँजलि प्रस्तुत करते हुए हम उनके चारु चरित्रका संक्षेप में वर्णन करते हैं:—

श्री स्वामी महर्षि दयानन्द सरस्वती

जोधपुर नरेश की एक मुंह लगी वेश्या नन्हीं जान के षड्यन्त्र से श्री स्वामी जी महा-राज को उनके पांचकं जगन्नाथ द्वारा दूध में विष पिलाया गया था। महर्षि ने महाराज जोधपुरकी वेश्याभक्ति आदि दुर्गुणोंकी शिका-यत सुनी थी। एक वार स्वामी जी राजमहल में गए हुए थे। वहाँ उक्त वेश्या भी आई हुई थी। स्वामी जी को महल में आया हुआ देख कर महाराणा घबरा गये और नन्हींकी पालकी वहाँ से उठाये जाने की आज्ञा दी। देर होते देख कर उन्होंने घबराहटमें अपना कन्धा भी लगा दिया। यह लीला देख कर स्वामी जी को बड़ा क्रोध आया और उन्होंने महाराज से कहा, "क्षत्रिय सिंह समान हुआ करते हैं। उनके घर में दर-दर फिरने वाली कुतियों के आने की क्या आवश्यकता।" नन्हीं ने यह सुन लिया और उसी समय स्वामी जी को विष दिलाने का मनमें प्रण कर लिया। विष दिया गया और कार्तिक अमावस्या संवत् १६४० वि. को अजमेर में अपने अनेक शिष्यों और भक्तों की उपस्थिति में श्री स्वामी जी ने इस अनित्य शरीर को त्याग दिया।

पं० लेखराम जी

धर्मवीर पं० लेखराम जी के बलिदान का कारण एक छद्मवेषी मुसलमान युवक था। वह शुद्ध होने के बहाने से पं० जी के पास आया और उनके पास रहने लगा था। पं० जी शुद्धि कार्य के बड़े प्रेमी और प्रचारक थे। पं० जी उसे लेकर इतने मस्त थे कि कई मित्रों और हितचिन्तकों और मित्रों के सावधान करने पर भी इस छद्मवेषी व्यक्ति का पक्ष लेते रहे। यह घातक मौका देख ही रहा था। ६ मार्च सन् १८९७ की सायंकाल को लाहौर में पं० जी ऋषि दयानन्द का जीवन सम्बन्धी लेख समाप्त करके अपनी चारपाई से उठकर अंगड़ाई लेने लगे तभी इस घातक ने उनके पेट में छुरी मार कर अत्यन्त क्रूरता से उनके प्राणों का अन्त कर दिया।

पं० जी का जन्म पंजाबके जिला जेहलम में स्थित सय्यद्पुर नामक ग्राम में महता तारासिंह के घर ति० ८ चैत्र सम्वत् १९१५ वि० शुक्रवार के दिन हुआ था। आप आर्यसमाज के उच्चतम कोटि के प्रचारक और लेखक थे।

पं० तुलसीराम जी

पं० तुलसीरामजी पंजाब प्रदेश की रियासत फरीदकोट के निवासी थे। वे ऐन० डब्ल्यू रेल्वे में स्टेशन मास्टर थे। इनका जैनियों से प्रायः धार्मिक विषयों पर विवाद हुआ करता था और इनके तर्क से परास्त होकर जैनी इनसे चिढ़े रहा करते थे।

एक दिन यह कहीं अकेले जा रहे थे। स्थान निर्जन था। इसको अपने पाशविक कृत्य के लिए अनुकूल अवसर समझकर एक जैनी गोपीराम ने लाल मिर्चों के चूरे में बालू मिला कर इनकी आँखोंमें झोंक दिया। देखने में असमर्थ हो जानेपर उसने इनके पेटमें छुरा भोंक दिया। पुलिस तथा आर्यभाइयों को खबर लगने पर वे उन्हें उठा कर अस्पताल ले गए। बहुत औषधोपचार किया परन्तु सब व्यर्थ हुआ और वे को इस भौतिक शरीर को त्याग कर अनन्त की गोद में विलीन हो गए। यह दुर्घटना सन् १९०३ ई० की है।

म० रामचन्द्र जी

म० रामचन्द्र जी रियासत काश्मीर के जम्मू नगर के निवासी तथा एक महाजन के सुपुत्र थे। इनका जन्म सम्वत् १९५३ विक्रमी में हुआ था। वे वहीं की तहसील में खजाँची का काम करते थे। आर्यसमाज से आपको अगाध प्रेम था और उसके प्रचार की बड़ी लगन थी। बाल्यकाल से ही दलित कहे जाने वाले भाईयों की दुर्दशा पर ये बड़े दुःखी रहा करते थे। जब उनकी बदली जम्मू से अखनूर को हुई तब उन्होंने दलितोद्धार का कार्य विशेष रूप से अपने हाथ में ले लिया।

अखनूर के पास बुटहरा नाम का एक ग्राम है। पहले वहीं के मेघों में वैदिक धर्म

के प्रचार का कार्य आरम्भ किया। आप वहाँ मेघ बालकों के लिए एक पाठशाला खोलना चाहते थे। इसका उक्त ग्राम के राजपूतों ने प्रबल विरोध किया और नौबत यहां तक पहुँची कि रामचन्द्र जी पर आक्रमण करके लाठियों से मार २ कर उनका शरीरान्त ही कर डाला। यह आक्रमण १४ जनवरी सन् १९२३ ई० को हुआ था। २० जनवरी को उनका प्राणान्त हो गया।

जो कार्य उनके जीते हुए उनके परिश्रम से न हो सका था वह म० रामचन्द्र जी के बलिदान से स्वयं सिद्ध हो गया। जो राजपूत उनके विरोधी थे उन्होंने ही पाठशाला के लिए भूमि और मेघोद्धार के लिए धन दिया। आपके बलिदान स्थान बुटहरा में प्रति वर्ष शहीदी मेला लगता है।

अब रियासत के उस भाग में २०००० से अधिक मेघ वैदिक धर्म की शरण में आ चुके हैं और २५ से अधिक आर्यसमाजें और कई पाठशालाएं खुल गई हैं।

कर्मवीर स्वामी श्रद्धानन्द जी

स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी का जन्म जिला जालन्धर (पंजाब) के ग्राम तल्वन में फाल्गुण कृष्णा १३ सं० १९१३ वि. में लाला नानकचन्द जी के घर हुआ था जो संयुक्त-प्रान्त में पुलिस में नौकर थे। जन्म के समय आपका नाम मुंशीराम रखा गया और पीछे सम्वत् १९७३ वि. में संन्यास लेने पर आपने अपना नाम श्रद्धानन्द रख लिया। आपके बाल्यकाल और शिक्षा का समय अधिकतर बरेली, बदायूं, बनारस, बाँदा और बलिया आदि संयुक्त प्रान्त के नगरों में बीता और वहीं बनारस के क्वीन्स कालेज और इलाहाबाद के सेण्ट्रल कालेज में आपका शिक्षण हुआ।

शिक्षा के अनन्तर आपके पिता ने आप को भी पुलिस की नौकरी में भर्ती करा कर बरेली का नायब तहसीलदार बनाया। परन्तु आपके आत्मसम्मान ने उस नौकरी पर आप को ३ मास से अधिक न रहने दिया। इसके पश्चात् आपने लाहौर जाकर वकालत पास की और जालन्धर में वकालत शुरू कर दी।

सं० १९४१वि. में आप आर्यसमाजी बने और उसके पश्चात्से आर्यसमाजकी एक मात्र सेवा आपके जीवन का ध्येय बन गया। संवत् १९५८ में गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना करके उसके संचालन में लग गए।

सं० १९७४वि. में संन्यास लेकर गुरुकुल कागड़ी की सक्रिय सेवाओं से मुक्त होकर अपने विस्तृत सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। आपके संन्यासावस्था के १० वर्ष का जीवन इतनी अधिक घटनाओं और इतनी अधिक सार्वजनिक सेवाओं से परिपूर्ण है कि उनका यहां वर्णन करना कठिन है। आर्य समाज के अतिरिक्त कदाचित् ही कोई राष्ट्रीय और

सामाजिक उत्थान विषयक सेवा हो जिसमें स्वामी जी सम्बन्धित न रहे हों। परन्तु अन्य क्षेत्रों में भी आर्य समाजी रहकर ही सेवा करना उनका ध्येय रहा। जहां इस ध्येय की पूर्ति में अड़चन उपस्थित हुई वहां से ही वे स्वयं पृथक हो गए। अन्य क्षेत्रों में उनकी सार्वजनिक सेवाओं की यही मुख्य विशेषता रही।

मलकानों में प्रबल शुद्धि और हिन्दुओं में अपूर्व जागृति उत्पन्न करने के कार्यों ने ईर्ष्यालु मुसलमानों के हृदयों को दहला दिया था। और वे गुमनाम चिठ्ठियों, अखबारों के लेखों और छोटी २ पुस्तिकाओं द्वारा स्वामी जी का खून कर देने की धमकी देने लगे थे। स्वामी जी ने अपने धीर और गम्भीर स्वभाव से इन निकम्मी धमकियों पर ध्यान तक न दिया। परन्तु शत्रु लोग अदृश्य रूप से विष घोल रहे थे। और उसका परिणाम २३ दिसम्बर १९२६ ई० के दिन शाम के ४ बजे तमाम हिन्दू जाति और भारतीय राष्ट्र को भोगना पड़ा।

दिसम्बर मास के आरम्भ में स्वामी जी निमोनियां से पीड़ित थे। वे अभी रोग से मुक्त होकर तकिये के सहारे विस्तर पर बैठने योग्य ही हुए थे कि अब्दुलरशीद नामक एक धर्मान्ध मुसलमान ने धोखे से स्वामी जी तक पहुँच कर उनकी निर्वल छाती में पिस्तौल से तीन गोलियां मारकर उनके अमूल्य जीवन का अन्त कर दिया। स्वामी जी इस प्रकार एक वीर पुरुष की भांति छाती में गोली खा कर मारे गए। और हिन्दू जाति को सिद्धांत पर प्राण न्यौछावर करने का अमूल्य पाठ पढ़ा गए।

म० राजपाल जी

म० राजपाल जी आर्यसमाज के सफल प्रकाशक थे। वह लाहौर के 'सरस्वती आश्रम' और आर्य पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। अपने पुस्तकालय के द्वारा उन्होंने आर्य समाज को उत्तम साहित्य प्रदान किया है। उन्होंने एक पुस्तक रँगीला रसूल नाम की प्रकाशित की थी। इसके कारण मुसलमानों ने उन पर पंजाब सरकार से मुकदमा चलवाया, सजा हुई। किन्तु हाईकोर्ट ने उनको बरी कर दिया इस पर भी मुसलमानों ने बहुत आन्दोलन किया। महाशय राजपालजी ने अपनी आर्योचित उदारता से घोषणा की कि मैं किसी का दिल दुखाना नहीं चाहता। यदि इससे मुसलमानों को कष्ट हुआ है तो भविष्य में उस पुस्तक को न छपवाऊँगा और न वे बेचूंगा।

परन्तु धर्मान्ध मुसलमानों ने उनकी इस उदारता का आदर न किया और महाशयजी का वध करना सवाब (पुण्य) समझा। महाशय जी पर हमले प्रारम्भ हुए।

एक हमले की चपेट में श्री पूज्य स्वामी

स्वतंत्रानन्द जी और सत्यानन्द जी भी आए। जिस समय यह हमला हुआ था उक्त दोनों महानुभाव महाशय जी की दूकान पर विद्यमान थे। उस समय तो महाशय जी के प्राणों की रक्षा हो गई। महाशय जी की रक्षा के लिये पुलिस का प्रबन्ध भी हुआ परन्तु उनके भाग्य में आर्य समाज की बलिवेदी पर उत्सर्ग होकर अमर होना लिखा था। सुतरां १९२९ ई० की ४ अप्रैल को इल्मदीन नामक एक धर्मान्ध मुसलमान ने दिन दहाड़े छुरे से उनका बध करके उन्हें अमर पद दिला दिया।

म० नाथूराम जी

आपका जन्म २ अप्रैल सन् १९०८ ई. को हैदराबाद सिंध में हुआ था। आप अपने पिता श्री पं० कीमतराम जी की एक मात्र सन्तान थे। बचपन से ही आपको आर्यसमाज से प्रेम था।

जिन दिनों आप वीर गति को प्राप्त हुये थे उन दिनों सिंध के मुसल्मानों की ओर से पुस्तकों और समाचार-पत्रों द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति पर अनुचित आक्रमण हो हो रहे आपको यह सहन न हुआ और आपने १९३३ ई. में उत्तरस्वरूप एक ट्रैक्ट 'तवारीख इस्लाम' नामक छपवाकर मुफ्त वितरण किया। हमारे मुसल्मान भाइयों का इस उत्तर को सहन करने का साहस न हुआ और उन्होंने इसके विरुद्ध घोर आन्दोलन किया। परिणामतः आपके ऊपर हैद्राबाद सिंध के सिटी मैजिस्ट्रेट की अदालत में अभियोग चला जो सेशन कोर्ट में पहुंचा। सेशन से आपको १॥ वर्ष की कैद और १०००) जुर्माने का दण्ड मिला। इस दण्ड के विरुद्ध कराँची के हाईकोर्ट में अपील की गई।

ता. २० सितम्बर १९३४ई. का दिन था। महाराज नाथूराम के अभियोग की सुनवाई थी। अदालत में मुसल्मानों के दल के दल उपस्थित थे। केस को लेने में कुछ ही देर थी कि ठीक १२॥ बजे दिन दहाड़े अदालत में अब्दुल अजीज नामक एक धर्मान्ध मुसल्मान ने छुरेसे महाराज नाथूराम का वधकर उन्हें अमरपद प्रदान कर दिया। अदालत में सन्नाटा छा गया।

शाम को ६ बजे हुतात्मा का मृत शरीर श्मशान ले जाया गया। नगर के असंख्य पुरुष और गण्य मान्य सज्जन यहांतक कि स्वयं हाईकोर्टके जज हुतात्माके प्रति सम्मान प्रदर्शनार्थ श्मशान भूमि में गए। मृत शरीर एक सुसज्जित चिता में रखा गया और वैदिक क्रियाओं के साथ उसका दाह किया गया। नश्वर शरीर बात की बात में भस्म होगया और उनकी आत्मा दिव्य आलोक करती हुई अनन्त में विलीन हो गई।

श्री मेघराज जी

श्री मेघराज जी नारायणगढ़ (इन्दौर) के निवासी थे। आपका जन्म सम्वत् १९३८ वि. में हुआ था। आपके पिता का नाम

श्री गोपाल जी था। आपके जन्म का वर्ण 'जाट' था। श्री विनायकरावजी आर्य्योपदेशक द्वारा आप आर्य्य समाज में दीक्षित हुए थे। पं० जी का बाज़ार में धर्म्मोदेश हो रहा था। अज्ञानी जनता ईंट और पत्थरों से पं० जी का स्वागत कर रही थी। पं० जी के चोट आई। उन्हें घर में ठहराने के लिए कोई उद्यत न हुआ। मेघराज जी पं० जी के व्याख्यान में उपस्थित थे। उस व्याख्यान का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा और वह साहस करके उक्त पं० जी को अपने घर ले आये और वहीं उन से दीक्षा ग्रहण की। तब से आप आर्य्य समाज की सेवा करने लगे और अपने जीवनकाल में १२ आर्य्य समाजें स्थापित कीं। शुद्धि और अछूतों द्धार में आपकी विशेष रुचि थी।

मार्च १६३८ में इन्दौर दरबार ने अछूतों के मन्दिर प्रवेश की घोषणा की। श्री मेघराज जी ने राम-नवमी का शुभ दिन ग्राम के अछूतों को मन्दिर में ले जाने का निश्चय करके घोषणा करदी। उनके आर्य्य समाज तथा अछूतोद्धार सम्बन्धी कार्य्यों से सनातनी लोग पहले से ही उनसे चिढ़े हुए थे। इस घोषणा ने उन्हें और भी क्षुब्ध कर दिया। राम-नवमी से एक दिन पूर्व्व जब वह अपने निजी कार्य्यार्थ जंगल गए हुए थे, ७ व्यक्तियों ने मिलकर उनका वध कर दिया।

सेठ जयराम जी

सेठ जयराम जी जोधपुर के निवासी थे आपको आर्यसमाज से बड़ा प्रेम था। तन, मन, धन से आप समाज की सेवा किया करते थे। हैदराबाद सत्याग्रह के लिये आपका उत्साह और कार्य आर्यसमाज जोधपुर के इतिहास में एक चिरस्मरणीय वस्तु रहेगी। इस नवयुवक की प्रगतियों से मुसल्मान गुंडे बड़े असन्तुष्ट रहा करते थे। हैदराबाद सत्याग्रह सम्बन्धी आर्यों की वैध और शान्त प्रगतियों में रोड़ा अटकाने का जिस रीति से मुसल्मानों द्वारा अन्य स्थानों पर यत्न किया गया था उसी प्रकार जोधपुर में भी किया गया। आर्य समाज की प्रभात फेरियों को बलवा करके बन्द कराने की कुटिल चालें चली गईं परन्तु राज्य के सुप्रबन्ध के कारण वे चालें सफल न हुईं।

२६ मई सन् १६३६ई० को उम्मेद कन्या पाठशाला में, बम्बई सरकार की शोलापुर से सत्याग्रह शिविर को हटाने की आज्ञा के विरोध में एक विराट् सभा हुई थी। सभाकी समाप्ति पर जब सेठ जयरामजी अपने कतिपय मित्रों के साथ अपने घर जारहे थे, सिलावट मुहल्ले में मुसल्मान गुण्डों ने उनपर घातक आक्रमण करके उन्हें अमरपद पहुँचा दिया। बलिदान के समय हुतात्मा की आयु लगभग ४५ वर्ष थी।

शहीद खंडेराव गणपतराव जगताप

शहीद खंडेराव गणपतराव जगताप हिन्दू मरहठे थे आपका जन्म ता० २७ मई सन् १८८७ ई. को ग्राम महुआ तालुके वारडोली जिला सूरत गुजरात प्रान्त में हुआ था। आप के पिताजी पुलिस डिपार्टमेन्ट में जमादार थे, आपका प्रारम्भिक (प्राईमरी) शिक्षण भड़ौंच में हुआ। सन् १९१० में अहमदाबाद के प्रेमचन्द रामचन्द ट्रेनिंग कालेज में आपने सीनियर ट्रेन्डटीचर की परीक्षा पास की और भड़ौंच म्यूनिस्पैलिटी गुजराती स्कूल में शिक्षक नियुक्त हुये।

सन् १९१०ई. से आपको आर्यसमाज के प्रचारकी लगन लगी। यदि कोई विधर्मी हिंदुओं कों सताता तो वहां पर खंडेराव जी दौड़ जाते और हिन्दुओं को बचाते थे। अमृतसर से कृपाणें मँगवाकर हिन्दू युवकों को देते थे और उनमें वीरता का प्रचार करते थे।

हरिजनों की भी आपने सेवा की थी। सन् १९२८ ई० में भड़ौंच म्यूनिस्पैलिटी ने हरिजन स्कूल खोला और आपको उसका हैड मास्टर बनाया।

आपकी समाज सेवाओंके कारण मुस्लिम गुण्डे आपके शत्रु हो गये। उस दिन ता० ४ मार्च सन् १९३० को एक हिन्दू (लोराणा भरीया) लड़के (१७ वर्ष) को कुछ मुस्लिम गुण्डों ने घेर लिया और वे उसे गालियां देने और पत्थरों से मारने लगे। लड़का पास के पुलिस थाने में घुस गया। थाने के बाहर मुसल्मानों की बड़ी संख्या लाठियां आदि लेकर खड़ी थी। रात का समय था। ८।। बज चुके थे कि चार पाच हिन्दू गृहस्थ खंडेरावजी के पास गये और सारी बात सुनायी। तत्काल खंडेरावजी तैयार हुये और लड़के को बचाने के लिये मुसल्मानों की भीड़ में से होकर थाने में गये और थानेदार से बातचीत करके रात को १२।। बजे घर पर लौटे।

खंडेरावजी ने लड़के को छुड़वाया यह सुनकर मुसल्मान गुण्डे और भी उत्तेजित होगये थे। दूसरे ही दिन ग्यारह बजे जब वह स्कूल जाने के लिये घर से निकले तब स्कूल के पास ही पीछे से मुस्लिम गुण्डों ने लाठियां से हमला किया। उनके मस्तिष्क पर भयंकर चोट आई और वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़े। गुण्डे भाग गये। खंडेरावजी को सिविल होस्पिटल में लेगये किन्तु वहां पर दिन के ४। बजे मृत्यु हो गई। इसदिन सारे शहर के हिन्दुओं ने हड़ताल की और हजारों हिन्दू श्मशान यात्रा में गये। मुस्लिम गुण्डों पर कोर्ट में दावा चला किन्तु सच्चा खूनी कौन है इस बात का पता नहीं लगने से सब बरी कर दिये गये।

श्री बद्रीशाह जी

आप संयुक्तप्रान्त के बहराइच नगर के

रहने वाले थे। बहराइच और उसके आस-पास में आप आर्यसमाज के एक बड़े स्तम्भ थे। शुद्धि और दलितोद्धार कार्य से आपको बड़ा प्रेम था। इन दोनों कार्यों को आप बड़ी निर्भीकता और साहस से करते थे। मुसल्मान गुण्डे उनको इस कार्य से रोकने के लिये प्रायः धमकियां दिया करते थे परन्तु वह उनकी कोई परवाह न करते थे। वह एक दिन कहीं से लौट रहे थे कि मुस्लिम गुण्डों ने रास्ते में उन पर आक्रमण करके उनका वध कर दिया।

स० घनासिंह जी

आप लुधियाना जिलान्तर्गत ताहला ग्राम के निवासी थे। आपके पिता का नाम सरदार लछमनसिंह था। आप एक उत्साही वैदिकधर्मी थे। प्रायः सिखोंमें वैदिक धर्म का प्रचार करते थे। आपके प्रचार से कई सिख भाइयोंने वैदिक धर्म की दीक्षा ली थी। आप का यह धर्म प्रेम ही आपके नृशंस बध का कारण बना।

११ मई सन् १९३०को सूर्योदयसे पहिले ही जब आप अपनी दुकान खोलने लगे तो एक अकाली सिख बचनसिंह ने एक मुसलमान की सहायतासे आपको पकड़ लिया और एक घर में ले जाकर लाठियों से पीटा। इस घायल अवस्था में आपको एक छकड़ेमें डाल कर अस्पताल पहुंचाया जा रहा था कि मार्ग में ही आपका देहान्त हो गया।

घातकों पर मुकदमा चला, एक को आजीवन कारावास और दूसरे को फांसी का दण्ड मिला।

ला० पालामल जी

आप कसूर निवासी एक महाजन थे। आप उत्साही हिन्दू युवक थे। मज़हबी बातों पर वाद-संवाद किया करते थे।

एक दिन मुसलमानों का आप से किसी बात पर झगड़ा हो गया, उन्होंने शोर मचा दिया कि पालामल ने हज़रत मुहम्मद साहब को गाली दी है। इस अन्तरमें एक नौजवान मुसलमान, अहमद सदीक ने छुरा मार कर आपको शहीद कर दिया। घातक पकड़ा गया और उसे फांसी का दण्ड मिला।

म० नानकचन्द जी

आप देहली निवासी थे। आपको वैदिक धर्म के प्रचार की धुन लगी रहती थी और प्रायः मुसलमानों से आपका शास्त्रार्थ रहता था। एक मुसलमान के हाथ आपका बध हुआ।

ला० लुण्डाराम जी वकील

आप कैम्पलापुर (सीमाप्रान्त) के प्रसिद्ध वकील और उत्साही आर्यसमाजी भाई थे। आप गरीब हिन्दुओंकी ओरसे ही नहीं, पीड़ित मुसलमानों की ओर से भी मुस्लिम जिमींदारों के विरुद्ध मुकदमों की पैरवी करते थे।

उन दिनों आप एक हिन्दू लड़के को

भगानेके मामलेकी पैरवी कर रहे थे कि एक दिन एक मुसलमान युवक ने मकान से बाहर आने के लिए आपको आवाज दी। ज्योंही आप बाहर निकले तो उसने गोली से आपका बध कर दिया। घातक का कोई पता नहीं मिला।

ला० आयाराम जी व धर्मपत्नी श्रीमती भागवती जी

ला० आयाराम जी गांव कालूर तहसील ईसाखेल जिला मियांवालीके एक प्रसिद्ध जिमींदार व साहूकार थे। आपने एक मुस्लिम युवती को लाहौर में शुद्ध करवा कर उससे विवाह किया था। आपके इस साहस को मुसलमान भाई न भूले और कई वर्ष पश्चात् उन्होंने आपका बध कर दिया।

कुछ वर्ष पीछे आपकी इस धर्मपत्नी श्रीमती भगवती देवी व इनकी कन्याका नृशंस बध भी मुसलमानों के हाथ हुआ। घातक पकड़े गये और उन्हें दण्ड मिला।

श्री देवकीनन्दन जी

आप जिला कैम्बलपुर के निवासी थे। एक शुद्ध हुई मुस्लिम युवती से विवाह कर लेने पर मुसलमानोंने आपका बध कर दिया।

श्री भैंरोसिंह जी

आप बांदीकुई (जयपुर) के समीप पाखर गांव के निवासी म० हरभजन जी के पुत्र थे। आप बधके समय केवल १८ वर्षके थे। आप को संगीत का शौक था। और आर्यसमाज के सभासद होने के नाते प्रायः आर्यसमाज के प्रचार के भजन ही आपको विशेष रुचिकर थे। बी० बी० एन्ड० सी० आई रेलवे में पेंटर का काम करते थे। इनके विभाग में ही एक मुसलमान भी था जो आबूरोड स्टेशन पर इनके साथ के ही क्वार्टर में रहता था। इनके भजनों से वह चिढ़ता था। एक सायंकाल उसने बन्दूक से इन पर आक्रमण कर चिरनिद्रा में सुला दिया।

घातक पकड़ा गया और उसे २० वर्ष का सपरिश्रम कारावास का दंड मिला।

श्री पुरुषोत्तमशाह वकील

आप गोधरा (बम्बई प्रान्त) के प्रसिद्ध वकील थे और हिन्दू संगठन के अनन्य भक्त एवं प्रचारक थे। आप स्थानीय हिन्दू सभा के प्रधान थे।

आपका बध १८ सितम्बर सन् १९२९ ई० को गोधरा में हिन्दू-मुस्लि दंगे के समय हुआ। हत्यारों का पता नहीं चला। जिस पर मुकदमा चला वह हाईकोर्ट से छूट गया।

श्री नारायणसिंह जी (बिहार)

आप पटना निवासी चन्देला राजपूत श्री सीतारामसिंहजी के सुपुत्र थे, आपका जन्म सन् १८९९ ई० में हुआ था। आपका घराना पटना के प्रसिद्ध पहलवानों का घराना था। आपने भी इसका अभ्यास किया था। ३५ वर्ष तक आप कलकत्ते में बाबू जुल्हाई जी

की सेवा में प्रधान सिपाही के रूप में रहे। इसके पश्चात् आपने आर्यसमाज द्वारा जाति की सेवा को विशेष रूपसे अपनाया। अनाथों और भोले भाले हिंदू परिवारों को विधर्मियों के जाल से छुड़ाना आपका मुख्य कार्य था। इसके लिए आपने अपना तन, मन, और धन सभी कुछ न्योछावर कर रखा था। आप आर्यसमाज के उत्सव पर प्रायः मुसलमानों के साथ शास्त्रार्थ का प्रबन्ध अवश्य करते थे। निडर इतने थे कि मुसलमानों की भरी सभा में मस्जिद के भीतर नंगी तलवार बाँध कर चले जाते थे। दुर्भाग्यवश आपका अपने अखाड़े के हिंदुओंसे भी मतभेद होगया। इनकी सहायता से दिन दहाड़े पटना की गलियों में भालों और बर्छियों से आपका नृशंस बध हुआ। अस्पताल में जाकर आपका देहान्त हो गया। जिन व्यक्तियों पर मुकदमा चला वे सभी छूट गये।

श्री बृजलाल जी

आप चिचौली जिला बैतूल निवासी एक मालगुज़ार थे। ता० १२ अक्तूबर सन् १९२८ ई० को दुर्घटनाके दिन आपकी आयु केवल ३० वर्ष की थी। एक स्वजातीय महिला श्रीमती पुनिया बाई जो पहिले किसी कारण मुसलमान हो गई थी, को शुद्ध करके उसका विवाह एक हिन्दू युवक के साथ कर देने के कारण स्थानीय मुसलमान इस नवयुवक से क्रुध हो गये और दिनदहाड़े इनका बध कर दिया। आप घटनास्थल पर ही चल बसे। घातक को फाँसी का दंड मिला था। वायसराय महोदय से दया की प्रार्थना करने पर वह दस वर्ष कारावास के रूप में रह गया।

श्री बृजलाल जी संगठन और शुद्धि के प्रबल प्रचारक थे। आर्यसमाज की ओर से जहां तहां मुसलमानों से उनके शास्त्रार्थ भी होते रहते थे।

अन्य शहीद

श्री म० नरबतसिंह जी मीरपुरखास निवासी, श्री म० बारूमल जी कराची निवासी और म० नेवदराम जी सक्खर निवासी आर्यवीर सिन्ध प्रान्त में शहीद हुए हैं। इनका विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं हो सका है।

इनके अतिरिक्त हैदराबाद सत्याग्रह के सिलसिले में बलिदान हुए आर्यवीरों की सूची हैदराबाद सत्याग्रह के विवरण में पृष्ठ २२४ पर दी गई है।

परिशिष्ट

कुछ अन्य संस्थाएँ—

निम्नलिखित संस्थाओं का परिचय देरसे प्राप्त हुआ, वह यहां दिया जाता है—

आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा

स्थापना—१ जनवरी सन् १९२४ ई०। **शिक्षा**—स्वतंत्र आर्य विश्वविद्यालय बड़ौदा द्वारा निश्चित पाठविधि के अनुसार १३ श्रेणी तक। इसमें संस्कृत, हिन्दी, गुजराती तथा अँग्रेजी भाषायें और धर्मशिक्षा, इतिहास, भूगोल, गणित, गृहजीवनशास्त्र, तुलनात्मक धर्म, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, नागरिकशास्त्र, व्यायाम, संगीत, सिलाई, ड्राइंग और पाकशाला विषय सिखाये जाते हैं। व्यायाम अनिवार्य शिक्षण है। व्यायाम आचार्य स्नातिका बनने से पूर्व बनना प्रत्येक कन्या के लिये आवश्यक है। प्रधान—श्री राजा नारायणलाल जी पित्ती। मन्त्री—श्री पं० आनन्दप्रिय जी, बी. ए. एल. एल बी.। मुख्याधिष्ठात्री एवं आचार्या—कु० सुशीला पंडित। अन्य अध्यापिकायें—२३। स्नातिकायें—१६। इनमें से १० इसी विद्यालय में पढ़ाती हैं, ४ अन्यत्र अध्यापिका हैं, १ अफ्रीका में प्रचारार्थ गई हैं, शेष भी सब सामाजिक सेवा का कार्य करती हैं। शुल्क—१४) मासिक। दान की आय—२८४३५)॥ वर्ष भर की सब आय—६३५०५।-)। व्यय—७४५०२ रु० १२ आ० ५ पाई। प्रारम्भ से अब तक का व्यय—२४२५९८ रु० १ आ० ७ पाई।

अखिल भारतीत श्रद्धानन्द स्मारक ट्रस्ट, देहली

स्थापना—सन् १९२८ ई०।

उद्देश्य—१. दलितोद्धार, २. हिन्दू संगठन, ३. शुद्धि।

दलितोद्धार के प्रचार के उद्देश्य—

१. दलितों में हिन्दू आचार व्यवहार तथा हिन्दू-धर्म की मर्यादा को दृढ़ करना।

२. दलित जातियों की शारीरिक, सामाजिक तथा सदाचार सम्बन्धी उन्नति करना।

३. जो लोग हिन्दू धर्म से पतित हो गये हैं उनको फिर हिन्दू-धर्म में सम्मिलित करना।

४. दलित वर्ग की आर्थिक तथा विद्या सम्बन्धी दशा को उन्नत करना।

५. दलित जातियों की स्वच्छता सम्बन्धी उन्नति के लिये उचित उपायों का आयोजन करना।

६. योग्य तथा होनहार विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा तथा कला कौशल की शिक्षा देने के लिये छात्र-वृत्ति देना।

७. दलित जातियों के सामाजिक तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिये सर्व प्रकार के सम्भव उपायों का अवलम्बन करना।

८. विधर्मियों के अनुचित दबावों से दलित जातियों की रक्षा करना।

९. हिन्दुओं तथा अछूत जातियों में पाई जाने वाली घृणा को दूर करना।

१०. हिन्दुओं और अछूतों के परस्पर मेल-मिलाप के रास्ते में पड़ने वाली निम्न बाधाओं तथा रुकावटों को दूर करना यथा—

(क) अछूतों को सार्वजनिक कुओं से पानी भरने के अधिकारों का न होना।

(ख) सभा समाजों तथा उत्सवों में मिल-जुलकर बैठने न देना।

(ग) सार्वजनिक पाठशालाओं में उनके बालकों को प्रविष्ट न होने देना।

११. प्रचलित आदि-हिन्दू आन्दोलन तथा हिंदुओं से पृथक जाति-निर्माण का घोर विरोध करना।

१२. दलित जातियों में हिन्दू धर्म का प्रचार करना।

१३. दलितों में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का निवारण करना।

१४. राजनैतिक दृष्टि से दलित जातियों के उपर्युक्त अधिकारों के लिए आन्दोलन करना।

प्रचार के साधन—

अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त ट्रस्ट ने निम्नलिखित साधनों का उपयोग किया।

१. शराब पीना बन्द कराने, फजूलखर्ची को रोकने और घृणित व्यवहारों को रोकने के लिए पंचायतों द्वारा प्रयत्न किया गया।

२. शिक्षा प्रचार के लिए बालकों को स्कूल में प्रविष्ट कराया गया। प्रचार द्वारा अनेक मां-बाप को इस कार्य के लिये प्रोत्साहित किया गया।

(क) रात्री पाठशालाएँ खोली गईं।

(ख) होनहार विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां दी गईं।

३. सम्मेलन, सभा और उत्सव तथा जलूस आदि की आयोजना करके द्विजातियों की सहानुभूति प्राप्त की गई। दलित जातियों की चहुंमुखी उन्नति, विकास तथा अधिकार प्राप्ति के लिये समय २ पर यथोचित प्रस्ताव स्वीकृत किये गये।

४. दलित जातियों में मदिरा तथा मुर्दार मांस खाने की कुरीति को लगातार प्रचार द्वारा बन्द कराने का प्रयत्न किया गया।

५. शारीरिक उन्नति के लिये अखाड़ा दङ्गल आदि की आयोजना की गई। गतका, बनेठी, फरी और तलवार इत्यादि के करतब कराए गये और उन्हें पुरस्कार वितरण द्वारा प्रोत्साहित किया गया।

६. स्वच्छता सम्बन्धी उन्नति के लिये म्युनिसिपैलिटी से समय २ पर सहायता लेकर और ट्रस्ट के प्रचारकों द्वारा इस कार्य की तरफ विशेष ध्यान दिया गया।

(क) साफ सुथरे रहने वाले बालकों को इनाम दिये गये।

(ख) मैजिक लैण्टर्न द्वारा भिन्न २ स्थानों

पर सफाई मादक-द्रव्य निषेध तथा स्वास्थ्य पर व्याख्यान दिये गये।

(ग) वस्त्र सफाई के लिये गरीब हरिजनों को साबुन वितरण किया गया।

(घ) श्रद्धानन्द ट्रस्ट के कार्यकर्ताओं ने दलितों के मुहल्लों को समय २ पर स्वयं भी साफ़ किया।

७. आर्थिक उन्नति के लिये उपयोगी कारीगरी तथा उद्योग सिखलाने के लिए कुछ व्यक्तियों को भिन्न २ व्यवसायी कारीगरों के पास भेजा गया। और साथ ही दलित वर्ग में दुकान खुलवाने, बैंड बाजा सीखने, बढ़ई, दर्जी, मोची आदि के कार्य सीखने की अभिरुचि पैदा की गई।

८. मानसिक उन्नतिके लिये कई व्यक्तियों को धामिक ग्रन्थों का स्वाध्याय कराया गया।

६. आदि-हिन्दू आन्दोलन तथा पृथक् जाति निर्माण की घोर निन्दा तथा व्यर्थता पर भाषण दिये गये। सम्मेलनों, उत्सवों तथा सभाओं में प्रस्ताव करके जनता में आन्दोलन किया गया।

समय २ पर दलित वर्ग की उन्नति पर ट्रैक्ट लिखे गये जो कि बहुत भारी संख्या में दलित जातियों में बांटे गये।

१०. छूत-छात मिटाने के लिए आवश्यकतानुसार सवर्णों के साथ दलितों के सहभोज कराये गये।

११. धार्मिक उन्नति के लिये दलित वर्ग में हिन्दू व आर्य संस्कारोंकी मर्यादा का प्रचार किया गया और अनेकों वैदिक संस्कार कराये गये। सवर्ण भी उनमें सम्मिलित हुए।

१२. अछूत कहाने वाली जातियों के घरों में उच्च जाति के लोगों के सहभोज हुए।

१३. उच्च जाति की स्त्रियों में प्रचलित छूत छात को मिटाने के लिये 'महिला सहभोज' कराया गया।

१४. दलित जातियों का बेबी शो (बच्चों की नुमायश) कराकर स्वस्थ बालकों को इनाम वितरण किया गया।

१५. जल-कष्ट निवारण तथा ज़मीन के लिये ज़मीदारों के अनुचित दबाव इत्यादि कष्टों के निवारण के लिये कौंसिलों में प्रश्न कराये गये।

१६. दलितों के लिये कुंए बनाए गये और उच्च जाति के कुंए इनके लिये खोले गए।

१७. स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायतार्थ मुफ्त चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया।

१८ समय २ पर औषधियां वितरण की गईं।

१६. साधारण ज्ञान बढ़ाने के लिये दलित जातियों में वाचनालय खोला गया।

२०. विधर्मियों के अत्याचारों से बचाने के लिये दलितों को समय २ पर क़ानूनी सहायता दी गई।

२१. दलित जातियों का सवर्णों के साथ 'स्वयं-सेवक दल' बनाया गया।

हिन्दू संगठन—

१. हिन्दू समाजों की स्थापना की गई।

२. विधर्मियों द्वारा हिन्दुओं पर आने वाली विपत्तियों के निवारण करने के लिए अपनी जांच करने के बाद आन्दोलन द्वारा विशेष प्रयत्न किये गये।

३. हिन्दू संगठन का क्रियात्मक संदेश देने के लिये समय २ पर सम्मेलनों की आयोजनाएँ की गई।

४. हिन्दुओं में प्रचलित सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये क्रियात्मिक क़दम उठाए गये।

शुद्धि—

ट्रस्ट के उद्देश्यों में से एक उद्देश्य विधर्मियों में आर्य संस्कृति का प्रचार करते हुए उन्हें विशुद्ध हिन्दू धर्मकी दीक्षा देना है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शुद्धि का क्रियात्मक कार्य किया गया।

कार्य क्षेत्र—

प्रारम्भ के वर्षों में श्रद्धानन्द ट्रस्ट का कार्यक्षेत्र सूबा देहली, जिला रोहतक, जिला गुड़गांवां, जिला करनाल, जिला हिसार ही मुख्यतया रहा है। और इसकी गतिविधि का केन्द्र अछूतोद्धार पर केन्द्रित रहा है।

छोटा नागपुर (रांची) में कार्य—

सन् १६३६ ई० से तीन वर्ष तक ट्रस्ट के संयोजक मन्त्री, पं० धर्मवीरजी वेदालंकार, ट्रस्ट की ओर से छोटा नागपुर में होने वाले कार्य के अध्यक्ष बनकर गये। आपने रांची को अपना प्रधान कार्यालय बनाया। यहां आपके साथ पं० जनत्‌कुमार जी, पं० देवव्रत जी आदि अनेक कार्य-कर्ता कार्य करते रहे।

इस क्षेत्र में लगभग १५ केन्द्र बनाकर कार्य किया गया। प्रचार के लिये जहां मैजिक लेन्टर्न आदि साधनों का उपयोग किया गया, वहां श्रद्धानन्द उपदेशक विद्यालय, श्रद्धानन्द हिन्दू अनाथालय रांची, श्रद्धानन्द आश्रम तथा ६-७ स्थानों पर श्रद्धानन्द पाठशालायें खोली गईं। कई ट्रैक्ट प्रकाशित कर वितीर्ण किये गए। औषधि वितरण किया गया।

सदस्य व अधिकारी—

इस ट्रस्ट के ३५ सदस्य हैं। देहली के प्रसिद्ध आर्य नेता श्री ला० नारायणदत्त जी ठेकेदार इसके मंत्री श्री पं० धर्मवीरजी वेदालंकार संयोजक मन्त्री हैं। कार्य कर्ता प्रधान श्री म. नारायण स्वामी जी हैं। इन महानुभावों के अविरल और सततंउद्योग से ट्रस्ट ने अपने तीनों उद्देश्य, विशेषतः दलितोद्धार और हिन्दू संगठन के लिये भारी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। दुःख है कि ट्रस्ट का गत वर्ष का विस्तृत वर्णन हमें प्राप्त नहीं हो सका।

आर्य-युवक सङ्घ, देहली

स्थापना—देहली में इस संघ की स्थापना सन् १६३६ ई० से है।

नियम—आर्यसमाज के दस नियम ही इसके नियम हैं।

उद्देश्य—१. वैदिक धर्म का प्रचार करना, २. आर्य (हिन्दू) संस्कृति सभ्यता तथा नीति की वृद्धि करना। ३. हिन्दी भाषा को राष्ट्र भाषा बनाने के लिये प्रयत्न करना। ४. राजनैतिक क्षेत्र में से साम्प्रदायिकता को नष्टकर शुद्ध राष्ट्रीय भावनाको उत्पन्न करना।

वर्तमान अधिकारी—इस समय संघ के प्रधान पं० व्यासदेव जी शास्त्री एम. ए,

एल. एल. बी. व मन्त्री श्री आर. एस. शर्मा हैं। श्री रामगोपाल जी शालवाले, उत्साही कार्य कर्ता हैं। पं० रामचन्द्र देहलवी व प्रो० रामसिंह जी एम. ए. म्यूनिसिपल कमिश्नर देहली, पं० चन्द्रगुप्तजी वेदालंकार जैसे प्रभावशाली आर्य नेताओं व वक्ताओं का संघ को सहयोग प्राप्त है।

कार्य—संघ ने जहां अनेक शास्त्रार्थों का आयोजन किया है वहां दिल्ली नगर में हिन्दू संगठन के लिये वातावरण उत्पन्न किया है। दिल्ली के शिवमन्दिर आन्दोलन का प्रारम्भ में नेतृत्व 'संघ' की ओर से किया गया, जिसमें इसके अनेक कार्यकर्त्ताओं ने जेल यात्रा की। हैदराबाद आर्य सत्याग्रह में संघ ने प्रत्येक 'डिक्टेटर को थैलियाँ और सत्याग्रही दिये।

संघ की ओर से स्वामो दर्शनानन्दजी के ११ ट्रैक्ट तथा अन्य उपयोगी ट्रैक्ट भी प्रकाशित हो चुके हैं।

१०. धर्म और उसकी आवश्यकता

लेखक—श्री ला० ज्ञानचन्द्र जी आर्य

इस पुस्तक में धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। नई रोशनी के उन नवयुवक और नवयुवतियों के हाथ में रखे जाने योग्य है जो धर्म और ईश्वर में न केवल विश्वास ही नहीं रखते बल्कि उनका मखौल भी उड़ाते हैं। मूल्य ।-)

११. आर्य्य-पर्व्व पद्धति

आर्यजगत् में एक से ही त्यौहार मनाने तथा त्यौहारों के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करा देने के लिये इस पुस्तक की रचना की गई है। इसका प्रत्येक आर्य-परिवार में रखना आवश्यक है। संशोधित संस्करण अजिल्द ।।=) सजिल्द १)

१२. कर्त्तव्य दर्पण

आर्यों की नित्य कर्म-विधि इत्यादि की यह बहुत उत्तम पुस्तक है। आर्यसमाज सम्बन्धी आवश्यक ज्ञातव्य बातें भी इसमें दी गई हैं। मूल्य ≡)।।

१३. कथामाला

श्री नारायण स्वामीजी महाराज की उपनिषद् की कथाओं का संग्रह। मूल्य ।=)

१४. आर्य जीवन और गृहस्थ-धर्म

लेखक—पं० रघुनाथप्रसाद पाठक

श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के प्रवचनों और व्याख्यानों के आधार पर आर्य जीवन और गृहस्थ धर्म की व्याख्या। मूल्य ।=)

१५. आर्य्यवर्त की वाणी

अनुवादक पं० रघुनाथप्रसाद पाठक

यह पुस्तक श्रीयुत साधु टी० एल० वास्वानी की "वायस आफ आर्यवर्त" का हिन्दी अनुवाद है। इसमें ऋषि दयानन्द का जीवन संक्षेप में बहुत ओजस्वनी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। अन्य भी बहुत-सी नवयुवकों-पयोगी सामग्री इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है। मूल्य =)

१६. भजन भास्कर (दूसरा संस्करण)

पुस्तक भाव, भाषा संगीत, छन्द, वैदिक सिद्धान्त शिक्षण इत्यादि की दृष्टि से उत्तम भजनों और कविताओं के संग्रह कर्त्ता श्री पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्न (भूतपूर्व सम्पादक आर्य मित्र) है। आर्य समाज में तुकबन्दो की बढ़ती हुई तुकबन्दी को निरुत्साहित करने तथा आर्य समाज और परिवारों में श्रेष्ठ संगीत को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से ही मथुरा की दयानन्द शताब्दी महोत्सव के अवसर पर यह संग्रह तैयार कराया गया था। अब जनता की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के उद्देश्य से ही इस सग्रह का दूसरा संस्करण बढ़िया आकार प्रकार इत्यादि में छपाया गया है। मूल्य ।।)

१७. वेद में असित शब्द मूल्य -)

१८. वैदिक सूर्य विज्ञान मूल्य =)

१९. कायाकल्प

लेखक पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार। वर्णाश्रम व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रामाणिक और विद्वत्तापूर्ण विवेचन। मूल्य १।)

२०. पंचयज्ञप्रकाश

लेखक पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार। आर्यों के दैनिक पच महायज्ञों की विस्तृत और हृदय ग्राहिणी व्याख्या। मूल्य ।।।)

better food and accommodation under the Red Ensign in order to retain British crews, it also contained clauses compelling foreign ships using British ports to conform in some respects to British standards. Similarly the Patents Act introduced a much-needed provision compelling patentees to work their patents in the United Kingdom within three years. But these features really stood on their own merits, and did not imply in their author any conversion to fiscal protection Other striking achievements of Lloyd George were his act (1906) for taking (for the first time in Britain) a Census of Production, and his settlement (in 1907) of a dispute between the railway companies and the Amalgamated Society of Railway Servants, in which the country had been threatened for the first time with a general railway strike He followed up the latter early in 1908 by settling a strike of 30,000 shipyard engineers on the north-east coast. But perhaps his greatest feat was the act setting up a single Port of London Authority to amalgamate and supersede the chaos of private dock companies and wharfingers, which till then rendered impossible any planned development of England's greatest port. This had been recommended by a Royal Commission in 1902; but the task of treaty-making between the multitude of interested parties had frightened the conservatives away. Lloyd George, who here, as in the labour disputes, revealed rare gifts for negotiation, cleansed the Augean stable and provided London, none too soon, with an administration capable of bringing her abreast of the great improvements planned or executed about this time in such rival ports as Hamburg, Antwerp, and Rotterdam The bill did not actually pass parliament till 1908, when he had been succeeded at the board by Churchill. The under-secretary, H. E. Kearley, also took a large part in it, and became chairman of the new body as Lord Devonport

The other most active minister was Haldane [1] His Territorial and Reserve Forces Act, 1907, was the legislative part of a great scheme of army reform extending over several years. Possessing a special knowledge of German institutions, he brought it to bear with far-reaching results on the war office. His most important step was the creation (by special Army Order) of a general staff

[1] B 1856, educated at Edinburgh Academy, Edinburgh University, and also Gottingen University, made a special study of Hegel and translated Schopenhauer (1883–6) Barrister, 1879, M P, 1885, Q C, 1890, secretary for war, 1905–12, viscount, 1911, lord chancellor, 1912–15 and 1924, d. 1928.

Campbell-Bannerman, who had resisted this in the nineties,[1] gave way now, because the foreign situation was so bad. The rest of the liberal war minister's reforms were subject to two conditions: that he should satisfy the radical wing of the party by getting £3 millions off the army estimates; and that he should leave untouched the Cardwellian principle of 'linked battalions', which was held sacrosanct by the prime minister. Complying with both, he went ahead and reorganized the home military forces in two lines. The first was an Expeditionary Force comprising six infantry divisions and one cavalry division (of four brigades), with artillery, transport, and medical units ready for rapid mobilization, and enough reserves to provide drafts. The second was formed by merging the non-regular non-militia categories—yeomanry and volunteers—into a single new category—the Territorial Force. In this way he arranged for 14 divisions and 14 mounted brigades, which, no less than regular divisions, were to have their own transport and medical services as part of the organization. A detail of high value was the conversion (in 1909) of the old volunteer corps at the public and secondary schools into Officers' Training Corps. It helped materially towards solving the hard problem of officering the 'new armies' during the European war.

Some points in this scheme will be considered in a later chapter It was much opposed, though not on rigid party lines, in the commons, more especially by Brodrick, Arnold-Forster, Wyndham, and Balfour But Haldane won through, partly by his considerable powers of persuasion, but also because it was known that all the best generals at the war office were firm on his side. He had, too, good backing from the prime minister.

Asquith's budget of 1906 was limited, of course, by the finance of the previous government. He had a small surplus, which he used to reduce the tea duty from 6*d.* to 5*d.*, to repeal the export coal duty, and to add half a million to the sinking fund. His budget of 1907 showed only a little more originality. Its novel feature concerned the income-tax; it differentiated for the first time between earned income and unearned, retaining for the latter the existing rate of 1*s*, but lowering it to 9*d.* on the earned incomes of tax-payers with less than £2,000 a year. He also made a slight addition to the Death Duties in the highest ranges. In 1906 he had the advantage of a reduction of £1½ millions on the

[1] p 291

navy estimates, and in 1907 of a further reduction of nearly half a million, while the army estimates were down by £2 millions. These savings as yet went rather to debt redemption than to social reforms, but the demand for the latter steadily gathered force In 1906 the labour party succeeded in passing a bill to enable local education authorities to provide meals for necessitous school-children; and in 1907 McKenna passed a short Education (Administrative Provisions) Bill which made it the duty of local education authorities to have the children in their schools medically inspected. The 1906 Act was important, because it brought into existence for the first time the school Care Committees, and the 1907 Act, because Morant, who was deeply concerned for the physical side of education, used it for all that it was worth, establishing a medical department under Dr (afterwards Sir George) Newman at the board itself, and encouraging the Care Committees to develop medical treatment services following on medical inspection.

Another development, which complicated the politics of this time, was the adoption of militant tactics by women suffragists It began just before the fall of the Balfour government, when on 13 October 1905 a liberal meeting addressed by Sir Edward Grey in Manchester was interrupted by two young girls, Christabel Pankhurst and Annie Kenney, who were afterwards convicted of assault and sent to prison on their refusal to pay a fine. The advertisement which they received encouraged them to interrupt many more liberal meetings during the election campaign; and the Women's Social and Political Union, a suffragist body formed in Manchester in October 1903, became the rallying-point of the new tactics. Its founder and head was Mrs. Emmeline Pankhurst, mother of Christabel and widow of a popular Manchester leader of the I.L.P. Its ungrudging helper and mentor was Keir Hardie. It was he who supplied the women's early lack of experience in the arts of agitation; and he who by bringing together Mrs. Pankhurst and Mrs. Emmeline Pethick-Lawrence enabled the W S.P U to be established on a solid basis. The 'two Emmelines' had each great but complementary gifts, and while they co-operated (from the spring of 1906 to the autumn of 1912) the movement went ahead with extraordinary momentum In the course of 1907, when its membership and resources were already very large, there was a split; and a number of the ablest militants seceded to form what from the begin-

ning of 1908 was called the Women's Freedom League. The division was over internal questions—the 'autocracy' of Mrs. Pankhurst; it did not weaken the urge towards militancy.

The tactics employed in these early years were entirely directed against liberals; the logic which they expressed being that only the government could put through a Suffrage Bill, and therefore it must be opposed until it consented to do so. At by-elections every attempt was made to embarrass the liberal candidate, and no cabinet minister could open his mouth anywhere without interruptions. Friends of the suffrage, e.g. Grey and Lloyd George, were attacked no less than its opponents, e.g. Asquith and McKenna; and all sorts of devices, such as padlocking themselves to fixtures, were adopted by interrupters to prevent their removal. The tactics were carried to Downing Street and to the galleries of parliament. But at this stage little damage was done to property beyond some window breaking; and the difficult problem for the home office did not arise till later.

On the suffrage cause itself the first influence of militancy was stimulating. Later the hostilities which it aroused set the clock back. Had it not been persisted in, some kind of Women's Suffrage Bill would probably have passed the commons between 1906 and 1914. But calculations like this were almost irrelevant to most of the women concerned What drew them together and drove them on was a spirit of revolt. The vote was not sought for any practical object, but as a symbol of equality. They were obsessed by an inferiority complex. And similarly upon politics at large their militancy had more effect than their suffragism. The means mattered rather than the end, and indeed conflicted with it. For while the vote presupposes the rule of free persuasion, the W.S.P.U leaders proclaimed by word and deed, that the way to get results was through violence. Such doctrines are always liable to become popular, when a politically inexperienced class or classes come into the public life of a nation Often it seems plausible then to win the game by a 'try-on' at breaking the rules. But of course if others follow suit, there is no game. The years 1906–14 in Great Britain witnessed a crescendo of rule-breaking in this sense—by labour strikers and their Syndicalists, by the house of lords and its Die-hards, by the Ulster Volunteers, by the Irish Volunteers, and by many others; until the fabric of democracy came into real danger. In that direction the W.S.P U. set the earliest and not the least strident example;

sawing, by a strange irony, at the very bough, on which its members were demanding the right to sit

The fates of rival or successive Suffrage Bills are of small interest now, as none of them went far. But in 1907 the new attention drawn to women's rights led to an important reform This was the Qualification of Women Act, 1907, which enabled women, whether married or single, to sit as councillors or aldermen, mayors or chairmen, on county or borough councils, just as since Fowler's Act of 1894 they had sat on the district and parish councils which it established Much opposition was shown in the house of lords by Lord Halsbury, Lord Lansdowne, and others, but finally the house of commons got the measure passed in its original form. A similar bill was passed for Scotland.

Members of the Campbell-Bannerman cabinet seem to have been surprised, after entering upon office, to find to what a dangerous foreign situation they had succeeded The lull before the Algeciras Conference, fixed for January 1906, ceased as the meeting drew near. On the 10th of that month Cambon, the French ambassador, told Grey, the new foreign secretary, that his government considered the danger of an unprovoked attack to be real; as we know now that it was, since Count Schlieffen, the German chief of staff, had been urging in Berlin 'the fundamental clearing up of relations with France by a prompt war'.[1] Would Great Britain, asked the ambassador, possibly join in resisting it? And if there was even a chance of her doing so, would she allow military conversations as to the form which her possible co-operation might take? To be effective in an emergency, it would need to have been thought out beforehand.

Grey replied that he could not commit Great Britain in advance In his opinion (and he intimated the same to the German ambassador) 'if war were forced upon France on the question of Morocco, public opinion in this country would rally to the material support of France'; but that was given as his opinion merely, and neither a promise nor a threat.[2] But the force of the argument for military conversations could not be gainsaid, and after consulting Campbell-Bannerman, Asquith, and Haldane (but not the cabinet as a whole) Grey authorized them.[3] The first was opened on 17 January between General Grierson and

[1] K F Nowak, *Das dritte deutsche Kaiserreich*, ii (1931), 308
[2] Hansard, v lxv 1811.   [3] Ibid , 1812.

Major Huguet, the French military attaché in London; and thenceforward they continued till 1914.

This step made explicit a momentous transformation of the Entente It had begun as a restoration of goodwill, based on a bargained settlement, which implied an understanding that the parties should give each other diplomatic support in realizing the advantages bargained for. France had done so for Great Britain in Egypt without serious hitch; but the British counter-support in Morocco had stumbled on the quite unexpected German intervention By now this blackmail of Holstein's had so hardened what it was intended to weaken, that Great Britain and France were driven to face at least the possibility of carrying on war as allies, and even to concert in advance the plans requisite for a joint campaign. Moreover though it was agreed on both sides (and put in writing by Grierson and Huguet) that the conversations did not bind the governments, they yet were official; and it is obvious that two countries, each of which has unbosomed military secrets to the other, have gone far to commit themselves against fighting in opposite camps. About the same time confidential conversations took place in Brussels between the British military attaché and the chief of the Belgian general staff. These were on a different footing, being purely unofficial and not notified to either Grey or Haldane. They were expressly confined to what might be done in the event of a prior violation of Belgian neutrality by Germany. The famous Schlieffen Plan, on which Germany's violation of it in 1914 was based, had only just been adopted in Berlin (December 1905). But Schlieffen had been thinking along those lines since the turn of the century,[1] and railway dispositions on the German side of the Belgian frontier—e g. the building of long troop-platforms at obscure country stations with little traffic—had made pretty clear what was intended.[2]

The final responsibility for the opening of the Grierson-Huguet conversations rests with Campbell-Bannerman, who had the determining voice about it. He also must be held responsible for not consulting or acquainting the cabinet. What was the reason?

[1] General H J von Kuhl, *Der deutsche Generalstab in Vorbereitung und Durchführung des Weltkrieges* (1920), 166

[2] Records of the Anglo-Belgian conversations were unearthed at Brussels in 1914 by the Germans, who, as was natural in war-time, sought to base on them against Belgium a charge of non-neutrality. But that could not now seriously be argued.

The one which Grey gave later—that the cabinet could not be summoned—is unconvincing; and Lord Loreburn's imputation about a cabal of ex-liberal leaguers[1] seems disposed of by the prime minister's part in the transaction. Probably the motive was secrecy; the cabinet of 1906 was a large body, and leakages from its proceedings were frequent. But it was certainly a remarkable omission, not easy to reconcile with the practice of cabinet government.[2]

The Algeciras Conference, which began on 16 January 1906, proved a disappointment for Germany. Of twelve governments represented, only Austria-Hungary stood by her; Italy (whom France, it will be remembered, had compensated in advance) did not On the other hand Russia, in spite of Bjorko, stood by France, so did Spain; so did Great Britain; and so in fact, though not in form, did the United States France and Spain obtained mandates to police the Sultanate under a Swiss Inspector-General, and though Germany was to butt into Morocco again five years later, for the present she withdrew empty-handed A certain easing of tension followed In the summer there was to have been held the Second Hague Conference, which the Campbell-Bannerman government desired to use for the discussion of disarmament It was postponed for a year; but meantime the government, for a gesture, dropped a Dreadnought and a good deal else from the Cawdor programme. This was done despite plain indications from the Kaiser that he would not allow disarmament to be discussed. Undeterred by them, on 2 March 1907, the prime minister published in the first number of H. W. Massingham's then new weekly, the *Nation*, an article headed 'The Hague Conference and the Limitation of Armaments', pleading for an arrest in the armaments race and stressing at the same time the purely defensive reasons why Great Britain maintained a supreme navy. From the standpoint of a British liberal, sincerely anxious for peace, disarmament, and international goodwill, it was an admirable article. Grey had seen and ap-

[1] Lord Loreburn, *How the War Came* (1919), 80.

[2] One of the things which may have helped to prevent the conversations from being notified to the cabinet was that on 1 February 1906, Sir Edward Grey's wife was killed in a carriage accident near his home in Northumberland He was thereafter away from the cabinet and the foreign office for ten days, and when he came back the Franco-German crisis was over But it remains extraordinary that even Lloyd George was not informed of the conversations till 1911, and the cabinet as a whole not till 1912.

proved it. But the effect on Germany proved irritant. Suspecting behind British diplomacy the motives which governed their own, her inspired publicists denounced the Machiavellian British premier who, at a time when Germany's navy had been put at a maximum disadvantage by the launch of the *Dreadnought*, was seeking to entice her before a Hague Conference to have the disadvantage made permanent. In vain did the British government again lop a capital ship off the Cawdor programme and offer to lop yet another, if other powers would do likewise. On 30 April Bülow announced Germany's veto on any proposals for disarmament at The Hague. At the Conference (15 June–18 October 1907) she neatly outmanœuvred Great Britain by supporting the United States against her in a proposal to exempt private property at sea from capture Great Britain reaped no result from the discussions beyond some new 'laws of war', which proved dead letters when Armageddon came, and a plan to create an International Prize Court, dependent upon subsequent agreement about an international code of prize-law

While the Conference was in progress, a more fateful step was taken. On 31 August 1907 was signed an Anglo-Russian Convention.[1] It had the effect of combining the Franco-Russian Alliance and the Franco-British Entente in a higher unit of co-operation. This, however, was at first not fully seen, and only in 1909 did the Triple Entente become distinctly visualized throughout Europe as the foil to the Triple Alliance. The Convention resembled that with France; it was in form a set of agreements regulating the different spheres where friction had arisen or might arise between the two countries. These were Persia, Afghanistan, and Tibet. The chief difficulty was over Persia, where social decay and political break-up had reached an advanced stage, and where Russia working from the north at lavish expense had developed all the regular antecedents of absorption, building roads and railways and supplying Russian officers to the Shah's Cossack guards. Had anything caused Great Britain to cease from being a Great Power, the Tsar would doubtless have annexed Persia at once; and with it his empire would have obtained in the Persian Gulf its much-coveted access to unfrozen seas. Great Britain had some trade, British and

[1] Full text in G P. Gooch and H W. V Temperley, *British Documents on the Origin of the War*, iv (1929), 618–20 Negotiations regarding it fill nearly all this large volume.

Indian, in the Gulf ports, but her main interest was strategic—to keep her rival outside the Gulf and away from the Seistan fringe of the Baluchi and South Afghanistan frontiers. The agreement partitioned Persia along these lines into two spheres of influence with a neutral zone between. It was criticized in Russia by Count Witte (now prime minister there) as barring his country's advance; and in England by Lord Curzon as giving away to Russia nearly all Persia's best territory, including eleven out of her twelve chief towns. To some extent the criticisms cancel out. The spheres of influence were not to derogate from the Shah's sovereignty, which was to be continued in both

The Afghan and Tibetan agreements need not detain us. By the first Russia undertook to have no political relations with the Afghan government save through the intermediary of Great Britain, while Great Britain affirmed her intention not to change the political status of the country nor to take any measures there threatening Russia The agreement was only to come into force with the consent of the Amir; but though this was never obtained, its terms were kept by both parties. In Tibet they both bound themselves not to interfere, nor to send representatives to Lhasa, nor to negotiate save through China, Tibet's suzerain. Most of the results of the Younghusband expedition (other than the exclusion of Russia) were soon afterwards abandoned; and the way was left open for China to reconquer the country in 1910. Neither about Afghanistan nor about Tibet did subsequent friction arise About Persia it did.

Two points require note in regard to this Convention as a whole. In the first place it drove Russia back on the Near East for her 'warm water'. Japan had expelled her from the China Seas, and she now waived her approach to the Persian Gulf. Only the Dardanelles outlet remained; and already her interest in the Balkans quickened Under Nicholas II it had become almost dormant, since 1897, there had been definite Austro-Russian co-operation in all Balkan matters; and even when, in 1903, the Macedonian Bulgars put up against the Turks by far the biggest Christian revolt since 1876, the Tsar was content that his foreign minister should meet the Austrian foreign minister at Murzsteg, and agree to a programme of 'reforms', behind which the Concert of Europe stayed lined-up for the next five years. That it was an inadequate programme, allowing dire misgovernment and even massacres to continue, did not

seem greatly to trouble any power save Great Britain. But when in January 1908 Baron Aehrenthal, the Austro-Hungarian foreign minister, obtained leave from the Sultan to survey a route through the *sandjak* of Novibazar whereby to link the Austrian and Turkish railway systems, Russia sharply pricked up her ears. She brought her co-operation with Austria to an end, just five months after her Convention with Great Britain.

Secondly, the new Entente was an embarrassing one for a British government to sustain, because the domestic policy of the tsarism at this time was repellent to British popular opinion After the Japanese war, as after the Crimean, Russia underwent a revolutionary upheaval; and on 30 October 1905, at the climax of a general strike which shook the whole fabric of her society, Nicholas II granted a Constitution with a Duma (i e. elected Diet). Following that, the strike was suppressed, and the St. Petersburg Soviet arrested. But in December there was a most determined insurrection at Moscow, only crushed after desperate barricade fighting; and fierce risings among the peasantry continued through 1906 and far into 1907. The result was an orgy of counter-revolution, in which the government sanctioned ruthless barbarities. The Duma itself, though a far from radical body which might well have been utilized by a prudent ruler, was repeatedly overridden and dissolved by the weak but autocratic Nicholas. His first resort to these methods (22 July 1906) was reported in London at the moment when some of the Duma members had come there for a meeting of the Inter-Parliamentary Union. Campbell-Bannerman, on opening the latter, used the famous words: '*La Douma est morte. Vive la Douma!*' which were acclaimed by democrats all over the world. That was a year before the Anglo-Russian Convention. How he would have dealt with such a situation after it, one cannot say. But the problem was one of constant difficulty. A large left wing of the government's own supporters hated the Anglo-Russian Entente upon what, from a diplomatist's standpoint, were not grounds of foreign policy at all So did the whole of the labour party.

Meanwhile, save for the navy question, British relations with Germany in the two years following Algeciras were good. King and Kaiser, who had been very much alienated in the period following Tangier, became seemingly good friends again, and exchanged highly successful visits to Cronberg and London. In the autumn of 1906, when Haldane was planning army reforms,

he was received as a guest at the German army manœuvres and afterwards at the Berlin war office; where, though no secrets were told to him, he was courteously given every guidance in regard to published facts. A German historian has argued that this proves the 'complete guilelessness' of the German authorities towards an anti-German England.[1] That is probably putting it too high; they saw in the Göttingen-educated war minister an obvious liaison with the British cabinet, and naturally made the most of him; while their view of a British Expeditionary Force was probably what Schlieffen's had been two years earlier—that it was too small in relation to the conscript armies to turn any scales. At this same time in Russia, as the British ambassador there reported in January 1907, German influence was 'predominant both at the Court and in Government circles'.[2] Germany did not feel that her favourable footing in both capitals was appreciably changed by the Anglo-Russian Convention; nor was it, to all appearance, till the events of October 1908.

The summer of 1907 brought the fifth Colonial Conference. Seven premiers attended;[3] among them General Botha, conspicuous as a new-comer. They passed a resolution to meet every four years, and decided that the term 'Dominions' be substituted for 'Colonies' in application to self-governing units of the empire. A proposal for a permanent Imperial Council was abandoned, owing to the opposition of Canada; but it was agreed to form a permanent secretarial staff for the Conference under the colonial secretary. Nothing of importance was done in regard to defence. Five of the premiers, headed by Australia, pressed strongly for the adoption of fiscal Preference by the imperial government, but Sir Wilfrid Laurier, for Canada, and Botha, for the Transvaal, held that each government must be free to settle its own fiscal system. Laurier was in fact planning reciprocity with the United States. The insistence of the others on their demand was not very impressive, as they knew that in view of the 1906 election result no British government could

[1] Otto Hammann, *Deutsche Weltpolitik, 1890–1912* (1925), 158. 'Diese deutsche Unterstützung des englischen Kriegministers beweist unwiderleglich die völlige Arglosigkeit der deutschen Staatsmänner und Generale gegenüber der damaligen deutschfeindlichen Politik Englands.'

[2] *British Documents*, iv. 256.

[3] Representing Canada, Australia, New Zealand, Cape Colony, Natal, the Transvaal, and Newfoundland. The Orange River Colony had not yet its new constitution.

grant it. However it enabled Balfour to rejoin the majority of his party, by declaring at the Albert Hall (3 May 1907) that he had been converted to Preference by the colonies' zeal for it

Arrangements for the 1908 session of parliament were made under Campbell-Bannerman as premier, but he did not live to see them through. On 12 February he made his last speech in the commons, and next day went down with serious illness For seven weeks he left the reins to Asquith as deputy-leader, on 6 April he resigned; and on 22 April he died. It was a short, yet by no means a common-place premiership. In it he had done much to help the new democracy to find its feet, and to enable the members of a government containing almost too many talents to assess each other's worth and settle down behind acknowledged leaders. This he achieved partly by plain human qualities, and partly because he touched at once both the future and the past of progressive politics The future, in that he warmly sympathized with the left-wing crusade against poverty. The past, in that he could still regard the two-party system as something fore-ordained by Nature, and so, when out of office, was content without trimming or embroidery to reiterate his party's well-known doctrines, confident that in due course the nation would come back to them. His was the last generation which could plausibly hold this simple faith.

King Edward was at Biarritz when he resigned, and with an odd disregard for propriety[1] summoned Asquith as his successor thither. For the only time in history a British prime minister kissed hands in a foreign hotel. The party accepted its new chief without controversy, which two years earlier it would not have done His loyal service under Campbell-Bannerman had filmed over the old sores. But he could not for long have held the left wing, had he not at once appointed in his own place as chancellor of the exchequer Lloyd George, who had already shown himself by far its strongest leader. In other respects he markedly improved the ministerial combination. Two of the ablest under-secretaries, Winston Churchill and Walter Runciman, were brought into the cabinet as president of the board of trade and president of the board of education respectively. Lord Elgin, who had proved a deadweight at the colonial office, was advantageously replaced by Lord Crewe. Lord Tweedmouth left

[1] *The Times* characterized it as 'an inconvenient and dangerous departure from precedent'.

the admiralty,[1] and was succeeded by a first-rate administrator in the person of McKenna. The team thus remodelled was extraordinarily strong all round, save at the home office and the local government board.

The new prime minister was a Yorkshireman, with plenty of the shrewdness and some of the stubbornness reputed common in his native county. His type was at this time more familiar in big business than in high politics, fond of high life, but nothing of an aristocrat, and as distinct from Grey or Balfour as earthenware from porcelain, nothing of a crusader, and there differing no less sharply from Gladstone or Chamberlain or Lloyd George. Strict nonconformist origins; an orphaned upbringing in London; four successful years under Jowett at Balliol, and the building up of a solid (though never over-lucrative) position at the Bar—such had been his career before parliament. Down to becoming home secretary in 1892, he had moved chiefly in nonconformist circles, and stood on the left wing of his party His second marriage in 1894, to a very brilliant member of the most brilliant set in high society, carried him into quite a different world; and this, together with a personal attachment to Lord Rosebery, gradually forfeited him many radical sympathies. But there was another reason why between 1895 and 1903 his political standing declined. Asquith in power was at all times a different being from Asquith in opposition, and out of proportion greater. When home secretary, when chancellor of the exchequer, when prime minister, he reached heights to which nothing in his career off the treasury bench corresponded. It was not merely as administrator, but as parliamentarian, that office exalted him. Strong in argument, but weak in imagination, his terse Latinized oratory had never in itself the magic which compels attention But when there was attention already (as for an important minister there must be), its exceptional precision and concision told on men's ears and minds with monumental effect. From the first to the last year of his premiership he was the giant of the commons' debates. In cabinet he conceived his role as the chairmanship of a board, whose members it was his business to hold together by genial tact and judicious compromises. He

[1] He had just been discredited by the revelation that he had exchanged injudicious private letters with the Kaiser about the navy He was in reality going out of his mind, and though transferred to the lord presidency of the council, had soon to resign it, and died not long afterwards.

was not the devotee of causes or ideals; he rarely looked far ahead; his concern was to carry on the king's government from day to day. He was now 56 and at the height of his powers.[1]

The domestic record of 1908 had only one feature to distinguish it from those of 1906 and 1907. The budget, which Asquith, who had framed it, introduced in person, showed once more a modest surplus. Nearly half was again due to Haldane, who had pulled down the army estimates by yet another £2,354,000 (almost £4½ millions since he took office). It was now too risky to squeeze the navy estimates as well, but only £900,000 was put back on them. Most of the surplus went to reduce the sugar duty from 4*s*. 2*d*. per cwt. to 1*s*. 10*d*. In the light of nine months later this costly remission of ¼*d* per lb. seems hard to justify. It reflected the party's haste to remove all food taxes as quickly as possible, in order that if the Tariff Reformers came into office they should not find any which they could abolish in substitution for their tax on corn. But (and here came the year's novelty) a small sum of £1,200,000 was devoted to a scheme of non-contributory Old Age Pensions—to start on 1 January 1909 only. So tiny was the beginning of that policy of mitigating poverty by direct state payments, which has since attained such vast dimensions. Unlike succeeding social schemes, it was non-contributory. The scope was narrow, the pension was only 5*s*. a week, and did not begin till 70; and an income of no more than 10*s*. a week disqualified for it In imitation of the income-tax's penalties on marriage, the pension for two old married people living together was thriftily cut down to 7*s*. 6*d*. The case for old age pensions had really been overwhelming since Charles Booth revealed it nineteen years earlier, but they had been so long talked about without anything being done, that much enthusiasm prevailed at the prospect of their starting. The lords were unwise enough to tamper with the Old Age Pensions Bill, but when the lower house asserted 'privilege', they desisted

The main government measure for the year was a large-scale Licensing Bill. It was well framed, and attracted non-party

[1] One of the most living sketches of his personality is the brief one by Prince Lichnowsky, who four years later became German ambassador in London. The prince brings out both his *bon-vivant* side and his easy competence in affairs—'he treated all questions with the cheery calm and assurance of an experienced man of business, whose good health and excellent nerves were steeled by devotion to the game of golf'. (*My Mission to London, 1912–14*, English translation (1918) of a German original circulated, but not published, in 1916.)

support, especially from the religious bodies. And there was room for it; for the Balfour Act of 1904, though a great measure in its way, was all too slow in its operation to reduce the then monstrous evil of intemperance—how monstrous, it is perhaps difficult for the present generation to realize. But the liquor trade naturally took up arms, and the conservatives in the commons espoused their cause. What would the lords do? In October the king summoned Lord Lansdowne, and urged on him strongly the impolicy of rejecting the bill.[1] A few of the very ablest peers, including Lord St. Aldwyn, Lord Cromer, Lord Milner, and Lord Balfour of Burleigh, shared the king's opinion But a party meeting decided on rejection, and the bill was killed on second reading, though the bishops voted for it, and the Archbishop of Canterbury gave memorable expression to the consternation of thoughtful non-party men The lords had been confident that their action would be popular outside; but there was not, in fact, much mob approval.

Yet the outlook for the government as its third year closed was cheerless. Its members recognized, as every one must now, that the lords were breaking the spirit, though not yet the letter, of the Constitution. The root-idea of British parliamentarism, as it had developed, was that each party in turn, if it obtained a mandate for its purposes from the electors, should have reasonable freedom to carry them out. A second chamber, that openly sought to confine the rights of government to one party and deny them to the other, no matter what commons majorities that other had, was in effect holding up the Constitution's working. But how could it be effectively brought home as an issue in a general election? Trade in 1908 was bad; and in electoral matters it is an observed phenomenon, of which politicians by then were aware (though Gladstone in 1874 and Beaconsfield in 1880 had not been), that bad trade throws votes against the government in office. By-elections were going in the opposition's favour. Tariff Reform made converts every day. The unionist peers expected 1895 to repeat itself; and so it might have done, could they have kept their heads But their action over the Licensing Bill showed that they had already lost them.

Meanwhile the international sky had darkened. In July 1908 the Young Turk party, which had organized in Salonica a

[1] Lord Newton, *Lord Lansdowne*, 368.

'Committee of Union and Progress', carried out an armed revolution against the Sultan Abdul Hamid, and compelled him to grant Turkey a Constitution. Its immediate effects were hopeful; the race-war in Macedonia was suspended; and Great Britain took the lead in claiming for the reformers a fair chance. But Russia and Austria-Hungary, who were temporarily reconciled, saw things in a different light. Neither wished the Sick Man to make too good a recovery. On 15 September their respective foreign ministers, Isvolsky and Achrenthal, met and struck a bargain. Russia was to obtain the opening of the Dardanelles, and Austria-Hungary to annex Bosnia and Herzegovina. Both aims were in conflict with existing treaties. It was Isvolsky's intention to consult other signatory powers; but before he could do so, Aehrenthal brusquely announced his government's annexation of the two provinces. It was notified diplomatically to the powers on 5 October; and on the same day Prince Ferdinand of Bulgaria proclaimed his country's complete independence, and took the title of Tsar. Crete followed suit, and demanded incorporation with Greece.

These actions gave a violent shock to Turkey and to Serbia. Turkey's rights over the provinces, as over Bulgaria, were indeed shadowy; but she could not afford to admit their unilateral abrogation Serbia was still more injured; for her hope of incorporating those Serb lands in a larger unity seemed finally barred out, and failing it she must at least seek some alternative outlet to the sea. Sir Edward Grey took his stand on the Declaration, which both Russia and Austria-Hungary had signed at the London Conference of 1871,[1] that 'no Power can liberate itself from the engagements of a Treaty nor modify the stipulations thereof, unless with the consent of the Contracting Powers by means of an amicable arrangement'. He demanded another Conference, and secured the assents of Russia and France.[2]

[1] p 5 above.

[2] Isvolsky wanted to make it a condition that Great Britain did not oppose the opening of the Straits King Edward (J A. Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith* (1932), i. 247–8) urged the cabinet to give way to him, in order to save his face at St Petersburg But they preferred to reply, that the Straits question should not be raised at this juncture, that, when it was, there must be a *quid pro quo;* and that the proper one would be a right of ingress to the Black Sea for other powers' whereupon Isvolsky dropped the topic King Edward was particularly sore about the annexation, because only two months earlier he had visited the Austrian emperor at Ischl and the latter, while affecting candour and intimacy, had not breathed to him a word about it

Aehrenthal refused his. Germany was awkwardly placed; for, as between Austria-Hungary and Turkey, the one was her only powerful friend, and the other her special protégée, on whose goodwill all the Berlin-Bagdad dreams depended. Her Kaiser 'was beside himself' when he heard of the annexation, and called it 'a robber attack against Turkey'.[1] But her dilemma had to be determined in Austria's favour, for the alternative was isolation among the powers. So she too opposed the Conference; and by 5 November was acting so mischievously that the British government 'could form no theory of the German policy which fitted all the known facts, except that they wanted war'.[2] War dangers lasted for over five months. In January Austria settled with Turkey, by a payment of money and by returning to her the *sandjak* of Novi-bazar; but as Serbia was not compensated likewise, her grievance became only the more inflamed. Since 1903, when King Alexander II, the petty Caligula who closed her Obrenovitch dynasty, had been assassinated by Russian partisans, she had been ruled by King Peter Karageorgevitch, a devoted Russophile. Russia had therefore to stand by her; and when in March Austria threatened Serbia with an ultimatum, the peril of an Austro-Russian war arose precisely as in 1914. But on 23 March 1909 Germany intervened at St Petersburg with a polite but unmistakable ultimatum of her own; and Russia, not as in 1914, abruptly climbed down. This was the succour, of which the Kaiser boasted at Vienna in 1910 in his famous 'Shining Armour' speech.

The Bosnian imbroglio was not made less perilous by two grave incidents, which were contemporary with although outside it. One was the Kaiser's *Daily Telegraph* interview; the other the Franco-German Casablanca dispute. In his interview (published 28 October 1908) the Kaiser painted himself as the Anglophile ruler of an Anglophobe Germany. He claimed to have refused the request of France and Russia to join with them in saving the Boer republics; and to have supplied Queen Victoria with a plan of campaign, which 'as a matter of curious coincidence' was very like that adopted later by Lord Roberts. These assertions, by which he had often sought privately to ingratiate himself with royal or ministerial personages in England, had a very different effect when blazoned to the widest public. Germany

[1] Otto Hammann, *Deutsche Weltpolitik, 1890–1912* (1925), 183.

[2] Lord Newton, *Lord Lansdowne*, 371.

was swept by two rages at once—against Great Britain and against the Kaiser. Strong demands were made in the Reichstag that the conduct of foreign affairs must not be carried on by the Kaiser over the chancellor's head. The results were the resignation of Bülow (deferred till the following summer), and a blow to the Kaiser's controlling prestige over the German military leaders, from which it never recovered.

The Casablanca dispute was Franco-German. It arose over a question about German deserters from the French Foreign Legion, who had been harboured by the German Consul. Things came very near war when Austria-Hungary, who wanted Germany's strength reserved for the Bosnian quarrel, intervened to cool them down There was a reference to the Hague Tribunal; and in February France and Germany signed a Morocco Agreement, recognizing the 'special political interests' of the one and the 'commercial and industrial interests' of the other.

While they were still in the thick of the crises, the British government made alarming discoveries about the navy. By departing in and since 1906 from the Cawdor programme, they had deprived their country of its great lead over Germany, and encouraged Tirpitz to redouble his efforts. In 1908 he had laid down 4 'all big-gun' ships to Great Britain's 2, and in 1909 he was to lay down 4 more. Further he had enabled the German establishments so markedly to expand their capacity, that they could accumulate guns, armour, and other requisites beforehand, and thus complete the ships long before the expected time. In that case, as the admiralty became aware in the winter of 1908, the British navy might for a few critical months find itself actually inferior to the German in its number of Dreadnoughts

McKenna's answer as first lord of the admiralty was to ask for 6 Dreadnoughts on the 1909 estimates. His idea was that the same number should be laid down in each of the two years following, making 18 in all He was strongly opposed in the cabinet by Lloyd George and Churchill, who within that body were the protagonists of social reform, and who maintained 4 to be sufficient. The strife between 6 and 4 was healed by an Asquithian compromise, 4 were to be laid down at once, and 4 contingently upon need being shown. Both sides accepted this. But in order to explain it to parliament, ministers had publicly to state what was known about the German power to accelerate. Then Tirpitz admitted before the Reichstag's Committee that the power

existed, though he denied his intention to use it. Public opinion in England felt that national safety could scarcely be rested on a foreign rival's expression of intentions; and amid a rising scare agitation (with a music-hall refrain, 'We want Eight, And we won't wait') it was decided to lay down all 8 at once The admiralty thus got 2 more out of hand than it had asked; but in each of the two next years McKenna had 5 laid down, so that he reached his original total of 18 in 3 years. It was these 18 ships, which in August 1914 gave Jellicoe's Grand Fleet the margin of Dreadnought superiority which it had

The navy badly upset the finance of the year It already was a little unstable, since Asquith when starting old age pensions had provided for them in one quarter only, and this year they must cost four times as much. Adding the extra Dreadnoughts meant that a total of over £15 millions would have to be found by new taxation It seemed a vastly bigger sum than it would to-day, being indeed without precedent. Even the masterful Hicks Beach in 1900, with a war to defray and in a period of exceptional trade-boom, had put on new taxes to raise no more than £12·1 millions

Such was the genesis of Lloyd George's famous 1909 budget. Out of difficulty he created opportunity. The lords' destruction of liberal bills had seemed thus far to be wearing the government down. They were in the position of a blockaded city, whose supplies must steadily run out, so long as it remains powerless to shake off the blockader Only a direct counter-offensive could save it.

A conservative writer with long experience in his party's central office has described and analysed Lloyd George's budget campaign as a masterpiece of political strategy, a classic example for the student of that art.[1] In effect it was so; though it is impossible to say how far it was planned ahead, and how far it was evolved, as the events proceeded, by the instinct of a born fighting-man.

The budget itself cast a wide net. Undeterred by the size of his task, the chancellor had proceeded to add to it. England's roads, for instance, had for some years been developing a deplorable state of dust and mud, thanks to the new motor traffic; a

[1] Philip G Cambray, *The Game of Politics A Study of the Principles of British Political Strategy* (1932)

board, therefore, was to be set up to finance their improvement, and for it the budget provided £600,000 a year out of special taxes, to be levied on petrol and on motor licences. This starting of the Road Board proved an unqualified national boon So did the assignment of a modest £100,000 to found a national system of labour exchanges. Less important in the sequel, yet striking in conception, was the creation of the Development Commission with an income of £200,000 a year to spend on developing country life and natural resources. Yet another minor novelty was the introduction of children's allowances for payers of income-tax True, the abatement of income for taxation was only £10 for every child under 16, and was only granted on incomes under £500. A new principle was none the less asserted.

The requisite new revenue was to be obtained as follows Death Duties were made to yield £2·5 millions more (£4·4 millions in a full year) by raising the scales on estates between £5,000 and £1 million. Tobacco was to yield £1 9 millions more, and spirits £1·6 millions. Liquor licence duties were increased to bring in £2·6 millions extra per year. Raising the income-tax from 1*s* to 1*s*. 2*d*. would produce (after allowing for the new abatements) £3 millions; and super-tax was created for the first time, fixed at a low rate, and estimated to bring in from the incomes above £3,000 a modest total of half a million more. Such, with £650,000 added to stamp duties and £3 millions knocked off the sinking fund, were the measures which met the deficit. But beyond them were others, not estimated to yield above £500,000 in the current year, but put forward as an eventual source of growing revenue to meet the growing demands of the state These were the Land Value duties—a duty of 20 per cent. on the unearned increment of land value, to be paid whenever land changed hands, and also a duty of ½*d*. in the £ on the capital value of undeveloped land and minerals It is still disputed, what the fiscal value of these taxes would have been, had they ever been carried out as intended; and it is obvious that quite different considerations apply to the first and the second of them. But their political value proved immense, both as slogans and as irritants For they involved making a complete valuation of the land of Great Britain. To this the classes that owned it, with the peers at their head, violently objected; and the more violent they were, the more the democracy became persuaded that they objected for sinister reasons.

Setting the land taxes on one side and viewing the rest of the proposals with a post-war eye, it may be difficult to understand why they caused such soreness The amounts taken were by subsequent standards so small, that similar tax-payers to-day, if mulcted by no more than them, would think themselves lucky beyond belief. The brewers, who had just prevailed with Lord Lansdowne to kill the Licensing Bill, might indeed groan to see how the chancellor had hit back at them; but none of the other victims had any reason for surprise. Why then were the conservatives so much inflamed? For a number of reasons. First, the Tariff Reformers seem to have agreed in their hearts with Lloyd George that, if the budget went through, it might remove the revenue motive for a tariff; they therefore wished at all costs to stop it. Secondly, it was feared as the thin end of a socialist wedge—the more so when it was found that the labour party's budget expert, Philip Snowden,[1] had previously advocated a budget very much on Lloyd George's lines. A third, and very real, factor was the sensationalism of the Harmsworth Press. Lastly, the author of the budget himself could wish nothing better than that his conservative opponents should present themselves as a party of angry rich men trying to dodge paying their fair share to the nation; and they, leaderless and tacticless, walked blindly into his traps.

Their lack of leadership was due to the fiscal controversy. The great Duke of Devonshire had died in the previous year, yet four indubitable Nestors still sat in the house of lords—Lord St. Aldwyn, Lord James of Hereford, Lord Cromer, and Lord Balfour of Burleigh. But because they were free traders, they were not listened to The official leader, Lord Lansdowne, as an ex-whig and a Balfourian, lacked the prestige of being either a true-blue tory or a 'whole hog' Chamberlainite; while yet he was himself too much subject to the prejudices of property[2] to be able to use his eyes unclouded by the dust of conflict In the other house Balfour might have done so, but he, again, had lost most of his authority through the fiscal differences He was painfully trying to recover it by wooing the extremists, and during the process the last thing he could afford was to appear as a curbing influence.

[1] Created viscount, 1931 His ascetic form and caustic eloquence had led many conservative M P s at that time to regard him (absurdly enough) as a sort of Robespierre

[2] As he especially showed in regard to Ireland (where he was a large landlord), not only in 1881, when he seceded from Gladstone, but even so late as 1916, by his veto on the Carson-Redmond settlement.

A real leader, had any such been in charge, could not have failed to impose at this juncture tactics of patience and restraint. The pendulum was swinging hard towards the conservative side; they had only to wait and be prudent for the next election to bring them a majority; and then they could rearrange budget, second chamber, and everything else to their liking.

Instead, they did exactly what Lloyd George desired. In the commons they took up positions against the budget, which allowed of no compromise. At party demonstrations they committed themselves to fight it without quarter. They even tied themselves to a special organization—the Budget Protest League. Then the chancellor turned on them, and delivered over the country a great series of speeches, every stroke in which drew blood. That at Limehouse (30 July) is the best remembered, but it was only one of many. There had been nothing like them since Chamberlain's campaign for the 'unauthorized programme' in 1885. But Lloyd George had a weapon in his armoury which Chamberlain lacked—ridicule; and by turning the laugh against his adversaries he completed their loss of self-control. With skill he kept the peers in the foreground, constantly presenting them as the protagonists of monopoly and privilege, so that long before their leaders had decided to reject his budget he was fore-armed against their doing so. Behind the scenes he had difficulties in the cabinet More than one colleague recoiled before his audacities But Asquith stood firm by him there; and also in parliament and in the country rendered the budget's cause a peculiar service by the calm weight of his approval, as coming from an acknowledged financial purist.

So the struggle went forward, and it began to be mooted, whether the lords would reject the budget. Though attempts were made to argue otherwise, it could not really be disguised that this would be unconstitutional There had been no precedent for such a course for over 250 years; and the whole basis on which parliamentary government had been built up during that long period, was that, while the house of commons had power through the purse to halt a ministry's career and force a dissolution, the house of lords had not. If the rejection came about and were acquiesced in by the nation, the control of the executive by parliament must pass from the elected to the hereditary chamber. That was scarcely a plausible transfer in the twentieth century, and it seems almost incredible now, that a great party

should have hoped for popular acquiescence. Lord Lansdowne had originally intended not to oppose the Finance Bill in the upper house[1] But by September the pressure upon him for rejection became (as Lord James recorded at the time) 'irresistible'.[2] Balfour was swimming with the stream already; and Lansdowne by 2 October[3] was no reluctant convert, despite the earnest warnings of such cooler heads as the four Nestors already mentioned, and others like the fourth earl of Onslow and the second earl of Lytton King Edward in vain counselled caution He was most anxious that the lords should pass the budget; and even asked Asquith to sanction his trying to bribe them by the promise of a January dissolution. The prime minister had perforce to reply that after only four years in office the government could not justify a dissolution to its party; and he might have added that to concede one to the lords' threat would be to give away the very principle at stake.[4]

The immediate sequel is soon told The budget passed the commons on 4 November 1909 by 379 votes to 149. It was rejected on second reading by the house of lords on 30 November by 350 to 75. Two days later Asquith moved and carried in the lower house (by 349 votes to 134) a resolution: 'That the action of the House of Lords in refusing to pass into law the financial provisions made by this House for the service of the year is a breach of the Constitution and a usurpation of the rights of the Commons.' That made a January general election inevitable, and all parties girded themselves for such a contest as had not been paralleled since 1886, nor equalled even then. Far more than the merits of the budget itself, the issue on the platforms was the veto of the lords; and they had committed themselves to fighting for it in the most unfavourable postures, as palpable constitution-breakers and as rich men trying to evade taxation A feature of the election was that for the first time (through an amendment of the house of commons' Standing Orders on Privilege) the peers in person were allowed to take active part. In the nineteenth century they had never been.[5] But their sudden liberty

[1] Lord Askwith, *Lord James of Hereford*, 300

[2] 'The agents, the organizations, and the Licensed Victuallers' Trade all demand it. They know nothing of, and care nothing for, Constitutional Law' (Ibid)

[3] See his letter of that date to Lord Balfour of Burleigh, printed in Lord Newton's biography at pp 378–9.

[4] J A Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith*, i 257–8.

[5] It had sometimes been a grave party handicap, e g. at the 1880 election, where

was not wholly a help to them; it had in some cases the disadvantages which the act permitting a prisoner to give evidence is generally allowed to have entailed for the prisoner

At the polls the unionist party was heavily defeated. A calculation in January 1909, based on the evidence of by-elections, had given them a majority of about 100 in the event of a dissolution at that time Now they were in a minority of 124, so that opposing the budget and defying the constitution had cost them well over 100 seats. None of the other three parties, however, had unreserved cause for satisfaction The figures were· liberals 275, labour 40, Irish nationalists 82, unionists 273, so that in this parliament, unlike the last, the liberal government would depend on Labour and Irish support. For the labour party this was particularly embarrassing. Despite having effected a consolidation in 1909 between the Miners and the main body, it had lost a dozen seats on balance; and many of its followers wanted it to seek recovery by separating itself more sharply from the government in the division lobbies. But that was just what it could not henceforward afford to do, on the contrary, it must cast many reluctant votes to avoid defeating the ministry The Irish had an even more instant difficulty. In 1909 they had opposed the budget and voted against its second reading, though they abstained on its third The reason was indeed almost trivial; the budget had raised the excise duties on spirits by £1,200,000, and a marked feature of the nationalist party was its financial dependence on distillers and publicans. But now the same budget confronted them on the threshold of the new parliament, and unless they voted for it, the parliament might break down.

These embarrassments were less real than they looked on paper, because the three parties with their joint majority of 124 (one of the largest since 1832) were solidly united on behalf of two causes. They all wanted to deal with the house of lords on Campbell-Bannerman lines, i.e. not by altering its composition, but by defining and limiting its power of veto And they all wanted to give home rule to Ireland. About this the liberals had been comparatively apathetic in 1906, but quite a new feeling had come to pervade their ranks since the brilliant success of Campbell-Bannerman's policy in bestowing self-government on the Transvaal. Their slogan now was 'to make Redmond the

the forced abstention of Lord Beaconsfield, Lord Cranbrook, and Lord Salisbury deprived the conservatives of their three most powerful speakers

Irish Botha'. And indeed he had many qualities for the part. He led a united party which comprised 70 out of the 82 Irish members; his dignified eloquence expressed a generous and conciliatory temper, and, unlike Parnell, he had, apart from the Irish grievance, a warm admiration for England and Englishmen. Had their hand been extended to him as it was to the Boer leader, he would have grasped it in the same spirit. Apart from what they might desire, however, he had, as we shall see in our next chapter, one flaw in his prospect, which Botha had not

Following the election the natural thing was to pass the budget, but for this the Irish votes were wanted, and Redmond wished to have a Veto Bill first Then followed several hitches. The first was over the so-called 'guarantees'. It was strongly held by most liberals, as well as by the Irish, that for settling a question so plainly referred to the country as this of the house of lords had been, one general election ought to suffice; and consequently that, if the lords attempted further resistance, the king should sanction their being coerced, as in 1832, by the creation of new peers. And it was generally assumed that Asquith had obtained 'guarantees' to that effect from King Edward before dissolving parliament But on 21 February 1910 the prime minister told parliament that he had received no such guarantee, nor even asked for it. Most of his followers thought this improvident of him; but they settled down eventually on the assumption that things must be governed by the 1832 precedent, if the occasion arose In point of fact the king had thrown the precedent over, and notified Asquith (on 15 December 1909), that he would not create new peers till after a *second* general election [1] This meant altering the scales heavily in the lords' favour, and, if it had been disclosed by events in Edward VII's lifetime, might have had very serious effects on the relations between the monarchy and the popular parties Fortunately it remained a secret till long after

The other hitch was in the cabinet itself When its chiefs drafted a bill on Campbell-Bannerman lines, Sir Edward Grey, still a Roseberyite by conviction, objected that it must also include the reform of the house of lords. He even made a public

[1] Five days earlier Asquith had said at the Albert Hall meeting which opened his party's campaign 'We shall not assume office, and we shall not hold office, unless we can secure the safeguards which experience shows us to be necessary for the legislative utility and honour of the party of progress' It was the conflict between this public announcement and King Edward's subsequent secret intimation which occasioned the 'guarantees' hitch.

speech saying that 'to leave the policy of reform of the Second Chamber—to leave all the ground unoccupied for the other side' would result in 'disaster, death, and damnation'. His obstinate scruple was at last overcome by giving the bill a preamble beginning: 'Whereas it is intended to substitute for the House of Lords as it at present exists a Second Chamber constituted on a popular instead of a hereditary basis, but such a substitution cannot immediately be brought into operation.' A preamble like that, of course, enacts nothing It is only a *vœu*; and its value in this instance may be judged from the fact, that during the subsequent quarter-century liberal, conservative, and labour ministries all held office for substantial periods, besides a variety of coalitions, and not one of them introduced a bill to carry the matter farther. However it contented Grey, and the cabinet moved forward.

It was decided to pass through the commons in the first instance, not the bill, but a set of three resolutions embodying its principles. The first dealt with money bills; the second with bills other than money bills, and the third with the reduction of the life of a parliament from seven to five years Asquith's handling of them in the house was masterly, and though he could not undo his failure to obtain 'guarantees' before the last dissolution, he assured the house categorically that he should obtain them before the next [1] The resolutions were all passed by 14 April 1910 (with majorities varying from 98 to 106); and following the last the Parliament Bill itself was introduced and read a first time. On 27 April (with a majority of 93, which included 62 Irish) the budget was passed also. The next day it was sent to the house of lords, and they let it through without a division. Parliament adjourned for a short holiday, and the prime minister went to Gibraltar in the admiralty yacht.

Suddenly, while they were all away, a curtain fell. King Edward died (6 May 1910). He had paid his usual spring visit to Biarritz; but a short while after his return suffered from spasms of heart-asthma, to which he had long been liable. In the first week of May their severity caused alarm, but he continued to get up, to dress, and even to receive visitors; he did so even on the day of his death His final collapse was a matter of hours, and the nation, which only one bulletin had prepared for it, was utterly

[1] 'In no case would we recommend Dissolution except under such conditions as will secure that in the new Parliament the judgement of the people as expressed at the election will be carried into law' (Hansard, v. xvi 1548)

stunned by the news. In the presence of death disputes were hushed; and the universal feeling was that for a while party strife should be suspended.

So, with nothing settled save the budget, the reign closed. Personal memories of Edward VII have transferred to it something of the king's own character and atmosphere Men think of the decade as one of calm and contentment, of pomp and luxury, of assured wealth and unchallenged order. Court splendours apart, it was none of those things. It was an era of growth and strain, of idealism and reaction, of swelling changes and of seething unrest. At home, politics had never been so bitter; and abroad, the clouds were massing for Armageddon.

One Imperial matter may here be briefly recorded. The agitated parliament of 1909 found time to pass the Indian Councils Act of that year, introduced by Lord Morley in the upper house. Hitherto the legislative councils in India, both at the centre and in the provinces, had been purely nominated bodies. The new act made them for the first time partially elective; and it enlarged their scope, while still withholding from them any binding power over the executive governments. It also enlarged the executive councils, into which a few Indians were introduced. These cautious steps forward were taken through the hearty co-operation of the liberal secretary of state with a notable conservative viceroy, the fourth earl of Minto. Though their sponsor declined to admit it, they were in fact a first approach to the idea of a self-governing India.

XIII

HEADING FOR CATASTROPHE

KING GEORGE V ascended the throne in his 45th year. He had only become heir-presumptive in his 27th, a circumstance of some advantage to him, since he had been enabled for fifteen years to follow a professional career in the Navy. Since then he had visited widely the British Empire overseas, and studied the personalities and problems of the chief countries composing it. But he had not shared his father's responsibilities in dealing with party issues at home, and possessed no inner familiarity with their intricacies. He created at once an impression of goodwill and impartiality; and there was a strong popular feeling that he should be given a fair start.

When his father's funeral was over, he sounded the leaders on both sides as to whether they would be willing to call a truce, and try to settle their controversy by a round-table conference. Balfour at once expressed readiness, but the government did not jump at the proposal. Later, the conservative rank and file objected, and both Balfour and the king cooled; but the government came round to the idea, seeing that the alternative, an almost immediate general election, would be highly unpopular. Eventually on 16 June 1910 eight politicians—four from each major party[1]—met at 10 Downing Street behind closed doors

The Constitutional Conference held twenty-one sittings and was in being for nearly five months On 10 November its failure was announced; but any disclosure of what happened was expressly withheld. Nor did documented evidence become available until the publication long afterwards of certain biographies [2] From these, which supplement each other, a clear view of the episode may be obtained. The negotiators did not cling to the plan of the Parliament Bill, but explored a wide field; yet what

[1] The ministers were Asquith, Lloyd George, Birrell, and the Earl of Crewe, the opposition leaders, Balfour, Austen Chamberlain, the Marquess of Lansdowne, and the Earl of Cawdor. Though the minor parties were not directly represented, Birrell provided a liaison with the Irish Nationalists

[2] Lord Newton, *Lord Lansdowne* (1929), J A Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith* (1932), Denis Gwynn, *Life of John Redmond* (1932). It should be added, however, that more than one parliamentary journalist obtained and published at the time fairly detailed accounts, which, though they could not then be verified, prove now to have been generally accurate See notably Harry Jones, *Liberalism and the House of Lords* (1912), pp 209–16.

in the end divided them was not so much any general constitutional theory as the particular desire of the conservatives to block Irish home rule. Provisional agreement was reached that no Finance Bill was to be rejected by the house of lords, unless a joint committee of the houses decided that there was 'tacking' (i.e. avoidable inclusion of non-financial matters); that other bills might be rejected by the second chamber, but that, if one was rejected two years running, a joint sitting of the two houses should be held to determine its fate, and lastly that the representation of the lords in the joint sitting should be so scaled down, that a liberal government with a commons majority of fifty would be able to pass its bills. But (and here was where the conference failed) the conservatives wished to except from the joint-sitting scheme certain bills or classes of bills, which they variously termed 'constitutional', 'organic', or 'structural', and to have these made subject to a referendum. The liberals would consent to this for bills affecting the Crown or the Protestant succession or 'the Act which is to embody this agreement', but they would not go further, and particularly refused to include in the excepted category Irish home rule. For the conservatives, on the other hand, home rule was what had chiefly motived their demand for a special class of bills, so at this point they broke the conference off.

In the light of all subsequent events it is difficult not to regret their action. On the purely constitutional side much agreement had been arduously reached. The joint-sitting scheme, which originated with Lord Ripon, represented a considerable liberal concession, since under it a liberal bill could only be enacted with a commons majority of fifty, and often only after a year's delay; whereas any commons majority, however tiny, could make a conservative bill law at once. In regard to the Irish question itself there was at this very moment an influential move[1] inside the conservative party for settling it by agreement on a basis of federal home rule. The promoters were, as tariff reformers, anxious to clear Ireland out of their road; and they saw, as the liberals did, the unique opportunity which the Redmond-Botha conjuncture afforded. But Lord Lansdowne, who dominated the conservative side of the conference, was the last person to give effect to their views. For while his interest in tariff reform remained tepid, his views about Ireland remained narrow and

[1] Voiced especially in the columns of *The Times* and the *Observer* newspapers.

obstinate, being those of a Southern Irish landlord who had never forgotten the Land League. Had a leader less inelastic on this subject been in charge, the conference would have succeeded.

During its course the boldest of its members tried to reach agreement by widening the field for it. A proposal was made by Lloyd George to Asquith for an actual coalition with the conservatives, with a view to carrying out not merely agreed second-chamber and home-rule policies, but an agreed development of agriculture, an agreed system of national military training (on Swiss lines), agreed social reforms, and even (after a fair and judicial inquiry into the fiscal system) an agreed policy about the tariff. Asquith approved, and imparted the scheme to Crewe, Grey, Haldane, and Churchill, who approved also It was next broached to Balfour, and he, with Lansdowne, Cawdor, Curzon, Long, and Austen Chamberlain, distinctly inclined towards it. But then strong, semi-occult forces lower down in the conservative party secured its rejection; though Lloyd George tried to placate them by offering to remain himself outside the government.[1]

The failure was followed by negotiations between the premier and the king. When Asquith had declared, on 14 April, that he would not recommend another dissolution 'except under such conditions as will secure that in the new Parliament the judgement of the people, as expressed in the election, will be carried into law', he was relying on assurances from King Edward, to which King George had not been a party. The latter now endorsed his father's position, but stipulated that parliament should not be dissolved before the house of lords had had an opportunity of pronouncing on the Parliament Bill. Accordingly the bill was introduced there, and the lords on second reading 'postponed the consideration' of it, using the time afforded to them to pass counter-proposals of their own. It will be convenient at this point to fix what the rival policies were.

The Parliament Bill embodied three main propositions: (1) 'Money Bills', as defined by it, should, under certain conditions, become law without the consent of the house of lords, the decision whether a particular bill complied with the definition being left to the Speaker of the house of commons; (2) other bills, if passed

[1] D Lloyd George, *War Memoirs*, i (1933), 35–41 See also the memoir of Lord Balfour in *The Times* (20 March 1930), and J. A Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith* (1932), i. 287.

by the commons in three successive sessions and rejected each time by the lords, should then become law, provided two years had elapsed between the bill's first introduction[1] to the house of commons and its final third reading there, (3) five years should be substituted for seven as the maximum duration of parliament The scheme was that of Campbell-Bannerman's 1907 resolutions with but two differences. (*a*) Campbell-Bannerman's proposal for a conference between the houses (conciliatory but not arbitral) was dropped; (*b*) the three successive sessions, in which a bill must be passed by the commons, need not be sessions of the same parliament. Lord Lansdowne's alternative plan, as approved by the lords after two days' debate, virtually accepted the Parliament Bill's proposal about money bills, save that the decision which that measure gave to the Speaker would be transferred to a joint committee of the two houses, with the Speaker as chairman having only a casting vote. Other bills, if passed by the commons and rejected by the lords in two successive sessions with an interval of not less than a year, were to have their fate determined by a joint sitting; but if the difference between the houses 'relates to a matter of great gravity and has not been adequately submitted for the judgement of the people', it should be sent to a referendum This scheme, though in vaguer and less defined form, reproduced, it will be seen, the conservative proposals at the Constitutional Conference. The supporter who lent most weight to it was Lord St Aldwyn; since it was known that he had not taken part in rejecting the budget or the Licensing Bill.

As between the two programmes, the liberal made the readier electoral appeal. It had been before the country since 1907 and was well understood. The conservative scheme as presented to the public wore the air of a vague improvisation, the only feature in it that could be caught hold of was the referendum Yet even from the standpoint of the liberals it had really some advantages—notably the reduction of the waiting-time from two years to one. Few, however, until later the Home Rule Bill showed it, foresaw how mischievous a long waiting-time might prove.

Meanwhile, on Lord Rosebery's initiative, the house of lords had also passed resolutions in favour of changing its composition. Rosebery, who had preached this for a quarter of a cen-

[1] When the bill was in committee in the following year, the government amended this date to that of the second reading.

tury, never had any success with it until after the electoral rebuff to the peers in January 1910. But in March he had induced them to endorse the principle, that 'the possession of a peerage should no longer, of itself, give the right to sit and vote in the House of Lords'. Now (17 November 1910) he carried. 'That in future the House of Lords shall consist of Lords of Parliament: (*a*) chosen by the whole body of hereditary peers from among themselves and by nomination by the Crown; (*b*) sitting by virtue of offices and of qualifications held by them; (*c*) chosen from outside.' This was a good deal more liberal than the only reform scheme hitherto carrying any official authority—that of a committee presided over by Lord Cawdor in 1908, which had recommended a second chamber with about seven-eighths of its membership drawn from the hereditary peers. But the country was quite unimpressed. It saw that the lords only voted with Lord Rosebery, after they had lost the last election; and shrewdly surmised that, if they won the next, they would have little more use for his schemes.

On 18 November, while these debates were in progress, Asquith announced a dissolution for ten days later. The step had not been taken without misgiving; the rank and file still argued it unnecessary, and more than one minister feared for the result. There was the swing of the pendulum—since 1832 no ministry in office had ever won three elections running; moreover the spring delays, King Edward's death, and the five months' truce had all weakened the strong popular current. The man who overcame these tremors was the Master of Elibank,[1] the chief liberal whip, whose ability gave him an influence over the cabinet such as few whips had before exercised. The conservatives on their side knew that they could not win by merely defending the house of lords. Was advocacy of tariff reform or opposition to home rule to be their mainstay? They decided for the latter, and fought the election almost wholly upon it. Redmond, who had just been raising funds in America, was denounced as the 'dollar dictator', and the government as his venal tools. On 29 November Balfour announced his willingness to submit tariff reform to a referendum—a shelving of Chamberlainism which won him back some Lancashire seats.

[1] Alexander Murray (1870–1920), eldest son of the first Viscount Elibank; educated at Cheltenham, in the colonial office 1892–5, M.P. 1900, Scottish liberal whip, 1905–10, chief liberal whip, 1910–12, created Lord Murray of Elibank 1912.

Yet when in December the country was polled, the result (Liberals 272, Labour 42, Irish 84, Unionists 272) was extraordinarily close to that of the previous January. The liberal and labour parties together had exactly the same majority over the Unionists as before, viz 42; but the Irish had gained two seats, so that the whole majority for the Parliament Bill and for home rule was 4 more (126) than it had been. Nothing could in its way have been more decisive Any further election was out of the question. The situation permitted to the king no further doubts as to what his duty might be in the event of the upper house continuing to defy the lower; and Asquith, who had wavered too often in the previous ten months, recovered his firmness. Political excitement in the country, which for fifteen months had been intense (nourished not only by two election campaigns, but by the long series of full-dress debates in both houses, in which virtually every leading figure took part) now rapidly waned. The people regarded the issue as settled, and only wanted the dispute wound up as quickly as possible.

Continuing his father's practice King George opened the new parliament in person, and on 21 February 1911 the prime minister introduced the Parliament Bill. It passed its first reading after two days' debate by a majority of 126, and its second eight days later by 125. The committee stage, which was held under a 'Kangaroo' closure, allowing every amendment of substance to be discussed, was not ended till 3 May; and on 15 May the third reading was passed by 121, the prime minister receiving a very exceptional ovation from his followers In this session, indeed, he had appeared at his best, constantly dominating debate by the dignity, clearness, and terse force of his argument and no longer (as he had done in 1910 and was to do still more in 1912–14) weakening the effect of firm phrases by irresolute action. Meanwhile the lords were again discussing their own reform. Lord Balfour of Burleigh, an enthusiast for the referendum, introduced a bill to bring it into constant use; but this after two days' debate was shelved. Next came a bill moved by Lord Lansdowne, for which, as it proposed to restrict the Crown's right to create peers, an address to the Crown and the assent of the latter were necessary, before it could even be discussed. It was competent for ministers to advise the Crown to withhold assent, but they naturally decided to put no obstacle in their opponents' way. The scheme, which is still of some

theoretic interest, was for a second chamber of about 350 'Lords of Parliament'. Of these 100 were to be elected by the hereditary peers from among those of their number possessing certain scheduled qualifications; 120 were to be chosen by M.P.s—grouped for the purpose into electoral colleges on a regional basis; and 100 were to be nominated by the Crown on the recommendation of the government in proportion to the strength of parties in the house of commons. The balance would be made up by Princes of the Blood, a diminished episcopal bench, and law lords. All the first three classes were to be appointed for twelve years, subject to triennial retirements. The scheme marked an advance as being the first to provide serious representation in the second chamber for other parties than the conservative. But that party would still on Lord Lansdowne's own calculation have retained a small majority there in 1911, although there was one of 126 against it in the house of commons. The house of lords passed the second reading without a division, but with every sign of a general disapproval, to which two dukes and half a dozen other peers gave particular expression.

On 23 May the Parliament Bill reached the house of lords. Lord Crewe, who till March had led the small liberal party there with much ability, was temporarily invalided by overstrain. The bill was piloted by the veteran Lord Morley, who in the previous year had retired from the Indian secretaryship and become lord president of the council. Over six weeks, only broken by a brief interval for the king's coronation, the lords debated it, passing a long series of amendments in the committee stage, which lasted till 6 July. Their policy was not to reject, but to send it back to the commons transformed.

Nobody, however, expected that the commons would accept the changes, and the question of ultimate surrender was only postponed. If Lord Lansdowne thought to ease it by delay, he misreckoned. In June a 'no surrender' movement was started among the peers. Its first mover, Lord Willoughby de Broke, was a young man better known in hunting circles than in politics; but he was speedily joined by the veteran ex-lord chancellor, the earl of Halsbury, then 84 years of age, with the prestige of a great judge, though in politics he had always been a narrow and bitter partisan. On the third reading of the bill in the lords (20 July), these two made speeches breathing ultimate defiance; and the applause with which they were received

gave due notice to Lord Lansdowne, that he would have difficulty in preventing his house from committing suicide. The rebel movement, which a liberal paper christened 'Die-hard' and which accepted the name,[1] was early reinforced by the three sons of the great Lord Salisbury; the youngest of whom, Lord Hugh Cecil, had already outdone all his party in the commons' debates by the fanatical quality of his opposition to the bill They drew into the revolt their brother-in-law, Lord Selborne, whose more tolerant temperament seemed less in place there.

The effect of Lord Lansdowne's amendments to the Parliament Bill was nothing less than to substitute for it the policy of his counter-resolutions, including the referendum. It was unthinkable that a government which had just won two general elections against the lords and passed its bill through the commons by a majority of 121, could accept such a reversal; and Lansdowne, who must have known that, showed once more poor leadership in committing his party so far to an untenable position. Two days earlier he and Balfour had been privately informed by Lloyd George on behalf of the government of the pledge to create peers obtained from the king in the previous November, and of ministers' reluctant determination to secure their bill by that means, if no other were left.[2]

Next day, therefore (21 July), Lansdowne convened at his house the unionist peers, and read to them a letter from the prime minister (procured by arrangement for this purpose), which stated the government's intentions and the king's consent. But again he failed as a leader[3] He had made up his own mind to the less theatrical course dictated by obvious prudence; and if he had enjoined it on his party and told them that he would resign unless it were followed, the rebels would have had an uphill task. Instead he fumbled and asked for expressions of opinion, giving them the very opportunity which they wanted. Both the two unionist whips deserted to them, and the situation might well have drifted to catastrophe, if a younger man had not stepped in and retrieved it This was Lord Curzon. It was he who organized the anti-Die-hard peers, and he who induced Balfour (hitherto silent and giving even less of a lead than Lans-

[1] They were also called 'Ditchers' (as wishing to die in the last ditch), while the Lansdowne section were called 'Hedgers'.

[2] Lord Newton, *Lord Lansdowne*, 417

[3] As his biographer admits Lord Newton, *Lord Lansdowne*, 423.

downe had) to write three days later a letter to Lord Newton throwing his weight against the Die-hard revolt. He too, organized an unofficial committee, which proceeded to explore the strength of the two factions, and, finding that the seventy-five peers supporting the government would certainly be out-voted by the Die-hards, induced a number of unionists headed by Lord Winchelsea and Lord Camperdown to sacrifice themselves when the need should arise by voting for the bill. But Lord Lansdowne to the end characteristically refused to advise, or even to condone, this course, though it was obvious that the result which he desired could not be attained without it.

Meantime on 24 July the friends of the Die-hards in the commons, headed by Lord Hugh Cecil, howled down the prime minister in a scene then without precedent. This seems to have suggested to the unionist leaders that they might satisfy the rebels and reunite the party by moving a vote of censure on the government for its dealings with the king. Nothing, however, resulted from the debate, save a masterly exposition and defence by Asquith The commons having rejected the lords' amendments, the final debate in the upper house took place on 9 and 10 August. Its drama has rarely been surpassed in parliament; for the result remained in doubt till the division, though Lord Morley had expressly intimated that rejection must be followed by 'a large and prompt creation of peers' Finally the bill was passed by 131 to 114, some 29 unionist peers voting with the government, besides both archbishops and 11 out of 13 bishops.

Thus was consummated the Parliament Act: the most decisive step in British constitutional development since the franchise extension of 1867, to which, in some sort, it might be regarded as a corollary. In the last analysis the lords had no one to blame for it but themselves. Lord Beaconsfield in 1880 had warned his successors that 'no conflict must be permitted between the two Houses, unless something substantial is to be gained thereby' [1] When they bargained over franchise extension in 1884 or rejected home rule in 1893, they acted in accord with his advice. But when they afterwards made it their regular annual practice to reject all the controversial bills of liberal governments, they plainly were courting Nemesis. In the accident of its permanent control over a second chamber having such large powers of rejection in the abstract, the conservative party held a one-sided

[1] Lord Balfour, *Chapters of Autobiography* (1930), 126.

advantage, which could not be theoretically justified to a democracy Prudently restricted to rare and picked occasions, it yet might have lasted on. Used indiscriminately to hamstring a government with a huge popular majority like that of 1906, it revealed an anomaly past tolerance Even so, on the swing of the pendulum, the peers might, as the saying is, have 'got away with it', but for their open breach of the constitution in holding up the 1909 budget. From that false step they could scarcely have recovered, even if they had been stronger in debate. But the government commanded much more effective artillery, whether in parliament or on the platform

Now that a quarter of a century has passed, any one re-reading those famous debates in the light of subsequent history may be surprised by two features. One is the extreme exaggeration of the fears expressed by the conservatives about the consequences of the bill if passed. It is usual for parties to be extravagant in denouncing measures which they dislike, and by dint of repeating their extravagances to become convinced of them But here the gap between conviction and reality was abnormal The other curious feature is the depth of the liberal leaders' aversion to creating peers Nothing shows more plainly, how unrevolutionary was their temper, for a large creation of peers would have helped them enormously. Asquith's papers contained, and his biographers have printed,[1] a draft list of about 250 suggested liberal peers. They were a very strong body, and in proved character, intellect, business, and public activity certainly outweighed the then existing house of lords, if a score of leaders in the latter were deducted. Had their creation gone through, the liberal government, being in control of both houses, could have passed Irish home rule, Welsh disestablishment, and a reform of the second chamber all in one session. With the Die-hards doing their utmost to bring this about, there seems something paradoxical about the conservatism of the liberals, who toiled to prevent it from happening.

As for the king, though he was criticized with asperity by Lord Hugh Cecil, nobody has shown how else he could have acted Any alternative course (e.g. accepting Asquith's resignation and sending for Balfour) would have meant an immediate third general election. But at this, as was admitted on all hands, there was no prospect of obtaining a different result, and its interposi-

[1] J. A Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith*, i 329-31.

tion would have been most unpopular. Compared with the 1832 precedent, the 1911 threat to create peers was more and not less warranted. In Lord Grey's case there had been only one election; in Asquith's there had been two Moreover Lord Grey's bill had only reached second reading in the upper house, while Asquith's had gone through all its stages there.

After the Bosnian crisis closed at the end of March 1909, there had been a *détente* in Europe. Some months later the replacement of Bülow by Bethmann-Hollweg as German chancellor (July 1909) brought a friendlier tone into Anglo-German relations. Following King Edward's death in May 1910 the Kaiser came to London for the funeral, and created an exceptionally good impression by his sympathetic attitude.

The crux now between Britain and Germany was the German fleet. Its alarming increase had necessitated the McKenna programme of the British admiralty; and the cost of that programme had been what immediately motived the 1909 budget, with all its consequences Down to the Bosnian crisis Germany had persistently refused to discuss limitation, and treated any suggestion about it as little short of a hostile act. But after that her attitude changed. Calculating, it would seem, that the settlement of March 1909 had only postponed an inevitable Russo-Austrian war, in which she must herself take part, she aimed to secure in advance the neutrality of Great Britain. For this she was willing to bargain in terms of fleet limitation, and discussions in that sense went on from July 1910 till May 1911. But nothing came of them, because the German foreign office, as in Holstein's[1] days, over-rated Great Britain's complaisance and played too unyielding a game. The naval concessions that they suggested were trifling—temporary retardations at most. On the other hand they demanded an exclusive political entente. Grey on behalf of Great Britain was willing to offer a non-exclusive one, which should complete but not destroy the circle of goodwill represented by the ententes with France and Russia. But he was not willing to throw the French and Russian ententes over.

Meantime England was growing nervous about her defence

[1] Holstein had fallen from power in April 1906, but down to his death in May 1909 he exercised (through Bulow and Kiderlen-Wachter) a certain influence on affairs. In his last interview with Bulow he urged him to conclude a naval agreement with England before resigning the chancellorship (Prince Bülow, *Denkwurdigkeiten*, ii 468).

Lord Roberts on 23 November 1908 had put forward in the house of lords his demand for conscription. It could not be acceded to, not merely because liberal sentiment disliked it, but because its adoption would have precipitated war. But, as we have just seen, in 1910 leading ministers and ex-ministers on both sides were not averse to joining in a programme which included the Swiss form of national military training. In that year Admiral Fisher, the strongest champion of the 'blue water' school, ceased to be first sea lord And in July 1909 the Frenchman, Blériot, had made the first aeroplane crossing of the Channel In January 1911 Asquith was induced by Haldane to appoint the sub-committee of the Committee of Imperial Defence, which produced the famous 'War-Book', in which there was worked out for each Department every detail of what it should do in the event of war, all necessary proclamations or orders in council being kept ready in type. The War-Book was constantly revised till August 1914, when it proved of inestimable value.

Till midsummer 1911 general relations with Germany remained good. In May the Kaiser visited London for the unveiling of the Queen Victoria Memorial. In June his son, the Crown Prince, attended King George's coronation But at the end of that month the German government, at the instance of Kiderlen-Wachter, its foreign secretary, took a step which shook Europe. This was the dispatch of the German gunboat *Panther* to Agadir in Morocco. The resulting crisis was not less serious than those of 1905–6 and of 1908–9.

Since the Franco-German Morocco agreement of February 1909, France had given a widening interpretation to the 'special political interests', which the agreement allowed her in that country In April 1911 there was a crisis at Fez, the Moroccan capital, the Sultan being threatened by the advance of a Pretender with a native army. The French accordingly marched a force there with—as they announced beforehand to the Signatory Powers—the object of protecting the European residents. Sir Edward Grey accepted that motive, but others might well be suspected, and Spain proceeded to make a parallel expedition within her sphere of influence. Berlin said little; but Kiderlen-Wachter seems early to have made up his mind that the Act of Algeciras was dead, that French absorption of Morocco was inevitable, and that the only thing left for Germany was to

obtain compensation. According to the assumptions of pre-War diplomacy, these were not unreasonable views; but to give effect to them by brusquely sending a warship to seize a Moroccan port conformed to the worst traditions of post-Bismarck violence and blackmail. Britain was doubly alarmed, both by the threat to France, to whom in Moroccan (though not in other) matters Grey held himself under a formal obligation to give diplomatic support, and by the prospect of a German naval base on the Atlantic coast of Morocco, which the admiralty deprecated most strongly. On 3 July the British foreign secretary told the German ambassador that he considered the situation so important that it must be discussed in a meeting of the cabinet, and next day he notified as the cabinet's decision, that 'we could not recognise any new arrangements that might be come to without us'

To this communication the German government replied with silence. Seventeen days elapsed It was learned from Paris that the French government was being pressed for an impossible amount of 'compensation' in the Congo region, and from Morocco that the Germans at Agadir were landing and negotiating with the tribes. The German press was clamouring for Moroccan territory, and it looked as if the solution which Great Britain least desired might shortly be presented to her as a *fait accompli*. On 21 July Grey saw the German ambassador and pressed him for an answer. But he was still 'without instructions' That evening Lloyd George was to speak at a Mansion House dinner, and with the approval of Asquith and Grey, but without any wider consultation of the cabinet, he there gave public warning to Germany of the risks which her government was running After referring to Great Britain's influence in Europe and recalling how it 'has more than once in the past redeemed continental nations, who are sometimes too apt to forget that service, from overwhelming disaster and even from national extinction', he went on

'I would make great sacrifices to preserve peace. I conceive that nothing would justify a disturbance of international goodwill except questions of the gravest national moment. But if a situation were to be forced upon us, in which peace could only be preserved by the surrender of the great and beneficent position Britain has won by centuries of heroism and achievement, by allowing Britain to be treated, where her interests were vitally affected, as if she were of

no account in the Cabinet of Nations, then I say emphatically that peace at that price would be a humiliation intolerable for a great country like ours to endure.'

This, of course, was a contingent threat (or rather counter-threat) of war. The impression widely current abroad was that the cabinet had drafted it, and chosen the leading radical and Germanophile for mouthpiece to show the unity of the national front. But this was not so; the initiative was Lloyd George's own; and the most valid criticism of the step was, that in a matter of peace and war three ministers, however eminent, ought not to act over the cabinet's head.

The effects were good. Germany was enraged, but the German government was recalled to a sense of realities It disclaimed interest in the coast of Morocco. It lowered the extravagant demands which it had made for Congo 'compensation'. But negotiations about the latter continued at Paris, and had yet to pass through difficult stages. In September war seemed so near that the South-Eastern Railway was quietly patrolled. At the worst stage in the middle of that month panic assailed the Berlin Bourse, and there was a run on the German banks. Kiderlen-Wachter unbent further, and a Morocco Accord was signed on 11 October. The whole tangle, including the Congo 'compensation', was straightened out by treaties of 3 and 4 November. The *Panther* was withdrawn not long after

So ended the Agadir crisis—the third within six years, in which Germany had brought war near on account of Morocco. Once more her action had drawn closer the tie between France and Great Britain. A foreign office minute of 2 November 1911, which was read by Grey to the cabinet a fortnight later and received that body's approval, defines what it now was.[1] A British government needed to have public opinion behind it before it could support France. If France took the aggressive line, there could be no British support for her; but if she were the victim of aggression, British public opinion would enable it to be forthcoming And the text shows that military support was implied, 'immediately and at the outset'.

The war preparations led to a curious conflict in London between the war office and the admiralty. The former was moved by Sir Henry Wilson, then director of military operations, the latter by Sir Arthur Wilson, who early in 1910 had succeeded

[1] Gooch and Temperley, *British Documents*, vii. 602.

Fisher as first sea lord; but each of the two cabinet ministers involved, Haldane and McKenna, stood firmly by his professional adviser. The plan of the soldiers was to send six divisions to France as soon as war was declared, and they asked an assurance from the admiralty that they could be transported by a certain date in September, if occasion arose. The sailors replied that no such assurance could be given, unless preparations were made, which would at once be interpreted abroad as steps to war. McKenna declined to make such preparations, while Haldane criticized the admiralty's unpreparedness and argued its need for a general staff. Asquith inclined to the war office view; but he characteristically shrank from pushing it home by appointing Haldane to the admiralty. He took five weeks to think it over, and then at the beginning of October made Winston Churchill, who had been home secretary, and McKenna, who had been first lord, change places. Both men did well in their new offices, though it was a curious reversal since 1909, when McKenna had been the champion and Churchill one of the two chief opponents of a forward naval policy. But the new broom at the admiralty did not sweep clean. Faced with the strong opposition of Sir A. Wilson to 'the whole principle of a War Staff for the Navy', Churchill decided to shelve the question 'during his tenure'. Soon afterwards Wilson retired, and the formation of a 'Naval War Staff' was announced. But its functions were purely advisory, and its role subordinate. It did not develop into a general staff. Nor had the navy one when the European war broke out, and to this some of its serious shortcomings may be attributed.

Agadir had a direct repercussion abroad in another sphere. Italy had long been preparing to seize Tripoli. Already before Algeciras she had purchased the assent of France to her doing so; and when the *Panther's* spring was announced, she determined to hold back no longer. After completing her plans she declared war against Turkey (29 September 1911) on trumped-up charges. Turkey was now ruled by the Committee of Union and Progress, who had alienated the liberal Powers by reverting to policies of Ottomanization and massacre. Germany was once more her only friend, and once more, as in the Bosnian case, could not help her against the wishes of an ally. The war therefore was very one-sided; and since Italy had full command of the sea, she could pluck her prize with very little interference. For

naval purposes she also occupied Rhodes and the adjacent islands; and this occupation became permanent.

The Tripoli war had in turn a repercussion. For just as Agadir had inspired it, so it inspired the Balkan war of 1912. And since the Balkan war laid the powder-train for the European war, one may view the final catastrophe as descending directly, though at several removes, from the *Panther*'s voyage.

The reader may have observed that the two first months of the Agadir crisis—July and August 1911—coincided with the final crisis over the passing of the Parliament Act. The day on which Lloyd George spoke at the Mansion House was the same day on which the importance of the Die-hard movement revealed itself at the Lansdowne House meeting But those months were critical in yet another way; for they witnessed the onset of the gravest strike movement that till then the country had known To understand its origins and character we must go back a little.

Although the election of fifty-three labour members to the 1906 parliament had startled the upper classes, it under-expressed the strength of labour and socialist opinion in the country. The British system of single-ballot elections has its counterpart in a system of two parties, against which it is extraordinarily hard for a third party to assert itself, because its candidatures 'split the vote'. In the pre-war years this told heavily against the labour party (as in the post-war years it has against the liberals); and it gave their followers the impression that they were not getting a fair deal. The course of the 1906 parliament, after its first year, left little scope to the labour members; and in the election of January 1910, instead of recording an advance corresponding to the increased acceptance of their propaganda, they lost a quarter of their seats and dropped to forty. A converging influence was that of the Osborne case. The Walthamstow branch of the Amalgamated Society of Railway Servants had resented the levying of compulsory contributions by that union for labour party purposes. Through their secretary, W. V. Osborne, they sued for an injunction in the Chancery Division. Mr. (afterwards Lord) Justice Farwell granted one, holding that it was illegal for a trade union to provide for parliamentary representation by means of a compulsory levy, even though its rules had been altered to permit

it. The decision was upheld (28 November 1908) by all three judges in the court of appeal, and (21 December 1909) by all five judges in the house of lords.[1] After the latter date injunctions were obtained restraining a number of unions from continuing a compulsory levy. Some sixteen M.P.s found their salaries cut off. Attempts were made to replace compulsory levies by voluntary, but with poor results.[2]

All this set up a current away from parliamentary to trade-union action, and towards a new fashion in trade-union ideas imported from France and called Syndicalism.[3] Syndicalist doctrine had two features which specially concern us here: (1) considering the trade union and not the state to be the germ of future democratic organization, it taught that trade union leaders should influence parliaments, not from inside by becoming M.P.s, but from outside by 'direct action', (2) regarding the class-struggle as war, it relied frankly on violence, elaborating such special tactics as the 'sympathetic' strike, the 'lightning' strike, the 'staying-in' strike, and 'sabotage', all leading up to the general strike. In varying forms and with fluctuating fortunes these doctrines played a considerable part in the British labour world from 1910 to 1926. They were helped at the start by a period of rising prices and stationary wages. They derived further stimulus from the action of the house of lords in rejecting the budget. 'If the peers', it was a common saying in trade-union branches, 'may sabotage the Constitution for their own purposes, why may not we?'

The new spirit became conspicuous in the latter part of 1910. In July there was a four-day railway strike in the Newcastle district, started and run by local men against the wishes of the union's head office, upon an occasion whose triviality suggested deep-lying unrest. On 3 September a general lock-out nearly

[1] (1910), A.C. 87. It illustrates the darker side of trade unionism, that the A.S.R.S. thereupon closed the Walthamstow branch and expelled Osborne and another from membership, confiscating their eighteen years' contributions and terminating their benefits.

[2] The Amalgamated Society of Engineers took a vote of its 107,499 members as to whether they would voluntarily subscribe one shilling each, and only obtained 5,110 favourable replies.

[3] *Syndicalisme* merely means trade unionism; the full French phrase for what the English called 'syndicalism' was *syndicalisme révolutionnaire*. American revolutionary trade unionism, as preached and practised by the 'Industrial Workers of the World' (founded in 1905 and generally termed the 'I.W.W.'), had at this time less influence in England than French, though some leaders, e.g. Mann, drew inspiration from it.

took place in the Lancashire cotton industry, following a reckless strike over the question whether a single grinder should do certain technical work on his machine. It had got as far as the stoppage of 120,000 workers, when the board of trade settled it About the same time began a great lock-out of boilermakers on the north-east coast This affected all the ironworkers employed by the Federation of Shipbuilding Employers, lasted fourteen weeks; cost the Boilermakers' Society £100,000 in strike pay and the workers £800,000 in lost wages; and ended in the men's defeat. Its cause was the breaking by local members of an agreement made by the Boilermakers' Society on their behalf; and the revolt throughout was almost as much against the union's head office as against the employers. Presiding that autumn at the Trades Union Congress, James Haslam vainly protested against indiscipline, and stressed its injury to collective bargaining. In October an event occurred in France, which was much observed in England. This was the French railway strike, which paralysed the Nord and État systems, and abruptly cut off all Channel and North Sea ports from Paris and southern France It was quickly crushed by the government's[1] arresting the organizers and issuing a military mobilization order covering railway servants and engine-drivers; a device which, as English railwaymen noted, could not be repeated in England Then in November in South Wales, where the Miners' Federation had only just averted a stoppage of the coalfield in the previous March, a local strike of 30,000 men (mainly employed by the Cambrian Coal trust) broke out in the Rhondda and Aberdare valleys in sympathy with a handful of miners dissatisfied over the rate of pay on a particular seam. On 7 November at Ton-y-pandy miners attacked the pithead and stopped the ventilating machinery, and thereupon a riotous mob looted and terrorized the place for three days. Police brought from Swansea and Bristol proved insufficient in face of the numbers The chief constable of Glamorgan asked for troops; and 200 Hussars and two companies of infantry were sent from Salisbury Plain. But Churchill, who was then home secretary, had them stopped at Swindon, and telegraphed on the 9th to the men urging them to

[1] Curiously, the three leading ministers in it—Briand, Millerand, and Viviani—had not very long before been the three most brilliant leaders, after Jaurès, in the French socialist party This further discredited parliamentarism in the labour movement.

cease rioting. They did not, and the troops had to go on, as did a body of Metropolitan constables. But next day the riot burned itself out. Churchill was much attacked over this episode by the unionists in parliament. His delay, though it sacrificed property, almost certainly saved life; but it may be that more drastic action would have checked the rise of strike-violence in the two following years.

A lull ensued, and 1911 was nearly half through, before the dispute occurred which precipitated the others. This was the seamen's and firemen's strike. Seamen and firemen were generally regarded at that time in the trade-union world as the most helpless and down-trodden of organized workers. On 14 June 1911 they struck for higher wages and overtime rates; and on 24 June at Southampton the shipping magnates conceded their demands.[1] The effect on restless workers in other trades was electric. 'If even the seamen can win', they asked, 'why not we?' Sporadic strikes followed, particularly among low-paid labourers[2] in engineering works. But the obvious repercussion was on the dockers. On 27 July the Port of London Authority granted 7*d.* an hour instead of 6*d.* to the dockers employed by it. Thereupon those employed (already at 7*d.*) by the shipping companies demanded 8*d.* On 1 August they all came out; 20,000 port workers were idle, and over 20 ocean liners were held up. Sir Albert Rollit was invited to arbitrate, and awarded the 8*d.* Subsidiary disputes with lightermen, coal-porters, and others were settled by the board of trade; and on 11 August at midnight the strike ended to the all-round satisfaction of the men. Meanwhile the London Carmen's Trade Union had come out, and (as is difficult to prevent in carmen's strikes) there was much violence. But on 11 August they, too, secured a settlement in their favour; just in time for the government to countermand the sending of 20,000 troops to London. Parallel dock strikes at Liverpool and Manchester were not so quickly successful. At Liverpool there was savage rioting. Troops were called in, on 15 August they had to fire, and two men were killed. Some railway porters had struck to help the dockers; the dockers stayed out to secure reinstatement for these allies; and then the whole A.S.R.S., which was itching to strike on its own account,

[1] The settlement at Liverpool came three days later, but there and at Manchester there was a complication over dockers and carmen, who had struck in sympathy.

[2] See p. 515 below.

became drawn in. On 15 August (the day of the firing) the four railway unions decided to call out their men at 8 p.m. next day.

After a discussion in the house of commons, however, they agreed first to meet the prime minister at the board of trade on the 17th Asquith asked in what their grievance consisted; they replied, in the failure of the railway companies to observe the spirit and letter of the 1907 agreement. The prime minister rejoined by offering a royal commission to investigate this at once; but in regard to the threatened stoppage he mounted the high horse, and said the government could not allow a general paralysis of the railway system. Probably his reason was that the country then stood in almost hourly danger of a war with Germany. But the railway leaders knew nothing of it, and received the worst possible impression. Retiring in anger, they gave the signal; and England found herself for the first time in the throes of a general railway strike. It was not universal; one of the (then nine) great English railway systems, the London and South-Western, was unaffected; but inside a quadrilateral bounded north and south by Newcastle and Coventry, and east and west by Hull and Liverpool, industrial England was completely paralysed. Troops were freely used to overawe disorder; in London they camped in the parks. The only very bad rioting was at Llanelly, where shops and a train were looted; soldiers fired killing two men, and five more men perished by an explosion among the freight.

Meanwhile Asquith had wisely handed over the reins of negotiation to Lloyd George. The latter persuaded the parliamentary labour party to withdraw a vote of censure, and brought its leader, Ramsay MacDonald, into the conference. On Saturday night, 19 August, at 11 p.m. the strike was settled on terms of immediate resumption and reinstatement; the conciliation boards to meet at once to settle questions in dispute, and a special commission to investigate forthwith the working of the scheme of 1907.[1] Settlements followed of the Manchester carters' dispute and the Liverpool dockers, and the month ended more quietly It had been one of the most eventful in the history of the British proletariate, on whose outlook it left lasting traces. Among factors which quickened the pulses of revolt, besides the contemporary example of the Die-hards in parlia-

[1] Two board of trade officials played leading parts in this settlement—Sir H. Llewellyn Smith and G. R. (afterwards Lord) Askwith.

ment, was a run of exceptional weather. The summer of 1911 was the hottest in England since 1868 The shade temperature in London commonly went over 90° F. during the earlier days in August, on the 9th it touched 97° F.; and a long drought was not broken till the 21st. Till then the sweltering town populations were psychologically not normal.

But the strike impulse continued. In October the Miners' Federation of Great Britain, which now covered all the coal-fields, altered its rules to make it possible to call a general coal strike. On 20 December a strike in an Accrington weaving-shed against the employment of two non-unionist weavers led a week later to a lock-out affecting 126,000 workers It was only settled on 19 January 1912, by a truce which left the status of non-unionists undecided, after £1 million had been lost in wages and £250,000 drawn in strike pay. Meanwhile the miners took a ballot on a general strike for minimum wage-rates; and the return on 18 January showed more than a two-thirds majority for, all districts except Cleveland supporting. Notices were given to stop work after 29 February. A national conference between owners and miners followed, and on 6 February reached deadlock. On the 22nd Asquith met the parties separately, but effected nothing. On the 28th the government proposed a minimum wage in each district to be fixed by district conferences, at which a government representative should be present and should decide failing agreement. Two-thirds of the owner-interests agreed, but those of Wales and Scotland would not. Nor would the Miners' Federation; which had put out a schedule of specified minima for the various districts, and refused to abandon it. So on 1 March, to the number of about 850,000, the men came out; and ten days later it was estimated that 1,300,000 workers in other industries had been thrown idle. The government continued conferring with the parties, but made no headway, and on 15 March Asquith announced that it would bring in a bill to set up a minimum-wage machinery on the lines of its pre-strike proposal The bill soon followed; and after criticisms by the Welsh and Scottish owners, it was opposed on second reading by Balfour and Austen Chamberlain, and carried against them by 348 to 225.[1] But in committee the miners pressed to insert minimum figures—5*s*. for datallers and 2*s* for boys There was a new and fruitless conference over the point.

[1] Only three unionists voted for the bill, and only one liberal against.

On the report stage the unionists withdrew their opposition, but the miners' leaders, to save their faces, urged the '5 and 2' to the bitter end. Without this and against them, the bill was carried by 213 to 48, the unionists abstaining. Not without difficulty was it passed through the lords, but, once enacted, it proved a complete success. The men started returning to work; the Federation took a ballot; only 244,011 favoured continuing the struggle, while 201,013 voted for dropping it; and the strike was called off.

If the strikes of the previous year had shown the advantages of combination on a large scale, this coal strike illustrated its drawbacks. The Miners' Federation was an unwieldy stiff-jointed body; tied to its voted programme and schedules, it lacked freedom and flexibility to meet opportunity half-way Moreover, once so large a human mass had been laboriously set in motion towards a strike, nobody could prevent its occurring, even after it had become superfluous. In the result the miners gained a good deal; but they could have had it all before the stoppage.

Next followed the 1912 London dock dispute, which revealed another weakness of mass-action—the difficulty of inducing a mass to keep its head and consolidate its gains. In August 1911 the London dockers had triumphed at the cost of little effort or hardship Jericho had fallen to the blast of a trumpet Nothing would now persuade the hotter heads but that it must do so again, and that there was no virtue like trumpeting. Peace was constantly threatened. The employers prepared to meet a challenge; and in May 1912 it came. A man, who was normally a foreman and held a foreman's ticket, worked as a hand without a union ticket The Transport Federation (in which the dockers, stevedores, lightermen, and carmen were now combined) made a very exaggerated protest, and on 23 May called out 100,000 men to compel submission in this single case. Their folly was soon apparent. Sir Edward Clarke was appointed to hold an inquiry, and reported in part against them. Numbers of their members resented being called out, while the employers at once started organizing a considerable dock service by 'free labour'. The government proposed a joint conference, and the employers refused, then it proposed a joint committee, and after postponing their answer for days they refused that also. The Port of London Authority came to the fore in the person of the chairman, Lord Devonport, and insisted on the men's surrender. In the middle

of June Asquith made a strong effort to resume negotiations, but the Authority was adamant. For six more miserable weeks the dispute dragged on. The labour party in parliament kept urging the government to intervene, but ministers saw no ground, and a mid-July attempt at mediation failed. On the 23rd a labour motion demanding intervention was rejected by 255 to 58; and on the same day the L.C.C. decided that it could not feed the dockers' school-children during the holidays. At the end of the month the strike collapsed.

This abject failure, following the very limited success of the miners, put an end for the time being to the strike-ferment in England. It had lasted round about two years, and the workers saw that they must give it a rest.

The year 1911 brought a good deal of legislation besides the Parliament Act. There was a Shops' Act, which introduced the principle of a legal weekly half-holiday; a Coal Mines' Act, which consolidated and amended the law of its subject; a comprehensive Copyright Act, which arose out of the Berlin Copyright Convention (1908) and the report (1909) of a committee appointed to advise on harmonizing the United Kingdom's law with it; a Small Landholders' (Scotland) Act, which created a Scottish Board of Agriculture and enacted much of the bill rejected by the lords in 1907; an Official Secrets' Act, rendered necessary by the growing extent of German espionage; and a first Aerial Navigation Act empowering the home office to prohibit the navigation of aircraft over prescribed areas. Besides these measures there was Payment of Members and the great National Insurance Act.

Payment of members had ranked officially, though vaguely, as a liberal policy for twenty years, having been mentioned in the tail of the Newcastle programme. But it was the Osborne decision and the resulting plight of the labour party, which at last brought it to the fore. On 10 August 1911 (the day on which the lords passed the Parliament Bill) the house of commons, after comparatively little discussion, established it by a mere financial resolution on the basis of £400 a year for each member. The legitimacy of the procedure was debated three days later; but three modern precedents were cited for it; the earliest and most interesting being from 1833, when the state's first grants to aid elementary education had been established in this way.

The National Insurance Bill had been introduced by Lloyd George while the Parliament Bill was still in the commons. But only after the latter had been made law was time found in an autumn session to push the former through parliament. It was a vast contributory scheme to insure the whole working population against sickness, and certain sections of it against unemployment, modelled on the working of the German Law of 1889, in that compulsory contributions were collected from employers and employed by means of stamped cards (a device till then untried in England); but differing, in that the great English friendly societies, which had covered much of the less difficult ground on a voluntary basis, were, with the trade unions, brought in as 'approved societies' to administer the money benefits for their members. More is said elsewhere about its bearings on the organization of national welfare.[1] Here we only record the politics of its passage. It was bitterly opposed by the unionists, and, but for the change wrought by the Parliament Act, would certainly, like all the main liberal measures preceding it since 1905, have been killed by the house of lords. The immediate practical result of the lords' defeat was, not merely that any bill could be carried against them under certain conditions in three sessions, but that a great measure of national utility like this was enacted in a single session, whereas previously it could never have been enacted at all. Unable to destroy it in parliament, the opposition tried hard to wreck it in the country by furiously fomenting every popular prejudice or professional alarm which so vast a scheme was bound to encounter. Duchesses visited the Albert Hall to exhort the public not to 'lick stamps'; mistresses organized domestic servants in the same crusade; wage-earners of every kind were urged to resist the deductions from their wages as a monstrous oppression by the government. In addition, it was sought to make political capital out of the anxieties of the doctors, whose livelihoods were bound to be greatly affected, one way or the other, and without whose co-operation the act could not possibly be worked.

All these manœuvres eventually failed, but they helped to debase the currency of politics. The conservatives slid a stage farther down the perilous slope of 'direct action' and refusal to be bound by the rules of constitutional politics, on which they had been unnaturally launched by the lords' rejection of the

[1] Below, pp. 519-20.

1909 budget. At the same time their attempt to represent the insurance scheme as a sort of plundering of the poor drove Lloyd George by way of counterblast into his famous '9*d.* for 4*d.*' phrase[1]—a line of retort easily slipping into crude bribery of the electorate. The two dangers thus exemplified were the basic ones for democracy—faction and corruption, but at the moment the former was by far the most immediate The Insurance Act did not buy votes for the government of the day, but like the other greatest social reform of the century, the Balfour Education Act, it lost them. The currents towards faction were specially swollen at this time by the sensationalism of the popular Harmsworth newspapers. Alfred Harmsworth himself, since 1905 Lord Northcliffe and since February 1908 controller also of *The Times*, was nearly always on the side of violence in public affairs. He saw events and policies in terms of the headlines which would sell his papers; he was ignorant of history, indifferent to English political tradition; and yet he exerted over the party that ought to have conserved it a masterful sway, which the parliamentary leaders were at once too proud to confess and too weak to curb.

The unionist party was indeed much disorganized. After the final humiliation over the Parliament Act it turned upon its chief. 'B.M.G.' (Balfour Must Go) was a slogan started by tariff reformers, who disliked him on fiscal grounds; but it soon became the expression of a wider discontent. The last straw was a blunt speech by the Duke of Bedford at Luton on 6 November 1911. Two days later Balfour resigned the leadership, which he had held in the commons for twenty years. His fall was the penalty for several years' weak and unwise leading; for which, however, Lansdowne, who did not fall, had been more to blame than he The rivals for his succession were Walter Long and Austen Chamberlain, and as the partisans of neither would accept the other, agreement was found by their both standing aside for a third candidate—Andrew Bonar Law.[2] The new

[1] 4*d* was the proportion of the weekly insurance stamp deducted from the employee's wages. In addition, the employer paid 3*d*, and the state's contribution was valued at 2*d* more, so that the whole value which went to insure the employee was 9*d*. Lloyd George's expression was first used by him at Whitefield's Tabernacle on 14 October 1911

[2] B. 1858 in New Brunswick, Canada, his father being a Presbyterian minister and both parents Scottish Brought to Scotland as a boy, and finished his education at Glasgow High School. In business in Glasgow as an iron merchant, M.P 1900, parliamentary secretary to the board of trade 1902–5, leader of the conservatives

leader was a good debater, and for the purpose of controlling his party's wild men had the advantage over Balfour of being an unimpeachable tariff reformer. But he had all his spurs to win; had never even held cabinet office, and from any standpoint was a personage of much smaller calibre than the previous leaders who had moulded conservative policy since 1832. What the party most needed at this juncture was a strong hand and cool brain to bring it back to realism and a sense of proportion But the most that Bonar Law could hope, was to restore some ultimate central authority over his various extremists by backing them for the present unconditionally; and the latter was his line down to the outbreak of the war Following the usual rule among parties in such cases, he was elected to leadership in the commons only, with Lansdowne holding a parallel position in the house of lords

Shortly afterwards the lords rejected a bill in circumstances which, unlike those of other cases since 1905, were entirely appropriate to the action of a revising Chamber This was the Naval Prize Bill. We saw how the Hague Conference of 1907 agreed to setting up an International Prize Court, subject to subsequent agreement as to the code which the court should administer. On 4 November 1908 a conference of experts met in London, and after sitting on into 1909 drew up such a code in 71 articles, known as the Declaration of London. It embodied British doctrine on one important matter—'continuous voyage' —but its most striking feature was a triple classification of seaborne goods as either absolute contraband, conditional contraband, or absolute non-contraband Most raw materials were put in the third class, where they could not be touched if carried in neutral ships; while food was put in the second, confiscable if for a military or naval destination In November 1910, before any attempt had been made to ratify the Declaration, the Glasgow and Edinburgh Chambers of Commerce published detailed protests against it, and the foreign office retorted with a counter manifesto. In March 1911 the Declaration was debated for three days in the lords; after which the Association of Chambers of Commerce carried a resolution against it by a large majority. The government, however, went ahead and embodied it in a Naval Prize Bill. But this they were only able to get through the

in the coalition ministries of Asquith and Lloyd George, 1915–21, prime minister 1922–3, d. 1923

commons with majorities on second and third reading of 70 and 47, though their everyday majority for other purposes exceeded 100. Having regard to the weak commons' support, the strong mercantile opposition, and the lukewarmness of the admiralty, the lords were well within their rights in rejecting it; and the subsequent course of the European war showed them to have thereby rendered a service to the country Yet the real faults of the Declaration were curiously different from those chiefly found with it. It prejudiced Great Britain, not by increasing (for no change of rules could increase) her pre-existing insular liability to have her food supplies cut off, but by diminishing her right to use her naval power to deprive an enemy of raw materials. Thus, if in force, it would have rendered inapplicable one of the chief forms of pressure which in 1918 brought Germany to her knees [1]

To the record of 1911 belong two other matters of foreign policy. In 1899 a general arbitration treaty had been signed at Washington between the then secretary of state (Richard Olney) and the British ambassador (Sir Julian Pauncefote), but the Senate had refused to ratify. On 19 December 1910 President Taft made a speech declaring America's readiness to submit to a properly constituted arbitral tribunal any issue that could be settled by arbitration, 'no matter what it involves, whether honour, territory, or money'. On 13 March 1911 Sir Edward Grey, speaking in a debate on naval expenditure, took up and welcomed the president's utterance. His speech met with wide approval on both sides of the Atlantic, but in point of fact it was not till 1914 that a general arbitration treaty between the two countries was made. Meanwhile, as in anticipation of it, the Anglo-Japanese treaty was revised, and a clause inserted, that neither party should be obliged by the alliance to go to war with any third Power, with which it had a treaty of general arbitration. The intention was to exempt Great Britain from siding with Japan against America

The second matter had reference to Persia The effect of the Anglo-Russian Agreement had been to hold up Russia's advance there. This was seen and resented by Russian agents on the spot,

[1] It is impossible now to read the Declaration without astonishment at the failure of its authors to visualize either the importance of raw materials in modern war, or the vital military uses to which many non-military articles might be put (Barbed wire, for instance, was to be only conditional contraband) Yet most jurists favoured it, though one of the most eminent, the late Professor T E Holland, did not

who, as was the way in the Russian service, often acted on their own impulse contrary to their official instructions. Hence arose a number of vexatious intrigues and aggressions; and Grey was hard put to it to reconcile his pro-Russian policy with his desire to see Persia maintained as a buffer State. She had at this time embarked on an experiment in parliamentary government, in which a radical group of English and Irish M.P.s took great interest. Their generous zeal was restrained by no compunction for the Anglo-Russian Entente; on the contrary, they hated the Entente and approved of the Persians all the more, if they crossed its plans. Grey could neither satisfy nor ignore them, and, had he not been a remarkable parliamentarian, might easily have come to grief in the commons.

His most difficult period was from May to December 1911, when W. Morgan Shuster, an American nominated by President Taft, was treasurer-general to the Persian government. Shuster may have been an able financier, but politically he courted failure from the start. He ostentatiously ignored alike the *de facto* position of Russia in northern Persia and the terms of the 1907 Agreement, and asserted the Persian government's right to ignore them too This gave him obvious and immense popularity with the Persian politicians, but of course was no basis for achieving anything but a fire of straw. The fire burned for rather over seven months; and then the second of two Russian ultimatums (29 November 1911) required his dismissal. Grey had previously let St. Petersburg know that Great Britain would not oppose the demand; for indeed Shuster had been only less troublesome to her than to Russia. The Persian parliament refused to give way. But the regent dissolved it, and Shuster left the country. Russia not only stipulated, with Grey's approval, that Persia should engage no more foreigners without Anglo-Russian consent, but sent in troops and demanded an indemnity—direct steps to a permanent occupation. Here Grey drew the line. He told the Russian ambassador (2 December) that if such a course were persisted in, the Entente would end, he himself would retire, and there would be a new orientation of British policy The Russians took the warning in time, and agreement was maintained with less difficulty thereafter.

The opening months of 1912 were shadowed by the coal strike, but when it was over the stage was set for bringing in the

liberal measures to which the veto of the lords had been a barrier for the past two decades. On 11 and 12 April respectively were introduced bills for Irish home rule and Welsh disestablishment. In the event of the lords' still opposing them to the bitter end, the time-table under the Parliament Act would permit their becoming law in the summer of 1914

The third Home Rule Bill differed from those of 1886 and 1893 in being inspired by a federalist conception Ireland's situation within the British Isles was no longer viewed as unique save in point of urgency; and the measure offered her was so framed that similar treatment might afterwards be given to Scotland, Wales, or England. For the present, however, a single British parliament at Westminster was to remain the Imperial parliament, and to it a reduced representation of forty-two Irish members was to be sent. The Imperial parliament's authority was to remain supreme; and a fairly exact picture of the home rule parliament's relation to it may be obtained by looking to-day at the constitution of Northern Ireland For the Act of 1920, under which the parliament of Northern Ireland was set up, reproduced textually for two Irish parliaments (of which only the Northern came into being) the main provisions which the Act of 1914 had prescribed for one, and the successful working of the present Northern Irish constitution has disposed of the criticisms directed against the original bill on its technical side. As to federalism, it has to be remembered that the principle was much more widely esteemed in the world before the European war than, for various reasons, it has been since; and of the five great federal systems—the American, German, Swiss, Canadian, and Australian—three were Anglo-Saxon. There was some theoretic support for the federal idea among English unionists

As between 1912 and 1886, however, the greatest change was not in the bill, but in the Ireland for which it was designed. In 1886 the country had only just emerged from the worst throes of its agrarian revolution Class-war and nationalist upheaval had gone together; but the native Irish, while they had overthrown the ruling 'English garrison' in the centre, south, west, and north-west of the island, were still themselves rebels, not rulers. A quarter of a century later the agrarian problem had been solved First the Land Courts under Gladstone's 1881 Act, then the enterprises of Balfour's Congested Districts Board, then the series of Land Purchase Acts culminating in Wyndham's, and lastly

the work of Sir Horace Plunkett and the Irish Agricultural Organization Society, had transformed the rack-rented tenants of the old days—half serfs, half outlaws—into prosperous self-respecting small farmers Moreover, since Gerald Balfour's Act of 1898, establishing county and district councils, they had in local affairs grown accustomed to self-government Their political leaders, the Irish national party, had also changed. Not in personnel, for most of them before 1890 had been Parnell's lieutenants, but in outlook, for they had breathed the air of Westminster so much longer. John Redmond was Parnell's closest follower and inherited his mantle, but where Elijah had been Anglophobe, Elisha was Anglophile. Nor in that was he alone.

So much was gain from the standpoint of the practical home rulers, but other changes were not. The Irish parliamentary party no longer consisted of young men, and had acquired some of the weaknesses of a vested interest Jealous and rebellious youth outside its ranks in the Irish labour movement, the creamery movement, the Gaelic League, the (still very obscure) ranks of Sinn Fein, and the secret councils of the Irish Republican Brotherhood, kept semi-hostile watch, eager to make the most of anything that might be charged against the party as a betrayal of the Irish cause. The Irish leaders knew too little of these men and movements,[1] and took more direct note of the little group of their own dissidents headed by T. Healy and W O'Brien But they were aware that nationalist opinion, after being baulked of home rule for a quarter of a century, was in no mood to assent to its being whittled down. On the other hand the large British-descended colony in north-east Ulster, where alone there was a protestant community comprising all classes—tenant farmers and proletariate as well as landowners and employers—had since 1886 acquired a much stronger self-consciousness. Parnell down to the first Home Rule Bill hardly realized that 'Ulster' existed.[2]

[1] Redmond remained in amazing ignorance of them down to Easter 1916 (Denis Gwynn, *Life of John Redmond* (1932), 456–7) Dillon, more a revolutionary by instinct, knew more, and therefore was usually concerned to dissuade the broader-minded Redmond from steps which might have overstrained nationalist loyalty to him

[2] A memorandum of 6 January 1886 from him to Gladstone (addressed in form to Mrs. O'Shea) is preserved among the Gladstone Papers at the British Museum, in which with reference to 'the concession of a full measure of autonomy to Ireland' he observes that 'the Protestants, other than the owners of land, are not really opposed to such concession' So completely did he then ignore the problem of a non-landowning Ulster opposition.

But the controversy over that bill and the propaganda of some English unionist leaders (especially Lord Randolph Churchill) made the community of which Belfast was the capital much more aware of itself as a separate entity. Fresh life returned to the traditions of warfare and deadly faction-feud between catholic natives and protestant settlers from the seventeenth century down; and within the Ulster fold liberals and conservatives, presbyterians and Orangemen, joined forces together, with the conservatives and Orangemen very much on top. There were periods between 1886 and 1906 when this united front was temporarily broken;[1] but from the moment that a government friendly to Redmond took office at Westminster, the ranks were closed. The great growth of Belfast, due to its shipbuilding, fortified the local pride of the northern protestants and their resolution not to be put under Dublin, a city smaller than their own. There, then, lay the obstacle to making Redmond 'the Irish Botha'. The nationalist leader did not feel strong enough with his own people to take home rule for anything but the whole of Ireland But the Ulster protestant community refused to come in. Unless, therefore, he could either over-persuade them or get parliament to force them, he could not obtain home rule in a form which he could afford to accept He put his faith in a combination of these methods.

So late as 1910, when there was the movement among unionists for a federal settlement, persuasion might probably have prevailed, had the good offices been forthcoming of the English unionist party. Redmond was ready to give the Ulstermen almost any 'safeguards' short of actual exclusion, and Balfour and Lansdowne could have driven a strong bargain for their Belfast clients on those lines. But at an early stage the Irish unionists sought to commit their party to the opposite course—that of stimulating Ulster's opposition as a means of defeating home rule. On 27 February 1910 Sir Edward Carson[2] accepted an invitation to lead them as a group in the house of commons, and from then on this masterful man increasingly imposed his will on his English colleagues.

[1] Especially during T. W Russell's agitation for compulsory land purchase (1902), which the presbyterian farmers supported and the Orangemen opposed

[2] B. 1854 at Dublin, educated at Portarlington School and Trinity College, Dublin, Q C at Irish Bar, 1889, at English, 1894; M P 1892, solicitor-general for Ireland, 1892, solicitor-general, 1900–5, attorney-general, 1915, first lord of the admiralty, 1917, member of the war cabinet, 1917–18; lord of appeal 1921–9, d. 1935

Carson was a Dubliner with no roots in Ulster at all, and it was only on 31 January 1911 that he presided for the first time over a meeting of the Ulster Unionist Council. In the following autumn, a month after the passing of the Parliament Act, he held on 23 September at Craigavon a review of the members of Ulster unionist clubs and Orange lodges, and to an audience of 100,000 people announced what thenceforth was the Ulster programme. They were not merely to defy Dublin's home rule but to prepare an alternative, and be ready, 'the morning home rule passes, to become responsible for the government of the Protestant Province of Ulster'. Two days later their delegate meeting appointed a commission to draft the constitution for a provisional government. With the New Year they went a step farther, and, having on 5 January 1912 complied with the law by seeking and obtaining permission from the local magistrates, began drilling a Volunteer Force. This was three months before the introduction of the bill. On the eve of it, on 9 April, a review of 80,000 Ulster Volunteers was held, and four men—Sir Edward Carson, Lord Londonderry, Bonar Law (now unionist leader in the Commons), and Walter Long—took the salute.

Had the prime minister looked the issues fairly in the face, he might early have come to two clear conclusions. The first was that it was out of the question to impose home rule on the Ulster protestants. A large organized community desirous of staying under the British parliament could not be forced against its will under a Parliament of its hereditary enemies. Any idea of using a commons majority for such a purpose meant ignoring the deeper foundations on which alone democratic constitutionalism can rest—respect for minorities and for the subtle boundary which divides government by freedom and consent from that by dictatorship and violence. Had the bill originally recognized this or been early conformed to it, it would have at once cleared the political air Secondly he should have taken immediate steps to make the organization of 'private armies' in Ireland illegal and to put them down. For this he had sufficient warrant in Irish history itself. But the policies hung together; you could scarcely enforce the second without the first. Yet the first was much less difficult than it looked; for Redmond's 'whip-hand' over the liberals was limited. He could not turn them out without letting the unionists in, which for him would have been a fatal prospect. Moreover, his situation had this great advantage over Parnell's

in 1886, that he need not vote with the liberals to give them a majority. It sufficed that he should abstain

Unfortunately it was not Asquith's bent to face issues promptly. Driven to bay, he would act with vigour; but the habit, which grows on most prime ministers, of postponing decisions and trusting that time will untie the knots, obtained an altogether excessive hold on him. A phrase which he several times uttered early in 1911—'wait and see'—was afterwards not unfairly made his nickname Thus it was that down to 1914 he still had no clear policy, but remained poised on equivocations, waiting for something to turn up. In his own mind he knew that he could never 'coerce Ulster', and indeed he was probably one of the least enthusiastic home rulers in his party. Yet officially he stood committed to a bill from which Ulster was not excluded. So he durst not suppress the Carson movement, but had to treat it with a weak tolerance which nobody, least of all Carson himself, could ever mistake for magnanimity. His attitude behind the scenes towards Redmond was even worse, it was one of complete unreliability[1] A bolder course could have run straighter, and would have been at once more honourable and more helpful. The Irish leader himself could not make the concession to Ulster, for his people would not have let him But if he could have represented it to them as something which the government imposed on him against his will and without his acceptance, he might then have directed their minds to their true task—that of winning Ulster's eventual adhesion by consent

The matter was discussed in the cabinet, where at least three leading ministers—Churchill, Lloyd George, and Grey—saw early that the Ulster protestants were the crux, and that they could not be coerced But it was decided otherwise, and when in committee on the bill (11 June 1912) a back-bench liberal, T. C. R. Agar-Robartes, moved an amendment to exclude the counties of Antrim, Armagh, Down, and Londonderry, Birrell at once intimated that the government could not accept it. Thus a great opportunity was fatally missed; though even so the amendment was defeated by only 61 votes, in contrast with the majority of

[1] Redmond was a very systematic archivist, he not only kept every letter that he received and a copy of every one that he wrote, but invariably made a written note of interviews immediately after their occurrence. Thus the evidence regarding his dealings with Asquith, as set out by his biographer, is singularly complete It shows Asquith, whose career elsewhere exhibited so many features of greatness, at his weakest and worst

101 which on 9 May had carried the second reading.[1] The fact was that at this stage, apart from the strength of nationalist sentiment for an indivisible Ireland, the leaders of all parties (and not least Carson himself) were under the delusion, that Ireland without the Belfast area could not pay its way, so that exclusion would prohibit home rule. There was also, even at this stage, a great difficulty over Tyrone and Fermanagh. These counties, in addition to Agar-Robartes's four, contained very large blocks of the essentially 'Ulster' population, but they also contained slightly larger numbers of catholics. And the difficulty of partitioning them was very great, since the rival populations were intermingled in layers [2]

But if the British liberals erred in ranging themselves behind the full demand of one of the Irish factions, the British conservatives committed themselves no less unfortunately in regard to the other. For Carson to preach and organize rebellion in Ulster was one thing; he was an Irishman and, though he had been a law officer in the Balfour government, did not implicate the English party. The serious commitment was made by Bonar Law. We have seen how at the first review of the Ulster Volunteers he was one of those who took the salute. By words as well as by his presence he there gave the movement his support; and before long he was making speeches quite as violent as Carson's, directly countenancing, and by 13 November himself uttering, incitements to mutiny in the army. A more experienced leader would scarcely have done so. But Bonar Law, not a strong man at any time, was in a weak position; and violent courses are the easiest for a politician so placed. On 27 July 1912 speaking in England at a great party demonstration at Blenheim Palace he said: 'I can imagine no length of resistance to which Ulster will go, which I shall not be ready to support, and in which they will not be supported by the overwhelming majority of the British people.' In these words, which he reaffirmed afterwards as 'the Blenheim pledge', the driver simply threw the reins on the horse's neck. It is difficult to imagine a Disraeli or a Peel, a Salisbury or a Balfour, so abdicating control. To pledge a great English party to follow

[1] A point to notice about the second-reading majority is that it included one of 39 among the members representing Great Britain In 1893, on the other hand, there had been a British majority of 14 against the bill, and in 1886 one of 94

[2] The division was really vertical rather than regional, the protestant settlers occupying the lower-lying and more valuable land.

a small Irish faction wherever it might lead would hardly have appealed to any of them.

Thus launched, the quarrel pursued a course in 1912 and 1913, whose details are little worth tracing. Carson, be it said, gave much prudent care to the hard task of preventing riots in Belfast; and one of his most theatrical devices, the signing (September 1912) of the Ulster Covenant, was contrived for this purpose as a safety-valve. On 25 October 1912, at Ladybank, Asquith appealed earnestly for a compromise settlement. But one of his conditions—'nothing must be done to erect a permanent or insuperable bar to Irish unity'—implied that any exclusion of Ulster must have a fixed time-limit, in which form it would, of course, be useless from the Ulstermen's standpoint Over this and over the question of areas all progress towards agreement was held up. By the end of 1912 the Ulster issue had become the sole serious ground of unionist opposition to home rule; and it so remained through 1913. The scandal of the conservative defiance to law grew steadily greater, and exerted an unsettling influence throughout the whole community. But the government remained powerless to deal with it; and the Irish nationalist leaders still blindly repeated that the Ulster attitude was 'bluff'. Meantime under the usual conditions of obstruction and guillotine the Home Rule Bill passed the commons by large majorities in two successive sessions, and was twice rejected by the lords.

In the heat of this struggle the unionist party's enthusiasm for tariff reform again melted At a great party demonstration on 4 December 1912 Lord Lansdowne had officially withdrawn the plan of submitting food taxes to a referendum, and had suggested a duty of 2*s.* per quarter on foreign corn. Twelve days later Bonar Law also declared for food duties But these decisions roused keen opposition among the unionists of Lancashire and Yorkshire. A memorial was organized asking the unionist leaders to agree not to impose food taxes without a second general election; and in a letter dated 13 January 1913 Bonar Law on behalf of both of them accepted the terms. It is not usual for British party leaders to swallow such a public rebuff, they did so to clear the ground for Carson.

Two other factors contributed to the domestic unsettlement of these years. One was the Marconi affair; the other, a new phase of suffragist militancy. The first arose out of a scheme for an 'Imperial wireless chain'. It had been recommended by the

sixth Colonial or (as it was now called) Imperial Conference, which met in 1911 and was largely occupied with defence matters In March 1912 the postmaster-general (Herbert Samuel) accepted, subject to subsequent ratification by parliament, the tender of the Marconi Company. Wireless telegraphy was then still open to experiment; the prospect of such a big contract not unnaturally sent the company's shares soaring; and it was no less to be expected that people interested in rival wireless systems (of which there were four) should agitate against the postmaster's decision. The terms of the definite agreement were put before parliament in August, but their consideration was deferred till October, and meanwhile rumours appeared that certain ministers had corruptly influenced the bargain in order to make money out of Marconi shares. A French paper named the postmaster-general and the attorney-general (Sir Rufus Isaacs[1]) as culprits; but on their bringing a libel action it at once capitulated, apologized, and paid costs. So when the contract came up for ratification (11 October 1912), the house of commons sent it to a select committee to inquire into the conduct of ministers and the technical aspects of the bargain. The latter part of the inquiry was delegated to an advisory committee of experts under Lord Parker of Waddington, a famous patent judge, and they reported that 'the Marconi system is at present the only system of which it can be said with any certainty that it is capable of fulfilling the requirements of the Imperial chain'.

The inquiry about ministers raised more controversy. The postmaster-general was acquitted; but three others—Lloyd George, Sir Rufus Isaacs, and the Master of Elibank (who had since left the government for quite different reasons)—were shown to have held shares, not in the British Marconi Company, with which the Post Office was concerned, but in a parallel one formed for the United States There was no question of their corruptly influencing the decision, for their earliest purchases of shares were made more than five weeks after the tender's acceptance had been announced to the public. On this the committee were unanimous, as also in finding that there was no case of

[1] B 1860, educated at University College School and in Brussels and Hanover Q.C 1898, M.P 1904, solicitor-general, 1910, attorney-general, 1910–13, lord chief justice (with peerage as Lord Reading), 1913, on special missions to the United States, 1915 and 1917, ambassador at Washington, 1918, viceroy of India, 1921–6, foreign secretary, August–October 1931, d 1935 He was the first attorney-general to be made a member of the cabinet.

ministers having used any privileged knowledge to buy stocks which they knew, and the public did not, must rise. But other points invited criticism. A brother of Sir Rufus Isaacs was the secretary of the British Marconi Company, and had originally offered him the American Marconi shares; though he declined them then, and only subsequently took them off another brother. It was these shares which formed the first purchases of all three ministers; and but for the relationship between the attorney-general and the secretary of the company, the offer of them could scarcely have come their way. Again, though the American and British companies were quite distinct, and though the Majority Report of the select committee held reasonably enough on the evidence that 'the ministers concerned, when entering into the purchases, were all bona-fide convinced that the American company had no interest in the agreement', it is pretty obvious that the Minority Report was also right in claiming that such an interest existed and was 'material, though indirect'.

The committee were divided; the liberal majority acquitted the ministers, while the conservative minority led by Lord Robert Cecil found that the original purchases were a 'grave impropriety', and that the ministers, for keeping silence about them in the debate of 11 October, were 'wanting in frankness and in respect for the House of Commons'. Isaacs and Lloyd George, while asseverating their good faith, freely owned their error of judgement, and to the house of commons (18 June 1913) expressed regrets for it. The house eventually had before it two amendments to an original motion and an original amendment. The one, moved by an influential liberal back-bencher, accepted the ministers' expressions of regret, acquitted them of acting otherwise than in good faith, and reprobated the charges of corruption. The other, propounded by Bonar Law with the rasping violence which at that time he affected, expressed 'the regret of the House' instead of accepting that of the ministers, and if carried would have entailed the resignations of them both. But the former was adopted on a party vote. This was a bad conclusion to an episode unfortunate throughout. A smoke-screen of rumour and press innuendo had disturbed the public with suggestions of serious corruption. They were found to be baseless, and it was important that parliament without distinction of party should dispel them; for corruption is a real danger, and to sanction cries of 'Wolf', when no wolves are there, is not at all the way to keep such

dangers off. In ordinary times the conservatives would have met the need. It gave an alarming measure of their frayed temper and weak leadership, that they stuck instead to party vendetta

Suffragist militancy had entered on a new phase in June 1909, when an imprisoned militant went on hunger-strike. As she obtained her release, her example was soon widely followed. The authorities after a while countered by forcibly feeding the prisoners through tubes—a difficult and sometimes dangerous operation till then practised chiefly in lunatic asylums About the same time the militants, whose heckling of ministers had been made very difficult, took to a new tactic, destroying property to advertise their claims At first it was confined to window-breaking, but even so gave the authorities much trouble. 'The argument of the broken pane', declared Mrs Pankhurst characteristically some years later, 'is the most valuable argument in modern politics.' A constant round of excitements, imprisonments, and now hunger-strikes, had brought a great many militants into a psychopathic state, where it was not easy either to save society from them or them from themselves.

After a six months' crescendo the W.S.P U. called a truce for the first 1910 election, and this on various grounds was extended till the following November. Meanwhile suffragists of many schools and parties came together and evolved a 'Conciliation Bill', intended to combine them all. The combination was for the time effected, but at the cost of giving the bill a very pro-conservative cast;[1] and after passing second reading by 299 votes to 189, it was by 320 to 175 referred to committee of the whole house, i e. shelved A violent episode of militancy in November was succeeded by a truce for the second 1910 election, which again lasted till the following November. During 1911 a modified Conciliation Bill passed second reading by 167 majority; and though the government refused further time for it in that session, Asquith in June promised to find 'a week or more', and to raise 'no obstacle to a proper use of the closure', if it passed second reading again in 1912. For a while this contented the W S.P.U.; but after an

[1] As Miss Sylvia Pankhurst says with truth and point 'it made the mistake of flouting the interests of the political party in power, which alone could ensure its passage' (*The Suffrage Movement* (1931), 338). The cross-issue between suffragism and democracy played a great part at this time, strong believers in women's suffrage like Lloyd George and Ramsay MacDonald being unwilling to give it in a form which would only enfranchise single women with property, for the most part elderly and conservative

interview with the prime minister on 17 November it declared war again The new campaign consisted almost entirely of wide-spread attacks on property (chiefly window-breaking, though arson was tried in a few cases), followed by hunger-strikes in prison, when the culprits were found and convicted. These were profound errors; they exasperated parliament; and when in March 1912 the Conciliation Bill came again for second reading, it was defeated by 14 votes. In July the government introduced a democratic Reform Bill, which, though believed capable of being amended to include women, was, as drafted, for men only. The W.S.P U. had consequently to decide whether the militancy which had failed should be called off or intensified.

The decision to intensify was that of Christabel Pankhurst. From July 1912 she began a yet more violent policy—the organization of secret arson. Using her influence over her mother, Mrs. Pankhurst, she drove from the Union the Pethick-Lawrences who opposed this newest militancy; and establishing herself outside the jurisdiction in an office in Paris, proceeded for two years (save for short truces) to organize a campaign of crime. Arson in many forms was the staple; letters in pillar-boxes were set on fire; many empty houses (some very large), public and private pavilions, boat-houses, a grand-stand, a railway station, and a school or two, were burned down; later, bombs were exploded, pictures in public galleries slashed; the British Museum and the Tower attacked; golf greens and Kew orchid-houses destroyed, telephone wires cut, and hundreds of false fire-alarms given. These offences engaged a number of women and went on all over the country. They were too serious to tolerate, yet very difficult to stop or punish; for those sentenced regularly went on hunger-strike, and forcible feeding was an ugly affair, about which public opinion grew uneasy. It was not till the middle of 1913, when McKenna, then home secretary, passed the 'Cat and Mouse' Act (enabling him to release hunger-strikers, so that they should not die on the government's hands, and to rearrest them afterwards practically at pleasure), that the authorities regained the upper hand in the struggle Nevertheless it went on; and continued to do much to foster the vogue for die-hard anarchism, while doing less than nothing to help women's suffrage.

That cause had a gleam of new hope, when the government promised to accept any feminist amendment which the commons might make to its Reform Bill. Three alternatives were put down

for the committee stage in January 1913, and the passage of one or other seemed assured, when the Speaker caused universal surprise by holding that they were out of order and the bill could not be passed with them. This affected not only the amendments to enfranchise women, but one by the government to enfranchise a new class of men; so eventually the measure had to be withdrawn and a mere Plural Voting Bill substituted. Meanwhile the madness of the later militancy was throwing thoughtful friends of the suffrage back on the constitutional suffrage societies; and the scale of their propaganda grew rapidly. In the year 1913 those combined in the National Union of Suffrage Societies spent over £45,000[1] in a well-organized propaganda, whose effect was beyond question considerable.

After the Agadir crisis there was a considerable revulsion among the parties supporting the government against the newly disclosed extent of Great Britain's commitments to France The radical formula was 'allies to none and friends to all'—an excellent one, if it were practicable. Hitherto, as we have seen, it had not been; Grey's attempts to make a friendship with Germany on a footing similar to those with France and Russia had foundered over Germany's insistence that to join her he must leave them The British government now determined to try once more At the end of 1911, as a friendly gesture, they mooted lowering their standard in battleships from 2 : 1 against Germany to 16 : 10. Word came to them through a great financier, Sir Ernest Cassel,[2] that the Germans would like to see a British minister at Berlin. Haldane was on the point of visiting the country on some university business. He knew its ways and language, and the Kaiser liked him So he was detailed for the task, which in February 1912 he discharged with his customary ability.

Tirpitz, the Grand-Admiral, was clever at extracting from events the moral that Germany needed a larger fleet. He had exploited Lloyd George's Mansion House speech in that sense, and a Navy Law of 1912 was the result. Haldane did not discuss it, but he brought back a copy of the draft, and also Berlin's conditions for a political agreement They were, as before, that England should promise benevolent neutrality in any war. The

[1] Dame M G Fawcett, *The Women's Victory and After* (1920), 55.

[2] He and Albert Ballin, the German shipping magnate, had been semi-officially negotiating about the naval question, off and on, for some years

British cabinet then offered an alternative—a formula of mutual friendship and non-aggression. But the Germans insisted on adding: 'England will therefore as a matter of course remain neutral if war is forced upon Germany' Since Germany's wars were always 'forced upon' her, this was the old formula again, whose acceptance would terminate the Entente. But, as Asquith observed in his cabinet report to the king, 'if there had been no Entente at all Great Britain would have been bound in her own interest to refuse it', since it would 'have precluded us from coming to the help of France, should Germany on any pretext attack her and aim at getting possession of the Channel ports' [1] Nothing therefore came of the Haldane mission, and the British government had to resign itself to building against Tirpitz's new programme, which was formidable indeed. Later in the year a further defensive step was taken We saw above how, beginning in 1904, the admiralty utilized the Anglo-French Entente to transfer the fighting strength of the navy from the Mediterranean to the Atlantic and the North Sea—a policy which greatly lessened the cost of meeting the German menace. After being extended by degrees it was now pushed to its conclusion, the British battleships assuming first-line responsibility for the Atlantic and Channel, while the French assumed that for the Mediterranean Had there been an Anglo-French Alliance, nothing could have been more rational, but there was not. Therefore on 22 November 1912, after consultation with the cabinet, important letters were exchanged by the foreign secretary and the French ambassador, putting on record that the military and naval consultations must not be held to tie either government's hands; and a special clause noted that 'the disposition of the French and British fleets respectively at the present moment is not based upon an engagement to co-operate in war' No verbal caveat, however, could quite undo the logic of the facts Moreover, the same letter contained an undertaking that, if war threatened either, the two governments would consult; and this (inserted at the wish of Poincaré) was new as a formal commitment.

But soon a new quarter engaged the attention of Europe Under the impact of Italy's Tripolitan war the Young Turk régime at Constantinople began to totter There were several military mutinies and semi-revolts, and in June the Moslem Albanians, on whom the Sultans were wont to rely as ultra-

[1] J A Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith* (1932), ii 68.

loyalist, broke out in rebellion, not against Turkey, but against the régime. They won a considerable battle near Mitrovitza, and proceeded to overflow wide areas coveted by Serbia, Greece, or Montenegro. The Monastir garrison mutinied in sympathy, and on 17 July 1912 the Young Turk leaders resigned, and a government of different complexion succeeded them.

Unknown to any Power but Russia the Christian states of the Balkans had ere this formed alliances The idea had been mooted for some time past,[1] but the obstacle was at Sofia. The clever, shifty Tsar Ferdinand was at bottom pro-Austrian (or rather pro-Magyar); and thanks to him the anti-Russian and anti-Serb tendency continued to rule the country after popular opinion had moved the other way But in March 1911 he had to accept a pro-Russian cabinet, and after Italy attacked Turkey in the autumn, Bulgaria and Serbia drew together [2] They were united by the Ottomanizing policy of the Young Turks, whose anarchy and massacres in Macedonia menaced the interests of both On 14 March 1912 Bulgaria signed a treaty with Serbia, and on 29 May with Greece Serbia and Greece also signed a treaty, and there were understandings with Montenegro. The critical pact between Bulgaria and Serbia[3] had a secret annex, which (with a military convention soon following it) pointed towards early war for the conquest and partition of European Turkey. Its conclusion was not a little due to the Russian minister at Belgrade, Hartwig, and it provided that in certain problems of the partition which it left unsettled the Tsar should be arbiter. It was communicated to that monarch by a Bulgarian deputation on 7 May, and well received by him, but his foreign minister, Sazonov, strongly enjoined caution and delay. Officially Russia was at this time still in agreement with Austria-Hungary to prop up Turkey.

But then came the Albanian insurrection, the Young Turk break-down, massacres at Kotchani and Berana, and the Albanian seizure of Üskub After six weeks of growing agitation, the Balkan Allies mobilized on 30 September 1912, the Turks follow-

[1] e g there was a Greek military proposal to Bulgaria in August 1910 Gooch and Temperley, *British Documents*, ix, pt 1 (1933), 199

[2] The first interview between the two premiers was on 11 October 1911, just twelve days after Italy declared war on Turkey

[3] The texts of the various treaties and conventions made by Bulgaria before the war will all be found in I E. Gueshoff, *The Balkan League* (English version by C C Mincoff, 1915).

ing suit next day. The Powers, who had been fencing with the Porte about 'reforms' in the usual fashion, made last-minute efforts to stop war. On 10 October Russia and Austria issued a Joint Note stating that, if it occurred, they would 'tolerate at the end of the conflict no modifications of the present territorial *status quo* in European Turkey'. Undeterred, the four Allies declared war on Turkey on 18 October. They were speedily victorious in every field. Turkey's main army in Thrace was crushed by the Bulgarians in the battles of Kirk Kilisseh (22–3 October) and Lule Burgas (28–9 October); her main Macedonian army by the Serbians at Kumanovo (27–8 October), while the Greeks, the weakest of the three main Allies, had defeated another force at Elassona. Macedonia was speedily swept clear of Turks, Salonica fell to the Greeks on 8 November, and Monastir to the Serbians ten days later; while in Thrace the Ottoman army, leaving Adrianople to be invested, fell back on the Tchataldja lines for the defence of Constantinople. There a Bulgarian assault was repulsed on 17 November, the first check to the Allied progress.

These victories pleased all lovers of freedom, because they liberated a large area of mainly Christian population from the hideous misgovernment of the Turk. But they also set a slow-burning match to the powder-barrels of Europe, and it is important at this stage to see how and why. Behind the strife of local forces stood the vital interests of Great Powers—those of Russia, on the one hand, and those of Austria-Hungary and Germany on the other.

Russia had her immemorial quest for a warm-water access to the sea. Foiled elsewhere, she was now concentrated on seeking it at what anyhow was the best point for her empire, the Bosphorus and Dardanelles. 'Freedom of the Straits' under a weak Turkey was her immediate object; the reversion of Constantinople when the Turks collapsed, her further goal. Her method of approach was to dominate the Balkan peninsula through its Slav inhabitants, and her chief obstacle to it, the mutual jealousy of Serbs and Bulgars. For non-Slavs, like the Greeks and Rumanians, she had much less regard, though naturally she preferred to have them on her side. Her primary fear was of Austria-Hungary. British opposition was now relaxed (though not expressly waived). But the 'ramshackle' bulk of the Dual Monarchy lay as a Great Power on the flank of the advance, and for its

disintegration hardly less than that of Turkey the Pan-slavist idea was worked.

Austria-Hungary's outlook was mainly defensive, though she had also certain appetites—e.g. that (which set her against the Greeks) for Salonica. Her concern was to keep the Balkan States small and wealk, that they might not divide and despoil her. For two of them had large irredentas within her borders. Transylvania, though diversified by German and Magyar colonists, was really a Ruman country; and in the Banat of Temesvar, Croatia, Southern Dalmatia, and Bosnia-Herzegovina were comprised more Serbs than in Serbia herself, besides the natural sea outlets, of which the small kingdom was deprived. The other Southern Slavs in that Monarchy were nearly related, while the Czechs in the north were extremely Russophile. The two ruling races, the Austro-Germans and Magyars, were mutually hostile, and only held together by fear of Russia and desire to dominate the other elements—both passions being peculiarly strong among the Magyars. The Balkan policy of the Monarchy was to maintain Turkey, as a bulwark against Russia and the Slavs generally; to keep Serbia small and land-locked, and, if a chance offered, to fall on and crush her, and to work towards Salonica by economic penetration. There was an alliance with Rumania, but, owing to Transylvania, no cordiality. The sole Balkan people friendly to Austria-Hungary had been the Bulgarians, for they had not an irredenta under her flag. But her long failure to prevent Turkey from massacring their fellow Bulgars in Macedonia and Thrace had driven them at last, despite Magyar-loving Tsar Ferdinand, into the arms of Russia and Serbia; with the results that we have seen.

These results, then, were not merely a triumph of Christian liberators over Turks, but a victory for Russia in the Balkans, and a blow for Austria-Hungary. But behind the latter stood Germany, the 'brilliant second' who in 1908–9 had enabled her to defy Russia and put down Serbia in the Bosnian crisis. Germany could not afford to desert Austria, her one firm ally in Europe, and besides she had interests and ambitions of her own. We saw earlier how the Berlin-to-Bagdad idea was started in the nineties, and evolved towards that of creating a solid block of German influence from the Baltic to the Persian Gulf. In this gigantic conception key parts were assigned to Austria—cast out from Germany proper, but remaining a spear-head of 'Germanism'

among her subject races; to the Magyars—who were brought to love Berlin as much as they hated Vienna, and to the Turks—won over by two decades of able and unscrupulous work to regard Germany as their one true friend and the German army as the only model for Ottoman fighters. Minor parts were reserved for Rumania or Bulgaria, of which the Kaiser (who was apt to think in terms of crowned heads) preferred the former for personal reasons. The strong point about this conception was that it called for no use of ships, but only that of armies and railways, in which Germany was already supreme, and had she taken the one task at a time, and not alarmed England by building Tirpitz's premature and provocative fleet, she might have put herself into a position of such power and wealth, that the trident would subsequently have fallen into her lap. But all these prospects dissolved like dreams, if once a permanent block of united and Russophile Slavdom were to dominate the Balkans, followed, as it must be, by Russia's own advent on the Golden Horn. The conflict between the two thrusts—the Russian north to south and the German west to east—was absolute[1] And it needs to be clearly grasped, because it was what motived the war of 1914.

What special concerns had the British government in the issue? Directly, none; indirectly, several In the first place, if war came France would be drawn in under the terms of the Dual Alliance, and her participation would at once raise questions—even if there had been no Entente—of the Channel ports and of oversea possessions. But secondly, there was the even more fundamental fact of Germany's naval challenge. Could the island-Empire stand passively aside and see the mastery of the Continent pass to the one Power which already threatened it on the element by which it lived? Thirdly, there was the special and neutral interest which Britain, as the world's greatest trading and financing nation, had in peace

Grey showed wisdom and skill in this crisis He kept in the foreground the consideration last mentioned, and so far won the confidence of both sides, that they agreed to deal with the situation, as it developed, through a conference of ambassadors meeting in London under his chairmanship from December onwards.

[1] Though as late as 1911 so little appreciated by Bethmann-Hollweg, that for transitory reasons he was ready to concede the Straits to Russia. The arguments of Marschall von Bieberstein against this course are well worth reading. *Die Grosse Politik*, xxxiii (1926), see especially pp 224–5, 230–1, 243–5 Bethmann-Hollweg had not much knowledge of foreign affairs

After a second failure of the Bulgarians before Tchataldja (which all the Powers really welcomed, since none of them desired a Bulgarian occupation of Constantinople), an armistice was signed there on 3 December, from which only the Greeks stood out On 16 December the peace delegates met in London; and till the last week in January 1913 two conferences proceeded side by side—that of the belligerents agreeing terms of peace and that of the ambassadors revising them. The Powers had let lapse the threat of 10 October against territorial modifications, and recognized that in a broad way what the Balkan Allies had won they must be allowed to hold. The chief exception concerned the Adriatic. There the Serbians had pressed through Northern Albania to the coast and occupied Durazzo and Alessio. Inland farther north the Montenegrins were blockading Scutari, which for economic reasons they were desperately eager to annex. Farther south the Greeks coveted Valona, but, when they shelled it on 3 December, had been warned off by Austria-Hungary and Italy The Albanians themselves had declared their independence on 28 November. Austria, backed by Germany, insisted that all these places must go to them, the Montenegrins be kept to their mountains, and Serbia be still excluded from the sea. On the other side Russia, backed by France, stood up for her Slav protégés. The Germanic Powers were dour and sore; they felt that Russia had stolen a very long march on them. Some aggrandizement of Serbia they could not veto, but at least at all costs they must keep her from the Adriatic.

Now here the British foreign secretary followed a remarkable course. His professed attitude at the conference was that of the honest broker. But in fact he threw his weight strongly on the side of Germany and Austria.[1] The other Entente Powers were displeased, considering, perhaps rightly, that the Central Powers had been caught off their guard and would have swallowed worse terms without a rupture. Grey, however, was anxious not merely for present but for future peace. He wanted to prove to the Central Powers that, so far from scheming to 'encircle' them, Great Britain, wherever they were the threatened party, would do her best to secure them fair play Here was his opportunity to ratify by deeds the assurance which he had often proffered in words. He took it in a manner that could not be overlooked. His

[1] As recognized by Prince Lichnowsky, who was present as German ambassador: *My Mission to London*, 10–11.

gesture, as we shall see, was lost on Germany; but if, on the balance of forces within her, she had really been a peace-loving Power only plagued by 'encirclement', it would not have been. In that sense it supplied an acid test.

The effects on the Balkans were not good. In their plan to divide the conquered territory, the Balkan Allies had shared Albania between Serbia and Greece. Of Macedonia a north-west corner was to go to Serbia, and a southern belt to Greece, but the main mass of the country, which was ethnically Bulgar, was assigned to Bulgaria. When Serbia and Greece found Albania barred to them, they began to claim compensation from Bulgaria, which, since it meant surrendering her kith and kin, she was very loth to give. The dispute was interrupted by a Young Turk revolution at Constantinople. It caused a resumption of the war. But the Ottoman luck was out; their beleaguered fortresses—Adrianople, Yanina, and Scutari[1]—had to capitulate; and at a resumed London Conference peace was signed (30 May 1913) leaving Turkey nothing in Europe but the small area between Constantinople and the Enos-Midia line. Then Serbia and Greece banded themselves firmly against Bulgaria, and after the Tsar had in vain offered mediation and both sides had moved round their armies, the second Balkan war began with a Bulgarian offensive on 30 June. In its opening phase it was very unlike the first, for both sides had learnt the value of trenches; they dug themselves in, and brought each other almost at once to a standstill. But then Rumania, which had earlier received compensation for passivity, moved into the war claiming more. Her large fresh army marched down on the undefended rear of exhausted Bulgaria, and Tsar Ferdinand had to submit. Peace was signed at Bucharest (10 August 1913). What Rumania herself took was not immoderate,[2] but by her action large parts of Macedonia containing Bulgar population went to Serbia and Greece, while Bulgaria was almost cut off from the Aegean again, and even lost Adrianople to the Turks, who filched it back in her extremity. Serbia came out of the two wars a much larger state than she went in, even though some of her new subjects were not willing ones. Moreover, her troops were considered by

[1] The dispute over this place came nearest to wrecking the Ambassadors' Conference, but by a mixture of threats, money, and naval blockade its Montenegrin captors were got out of it without actual military measures.

[2] About 3,250 square miles and 340,000 inhabitants.

good judges to have excelled any others on the field of battle, and their artillery, which was French, had given better results than the Krupp guns of their adversaries. These results so distressed Austria-Hungary, that a day or two before the Bucharest Treaty was signed she secretly invited the support of her Allies, Germany and Italy, in an attack on Serbia, which she defined as 'defensive action' involving the *casus foederis.* Italy refused to regard it in that light, and for the time the project dropped [1] Otherwise the European war might have been anticipated by eleven months.

But the Austrian attitude, though serious, was not the gravest new fact for Europe. Austria had a fire-eating chief of the general staff, Conrad von Hotzendorf, who habitually urged war on any suitable pretext. She had also early in 1912 lost her foreign minister, Count Aehrenthal, and taken as his successor Count Berchtold, a man much more pliable to Conrad's impulses. But in the last resort she could never plunge without the backing of Germany, and this, though difficult to refuse, could not be taken for granted. Graver, then, than any effect on Vienna was the effect of the Balkan events on Berlin. It is clear that in January 1913 a decision was there taken, that war between the Triple and Dual Alliances had become inevitable, and that Germany's business was to prepare for it instantly and bring it about when she was ready—in her time, not in her enemies'. For in that month were formulated plans, which in March became printed bills for the Reichstag, not merely to augment the army's annual intake of conscripts from 280,000 to 343,000 (by including all hitherto exempted fit men), and to make corresponding increases of officers, non-commissioned officers, horses, guns, &c., but to raise for non-recurring military purposes a capital levy of 1,000 million marks. Germany, it must be remembered, was already before this taxed to the utmost. She was not a rich country compared with England or France, she had scarcely any money to spare for foreign investment; her mushroom industries were in few instances on a lucrative basis apart from state orders. So painful had grown the pinch of taxation that the Reichstag was almost mutinous. Yet here was a project to pile on top of it in one year 1,000 million marks—a sum equivalent in gold for the foreign exchange to about £50 million sterling, but in German domestic

[1] These facts were first disclosed by Giolitti, then Italian prime minister, in the Italian Chamber on 5 December 1914

values very much more. No statesman in Europe had ever before dreamed of raising by extra taxation, in one year and during peace, so enormous an extra sum as this then seemed Lloyd George's 1909 budget, which convulsed British politics and society, was only for an addition of about £15 millions. It looks plain in retrospect (though confused for contemporaries by smoke-screens) that if such a supreme sacrifice were imposed for war-making, the war would have to be made, since it could not possibly be imposed twice. And the decision shows all the starker against the background of the conciliatory and reassuring treatment which Germany and her Ally were experiencing at this very time from Grey in the London Conference

Who made the decision at Berlin? The general staff.[1] How far they carried with them, save for immediate steps, the Kaiser or the civil authorities, we need not inquire, beyond noting that everything material done by the latter fitted into the military plan. For what date was the war designed? There are reasons for thinking that from the inception the date worked towards was the beginning of August 1914. Early August was well recognized as the proper (almost the obligatory) season to choose for launching a war, because it was that at which the German army had most fully digested its conscripts, and had a maximum strength of trained men.[2] It was arranged that the war levy should be collected by instalments, to be spent at once as they came in;[3] and the last was to be in before midsummer 1914, so that by August of that year the army would be completely equipped The widening of the Kiel Canal, for lack of which Germany's dreadnoughts were still unable to use that route between the North Sea and the Baltic, was to be completed just in time for the same date. An extra argument for that date was early supplied by the French. In answer to Germany's increase of her peace-time effectives they could not, like her, conscribe a margin of hitherto exempted fit men, because they had none. Instead, they lengthened the period of each conscript's service from two years to three. This was calculated to make them much

[1] For a fuller discussion of the relation at this time of the rival German authorities, see Appendix C, section 2

[2] It also allowed sufficient time to deal with Russia before the winter, after crushing France, under the Schlieffen time-table, in six weeks

[3] Which incidentally facilitated payment, as big steel or munition firms could pay in a large cheque to the levy, and receive it back the same day in payment for war material

stronger by August 1915, but in August 1914, owing to the difficulties of the change-over, actually weaker.

What was the reaction of British statesmen to these portents? They took surprisingly little account of them. In August, almost at the very time when Austria-Hungary was sounding her Allies about immediate war, Grey allowed the Ambassadors' Conference to close down, on the assumption that there was no more occasion for it. It was a pity; for it was the one place in Europe where the six Powers could meet round a table, and it brought together some, e g Great Britain and Austria-Hungary, which knew very little of each other's standpoints and had few other opportunities of learning.[1] Nor was another controversy long in coming In November the Young Turks appointed General Liman von Sanders, the successor of General von der Goltz at the head of a German Military Mission, to command their 1st Army Corps at Constantinople The Russian foreign minister, Sazonov, not unreasonably objected to this as equivalent to posting a German garrison on the Bosphorus He wanted a strong note from the Triple Entente, but Grey demurred, and a verbal inquiry at the Porte was substituted. In the end by a compromise General Liman resigned the 1st Corps and became instead 'Inspector-General' of the Ottoman Army. The change was more titular than material; and Liman at Constantinople was worth a great deal to Germany after the outbreak of the European war.

But during most of these months the British cabinet seems to have centred such attention as it could spare for foreign affairs round a single point—the immediately vital one for Great Britain; viz. the threat of the German Fleet. Despite all previous rebuffs, Churchill (26 March 1913) proposed a 'naval holiday'. Germany was due to lay down two capital ships in the twelve months, and Britain four; why not let the six stand over? In the autumn (18 October 1913) he repeated the offer in more detail; but German pronouncements on it were all adverse. There were in truth some solid objections; e g. the need to provide continuous occupation for plants and workmen. While attempts to conjure the threat failed, Grey tried patiently to mollify the threatener by reaching peaceful settlements of outstanding Anglo-German questions. He was here much helped by the German ambassador, Prince Lichnowsky, whose personal goodwill was beyond

[1] As Mr. J A. Spender has acutely observed. *Fifty Years of Europe*, 388–9.

doubt and who was well seconded by his immediate subordinate, Baron Kühlmann. Two very large pieces of negotiation were carried through. One was a revision of the 1898 agreement about the reversion of the Portuguese colonies in Africa; the other comprised parallel arrangements with Turkey and with Germany about the Bagdad railway, Mesopotamia, and the Persian Gulf. The first was embodied in an Agreement initialled in August 1913; the second, so far as Germany was concerned, in a Convention of June 1914. Owing to delays by Germany, neither had been signed when the European war broke out; and it is still uncertain how far Berlin cared about them save as baits which might help to keep Great Britain neutral in that event. Yet they were very favourable to Germany, representing the liberal government's fixed idea of overcoming her hostility by kindness.

Anxious as the British ministers were, partly for financial reasons, to persuade her to stop building against them, they remained slow, partly for the same reasons, to face the naval consequences of her refusal. Though Rosyth's defences had never been completed and the insecurity of its site[1] was recognized, it was not till 1912 that they decided to make Cromarty and Scapa Flow defensible. Yet by August 1914 not one of the three places had been rendered secure; and Jellicoe's Grand Fleet was to spend many perilous months at the beginning of the European war keeping constantly at sea, because it had no safe harbour to lie in. In the winter of 1913–14 a strong party in the cabinet became so much impressed by the friendliness of Lichnowsky and Kühlmann that they urged cutting down the naval estimates. Lloyd George at the exchequer led this movement, and early in 1914 the conflict between him and Churchill reached such a pitch that it seemed as if one or other must resign. Asquith's genius for compromise alone kept them together.

During 1912–13 central and southern Ireland were convulsed by a succession of strikes and lock-outs centred round a body called the Irish Transport Workers' Union. This was a syndicalist organization by no means confined to transport, run by two leaders of opposite and complementary types—James Larkin, a voluble, loud-voiced, large-limbed Irishman, who liked fighting for its own sake without deeply studying what it was about, and

[1] Inland of the great Forth Bridge and liable to be cut off from the sea by its demolition.

James Connolly, a small, silent, remorseless desperado, compact of courage and scheming. Their violent methods at first scored many successes. But then the employers rallied, and a lock-out, which began on the Dublin tramways in mid-August 1913, spread to most of the other districts and firms where the union had members. All through the rest of the year it was bitterly fought on both sides; and in January 1914 the union's effort collapsed.

The struggle had consequences beyond itself. It created a cleavage between the Irish nationalist party and the Dublin workers, driving the latter over to Sinn Fein;[1] and it brought into existence for the first time in southern Ireland a 'private army' similar to the Ulster Volunteers. This began as quite a small affair, formed to keep the strikers out of mischief; but before the dispute was over, its example gave rise, as we shall see, to a political body. In the same January the British trade-union world witnessed a 'Triple Alliance' for the first time between the railway workers, the transport workers, and the miners. The immediate object was to synchronize the expiry of their agreements, so that disputes, if any, might be synchronized also. But it was really a victory for the syndicalist idea.

The autumn of 1913 had seen also the first moves towards a compromise on the Home Rule Bill. On 11 September, after it had twice passed the commons and twice been rejected by the lords, a letter in *The Times* from Lord Loreburn, the ex-lord chancellor, urged a policy of special treatment for Ulster In the cabinet two years earlier, when Lloyd George originally proposed this, Loreburn, a doctrinaire radical, had been its leading opponent; but now he recoiled from the consequences. About the same time Bonar Law and Lansdowne put forward a demand, backed by four eminent unionist lawyers,[2] that the king should force a dissolution by dismissing Asquith. Such a course would have been legal, just as the lords' rejection of the budget in 1909 was legal; but, if not so flatly unconstitutional as that was, it would have been even more disastrous. The sole modern precedent—William IV's dismissal of Lord Melbourne in 1834—was the reverse of encouraging. But now to make the Crown the unionists' agent for the purpose of cancelling the Parliament Act

[1] Whence their later prominence in the rebellion of Easter 1916 under the leadership of Connolly, who was executed for his part in it

[2] Lord Halsbury, Sir William Anson, Professor A. V. Dicey, and Mr. (afterwards lord chancellor) Cave.

would have been incalculably more serious; it would have brought the Monarchy right down into the arena, not merely of party, but of faction, and have created a breach between it and the rising democracy scarcely possible to repair. Fortunately an unanswerable memorandum from Asquith to the king[1] put the idea out of court Meanwhile the king took advantage of the peace-current started by Loreburn's letter At Balmoral in September conversations took place between Churchill and Bonar Law; and later, writing from the same place, Asquith arranged to meet Bonar Law himself At their interviews (14 October and 6 November 1913) Bonar Law gave as his terms 'the permanent exclusion of the four north-eastern counties "plus perhaps Tyrone and one other", with an option of inclusion at some later date, if these counties so decided'.[2] A settlement on this basis might have avoided much subsequent evil; though even if Asquith had accepted, it is doubtful whether Bonar Law could have implemented his offer. Lansdowne in particular, whom he had not consulted, and who was habitually deaf to reason in Irish matters, might probably have played a wrecking part in the name of the southern unionists,[3] as he afterwards did in 1916. However Asquith, as he told Redmond later, 'gave no countenance whatever to this idea'.[4] Nor did the cabinet, but lent ear instead to an ingenious alternative suggested by Lloyd George This was to amend the bill by postponing its coming into force in the Ulster counties for five years. The idea was, not to procure the Ulstermen's consent, but to spike their guns, since it was thought that they could neither go to war in 1914 to prevent something which would not happen till 1919, nor keep up their organization five years longer to resist at the later date. But even about this no decision was reached and (in deference to Redmond) no announcement made. From mid-December to mid-January Asquith conducted an extremely secret negotiation with Carson, but as none of the fancy safeguards which the prime minister elaborated could divert the Ulster leader from his plain demand for exclusion, nothing came of it.[5]

[1] Printed in J A Spender and Cyril Asquith's *Life of Asquith*, ii 29-31

[2] Ibid ii. 35

[3] See his letter to Carson of the following day, given in Ian Colvin, *Life of Lord Carson*, ii (1934), 220-2

[4] Denis Gwynn, *Life of John Redmond* (1932), 234

[5] The curious documents of this episode are printed in Ian Colvin, *Life of Lord Carson*, ii (1934), 262-71

While the parleys proceeded in private, in public Carson grew bolder and Bonar Law more violent than ever. On 28 November at Dublin the latter made an unmistakable appeal to the army to disobey orders when the time came. The political attitude of army officers, as Asquith had told Redmond eleven days earlier,[1] was already a grave matter. They were overwhelmingly unionist, and as a class drawn to a very disproportionate extent from the Anglo-Irish gentry, the 'garrison', whose unionism was hereditary. Lord Roberts, the last commander-in-chief, was Anglo-Irish; so was his predecessor, Lord Wolseley; so was the director of military operations, Sir Henry Wilson[2] The first and last named were active partisans. Roberts chose the Ulster Volunteers' commander-in-chief for them. Wilson was in frequent contact with Bonar Law, and appears to have been in the habit of betraying official secrets to him[3] Both in advising Carson's Volunteers and in fostering the idea among army officers that they should 'refuse to coerce Ulster', he took a leading part, quite impossible by any ordinary standards of honour to reconcile with the holding of his post.[4]

Three days before Bonar Law's Dublin speech a meeting held in that city with Professor John Macneill, one of the founders of the Gaelic movement, and P. H. Pearse,[5] a Gaelic teacher, as its principal sponsors, had formally launched a movement to enrol Irish Volunteers. Redmond distrusted the men and disliked the movement, but it grew very fast in spite of him. Asquith thereupon allowed Dublin Castle to perpetrate a characteristic folly. Till the end of 1905 there had been an embargo on import-

[1] He said that 'his information from the War Office with regard to the attitude of the Army was of a serious character, pointing to the probability of very numerous resignations of commissions of officers in the event of the troops being used to put down an Ulster insurrection Some of the authorities estimated the number of these resignations as high as 30 per cent. He did not believe in this figure, but he was satisfied that there would be a number of resignations' (Denis Gwynn, *Life of Redmond*, 235–6)

[2] It is often supposed that the chief of staff, Sir John French (afterwards Earl of Ypres) was also Anglo-Irish, but in point of fact he had no nearer connexion with Ireland than his great-grandfather. His mother was Scottish. He was not a partisan

[3] See the reference in Bonar Law's letter to Carson of 24 March 1914 (Ian Colvin, *Life of Lord Carson*, ii 351)

[4] The evidence is that of his own diaries, quoted in Sir Charles Callwell's *Field-Marshal Sir Henry Wilson His Life and Diaries* (1927), i 137–47

[5] In the Easter rising of 1916 he was first 'President of the Irish Republic' and afterwards executed In 1913 he was secretly carrying out a mission in Ireland for the Fenians of the United States

ing arms into Ireland, which the Campbell-Bannerman government took off as unnecessary. On the formation of the Ulster Volunteers it might well have been re-imposed, but was not. Now that Dublin formed Volunteers, it at once was. The inference drawn inevitably in Ireland reacted not only against Asquith but against Redmond, and in weakening him made more difficult the approach to any reasonable compromise.

After two months of discussion and negotiation, Asquith on 9 March 1914 (when moving for the third time the second reading of the Home Rule Bill) made known the government's proposals regarding Ulster. A White Paper gave the details, but the substance was that any county might by a majority of its parliamentary electors, vote itself out of home rule for six years. This, it will be seen, was a modified form of the earlier Lloyd George idea. In respect of its county basis it was very unfair to the Ulstermen. There were only four counties which as such were certain to yield them a majority—Antrim, Down, Armagh, and Derry; yet South Down, South Armagh, and parts of West Derry were much less truly their territory than large parts of Tyrone and Fermanagh. They also had good reason to resent the time-limit. The theory of it was that before it expired the electors of the United Kingdom would have been twice consulted,[1] and if they twice ratified Ulster's inclusion she would have no grievance. But in fact, of course, to make the inclusion of Ulster the sole issue at a general election in, say, 1919 would have been scarcely possible, and if possible, most undesirable. Carson therefore had equity on his side in demanding that there should be no time-limit upon Ulster's right to stay outside the Dublin parliament until she was persuaded to come in.

The proposals brought less than no immediate gain; for they were violently rejected by the unionists, and at the same time were so unpopular in Nationalist Ireland as further to weaken Redmond. Meanwhile the army trouble drew nearer. Lord Willoughby de Broke, leader of the Die-hards against the Parliament Bill, put about the idea that the house of lords should refuse to pass the Army Annual Act, thus depriving the government after 30 April of any disciplined force. The unpatriotic recklessness of such a course—at a time when Germany was making such war-preparations as Europe had never witnessed before, and when, with France, Russia, and Austria-Hungary

[1] i.e. not later than December 1915 and not later than December 1920.

all responding towards the limit of their inferior resources, the world almost visibly drifted towards catastrophe—may, in retrospect, take the reader's breath away. Yet such was the insularity of British politics and the temporary loss among unionists of any sense of proportion, that most of them jumped at the idea. Bonar Law became its leading advocate, and even talked over Sir Henry Wilson, who seems, if only on this occasion, to have become conscious of some conflict between his political intrigues and his professional duty. The cabinet therefore resolved to act, while yet there was time It appointed a sub-committee which on 12 March sanctioned naval and military decisions. Churchill started transferring the Atlantic Fleet from the coast of Spain to the Isle of Arran, and Seely,[1] who in 1912 had succeeded Haldane as war minister, sent instructions to Major-General Sir Arthur Paget, commander-in-chief in Ireland, to concentrate and reinforce the troops in Ulster at a number of strategic points.[2] Churchill at Bradford on 14 March made a speech reflecting the government's new-found firmness.

Then on 20 March ensued the fateful episode at the Curragh. Paget had boggled about carrying out even his preliminary instructions He came to London, and obtained from Seely a concession. Any officers whose domicile was in Ulster might, in the event of their units being ordered north, be allowed for the present (on giving their word of honour that they would not join the Carsonites) to 'disappear'. It was unwisely granted, since it implied admitting that something like civil war was in contemplation; but the unwisdom was greatly increased by Paget's clumsiness. Instead of quietly finding out who the few Ulster-domiciled officers might be and apprising them individually, he summoned a conference of all his general officers, and through them broadcast to the whole of the officers of the Curragh a notification that (*a*) those with an Ulster domicile might 'disappear'; (*b*) those without such a domicile should, if they were not prepared to undertake active operations against Ulster,

[1] B 1868; educated at Harrow and Trinity College, Cambridge, served with Imperial Yeomanry, 1900–1, M P 1900, under-secretary for the colonies, 1908–10, for war 1911, secretary for war, 1912–14, distinguished service in the European war, under-secretary for munitions, 1918, for air, 1919 Cr Lord Mottistone, 1933.

[2] What the plan was, to which these steps would have led up, was never disclosed; but Mr Colvin (*Life of Lord Carson*, ii 331–2) prints a detailed account from some papers which reached the Ulster Unionist Council 'through a trustworthy channel' He does not name the 'channel', but it is perhaps unnecessary to look beyond Sir Henry Wilson.

send in their resignations, when they would be dismissed the army Conferences took place later between the brigadiers and their colonels, and between the colonels and the officers of their regiments; and at the end of the day Paget telegraphed to the war office that the brigadier (General Hubert Gough[1]) and 57 (out of 70) officers of the 3rd Cavalry Brigade 'prefer to accept dismissal if ordered north'. Some colonels and many other officers in the infantry took similar action; and there is no doubt that in certain cases a good deal of pressure was put on individuals to offer their resignations with the rest.

The war office next ordered Gough and his three colonels to Whitehall. There on 23 March they proceeded to negotiate with the government, being covertly advised on every step by the government's own servant, Sir Henry Wilson Parliament met the same day for the first time since the 'mutiny'[2] of the 20th, and the indignation of the government parties boiled over. The action of the officers was intensely unpopular in the country, and the foremost spokesmen on behalf of outraged democracy were labour leaders—John Ward[3] of the Navvies' Union, and J. H Thomas, of the Railway Servants. Yet while the M.P.s protested, the heads of the war office were selling the pass. The cabinet had agreed to a memorandum in three paragraphs, the second of which ran: 'An officer or soldier is forbidden in future to ask for assurances as to orders which he may be required to obey.' In direct defiance of this Gough and his officers persisted in demanding a written assurance that they would not be called on 'to enforce the present Home Rule Bill on Ulster'. Seely, to appease them, with the approval of Morley, weakly added two more paragraphs, which he and the chief of staff and the quartermaster-general initialled; and when Gough asked whether they meant what he wanted, the chief of staff, Sir John French, initialled a written statement that they did. Gough returned victorious to the Curragh, where he had an ovation from his officers, and all resignations were withdrawn

[1] Afterwards Sir Hubert Gough, commander of the Fifth Army in the European war

[2] Strictly there was no mutiny, for the officers concerned disobeyed no order, they were offered an option to take a certain course, and took it Yet if it be mutiny to conspire to paralyse from within the disciplined action of an army, unquestionably there was such a conspiracy, although the actual officers at the Curragh were not its authors.

[3] Who afterwards rendered the nation great service during the European war, where he organized and commanded, as colonel, a Navvies' Battalion

The government majority was now, and with reason, thoroughly roused. So was the country, and there was reason to believe that, had Asquith then dissolved, the unionist party would have been swept away. But a government cannot be so irresponsible as the opposition under Bonar Law had become; and the prime minister had the foreign situation in his eye. A 'purge' of the old army caste was warranted on political grounds, and might probably in a few years have meant greater army efficiency; but for the time it would disorganize the Expeditionary Force. Seely and the two generals who initialled Gough's document had, of course, to resign; and in place of the former Asquith executed the heroic gesture of becoming war minister himself. His followers supposed that this betokened a drastic policy, such as only a prime minister could put through; in fact, it heralded a policy of surrender, such as only a prime minister could put over. He did not touch even the arch-offender, Sir Henry Wilson

The Curragh episode, thus handled, disarmed the government. A month later, on 24 April, a second episode, the Larne gun-running, enabled the Ulster Volunteers to become armed. They had perhaps five or six thousand rifles before, and a limited stock of ammunition But on this occasion they landed 30,000 rifles and bayonets and 3 million rounds. The affair was well organized by their chiefs, who mobilized a large force with remarkable secrecy, and were able without active violence to hold up all the police and coastguards of a wide area. It could hardly have been managed but for the palpable inefficiency into which Birrell, during his seven years' tenure of the Irish secretaryship, had allowed the Royal Irish Constabulary to lapse. Though it greatly altered the perspective in the Ulstermen's favour, one of its more immediate effects was probably not anticipated by them This was a rush on the part of nationalists, especially in Ulster, to join the new National Volunteers Soon they outnumbered the Carsonite force,[1] and continued to grow rapidly. So far there had been not a little friction between them and the parliamentary party. But early in June Redmond officially took over their leadership, and nationalism presented externally a united front.

In face of the menacing growth of these rival 'private armies'

[1] By the middle of May they were over 100,000, of whom one-third were in Ulster (Denis Gwynn, *Life of Redmond*, 307).

in Ireland Asquith continued to vacillate and play for time. On 26 May the Home Rule Bill completed its third passage through the commons, but it was not till 23 June that the government introduced in the house of lords their Amending Bill—still on the lines announced in March. A week later the most determined effort at settlement, which had yet been attempted, was made by Lord Murray of Elibank. Going to and fro between the parties with the concurrence of the king and the help of Lord Rothermere,[1] he brought to Redmond two days later the most practical terms to which the unionist leaders had yet consented. They were to exclude by plebiscite, not individual counties, but a selected area, which was that of to-day's Northern Ireland minus South Armagh, South Fermanagh, and possibly South Down. There was to be no time-limit, but an option to the area to rejoin the rest of Ireland by plebiscite at any time. Were this offer accepted, Bonar Law and Carson undertook to cease all opposition to home rule, to abandon all intention of repealing it if their party came into power, and to 'support and encourage the Irish Parliament in every way possible'. Here was perhaps the fairest chance ever offered to Ireland of reconciliation on a basis of freedom for both factions and coercion of neither; and had it been accepted it is difficult to think that in the event the partition would have survived the European war. But Redmond could not accept; Asquith's policy, or lack of policy, had too much weakened his authority. Besides, one of his strongest personal convictions was the unity of Ireland. He would sacrifice almost anything to avoid partition. Perhaps he sacrificed too much to that object.[2]

The chance passed and never really recurred. On 18 July King George (acting, as he was careful to state, on the prime minister's advice) summoned a conference of party leaders to attempt settlement. Eight attended (21 July)—Asquith and Lloyd George for the liberals, Bonar Law and Lansdowne for the conservatives, Redmond and Dillon for the nationalists, and Carson and Craig for the Ulster unionists. The king opened with a speech, and then asked the speaker (J. W. Lowther, afterwards the first Lord Ullswater) to take the chair. A better chairman could not have been wished, but there was small chance of succeeding in the clash of parties across a table where

[1] Whose brother, Lord Northcliffe, was not consulted in this matter

[2] In 1918 it may be fairly said that he gave his own life for it—in vain

under far more favourable conditions so expert a negotiator as Lord Murray had just failed. The conference lasted three days, and met on the fourth to wind up. Its time was given chiefly to arguments about the geography of exclusion in Northern Ireland, and particularly in Tyrone, but the disagreement remained much wider than that.[1]

On the day that it ended, the cabinet discussed its failure, and decided for the time being to 'wait and see'. As the members rose to go, the foreign secretary gravely claimed their attention; he had serious news. It was the text of the ultimatum sent by Austria-Hungary to Serbia the day before.

Two days later a fresh turn came to the Irish situation. After the Ulster gun-running it would have been prudent (since no steps were to be taken to disarm the Ulstermen) to remove the ban on importing arms. To continue it was to turn the ill-gotten Carsonite armament into a state-protected monopoly. Yet this was what Asquith and Birrell did. The natural result followed. On Sunday 26 July the National Volunteers carried out at Howth a gun-running on the Ulster model. The law being unaltered, it was the duty of Dublin Castle to stop it; and the assistant-commissioner of police, a Mr. Harrel, called out soldiers as well as police for the purpose. There was a scuffle on the road. The Volunteers got most of their rifles away, but Dublin was furious at the seeming discrimination between them and the Ulstermen. On marching back through the city the soldiers were stoned by the crowds, and at Bachelors' Walk they turned and fired on them. Three civilians were killed and thirty-eight injured—half of them seriously.

This shooting has its niche in Irish history. Asquith, horrified after the event, appointed a committee of inquiry under Lord Shaw of Dunfermline, which found fault with Harrel for calling out the troops. Then the European war caused parliament to forget it. But Ireland never did.

In the late spring of 1914, as the fateful August drew nearer, preparations in Germany for a war at that date had grown still more definite. The 1,000-million-mark levy was being duly collected and spent; the widening of the Kiel Canal, carried out to

[1] A brief account of it is given by Lord Ullswater, *A Speaker's Commentaries*, ii. 162–4; the fullest is in Denis Gwynn, *Life of John Redmond*, 336–42. The more summary sketch in Ian Colvin, *Life of Lord Carson*, 415–18, confirms the latter.

time. Now measures of another class were put in hand. At the peak of the Agadir crisis in September 1911 what had curbed Germany was financial panic and a run on the banks. That this should not recur when the war came, gold must temporarily be amassed in advance, and steps were accordingly taken that German firms should get in, as far as possible, all moneys due to them abroad. It could not be done without considerable disturbance of the London money market. The strain was first felt in the latter half of February, when the discount rate in the open market, which had been $1\frac{11}{16}$, was rapidly forced up to $2\frac{15}{16}$. In the course of March conditions eased again, and in April the rate fell back to $1\frac{3}{4}$. But in May the demand for gold became again abnormal, and the rate returned to $2\frac{15}{16}$. This lasted till near the end of the half-year, when the demand once more fell towards normal. As a result, the gold reserve in the Reichsbank on 15 July was a record for Germany.[1] The supply of silver was likewise exceptionally high. When the war came at the end of that month, it was found that Germany had collected nearly everything owing to her from her prospective enemies, while leaving her debts to them outstanding. It is significant that the main operations which by the beginning of August had produced this temporary situation—a situation which obviously could not have been maintained for long—were carried out before the assassination at Serajevo, chiefly in the month of May.

On the 12th of that month the German and Austro-Hungarian chiefs of staff had an interview. They did not meet often, and Moltke, the German, seems (perhaps wisely) to have been reticent towards his Austrian colleague, the fire-eating Conrad. In previous communications, of which we have record,[2] since the first Balkan war, the German staff's line to the Austrian is that the great war must come and the two Allies will wage it together, but it must not come *now*; they should complete their preparations and wait for the proper occasion. But at this May interview Moltke agreed with Conrad that the time was at hand 'every delaying means a lessening of our chances'.[3] And they went on to discuss some details. Conrad wanted to know (it is

[1] Gooch and Temperley, *British Documents*, xi (1926), 205. The war-chest of gold coins at Spandau had simultaneously been increased by over 70 per cent., but that, since it was a permanent hoard, has no particular bearing on dates.

[2] e.g. Moltke's letter to Conrad of 10 February 1913 (*Die grosse Politik*, xxxiv. 352, translated in Dugdale's *German Diplomatic Documents*, iv. 160).

[3] Baron Conrad von Hotzendorf, *Aus meiner Dienstzeit*, iii (1922), 670.

significant that till then he had not been precisely told) how long Moltke's campaign against France would last, before he could join Austria with large forces against Russia. The answer was: Six weeks

Anglo-German negotiations for the Mesopotamia treaty were then nearing completion between Grey and Lichnowsky. Behind them the Berlin foreign office still nursed the hope that Great Britain might stand out of the struggle, as Napoleon III had stood in 1866. 'On our side', Moltke told Conrad, 'I am sorry to say they persist in awaiting a declaration from England that she will be neutral. That declaration England will never give' The general staff disagreed here with the foreign office. Intending under the Schlieffen Plan to violate Belgium comprehensively, they felt sure that Britain must come in, and had made their calculations on that footing [1] They believed the war would be too brief for her blockade to tell; while their view of her small expeditionary force is sufficiently shown by their instruction to the German admiralty in August not to risk any vessels trying to stop it.

France and Russia, not knowing what was intended about Belgium, felt less sure than Moltke that the German foreign office would fail in its wooing. The intimacy between Grey and Lichnowsky alarmed them. Neither during the London Ambassadors' Conference nor later in the Liman crisis had they received from Great Britain all the support which they expected. Partly to assuage their uneasiness, King George, when in April he paid a state visit to Paris, took Sir Edward Grey[2] with him The meeting was extremely cordial and showed the Ententes to be still in vigour. To suggestions from Paris and St Petersburg, that they should be turned into Alliances, Grey opposed a firm negative But he accepted (subject to the approval of the cabinet, which in due course followed) a proposal put to him by the French foreign minister, Doumergue, that Russia should be informed of the military and naval arrangements between France and England, and that an Anglo-Russian naval convention might be negotiated on parallel lines The negotiations could not, for geographical reasons, have much naval value;

[1] General H J von Kuhl, *Der deutsche Generalstab in Vorbereitung und Durchführung des Weltkrieges* (1920), 189 'Wir rechneten', says Kuhl, 'unbedingt mit England als Feind'

[2] Grey as foreign secretary had never left England before.

their significance was as a gesture. Begun in May, they were kept very secret, and had not been completed when the war broke out. But as confidential correspondence between the Russian Embassy in London and its foreign office in St. Petersburg was regularly communicated to the German government by an embassy official, Berlin soon became aware of their inception. The news synchronized there rather unfortunately with an anti-Russian war scare, the pretext for which was a proposal put before the Duma to raise the Russian peace effectives from 1,240,000 to 1,700,000 in answer to the German increase. The scare, wrote Bethmann-Hollweg to Lichnowsky (16 June 1914), had hitherto been confined to 'extreme pan-Germans and militarists', but 'His Majesty (this is *very private*) has now identified himself with this school of thought'

At the end of that May Mr. Wilson, who had been rather over a year in office as President of the United States, sent his personal confidential agent, Colonel House, to Berlin to interview the Kaiser and the heads of his government regarding the possibilities of an international peace pact. House, who was a keen cool observer, saw all the leading personalities there; and then, travelling via Paris, had similar interviews in London. The record of his experiences is very informing. In Germany during the last days of May and the first of June he found the 'militaristic oligarchy' supreme, 'determined on war', and ready even to 'dethrone the Kaiser the moment he showed indications of taking a course that would lead to peace'. House's reaction to what he saw and heard was one of sheer consternation. Reporting it in London, he 'could talk of little except the preparations for war, which were manifest on every hand'.[1] But when he discussed his pact with Asquith or Grey or Lloyd George,

'the difficulty was that none of these men apprehended an immediate war. They saw no necessity of hurrying about the matter They had the utmost confidence in Prince Lichnowsky, the German Ambassa-

[1] Burton J Hendrick, *Life and Letters of Walter H Page* (1922), i 296, 299. This impression of Colonel House's was not in the least unique. The fever of German war-preparation was far too intense to be hidden on the spot, and the present writer heard the same from other good observers One of them, Mr George Renwick, then the very able Berlin correspondent of the *Daily Chronicle*, pointed out to him privately as early as December 1913, that the date on which all signs clearly converged was the beginning of the following August. But Mr. Renwick's editor, who was in frequent and reassuring contact with the attractive Kühlmann, viewed his correspondent's evidence much as Asquith and Grey viewed House's.

dor in London, and von Bethmann-Hollweg, the German Chancellor. Both these men were regarded by the Foreign Office as guarantees against a German attack; their continuance in their office was looked upon as an assurance that Germany entertained no immediately aggressive plans. Though the British statesmen did not say so definitely, the impression was conveyed that the mission on which Colonel House was engaged was an unnecessary one—a preparation against a danger that did not exist.'[1]

Here is indeed a most valuable record of the mind of British statesmanship on the eve of world-catastrophe. In the matter of judgement it was astray—chiefly through its natural and habitual but quite erroneous assumption that a German chancellor was tantamount to a British prime minister.[2] Bethmann-Hollweg, a weak man in a very weak position, was not really a 'guarantee' for anything But on the moral side the British ministers showed well. Their sincere 'will to peace' could not be mistaken Colonel House, and through him President Wilson, were always afterwards aware that, whoever had been the war-mongers, the British were not

By midsummer all the stars in their courses worked for the Central Powers With a strange simultaneity Great Britain and France appeared temporarily paralysed together—the one by the climax of Carsonism,[3] the other by the feuds culminating in the Caillaux-Calmette murder The only thing lacking was a *casus belli*, and a few days later that too was supplied.

On 28 June the Archduke Francis Ferdinand, heir-apparent to the crowns of Austria and Hungary, was murdered by Serb irredentists at the Bosnian capital, Serajevo. The assassins were Austrian subjects, but their conspiracy had been hatched on Serbian soil. Few tears were shed either in Vienna or in Budapest for the Archduke, who had been extremely unpopular with both the dominant races in the Monarchy. But it was decided to utilize his murder as the pretext for attacking Serbia The first thing was to get Germany's approval; and for this the aged Emperor Francis Joseph wrote an autograph letter to William II On 5 July, just a week after the crime, the Kaiser answered promising his full support. No doubt it was the reply expected;

[1] *Ibid* 298 Cp also Prof. C Seymour, *The Intimate Papers of Colonel House*, i. (1926), c. 9, especially pp 267–70

[2] See below, Appendix C, section 2

[3] For the impression made by Carson's movement on Berlin see J W Gerard, *My Four Years in Germany* (1920), 91

for only eight months earlier (26 October 1913) when discussing Serbia with Count Berchtold, the Austro-Hungarian foreign minister, he had himself suggested the bombardment and occupation of Belgrade, and concluded: 'you may rest assured that I stand behind you, and am ready to draw the sword whenever the lead you take makes it necessary'.[1] He was due to start next day on his annual cruise in Scandinavian waters, and was careful not to arouse suspicion by changing his plans. But before he went, he summoned the chiefs of the war office and admiralty to Potsdam, and warned them of the coming danger

Nobody indeed in Vienna or Berlin could have desired a better jumping-off ground for the decisive war. A Serbian issue suited Vienna, because it united Magyars and Austrian Germans A Serbian regicide issue was particularly good, because it revived the strong prejudices felt against Serbia in England and elsewhere on account of the murder of King Alexander in 1903. These were good points for Berlin, too, but still better was the fact that the issue was Austro-Russian and not Germano-French. The German general staff could trust its own people much better than its Allies, and it was far preferable that Germany should be in the posture of fighting for Austria against the dragon of Slavdom than that Austria should be in the posture of fighting for Germany. Viewing it all round, the *casus belli* afforded was so marvellously trim and timely, that it would have been a miracle if those who had loaded their weapon for the beginning of August had been kept from using it to pull the trigger

At first there was no hurry The occasion had been slightly premature After William II had given his *carte blanche*, Austria hid her intentions for eighteen days. Then events moved swiftly as to a time-table. On 23 July Vienna's ultimatum was presented at Belgrade. It was framed as prelude to a declaration of war 'I have never before', said Grey to the Austrian ambassador, 'seen one State address to another independent State a document of so formidable a character'[2] It was launched with only a 48-hour time-limit, and the other Powers were not officially apprised till the next day Moreover, a moment had been

[1] The record of this very important conversation will be found in *Oesterreich-Ungarns Aussenpolitik*, vii 512–15 The reference to Germany's sword clearly went beyond diplomatic support, and implied acceptance of a European war Mr Spender's comment is deserved 'In the whole series of documents there is none which may more justly be called fatal' Unless the reply to Francis Joseph may.

[2] British White Paper (Cd 7467 of 1914), No 5.

chosen when the French President and prime minister were at sea returning from a visit to Russia, and would not reach Paris for five more days. Urged on all sides to be submissive, Serbia (25 July) bowed to the rigours of the ultimatum on all but two points, offering to refer even those to the Hague Tribunal or the decision of the Great Powers. It was, as the Kaiser wrote three days later to his foreign secretary, 'a capitulation of the most humiliating character'. But Austria immediately rejected it, broke off relations, and began mobilizing a portion of her army.

A stroke of singular good fortune befell Great Britain at this juncture. In the previous March the strain on the budget had led to a decision that there should be no naval manœuvres, but instead (which was much cheaper) a 'trial mobilization'. Accordingly a vast naval concentration met at Portland in the middle of July, other ships being mobilized at their home ports. On the 24th they began to disperse; but only minor craft had gone, when on the 26th, after the rejection of Serbia's reply was known, Prince Louis of Battenberg, the first sea lord (on his own initiative, promptly endorsed by Churchill), stopped demobilization The result was that Great Britain faced the danger from the outset in a state of more immediate naval preparedness than she had ever attained before, and the indecisions of a divided cabinet were not complicated by questions about ships

This is not the place to trace or theorize the famous criss-cross of intense negotiation which went on between the Great Powers from the morrow of the Austrian ultimatum to the first declaration of war against a Great Power, which was that of Germany against Russia on 2 August. To the question 'Whose fault was it?' three answers have at different times and places been fashionable. That given during the war on the side of the Central Powers was· 'Russia's; she mobilized first.' That given at the same time on the side of the Entente countries was: 'Germany's; she deliberately blocked all efforts to stop Austria, till the die was cast' (this view lies behind the famous 'war-guilt' clause in the Treaty of Versailles). And thirdly, since the war ended, a theory has been developed (by German erudition in the first instance), that the culprit was Austria-Hungary, who wilfully, it is argued, ran down the steep place, dragging an innocent and reluctant Germany after her. This thesis benefited, perhaps, at the start from the circumstance that Austria-Hungary

no longer exists; so that blaming her presented the conveniences found in blaming a dead person [1]

Cases for each of these views are not difficult to construct; but their foundations are all somewhat in the air The earthy fact was that Germany had at enormous expense been keyed-up and prepared, as no nation ever equally was before, to fight a war at that particular time, and that nobody, not even the Kaiser, durst baulk the military chiefs of the opportunity offered them. Hence the unreality of Bethmann-Hollweg's position throughout. It was not till 29 July that he first, in firm language, insisted at Vienna that Austria must exchange views with Russia. But already on the previous day Austria had declared war on Serbia and bombarded Belgrade—a step which, taken as it was without any agreement with Russia as to its limits, was bound to unchain (as in fact it did) sequences of mobilization and counter-mobilization leading unescapably to war. After that the military chiefs had little reason to fear the effect of such language by the chancellor; before that he never used it. The same is true of the Kaiser's peace-making telegrams to the Tsar. The first was not sent till 10 45 p m on 28 July.

Now this view has a direct bearing on the question of Great Britain's attitude during the crisis. As early as 24 July the Russian foreign minister, Sasonov, pressed strongly that Great Britain should 'proclaim her solidarity with Russia and France', and join in a triple stand against Austria's action Six days later the French President, Poincaré, urged the same policy. Apart from the plain motives of self-interest, which would prompt France and Russia herein, their case rested on the assumption that Germany was willing, with Austria, to fight the Dual Alliance, but afraid to fight the Dual Alliance plus Great Britain. Failure to take timely advantage of this alleged German fear is still often reproached to Grey as a signal and disastrous blunder on his part. We know now, however, that so far as the German military chiefs were concerned no such fear existed. They were expecting to fight all three Powers. If, therefore, theirs was the war decision, Grey by acting as Sasonov and Poincaré urged would not have arrested it for a moment.[2] And when he had

[1] The most elaborate pleading for the third view in English, perhaps, is Professor S B. Fay's two-volume *The Origins of the World War* (1929) An early and condensed but able presentation of the case against it is Asquith's in *The Genesis of the War* (1923)

[2] This argument does not mean that the German chancellor may not have hoped

done so and Armageddon had followed notwithstanding, there would have appeared no answer to the criticism that his plunge had made Russia and France more bellicose and forced Germany to fight to break the 'encirclement'.

But the British foreign secretary was anyhow in no position so to act[1] The cabinet behind him was paralysed by disagreement; and the majority in it represented a much greater majority of active liberals in the country, who might not unfairly be described as pro-German and anti-French.[2] For years these elements, who had little sense of the realities beneath the surface of Europe, had been denouncing Grey for 'dragging Great Britain at the heels of France and Russia'. To seek their backing for a threat of war to help Russia save Serbia would have been a quite impossible proposition. Grey's line, if the country was to support it, had, as between the Dual and Triple Alliances, to be as non-partisan as possible He therefore fell back on the method by which he had saved the peace of Europe in the previous Balkan crisis. He suggested, first on the 24th and more definitely on the 26th, a London Conference at which through the medium of their ambassadors the immediately disinterested Powers—Germany, France, and Italy—could get together with him to smooth out the Austro-Russian difficulty Had the Central Powers wished to obtain Austria's satisfaction against Serbia by agreement, the plan might well have appealed to them; for London had yielded results very favourable to their side before. But, though accepted

to divert England from the war, until, as happened to Napoleon III in 1866, it was too late for her to come in. Relying on such diverse factors as Carsonism, Lichnowsky, and the Germanophile influence of the City, he might even feel sanguine of doing so. But to undeceive him earlier could not have averted the war; since his part in the decision was never much more than that of the fly on the wheel

[1] C P Scott, for instance, of the *Manchester Guardian*, who was then probably the most influential liberal in the country outside the cabinet, urged on ministers on 27 July exactly the opposite policy 'I insisted that the only course for us would be to make it plain from the first that if Russia and France went to war we should not be in it' (J L. Hammond, *Life of C P. Scott* (1934), 178) Lloyd George had assured him that same day that 'there could be no question of our taking part in any war in the first instance He knew of no Minister who would be in favour of it'. The chancellor of the exchequer did, however, contemplate 'our going a certain distance with France and Russia in putting diplomatic pressure on Austria Then if war broke out we might make it easy for Italy to keep out by, as it were, pairing with her' (ibid 177) According to Lord Morley's *Memorandum on Resignation* (which, however, is too vague in memory about dates and sequences to be a wholly reliable authority) Grey was moved by Sasonov's words to broach his policy in cabinet, but was there at once met by a numerous opposition, led by Morley himself (*Memorandum*, 1-2)

[2] See Appendix C, section 3.

by Italy and France, the project was extinguished on the 27th by Germany's refusal.

After 28 July the question for Great Britain increasingly became, not how she could stop the war, but what she should do when it broke out. On the 29th Grey warned both the German and French ambassadors—the first not to count on the neutrality of Great Britain, the second not to count on her intervention. The same evening, after a Crown Council at Potsdam, the German chancellor made a direct bid for British neutrality.[1] He offered a pledge that no part of France should be annexed (though her colonies might be); that Holland's neutrality and integrity should be respected by Germany, and that, while 'it depended upon the action of France what operations Germany might be forced to enter upon in Belgium', yet 'when the war was over Belgian integrity would be respected, if she had not sided against Germany'. These terms, which pointed both to the stripping of France and the violation of Belgium, Grey emphatically rejected, while still appealing to Germany to co-operate for peace. On the 30th the British cabinet for the first time considered the problem of Belgian neutrality; and on the same day the French ambassador, referring to the Anglo-French exchange of letters in November 1912 and the joint discussion there provided for in the event of a crisis, inquired what the British government proposed to do about it Grey asked twenty-four hours' delay to consult the cabinet; but on the 31st he had to report that it was still unable to 'give any pledge at the present time'. Later that day Germany, on hearing that Russia mobilized, proclaimed *Kriegsgefahr* (a state preliminary to mobilization), and at midnight sent a twelve-hour ultimatum to St. Petersburg demanding that the Russian mobilization should stop On 2 August she declared war against Russia, and on 3 August against France.

Meanwhile two urgent issues of action or abstention confronted the British cabinet. As between France and England there arose the problem of fleets. The Channel, it will be remembered, had been relegated by the French to the British navy. It was therefore physically possible, if Great Britain remained neutral, for the German fleet to steam unopposed through the Straits of Dover, bombard the French coast, and perhaps land troops in rear of the French forces But such operations would not only

[1] British White Paper (Cd. 7467 of 1914), No. 85

raise for Great Britain a question of moral obligation; conducted, so to say, on her doorstep they would, with the resultant French mine-laying, be very injurious to herself. After long debates on the afternoon of 1 August and the morning of the 2nd, Grey was authorized to inform the French ambassador that the British fleet would not permit the German fleet to operate in these waters. The step, though grave, was less so than has often been suggested It certainly did not, as Loreburn tried afterwards to argue, 'irrevocably commit' Great Britain to war with Germany For there is no reason to suppose that the latter would have demurred to it She had based no plans on this back-door into France, knowing that it could not be used if Britain entered the war; and therefore she would have lost nothing by consenting to abstain from it, so long as Britain remained out

The other issue was Belgian neutrality. Great Britain was one of its guarantors under the Treaty of 1839. She had thus a right to defend it, though not in all circumstances an obligation It was, however, deeply rooted in her national interest For centuries she had been concerned to prevent the Low Countries from falling under the sway of a contiguous Great Power. That was why Belgium, when made a state, had been neutralized—a policy of which Palmerston was the originator. Gladstone in 1870 had taken special steps to safeguard it,[1] and his temporary treaties with France and Prussia formed a ruling precedent. But as he proposed them after war had broken out, there was no precedent for acting while peace lasted. Even so it is surprising that the Asquith cabinet never considered the topic until 30 July. At that time most of its members were against doing anything. Morley,[2] an opponent, records the discussion as 'thin and perfunctory', and Asquith in his cabinet report that day to the king clearly indicates its non-committal outcome.[3] It has been suggested that Grey might have averted the war by announcing earlier that Great Britain would take arms against a violator. But he could not have announced such a policy down to 2 August, because something like half the cabinet were opposed to it.

It would not have availed if he had. The German general staff, as noted above,[4] in committing themselves to a plan which

[1] See above, pp. 3–4, and below, Appendix C, section 4.
[2] *Memorandum on Resignation* (1928), 3
[3] J. A. Spender and Cyril Asquith, *Life of Asquith*, ii. 81.
[4] p. 483.

involved violating Belgium, had foreseen the certainty of Great Britain's intervention and discounted its consequences. They were not going to call off their war on her account. Nor were they going to change their plan. They had, in fact, no other,[1] and dispositions, which involved mobilizing and moving several millions of men at the highest possible speed from the moment of war's outbreak, could not possibly within a few days be worked out afresh on a totally new basis, even by the best staff in Europe.

On the 31st Grey inquired of France and Germany, whether they would respect Belgian neutrality, and of Belgium whether she would defend it. France and Belgium sent affirmative replies, but Germany objected that any answer would throw light on her strategy. On 1 August (Saturday) the cabinet authorized the foreign secretary to say that

> 'The reply of the German Government is a matter of very great regret, because the neutrality of Belgium does affect feeling in this country If Germany could see her way to give a positive reply as France has done, it would materially contribute to relieve anxiety and tension here; while, if there were a violation by one combatant while the other respected it, it would be extremely difficult to restrain public feeling.'

—a formula which shows the cabinet still unready to declare violation a *casus belli.* At noon that day Germany's ultimatum to Russia ran out, and war between those countries virtually began. No one doubted that it entailed war between Germany and France. But the British government and nation were still divided, and to an alarming extent on party lines, the liberal newspapers crying for neutrality and the conservative for war. Inside the cabinet the chief advocates of intervention were Asquith, Grey, and Haldane (all formerly associated with Lord Rosebery) and Churchill (an ex-conservative); while against them stood at least ten radical stalwarts, with Lewis Harcourt, old Sir William's son, pulling the wires. And there were other factors. the bankers and financiers of the City strong against intervention, and conservative M.P s much less

[1] Bethmann-Hollweg (*Betrachtungen zum Weltkriege*, 1 (1919), 166) is explicit on this 'Unsere Militars hatten, nach meiner Kenntnis nach langem, nur einen Kriegsplan,' i e. 'Our military men had, as I had long been aware, only one plan of campaign' The English version by Sir George Young (*Reflections on the World War* (1920), 146) seriously mistranslates this sentence.

decided for it than their newspapers.[1] But on Sunday morning, while the cabinet were debating whether to give France the assurance about the Channel, a letter from Lord Lansdowne and Bonar Law reached the prime minister, pledging them and all the colleagues whom they had been able to consult to back the government in supporting France and Russia.[2] This sudden reinforcement doubtless helped the interventionists to carry their point regarding the Channel, though the cabinet was nearly split in the process. Burns notified his resignation, and about nine other dissidents[3] lunched together to concert further resistance. When the cabinet met in the evening, however, the opposition, as it now was, began to crumble. News had come that Germany had violated Luxemburg, and this, though not in itself held very serious, pointed to the imminent violation of Belgium, across which all but one of the outlets from Luxemburg ran The cabinet now agreed to adopt Gladstone's principle of 1870, that a 'substantial' violation of Belgian neutrality would compel British action Burns and Morley resigned, as next day did Simon and Beauchamp; who, however, were afterwards induced to come back.

That same evening a twelve-hour ultimatum from Germany, which for four days had lain at her Brussels legation awaiting release, was served upon the Belgian government, demanding passage for the German armies. Led by their king, the Belgians resolved not to yield, and next morning (3 August) returned a dignified refusal The news speedily reached the British government, and King Albert telegraphed an appeal to King George, but for diplomatic intervention only, care was taken not to ask for military aid until actual violation had occurred. In the afternoon before parliament in a memorable speech Grey argued the case for intervention He maintained that the Entente had never been an alliance, read the letters exchanged between himself and M Cambon in 1912; and claimed that parliament was, as he had always promised that it should be when the time

[1] Lord Grey, *Twenty-Five Years*, i 337, records that Bonar Law earlier in the week doubted whether the party would be 'unanimous or overwhelmingly in favour of war', unless Belgian neutrality were involved

[2] The fullest account of how this letter was written, and of what preceded and followed it on the conservative side, is that given by Sir Austen Chamberlain, a principal mover in the matter, in his autobiographical *Down the Years* (1935), c 6.

[3] Lord Morley, who was one, enumerates in addition 'Lord Beauchamp, Simon, Lloyd George, Harcourt, Samuel, Pease, McKinnon Wood (not sure about Runciman)' *Memorandum*, 15.

came, unfettered in its decision. Nevertheless for many years they had had a friendship with France; and 'how far that friendship entails obligations, let every man look into his own heart and his own feelings, and construe the extent of the obligation for himself'. He announced and explained the Channel guarantee to France; and then turned to the question of Belgium. Here the house went strongly with him, and what he might have found a hard task became an easy one.

Bonar Law announced the support of the unionists, and then a quite unexpected thing happened: Redmond, rising from the Irish benches, announced his. It was an act of signal courage. The inquest on the victims of Bachelors' Walk was being held that day, home rule was still not passed; and the Amending Bill, which was to have been introduced in the commons on 30 July, had been postponed for the war-crisis. He took his political life in his hands. Through tragic ill-faith in the war office and the persistent blundering of British statesmen, it cost him dear in the sequel. But it is difficult to overestimate what he achieved for the cause of Belgium, Great Britain, and France. By bringing the Irish into the war as free men, he incalculably stimulated the unanimity of the Dominions, and above all he rendered possible from the first the moral support of the United States. After him from the labour benches spoke Ramsay MacDonald sounding the first notes of dissent. Formally this was the voice of the party, uttered through its elected leader; but in fact, as soon became known, it was only that of a small though distinguished minority in it.

While parliament sat, a war council was held. Haldane and Grey the night before had secured from Asquith (who was still war minister as well as premier) his consent to mobilization. At 11 that morning Haldane went to the war office as Asquith's deputy, and himself put through the orders for the army, the reserves, and the territorials.[1] Thus the creator of the Expeditionary Force was also the statesman who caused it to be mobilized in time, and therein he rendered the nation a service comparable to that of Prince Louis of Battenberg in stopping the demobilization of the fleet. Neither service was made publicly known; and it is lamentable to record, that not long after, when the spy-mania newspapers were looking ignorantly about for 'pro-Germans' to hound down, these two men, for such German

[1] Lord Haldane, *An Autobiography* (1929), 274–7

connexions as each had, were selected as victims, and before the war was ten months old the nation had been deprived of the services of each of them. At the war council of 3 August, Haldane urged sending abroad all the six infantry divisions of the Expeditionary Force. Sir John French, who was to command, supported him, but the rest of the council (which included Lord Roberts and Lord Kitchener) were afraid to send more than four, and that decision was unfortunately taken.[1]

The sands of peace now ran out fast. When the house of commons met on 4 August, Asquith read three telegrams. One gave Germany's rejoinder to Belgium's reply—a threat of force The second announced the invasion of Belgium by German troops that morning The third was a last appeal from the German government to condone Belgium's violation in return for an undertaking not to annex her territory The prime minister stated that in reply the British government had renewed its demand for assurances that Belgian neutrality would be respected, and had attached a time-limit expiring at midnight

'The House', Asquith recorded in his diary, 'took the fresh news to-day very calmly and with a good deal of dignity'[2] Therein it mirrored the nation London, which like other monster capitals can always produce at its centre enough idlers and frothy persons to form a mob, exhibited, it is true, some noisy scenes in Whitehall and Downing Street. But the general demeanour, through East End and West End alike, was utterly different; and in the rest of the country grave feelings alone prevailed Very few wished the nation to enter the mêlée, but very few believed that it could any longer keep out.

At 11 p m (midnight in Berlin) the time-limit expired The British ambassador, having met with a negative, had applied for his passports earlier.

The disaster which had befallen Europe had its roots since 1870 in the giant expansion and uncontrolled ambition of the new Germany. Bismarck had sown the seed, through his memorable triumphs for militarism and unscrupulous efficiency; but between 1871 and 1890 he was very careful not to water it After his fall it grew apace, unchecked by the statesmen and encouraged by the Emperor. In the many-sided quick-changing

[1] Ibid. 278.
[2] H H Asquith (Lord Oxford), *Memories and Reflections* (1928), ii. 21.

displays of the brilliant William II two features alone never failed – arrogant megalomania and an instinctive preference for methods of violence. These, it is not unfair to say, became the national vices of pre-war Germany; and they made her an object of alarm to every leading nation save her Austrian ally

To admit this is not to imply that the world's peace would have been assured, could any single Power have been eliminated from its reckonings. Mankind lived under a system of 'international anarchy', of which more than one Power from time to time tried to take aggressive advantage. All of them wanted to expand; and the very doctrines which had been evolved to control that tendency (e g. the doctrine of 'compensation') often threatened as much danger as they averted. Nevertheless it was the attitude of post-Bismarckian Germany which at this time dominated the international stage, and shaped the issues that brought catastrophe.

In the case of Great Britain the reactions of policy have been well summarized by a great Austrian scholar:

> 'It was quite obvious to British statesmen, during the decades that preceded the World War, that England must retain her supremacy at sea, that she could not permit any Continental Power to establish a hegemony in Europe and by so doing upset the European Balance of Power in a sense contrary to British interests, and finally, that she could not allow Belgium to pass into the hands of the strongest Continental Power. Since the *fear* that Germany entertained such plans increased from year to year, British statesmen held it to be their duty to make all possible preparations to be ready to defeat such plans if Germany should one day seek to put them into operation. Hence the increase in naval armaments, the successive agreements with their allies, and hence also their endeavours to win for England new friends'[1]

The reason for the Ententes could not be better stated But it ought to be added that while successive prime ministers, foreign secretaries, and foreign office officials knew these things, the majority of members of the houses of commons elected in 1906 and 1910 were almost totally unalive to them. Before 1906 the relatively aristocratic parliaments were largely recruited from families with a traditional interest in foreign affairs. Palmerston or Disraeli debated such topics before a knowledgeable assembly.

[1] A F Přibram, *England and the International Policy of the European Great Powers, 1871–1914* (1931), 149.

After 1906 it was not so, and Grey worked under handicaps in this respect shared by none of his predecessors.[1]

Professor Přibram adds that while no British statesman desired the war, many, especially in the foreign office, held it inevitable, but Lansdowne and Grey did not. That also is true; and in so far as Grey during nearly nine years of office clung to the hope of averting war and then failed to avert it, he may, of course, be ticketed as a failure. In part he was the victim of his virtues; for just as the Campbell-Bannerman government's generously meant moderation in shipbuilding only encouraged German statesmen to think they could outbuild Great Britain, so the honourable and sincere attempts, which Grey made between Agadir and August 1914 to conciliate Germany and deprive her of any excuse for a sense of grievance, helped to foster the dangerous illusion that Great Britain would not stand by France. But at all times it was—and he knew it—his duty not only to seek peace, but to prepare against war. In the shadow of all that Great Britain suffered through entering the European war, men still often criticize as 'entanglements' those policies of Grey's, which helped to bring her in. They do not ask themselves what would have happened had she stood out. But the event made it fairly certain that in that case Germany would have conquered Europe; and when she had done so, Great Britain would have been a victim without hope or resource. If, as is the strong presumption, nothing that a British statesman could do would have averted eventual war between his country and Germany, then credit is due to that statesman who ensured that when Great Britain, France, and Russia had to fight for their lives, they stood together to do so, and did not wait to be overwhelmed piecemeal.

[1] See Appendix C, section 3.

XIV
ECONOMICS AND INSTITUTIONS 1901–14

ONE remaining set of censuses, that of 1910–11, completes the picture already drawn[1] of the divergent growths in population of the western Powers. Its results were:

United States (1910)	91·7 millions.
Germany (1910)	64·9 ,,
United Kingdom (1911)	45·3 ,,
Great Britain, 40·8 millions	
Ireland, 4·39 millions	
France (1911)	39·6 ,,
of French nationality, 38·4 millions	
Italy (1911)	34·6 ,,

The falling behind of France appears here more marked than ever. Italy is seen overhauling her, but at a rather slow pace, due to the exceptional volume of Italian emigration.

The accompanying table of large towns, though the freaks of municipal geography render it misleading in some details (e.g. Charlottenburg and Neukölln are counted apart from Berlin, West Ham from London, and Salford from Manchester),

Large Towns, 1910–11

	Over 1 million	*Between 1 million and 300,000*	*Between 300,000 and 100,000*	*Total*
United States . .	3	16	41	60
Germany . . .	1	11	35	47
United Kingdom . .	1	10	33	44
France	1	2	12	15
Italy		5	8	13

yet shows very significantly the difference in urbanization, and therewith in industrial power and wealth, between France and Italy, on the one side, and the three great coal-producing countries on the other. Another comparison worth recording is that between densities of population. The United States cannot usefully be brought in, but for the rest the figures were: United Kingdom, 373 per square mile; Italy, 313; Germany, 310; France, 189. The parallelism in the first three is noticeable, but for the United Kingdom rather misleading, for Eng-

[1] See above, pp. 102–3, 269–70.

land and Wales, in which 79·5 per cent. of its population lived, carried 618 persons per square mile.

The next accompanying table shows for the United Kingdom the continued development in regard to births and deaths.[1] The noticeable points are again the gradual but uninterrupted fall of the birth-rate, due to the spread of birth-control, and the fall

Year	*Births per 1,000*	*Deaths per 1,000*	*Natural increase per 1,000*
1900	28 2	18 4	9 8
1905	26 9	15 6	11 3
1910	25·0	14·0	11 0
1911	24 4	14 8	9 6
1912	24 0	13 8	10 2
1913	23 9	14 2	9 7

of the death-rate, which in some years more than balanced it The diminution of deaths at this stage occurred chiefly among young children. For a great part of the nineteenth century the infantile death-rate had been stationary. In each of the three decades which together bridge 1841–70, it averaged 154 per thousand, and the fluctuations between were not very great. But in the decade 1901–10 the average dropped to 127, and in the last year of it the figure was 105 To save life at infancy's end was the best numerical compensation for a falling birth-rate, since it did not upset the age-composition of the population. But from the eugenic point of view the compensation was imperfect; for the babies saved were, broadly speaking, those of the weaker stocks in the population, while the babies unborn were those of the stronger. Some figures published in 1907 emphasized the last point The Hearts of Oak Friendly Society, then the largest centralized provident society in Britain, had a membership of 272,000 men recruited all over the kingdom from the thriftiest class of better-paid artisans, skilled mechanics, and small shopkeepers. It paid a 'lying-in benefit' for each confinement of a member's wife. From 1866 to 1880 the proportion of lying-in claims to membership had risen slowly from 2,176 per 10,000 to 2,472. From 1881 to 1904 it continuously declined, till in the last year it touched 1,165—a drop of over 52 per cent [2] Apparently in this large sample of the thriftiest working-class stocks the birth-rate during twenty-four years had been halved.

[1] See above, pp. 103–4, 270–2.
[2] Sidney Webb (Lord Passfield), *The Decline in the Birth Rate* (1907), 6–7.

Emigration flowed very freely between the South African and European Wars; and partly owing to the official guidance, which Chamberlain had first made available for emigrants, a much larger proportion went to the British Dominions. During 1891-1900 they had received only 28 per cent of the total; but during 1901-10 the proportion was just double, i.e. 56 per cent. In the year 1911 it rose to 80 per cent, remaining very high down to the War; while in the three years 1911-12-13 the gross emigration totals reached record figures. Most of the residue still went to the United States, but at the same time American farmers were moving into Canada's prairie provinces —over 120,000 Americans migrated to Canada in the year ending March 1911. As a consequence of all these tendencies the 1911 census showed far bigger Dominion increments than ever before. Canada was up to 7·2 millions, Australia to 4·9, New Zealand at last crossed the million mark, and the persons of European descent in South Africa increased to 1·11 millions. A better distribution of the white population within the Empire seemed at last on the way; and it was a peculiar misfortune that the intervention of the European War cut short the process.

At about the time when Queen Victoria died, the growth of the country's aggregate income—which in spite of cyclical trade movements had been steadily increasing in proportion to population, decade by decade, throughout her reign—came to something like a stop; and for the rest of the pre-war period 'barely kept pace with the diminishing value of money' [1] Surveying the period 1880-1913, Professor Bowley has calculated that the national dividend increased more rapidly than the population, so that average incomes in 1913 were quite one-third greater than in 1880 But the increase was nearly all before 1900.

'Statisticians writing at or before the date of the beginning of the Fiscal Controversy (1902) could reasonably dwell with a certain satisfaction on the progress that had been made, and the slackening in the years that followed was masked by rising prices and years of good trade; but before the War it had become evident that the progress of real wages was checked, and it appears now that this check was not on wages alone.' [2]

Taking 'real' wages in 1880 as 100, he computes their average for the five years 1896-1900 at 132; that for 1901-5 at 133, that

[1] A. L. Bowley, *The Change in the Distribution of the National Income, 1880-1913* (1920), 26. [2] Ibid. 27.

for 1906–10 at 134, and those for 1911, 1912, and 1913, at 133, 132, and 134 respectively. It is a picture of sharply arrested progress, which helps to explain the great labour discontent towards the end of the period

What caused this check to the national productivity and prosperity? The reader who will turn back to pp 275–8 of this volume may there find sufficient to account for much of it. It was impossible that a manufacturing country, which had come to live on exports, should find itself shut out increasingly from market after market without suffering heavily. Granted that it found new markets or developed new lines of manufacture, the changes would take time, and a good deal of capital was apt to be lost in the process. Such losses had grown common in the leading British industries, and explain the support which so many of their chiefs gave in 1903 to Joseph Chamberlain.

But at least two more factors may be traced One was that on which Alfred Marshall, the economist, laid stress in a famous memorandum of 1903 [1] The mischief, as he saw it, was that Britain had lost her 'industrial leadership' The very ease, with which it had been established in the third quarter of the nineteenth century, had bred subsequent lethargy and self-complacency Many of the sons of manufacturers were

'content to follow mechanically the lead given by their fathers They worked shorter hours, and they exerted themselves less to obtain new practical ideas than their fathers had done, and thus a part of England's leadership was destroyed rapidly. In the 'nineties it became clear that in the future Englishmen must take business as seriously as their grandfathers had done, and as their American and German rivals were doing. that their training for business must be methodical, like that of their new rivals, and not merely practical, on lines that had sufficed for the simpler world of two generations ago and lastly that the time had passed at which they could afford merely to teach foreigners and not learn from them in return' [2]

Marshall was by no means the first person to call attention to this At the end of 1901 the then Prince of Wales,[3] speaking at the Guildhall after a tour to the Dominions, reported a widespread feeling there, that England must 'wake up' commercially

The other factor was trade unionism, which, as we saw above,[4]

[1] Printed five years later as a White Paper (No. 321 of 1908).

[2] Ibid., pp. 21–2

[3] Afterwards King George V.

[4] p. 298

had acquired during the nineties quite a new importance in industry. In itself it was a healthy growth. But it early became associated in Great Britain (as in no other European country to the same extent) with a piece of mistaken economics (sometimes called 'ca' canny' and sometimes the 'lump o' labour' theory) —the doctrine that there is only a fixed amount of employment to be had, and that, therefore, the less any worker does, the more there will be for others to do. No one who has studied British trade-union rules can be unaware that the effect of many is to increase the number of men on a job, and so to reduce output per man. Early in 1902 there was a long public argument about it,[1] the employers contending that from about 1900 onwards the tightening of trade-union control had resulted in a definite lowering of British productivity. Some of the complaints were doubtless exaggerated; but it seems significant in retrospect, that the stop in the progress of British productivity did in fact occur at that time [2]

The arrest of growth was concealed somewhat by a marked

Sauerbeck's Index of Wholesale Prices: 1871 = 100

Year	Index	Year	Index	Year	Index	Year	Index
1901	70	1905	72	1908	73	1911	80
1902	69	1906	77	1909	74	1912	85
1903	69	1907	80	1910	78	1913	85
1904	70						

upward tendency in prices. Though never getting back to the level of 1871, they travelled, it will be seen, half the way there. Was this merely a currency change, connected with the high gold output of the South African mines? The post-war reader might assume so, but it seems by no means certain; for the rise was distributed with marked unevenness over different commodities. Thus between 1900 and 1912 tin rose 57·9 per cent., zinc 25 per cent., lead only 2·4 per cent., while copper actually fell 2·9 per cent. Similarly bacon rose 50·5 per cent, but beef 13·8 per cent., and mutton only 4·2 per cent. Generally speaking, agricultural products became dearer; while coal, pig-iron,

[1] Beginning in *The Times* with a series of letters from representative employers in many different trades

[2] As the first Census of Production was not taken till 1907 and the second not till 1924, there is not much statistical material to rely on. In the coal industry, however, where the progress of trade unionism was particularly marked, the output of coal per person per year, which had been 301 tons in the period 1897–9, fell to 289 in the period 1905–7, while in the United States it rose from 497 tons in 1897–9 to 555 in 1904–6.

paraffin, palm-oil, and silk were all cheaper.[1] But the result on balance was that money bought less.

The trade figures from 1905 onwards are somewhat influenced by this tendency. Reduced to the price-level of 1901, the

Trade Figures 1901–13

(in £ millions)

1901	870 5	1905	972 5	1908	1,049 6	1911	1,237·0
1902	877 6	1906	1,068 5	1909	1,094 2	1912	1,343 6
1903	902 9	1907	1,163 7	1910	1,212 4	1913	1,403 5
1904	922 0						

£1,237 millions of 1911 become £1099·8 millions, and the £1,403·5 of 1913 became £1,155·7 millions They are high totals even so. Unemployment, as measured in the returns collected from trade unions by the board of trade, averaged 6 per cent. in the decade 1901–10, as against 5·2 in the decade 1891–1900 But there was no year so bad as 1892, and no sequence of bad years like 1892–3–4 Subsequently in 1911–12–13, which were years of marked inflation, employment became exceedingly good, and the percentages out of work sank to 3·1, 2·3, and 2·6 respectively.

The period was one of much economic controversy, and was punctuated at unprecedentedly frequent intervals by the issue of Blue-books and White-papers supplying official data regarding economic conditions at home and abroad. From the last of these[2] the accompanying table is derived, comparing for the

Increases per cent. 1893–1913

	United Kingdom	*Germany*	*United States*
Population	20	32	46
Coal production	75	159	210
Pig iron	50	287	337
Crude steel	136	522	715
Exports of raw materials	238	243	196
Exports of manufactures	121	239	563
Receipts from railway goods traffic	49	141	146

period 1893–1913 (in some instances 1892–1912) how the world's three greatest industrial countries had progressed under

[1] Cp Sir Leo Chiozza-Money, *The Future of Work* (1914), 204–7.

[2] Accounts and Papers, No 218 of 1914. *Agricultural and Trade Development* (*United Kingdom, Germany, and United States*).

some leading material aspects. Here it is clearly shown that the pace of development in Great Britain had become slower than in America or in Germany. Yet one must remember that these were the leading three; no other large nation moved so fast; and in many ways British industry was far more solidly based than German. It owed nothing to tariffs or government subsidies; the firms engaged in it stood on their own feet. The German economic structure included not a few imposing features, which existed for military or political reasons, and could not be justified on economic grounds. But in Britain enterprises had to pass the test of paying. The national standpoints were different, and the British one, being purely economic, gave on that side better results.

Let us take for example the case of steel. We saw above (p. 277), how in 1896 the German steel output passed the British and thereafter went ahead of it. In 1908 it doubled the British (10·9 million tons as against 5·3 million) Now what did the Germans do with so much steel? They sold vast quantities of it to Great Britain. On what terms? At lower prices than it was sold in Germany. And what did the British do with it? They used it for making machinery, for building ships, for tinplate, and for other industries in which steel is a raw material. This was to their economic advantage. Their shipbuilding, for instance, led the world; and if the Germans, despite subsidies of several kinds, could never really compete with it, one of the reasons was that the British shipyards got their steel cheaper. Shipbuilding is a process of assembling materials; and the building of merchant vessels on the Tyne, the Wear, and the Clyde became thus a process of assembling German materials—not merely the bare girders and plates, but great steel forgings, like propellers and rudders. Indeed if the admiralty had not insisted on British steel for naval ships, it seems likely that the plant and capacity to produce these great forgings might before 1914 have disappeared from Great Britain altogether.

Now industries representing a higher stage of manufacture pay as a rule better than those representing a lower stage. It is more remunerative to build the world's ships than to smelt the steel for them, especially if you are to sell the steel below cost price. On the economic side Britain had the best of the bargain. The compensation to Germany was on the military side. The gigantic steel industry, which she thus uneconomically built up,

proved during 1914–18 a preponderant factor in her war-strength. On the other hand, years of war passed before England could develop a steel output adequate to her fighting needs; and but for the above-mentioned policy of the admiralty she might in the critical early stages have been unable to complete large warships at all. Steel is far from being the only case in which a contrast of this kind can be traced between the British and German pre-war economics. But in studying the years 1901–14, we have primarily before us not the war-time but the peace-time effects In spite of their 'colossal' economic developments, Germans of all classes remained decidedly poorer than Englishmen of the corresponding classes. The health of their business enterprises was much less firmly established. The world's finance ranked London at the top of the scale, and Berlin a long way down. Hence at the latter capital an 'inferiority complex' and a readiness on the part of statesmen to use military pre-eminence for economic ends. Hence also in the press and public opinion of the German commercial classes that attitude of bitter envy towards England, which Tirpitz so successfully exploited.

To the German policy of state subsidies and rebates to industry, the British state as a rule made no reply. There was one notable exception. In 1903 after the Germans had, with three successive ships, won and held the 'blue ribbon' of the Atlantic, it was decided that national prestige warranted state aid to recover it. The government accordingly gave the Cunard company a loan of £2·6 millions at 2¾ per cent. to build two turbine vessels of 25 knots. The results were the *Mauretania* and *Lusitania*, the first of which established a record unapproached in the Atlantic service. On her first trip in 1907 she regained the 'blue ribbon'; and she held it uninterruptedly for twenty-two years, her fastest crossing (4 days, 17 hours, 50 minutes from New York to Plymouth) being made in 1929. The *Lusitania*, a fine vessel but never quite equal to her sister, was destined to be sunk by a German submarine in 1915. Save for a ten years' subsidy of £40,000 a year paid (by Chamberlain's arrangement) to another company to develop direct trade between Jamaica and England, no other grants were made before the War to British merchant shipping. Yet it held its own remarkably, and on 1 July 1914 still comprised as much as 47 7 per cent. of the world's iron and steel tonnage. Germany

came next with 12 per cent.; then Norway and France with 4·5 each, the United States with 4·3, and Japan with 3·9.

The first British census of production, taken in 1907, accounted for about half the wage-earners in the United Kingdom, about 38 per cent. of the home (as distinct from foreign) income,[1] and nearly all the manufacturing industry and mining. Its results took years to digest, and the Final Report[2] appeared so long after that the public never fully appreciated them. The accompanying table shows how limited even in England was the proportion of horse-power to workers employed, and how relatively low was the net value of the output per worker. Electric power was not satisfactorily recorded, but the total capacity of

	Persons employed	*Horse-power employed*	*Net value of output per person employed*
United Kingdom . . .	6,984,976	10,955,009	£102
England and Wales .	5,808,269	9,097,869	£104
Scotland	885,403	1,397,733	£98
Ireland .	291,304	259,407	£78

the dynamos owned by firms (including electric supply undertakings), which made returns to the census, was only 1,747,672 kilowatts, of which only 350,586 were as yet driven by steam turbines About one-eleventh of the gross output was that of establishments which used no mechanical power at all. Taking what were now Great Britain's leading exports, the output of her textile factories had a net value of only £73 per head; that of her coal-mines, £127; and that of 'iron and steel, tinplate, iron tube, wire, shipbuilding, and engineering', £109. Such very low figures deserved more attention than they received.

The census of production, it is true, did not cover a most important part of the activities by which England lived. Foreign and colonial earnings lay outside it. those, e.g. from investments, from banking and discount operations, from shipping freights, or by way of foreign-paid salaries and pensions. In regard to home-produced goods a detailed attempt was made to estimate the increment of value due to marketing; but it is difficult to obtain from the returns a real measure of the value of mercantile as distinct from manufacturing activities. An

[1] A. L. Bowley, *The Division of the Product of Industry* (1919), 31.
[2] Cd. 6320 of 1912-13.

acute writer with wide business experience pointed out not long after,[1] that 'the merchants and warehousemen of Manchester and Liverpool, not to mention the marketing organization contained in other Lancashire towns, have a greater capital employed than that required in all the manufacturing industries of the cotton trade' Within England itself it was (and is) noticeable, that the greater and richer cities were not the manufacturing but the mercantile centres—Manchester, not Oldham; Leeds, not Halifax; Cardiff, not Merthyr Tydfil Something like this characterized England as a whole in her relation to the rest of the world. If she was no longer so much as formerly the world's workshop, she was more than ever its warehouseman, its banker, and its commission agent And these were relatively the better-paid functions.

In productive industry few technological changes of very wide scope came at this stage to the fore. The development of ring-spinning in the United States helped to weaken the position of Lancashire, for as compared with mule-spinning, it made a much smaller demand on the skill of the operative, yet could spin the coarser counts well enough, and so was well adapted for the mills of India, China, or Japan. Coal-cutting machinery was another American invention; it was very little taken up in Great Britain—a fact which partly explains the startling divergence between the outputs per head of American and British miners. Elevators for handling large quantities of grain with a minimum of labour were also American in origin; the first English one was erected in the port of Manchester at the beginning of the century. Yet another American practice was the use of steel framework in nearly all larger buildings. Great Britain had adopted it to a considerable extent in the nineteenth century, and J. F. Bentley's was already an exceptional case when, in order to build for eternity, he excluded steel from the frame of his Westminster Cathedral But from about 1900 onwards the proportion of steel used was much increased, and most buildings were no longer designed to hide its presence like a guilty secret.

In the world's best factory practice the most marked general change was the increased use of electrical power. This grew slowest in the United Kingdom, owing to the high price of

[1] G. Binney Dibblee, *The Laws of Supply and Demand* (1912), 47 See also pp. 50–62, where the point is more fully argued

electricity resulting from the rabble of small inefficient electrical undertakings with which parliament had unwisely saddled the country. The only big industrial region where the difficulty was early surmounted on a large scale was Tyneside. There a number of engineering magnates clubbed together to generate a common supply for their firms; and in this way were able to sell themselves electric power at ⅜*d* a unit, as against figures like 6*d*. and 8*d*. which were common elsewhere. In 1905, when their success was firmly established, a Tyneside syndicate went to parliament with a private bill to enable electricity to be generated under equally favourable conditions for London. All the existing generating stations used by metropolitan undertakers were to be scrapped, and all power supplied at ⅜*d*. a unit from two huge turbine-engined Thames-side stations to be erected at East Greenwich and Fulham respectively. This was on its engineering side a most attractive proposition; but on the political side it encountered fierce resistance, not only from existing companies wedded to their smaller and less economic stations, but from every local authority with an interest in electricity, from the L.C.C down. Consequently the bill was rejected; and in subsequent years attempts by others (notably by the L.C.C.) to obtain similar powers proved no more successful. Parliament declined, in effect, to override local electricity authorities against their will, and the result was to hinder the cheapening of electricity in London and over a large part of the country for nearly a quarter of a century. Only in a few places like Manchester, where the statutory area for electricity was big enough to justify the erection of a sufficiently large station, could electric power be obtained before the War by ordinary British factory owners at rates comparable with the American and German.

But the greatest technological advances during these years were not in industry but in transport. We saw in the nineties the coming of the first electric trams, the first 'tubes', and the early motor-cars. For town streets in general electric trams seemed at the beginning of the twentieth century the perfect vehicle Their speed, cheapness, and cleanness were all in admirable contrast to the only other street transport then widespread, viz. horse-drawn Before the century was many years old almost every provincial city of any size possessed them—mostly in municipal ownership and as a rule on the overhead trolley-

wire system. The L.C.C, when rather tardily it electrified its trams,[1] put in the far more expensive underground conduit system, and thereby helped to create financial difficulties for their future. But all the City and West End remained tramless, and till 1905 the only public street vehicles in the principal London streets were horse-omnibuses averaging but little over four miles per hour. To pass from electrified Manchester or Liverpool to the horse-drawn capital was to go back from a later to an earlier world. In 1905, however, the first motor-omnibuses appeared in London. They speedily drove the horse-omnibuses away, and the monopoly which they enjoyed of the rich and tramless central thoroughfares enabled them to hold their own, though their working costs remained excessive compared to those of trolley trams. The year 1905 was indeed eventful for metropolitan transport; for it also saw the opening of the Bakerloo and Piccadilly tubes, and the partial electrification of the shallow underground railways, till then worked throughout by steam Within a few years local travelling in London became, as it never was in the nineteenth century, really rapid and convenient; but it remained much costlier than anywhere else.

These changes in urban transport had an almost instant effect on housing. They enabled people to live farther from the centres Soon after 1900 a building boom sprang up on the outskirts of towns, and continued till 1910 The resulting movement of population was really a great social phenomenon. Seen in nearly all towns, it benefited the largest most, and London most of all Charles Booth's great survey of the metropolitan working-class had barely completed its last volume, when its account of the distribution of the people became rapidly obsolete The effect on the congested inner slums of east, south, and north London was like the draining of marshes It is true that the movement went by layers, and when Poplar transferred to East Ham, Walworth to Wandsworth, or North Camberwell to Lewisham, the places left vacant might be filled from more central and crowded areas; true also, that the new houses (except those built by municipalities or trusts) took the best-off and not

[1] It began with those in south London, and did not run any by electricity north of the Thames till about the middle of 1905 The northern terminals of the southern lines remained completely disconnected, through the refusal of the house of lords to permit trams over the bridges or on the embankment. The lords maintained this refusal till 1906

the neediest workers. Nevertheless, especially between 1905 and 1910, the net social gain was great. Unhappily from the latter year the building stopped. There may have been several causes, but the one most commonly assigned was the 1909 budget. Builders of cheap small houses, cutting the profit on bricks and mortar to zero, looked to recoup themselves by the increment on land. The budget's threat to this destroyed their confidence. By 1914 overcrowding was again on the increase.

Private motor-cars, though rapidly improving, did not affect as yet the siting of houses. Indeed, save for London motor-omnibuses and taxicabs, the early uses of the petrol-engine on roads were almost entirely luxurious. Cars remained costly; only rich men owned them; and as they dashed along the old narrow untarred carriage-ways, frightening the passer-by on their approach and drenching him in dust as they receded, they seemed visible symbols of the selfishness of arrogant wealth. Few things, for a decade or so, did more to aggravate class-feeling After the 1909 budget set up the Road Board, money became available for tarring thoroughfares; and the dust nuisance, which in many places had grown intolerable, gradually disappeared. The first utilitarian purpose to which cars were widely put was the visiting of patients by doctors. But it was only after the National Insurance Act of 1911 had enriched the majority of practitioners that this use became universal.

The aeroplane was an American invention, developed in France and chiefly by Frenchmen. Neither British nor Germans were concerned in it; but after the events of 1909—the Rheims air meeting and Blériot's crossing of the Channel—the war offices of both countries took it up. By 1914 Great Britain had a few keen army aviators, but had done nothing foreshadowing her future eminence in this sphere. Germany entered the War stronger in the air than any other belligerent

In wireless telegraphy, on the other hand, though the leading inventor was an Italian, Great Britain took the chief part in developing his invention. In 1901 the first transatlantic wireless message was sent from Poldhu in Cornwall to Newfoundland. But the feature in the invention making special appeal to Englishmen was its applicability to ships. For the first time in history a vessel crossing the ocean could maintain throughout her voyage direct communication with other vessels and with the land In the greatest marine disaster of this period—the loss on her

maiden voyage in 1912 of the world's largest ship, the White Star liner *Titanic* of 46,382 tons, through collision with an iceberg in mid-Atlantic—wireless brought a whole fleet of large vessels to the rescue. It is true that they did not reach her before she sank, and 1,635 persons went down with her. But they saved 732, who would else have probably perished in her boats.

Agriculture experienced a kind of revival. That is to say, British farmers, favoured by a small but progressive rise in prices, once more got their business on a paying basis. It was a basis, however, of diminished output from the soil

The accompanying table[1] shows the position in regard to crops as between 1892 and 1912 in the three leading industrial countries The German farmer, of course, was supported by a

Increases (+) *or Decreases* (—) *per cent*, 1892–1912

	Area cultivated	*Wheat*	*Barley*	*Oats*	*Potatoes*	*Rye*
United Kingdom .	−9	−6	−24	−2	+2	No returns
Germany .	+8	+38	+44	+80	+79	+61
U S A .	+47	+37*	+182*	+154*	+160*	+17*

* Figures for 1893–1913

considerable tariff (that on wheat being raised in 1906 from 7*s.* 5*d.* per qr. to 11*s.* 9*d*), and the policy behind it was not purely economic but military Yet his example gives some idea[2] of what the English farmer might have done had the balance between the prices of agricultural and industrial commodities been artificially maintained, not indeed where it stood from 1846 to 1877, but at levels midway between that and the post-1880 balance as determined by prairie production. A second table,[3] based on the figures immediately before the War,

Average Pre-War Production per 100 Acres of Cultivated (Arable or Grass) Land (Figures in Tons)

	Corn	*Potatoes*	*Meat*	*Milk*	*Sugar*
Britain . . .	15	11	4	17½	Negligible
Germany . .	33	55	4¼	28	2¾

[1] Figures from White Paper, No 218 of 1914

[2] He had lower wages to pay, but *per contra* his soil was poorer and climate (on the average) much harsher.

[3] The computation is Sir T. H. Middleton's, *The Recent Development of German*

shows the cases very clearly. Leaving the other items here to tell their own story, attention may be directed to the better showing made by meat than by milk. From the beginning of the century there was a slow upward tendency in the totals of United Kingdom cattle.[1] But the increase in Great Britain was *on* rather than *from* the soil. It is possible to cultivate land as a source of food, whether for man or beast; it is possible also to use it as standing-room for consumers of food grown elsewhere. The latter plan had long been adopted in England for men; it was now increasingly adopted for beasts also Already in 1903 Balfour, when defending as prime minister before a deputation headed by Chaplin the repeal of the Hicks Beach corn duty, argued that for British farmers the purchase of corn as a feeding-stuff was more important than its sale as a crop Of oil seeds (cotton seed, linseed, &c., used for cattle cake) the British imports in 1899 were £6 2 millions, in 1913, £12·3 millions; and other fodder imports increased similarly. It was mainly beef production, not milk, that resulted. Scotland, with her beef breeds, sent increasing numbers of calves and young stores to be raised in England, and the Irish, though they combined more dairying, developed their store cattle trade similarly. Broad English acres, which had been under the plough till the seventies and carried milking herds since, were now turned to beef-fattening. This kind of farming employed less capital and labour per square mile than any other; but a profit could be made on it Sheep between 1901 and 1913 rose from 26·3 millions to 27·6 millions, replacing cattle on the poor pastures, to which so much former arable had fallen down, and pigs, though increasing on the whole, fluctuated violently at short intervals following the price of Russian barley.

Agricultural wages in England and Wales rose very little till 1912, when they were 4 9 per cent higher than in 1900. Next year they jumped to 9 per cent[2] above 1900; which even so was only just over half the rise of the price-index Agricultural

Agriculture (Cd 8305 of 1916) It must be understood that the figures do not indicate the produce of each crop per acre devoted to it, but are obtained by dividing the total tonnage of each product by one-hundredth of the total farmed acreage, exclusive of mountain and waste

[1] In the thirteen successive years 1901–13, the figures (in millions) were 11 4, 11 3, 11 4, 11 5, 11 6, 11 6, 11 6, 11 7, 11·7, 11 7, 11 8, 11 9, 11 9 In most years rather more of the increase was in Great Britain than in Ireland, but the proportion between their cattle populations (about 3 2) remained fairly constant

[2] *17th Abstract of Labour Statistics* (Cd 7733 of 1915)

population continued to decline, and typical rural counties, in spite of large residential immigrations, had fewer inhabitants than in 1851.[1] Farming had ceased to be of any real consequence in the life of the nation, and the days (still so recent) when a good or bad harvest meant a good or bad season for trade in general seemed as dead as Queen Anne.

Next let us look more particularly at the condition of the poorer town classes. During the South African War national attention was drawn to it by the number of recruits rejected on physical grounds. In Manchester in 1899 out of 12,000 men offering, 8,000 were rejected right off, and only 1,200 were accepted as fit in all respects;[2] though the army measurements had just been reduced to the lowest standard since Waterloo. In 1903 an official Memorandum[3] by the director-general of the Army Medical Corps showed that during the decade 1893–1902 some 34·6 per cent had been rejected on medical examination, besides an uncounted number known to be very large, who had not been thought worth medically examining. Following this an interdepartmental committee sat, the evidence before which gives the fullest picture obtainable of the state of things Other important documents for it are the memorable house-to-house study of York, by B Seebohm Rowntree,[4] and many subsequent studies of other towns inspired by its example.

British manual workers at that time fell into three broad divisions. (1) town artisans; (2) town labourers; (3) agricultural labourers The main canker in the nation's life was the condition of the town labourers. Earlier trade unionism had ignored

[1] For every 100 persons living in 1851, there were in 1908 in London, 203, in 84 large urban areas, 282, in 14 rural counties (exclusive of their county boroughs), 95, in the rest of England and Wales, 184 (*Statistical Memoranda and Charts prepared in the Local Government Board*, Cd. 4671 of 1909). One of the rural counties was Devon, where Exeter, Plymouth, and Devonport were excluded, but Torquay, Paignton, Ilfracombe, Exmouth, Sidmouth, &c , were all counted in.

[2] Interdepartmental Committee on Physical Deterioration· Evidence (Cd 2210 of 1904), 124

[3] Cd 1501.

[4] *Poverty A Study of Town Life* (1901) *Unemployment* (1911), by the same author in collaboration with Bruno Lasker, throws additional light Of similar studies made elsewhere, *West Ham* (1907) by E G Howarth and Mona Wilson, *At The Works* (1907—a study of Middlesborough) by Lady (Hugh) Bell, *Norwich* (1910) by C. B Hawkins, and *Livelihood and Poverty* (1915—a study of areas in Northampton, Warrington, Stanley, and Reading) by A L. Bowley and A R. Burnett-Hurst, may be mentioned as among the most valuable.

them; and too little account was still taken of their distinct status. A skilled engineer (member of the great trade union then called the A S E) worked in a Manchester engineering works; his weekly rate was 35*s*. 6*d*. An engineer's labourer worked by his side, he was paid 19*s*. or 20*s*. A bricklayer's rate was 38*s*.; a bricklayer's labourer earned about half that. Even in skilled industries there were often as many labourers as the skilled men; and, with or without a trade prefix, they formed more than half the wage-earners in the cities A mass of workers engaged in transport was only slightly better off; many, like dockers and market porters, being paid at a rather higher rate, but having it offset by casual employment. In Manchester the 19*s*.–20*s*. labourer would pay 5*s* rent for a four-roomed cottage in a mean street in one of the vast slums of that city.[1] If he drank or had many children and none earning, he would probably be driven to a hovel—back-to-back, alley-built, or otherwise insanitary—at perhaps 4*s*. With the higher cost of town living, he would really be worse off than the farm labourer earning 13*s* 6*d*. or 14*s*, but getting a cottage and garden for 1*s*. or 1*s*. 6*d*., and his children, owing to the environment, would grow up much less healthy. He would also be worse off than the labourer in, say, Norwich or York, where the wage was only 18*s*., but rents went as low as 3*s*. or 2*s* 6*d*. On the other hand, he would be better off than the labourer in Newcastle, where the wages were rather lower, the rents much higher, and housing conditions appalling. The state of the labourers in that city was possibly the worst in England; it had to be seen to be believed. London was a problem, or mass of problems, by itself; earnings, rents, and costs being all higher than in the provinces. Its black patches were numerous and bad; but taking its poor industrial areas, like Poplar or Canning Town, in the mass, they were less forlorn and more civilized than corresponding areas in the northern cities. Inner London, however, was a great centre for the class which ranked even below the labourers—the 'sweated' workers, whose plight public opinion had deplored, without amending, since Tom Hood's day Many of these last in certain trades were Jewish immigrants; but the majority were English.

[1] The artisan paid 6*s* 6*d* to 7*s* 6*d* for a better cottage in a better street Slum two-roomed tenements (back-to-back) were let at 3*s*. 6*d* The few decent smaller tenements were municipal.

The evil could be, and was, approached from many angles —wages, housing, sanitation, medical service, education, decasualization, insurance, and pauperism. Rowntree set in the foreground the money problem. Having ascertained personal and family incomes at York, he fixed a figure representing the minimum cost at which an average household could satisfy bare physical needs, and found that 27·84 per cent. of the total population (equal to 43·4 per cent. of the wage-earning class) fell below it. These figures, following on Charles Booth's looser estimate for London, made a profound impression. Politicians, generalizing from York to the nation, declared that nearly 30 per cent. of its members were living at or below the poverty line, or, as Campbell-Bannerman put it, 'on the verge of hunger'. As a piece of statistics the inference was guess-work, but in substance it corresponded to the truth. York was by no means a specially unfavourable sample of an English town.[1] Yet years went by before much was remedied on this side.

The first big step was the Trade Boards Act of 1909, carried by Churchill, then President of the Board, to suppress 'sweating'. The model was an act which had been working successfully in Victoria since 1895; Dilke had been bringing in bills like it since 1898. The formation of an Anti-Sweating League in 1905 and the organization (by the *Daily News*) of a Sweated Industries Exhibition[2] in 1906 focused opinion on it. The act originally applied to only four trades, but it proved a complete success; and, being soon more widely extended, practically extinguished sweating in the old terrible sense. It hardly touched the ordinary town labourer; but his turn came with the strikes of 1911–12, of which he was the chief beneficiary. Although for the working class as a whole real wages rose little between 1901 and 1914, and although Professor Bowley has calculated that the division of the national income as between 'property' and 'labour' in 1880 and in 1913 was almost

[1] As investigations elsewhere showed. The number of people found by Rowntree in 'primary' poverty in 1901 was 15.46 per cent. of the wage-earning class in York. Investigating working-class areas in Northampton, Warrington, Stanley, and Reading in 1914, A. L. Bowley and A. R. Burnett-Hurst found 16 per cent. of the persons investigated in primary poverty—this after thirteen years in which a good deal had been done to raise that class.

[2] *Sweated Industries*, the handbook to this (compiled by R. Mudie Smith), provides one of the best records of conditions as they were before 1909. It gives exact particulars for forty-five workers at forty-three different kinds of work, with undoctored and informative photographs.

identical,[1] yet within the working class the lower-paid workers gained. While most of the artisans secured no money rises or rises which less than balanced the price-change, the labourers improved their position. New unions had grown up for them, and the old unions also, as they moved more from a craft to an industrial basis, made increasing provision for the men at the bottom. Thus in the great coal-strike of 1912 what the Miners Federation won was a minimum wage; this benefited the lowest earners, while rarely affecting the skilled coal-getter.

Closely akin to the problem of low wages was that of casual labour. The pioneer here was W. H. (afterwards Sir William) Beveridge, whose book *Unemployment* (1909) altered expert opinion. Analysing registers kept under the Unemployed Workmen Act of 1905, Beveridge found that the 'unemployed' were in most cases the casually employed. By his persuasion was passed the Act of 1909 which set up Labour Exchanges all over the country (he himself being appointed to organize them). A bill enacting unemployment insurance was drafted for 1910, but time could not be found for it. However it became law in 1911 as Part II of the National Insurance Act. This measure was one of contributory insurance against unemployment; actuarially sound, confined to certain trades, and compulsory in them. It laid no great money burden on the state, and should be distinguished clearly from the post-war 'dole', for which its machinery was utilized. It worked down to the War conspicuously well, and invited no amendment save extension.

Though the bills dealing with sweating, decasualization, and unemployment no more emanated from a cabinet minister's brain than had the 1902 Education Act, signal credit is due, as in that case to Balfour, so in these to Churchill and Lloyd George, for having as ministers brought them to the statute-book. As a rule only a minister of high intelligence, capable of discounting the discouragements of high officials and fellow ministers, will put through measures of this kind. What happens when a minister lacking those qualities holds a key position was abundantly illustrated after 1905 by the case of John Burns and the local government board. No other department bestrode so many fields where progress was needed – poor-law, municipal government, housing, town-planning, and public health. Unfor-

[1] Viz. 37½ per cent. to 'property' and 62½ per cent. to 'labour'. *The Change in the Distribution of the National Income, 1880–1913*, 25.

tunately, as we saw above,[1] it had been so constituted in 1871 that its dominant tradition became that of the old poor law board—a tradition of cramping the local authorities and preventing things from being done. When Burns went there, the officials at its head included some able men deeply imbued with this spirit, and the ex-demagogue,[2] sincere and upright, but without administrative experience and lacking either the education or the kind of ability that might have saved him, fell at once under their control. The result was that for nine years, during which the home office, the board of trade, and the board of education were all helping the nation to go forward, the local government board, though it had the greatest opportunities of all, remained for the most part anti-progressive

What was most unpopular was its handling of the Poor Law. The conservative government just before leaving office in 1905 had appointed to report on this a strong royal commission under Lord George Hamilton, naturally with a conservative majority. In 1909 it produced two justly famous reports—Majority and Minority The Minority Report was naturally that with which most of the government's followers sympathized But even the Majority Report was far too progressive for the minister at the head of the local government board The Minority wanted the Poor Law 'abolished' and its work redistributed, and the Majority, agreeing that the ideas and machinery of 1834 had grown thoroughly out of date, urged an only less complete transformation Majority and Minority alike thought that the *ad hoc* elected guardians should go; that the principle of concentrating on the main local governing authorities, adopted for education in 1902, should be adopted in this case also, that services should be specialized under expert officials, not generalized under 'poor law officers', and that 'poor relief' in the old sense was an obsolete conception. These views had the sanction of Lord George Hamilton, a conservative ex-minister; and if any other member of the liberal government had held Burns's position, great and needed reforms would have become law. Burns single-handed fended them off, until early in 1914 he was at last sent to another post. But before his successor could do more, the war came, and then the long post-war tangle; and it was

[1] p 126
[2] 'A demagogue in the ancient and honourable sense of the word', as Bernard Shaw once called him.

not till 1929 that there were enacted—by a conservative government—those organic changes recommended twenty years earlier.

But, although less widely resented, an even worse case for the country was that of town-planning The English system of regulating new building only by by-laws had proved its insufficiency It secured certain sanitary and structural minima, but did not prevent the extensions of English towns from being among the meanest, ugliest, and most higgledy-piggledy in Europe Object lessons set by private enlightenment at Port Sunlight, Bournville, Letchworth, and the Hampstead Garden Suburb struck the public imagination; and about the same time knowledge came to England of the great work pioneered in Germany by way of enabling towns to plan out their detailed development. The 'Garden City' idea, preached by Ebenezer Howard, met the 'example of Germany' idea, preached by T C. Horsfall and others, in most hopeful conjunction, practical men took them up, and sound policies were soberly worked out, which only needed legislation to get started Again the one man blocked the way. In 1909 Burns carried a Housing and Town Planning Act, the town planning portion of which was a masterpiece of the obstructive art. It made town planning schemes nominally possible, but planted such a hedge of deterrent regulations round them, that in ten years less than 10,000 acres were brought under planning[1] At the same time it blocked any real town planning legislation, advocates of which were told to wait and see how the Act worked This was almost a major disaster for England. For if, as would otherwise have happened, a real national start had been made with town planning in 1909 or 1910, all the foundation work could have been done on it in the years before 1914, when building was quiet; and after the war, when the nation needed a flood of new houses, the whole development would have proceeded on planned instead of planless lines. England to-day would be a different and a better country.

Sanitation and public health made great progress in this period, though only after 1908, when Dr. (afterwards Sir Arthur) Newsholme was appointed chief medical officer at the local government board, was much impulse to it given from the centre Before, it came chiefly from individual medical officers

[1] The bulk of the little done was a single scheme put through for about nine square miles of Middlesex by the public spirit of a college

of health, working as they did under conditions conducive to enterprise. The greatest feat was the sensational reduction in the infantile death-rate, and the chief agency in it was the evolution of what are now called Infants' Welfare Centres The principle was that of reaching the individual mother, and teaching her how to rear her infant. First in the nineties came a movement in France—the *Gouttes de Lait* founded by Dr. Budin —for supplying reliable milk free to poor mothers The earliest English milk dispensary on these lines was started at St Helens in 1899 by Dr. Drew Harris By 1906 there were a dozen others. A parallel move, also in the nineties, was the institution of 'health visitors', started (through a voluntary society) by Dr. J Niven, the medical officer for Manchester, to advise and instruct mothers in their homes This was taken up and much improved by Dr. Samson Moore of Huddersfield, whose town for some years became a sort of Mecca for those concerned in the life-saving crusade. But though these policies paved the way for the infant welfare centres, their actual prototype was foreign, being devised by a Dr Miele at Ghent in 1903 Copied from it, the first English 'School for Mothers' was opened in St. Pancras in 1907 by Dr. J F J Sykes. Its success was very great, its example spread fast; and the infantile death-rate, long so intractable, fell in a few years amazingly. The saving effects on the population figures have been noted above An interesting point is that here, as in nearly all the social policies of this period, the leading ideas were imported from abroad England copied, but very effectively [1]

Of all such copyings the greatest was Part I (Health) of the National Insurance Act Here more than in any other case at this time, the initiative seems to have come from the cabinet minister himself, i e. from Lloyd George The main features of the measure and its departures from the German original have been mentioned above [2] It would have been natural to have attached its administration to the local government board (as it is now attached to the board's successor, the ministry of health); but with a régime like Burns's this was out of the question. A separate machinery was set up under four (English, Welsh, Scottish, and Irish) linked commissions, represented in parliament through the treasury For the vast work of creating

[1] See *The Early History of the Infant Welfare Movement* (1933) by Dr. G. F. McCleary, one of its leading pioneers. [2] p. 445.

the organization the services of R. L. Morant were secured. He gathered round him the pick of the younger civil servants, and by a prodigious effort the act was launched on the appointed day. There remained a great difficulty about getting the co-operation of the doctors, but in spite of opposition organized through the British Medical Association this was obtained. In the sequel the act's greatest virtue, perhaps, was its effect on the medical profession. It at once gave the average doctor a far better income, it soon rapidly increased the nation's staff of doctors; and it brought the mass of wage-earners into a familiar contact with medical advice and treatment, to which only a minority of them were used before. Its full effects, however, on the development of the nation's health services were only seen at a later period. Another most important side of them—the medical inspection and treatment of the children in the nation's schools—had already been set going by Morant and Dr (afterwards Sir George) Newman at the board of education. Here again the example came from Germany; first interpreted to England in work on a voluntary basis by Miss Margaret MacMillan

Health Insurance and Old Age Pensions were alone among the liberal government's reforms in costing much money. Some of them positively saved it. Notably that was so with prison and penological reform. The roots of this lay farther back, they began when the home office in 1877 took over the local prisons and centralized the whole system under a Prison Commission But the Prison Act of 1898, which repealed the rigid statutory prison rules till then in force, and empowered the home secretary to make and vary rules from time to time, rendered possible faster progress in the twentieth century After 1906 much public interest was directed to the topic, and two acts were passed which each made epochs. The first was the Probation of Offenders Act 1907, with which the probation system in England began. The second was the Criminal Justice Administration Act 1914, under which courts were required to allow reasonable time for the payment of fines before an offender was committed to prison for non-payment. These two acts together enormously reduced the prison population, a process economical as well as humane. Other notable reforms were the development from 1908 of the Borstal system for reclaiming young criminals, and the Children Act of that year, under which imprisonment was

prohibited for offenders up to 14 and strictly limited for those 14–16. A less successful experiment was that of 'preventive detention' for habitual criminals under another 1908 Act Taken together, this great body of reforms did much, not merely to improve English criminal administration, but to humanize the outlook of English society. Their principal author, behind the parliamentarians, was Sir Evelyn Ruggles-Brise, then chairman of the Prison Commission; a man of 'humanity and insight beyond the common'.[1]

Prison reform was necessarily an affair of the central government But in most other directions an important part was taken by the local authorities. Only now was the full value realized of the democratic machinery set up under the acts of 1888 and 1894 For many purposes touching people's daily lives it was much increased by a development exemplified in the Education Act of 1902 That act in creating the education committees made stipulations as to their composition; each was to have a part of its membership co-opted from outside the council, and each was to contain women. Both principles proved their usefulness, and came to be applied in many directions. The method of co-option rendered it possible to get public work out of suitable private people on a large scale, and hybrid bodies sprang up—Children's Care Committees, Choice of Employment Committees, Infants' Welfare Committees, and others—where this was often done to great effect. Meanwhile the volume and efficiency of regular municipal work advanced almost everywhere, and in its train the material environment of people's lives was continually being improved To give instances at haphazard, this was a period of better roads, cleaner streets, ampler lighting, better systems of sewerage and drainage, more numerous parks, better equipped free libraries, and more efficient inspection under the Adulteration Acts and Weights and Measures Acts These things in themselves meant a higher standard of life, irrespective of money incomes

Change and progress nowhere showed more through these years than in the navy and army Their leading exponent in the one case was Fisher, in the other Haldane.

Fisher's reforms began in 1902–3, when he was at the admiralty as second sea lord in charge of personnel In 1903 the old cadet-ship *Britannia* was abolished, and Dartmouth College

[1] L. W. Fox, *The Modern English Prison* (1934), 38.

substituted—a great improvement. Fisher took advantage of it to modernize the system in many ways. His most revolutionary change was to amalgamate the training for engineer and executive officers Till then the engineers were trained in a separate ship. Now all boys started through the same mill and specialized later.

When he came back to Whitehall as first sea lord in 1904, his earliest concern, besides lopping away obsolete units, was the redistribution of the main fleets. Till then there had for half a century been five chief commands (usually held by vice-admirals)—the Mediterranean Fleet, the Channel Fleet, Portsmouth, the Nore, and Plymouth; the last three, apart from their flagships, being really shore commands The assumptions were that France was the possible enemy, the passage to India the chief trade-route in need of defence, and the North Sea of small naval importance The growth of the German navy and the French Entente were rendering these assumptions obsolete, but British naval opinion was conservative, and for other reasons it was advisable to camouflage the changes. We have seen[1] how in 1905 Fisher created an Atlantic Fleet based on Gibraltar, thereby getting part of the Mediterranean Fleet out of the Mediterranean. In October 1906 a new creation was announced —a 'Home Fleet' Six battleships, 6 cruisers, and 48 destroyers with the needful auxiliaries, were (all with full crews) to be based on the Nore; and the *Dreadnought*, then unique, was to be their flagship. This really meant that three-quarters of the big battleships—the Home, Channel, and Atlantic Fleets—would be readily available against Germany. But it was not till February 1909 that the Channel Fleet was formally incorporated in the new unit.

Fisher's other great innovation was that of all-big-gun ships—the battleship *Dreadnought* and her cruiser counterpart, the *Invincible*. We saw above[2] the strategic and political motives here—perfectly sound ones, though often since forgotten But the primary motives were technological[3] They arose out of startling improvements in the range and accuracy of torpedoes. Hitherto battleships carried four big guns, a number of light quickfirers for repelling small craft at close quarters, and a very large secondary armament of 6-inch Q.F. guns intended also

[1] pp 363-4 [2] p 364.
[3] Admiral Sir R H. Bacon, *Lord Fisher* (1929), 251-6, 259-64

to be used on the enemy battleships at middling ranges. But at a certain stage the torpedo developed an effective range practically equal to that of these Q.F. guns To fight outside torpedo range meant fighting at big-gun range only, and hence the idea of the all-big-gun ship The *Dreadnought* could fire eight 12-inch guns on a broadside, her predecessors only four; and her superiority in firing ahead or astern was even greater.[1] Later battleships were designed to fire all their ten big guns on either broadside, and before long the 6-inch Q F guns came back, necessitating, of course, heavier tonnage The *Dreadnought*, completed in 1906, was 17,900 tons; the *Iron Duke*, completed in 1913, was 25,000. The difference was accounted for partly by the *Iron Duke*'s carrying sixteen 6-inch guns, partly by her ten big guns being 13·5-inch instead of 12-inch; and partly by her engines developing 33,000 instead of 23,000 horse-power. The *Dreadnought* and *Invincible*, it should be mentioned, were the first turbine-engined capital ships in any navy, and being much faster than previous ships in their respective classes could hold their enemy at distance.

Fisher had genius, and in matters like these revealed extraordinary foresight. But he was also an egotist, and too apt to forget that no great service can live on one man's brains. It was not in his line to advocate or establish a proper general staff The results of the omission were unfortunate, and not really repaired by the 'Naval War Staff' set up in 1912 After Fisher's retirement in 1910 the British admiralty had no peculiar advantage over the German in personal talent, while the latter had at the top the organization which the former lacked. Consequently when the war came, the German navy proved superior at many vital points. Great Britain had spent so much more money, that her fleet's huge lead in number of ships and weight of guns saw it through. But the Germans' gunnery and range-finders were better, and they had a far better high-explosive shell; consequently, ship for ship, they registered more hits and did more damage with them. They started the war with a large supply of very effective mines; whereas there were hardly any effective mines in the British service until (incredible as it may seem) 1917. They were also well equipped from the start with aircraft for naval scouting, whereas the British navy was not.

[1] Besides its more obvious advantages, the multiplication of big guns of uniform calibre greatly facilitated range-finding by salvoes.

This catalogue (which could be extended) is worth recalling for the light that it throws on organization, and particularly on the value of a general staff. Even Fisher would have gained by more co-ordinated thinking.

Between 1910 and 1914 some difficult special problems developed. One was that of oil-fuel. Fisher was an enthusiast for it on fighting grounds; but how, with no home or even Empire oil-wells, was a war-time supply to be guaranteed? The policy adopted was to form the Anglo-Persian Oil Company, with the state holding half its shares. a novel plan rather alarming to political purists. Another difficulty was how to provide the fast-growing navy with enough officers. A capital ship could be built in two years, but to train an officer from Dartmouth up took seven Churchill to meet this brought in cadets at an older age from the public schools—good material, but entailing some loss of homogeneity Yet other difficulties concerned the naval ratings With the main fleets in home waters, they came much more into contact with working-class opinion on shore; and movements developed for better pay and a modernized discipline. In 1909 McKenna passed a not unimportant act distinguishing (on lines adopted for the army three years earlier) between prison for criminal offences and detention for breaches of rules Questions of pay grew urgent, not merely for contentment but for recruiting. As the British and German navies expanded, it began to be an advantage for the latter that, under conscription, it was never short of men. Churchill's sensible efforts to improve the scales were a good deal hampered by the treasury and the house of commons He justly protested against their readiness to risk fleet-wide discontent for sums which beside the costs of naval construction were trifling.

At the height of the race in warships help from the overseas Empire became very welcome New Zealand and the Federated Malay States each contributed a battle-cruiser Another was given by Australia, but earmarked for use in Australian waters In Canada the Borden government in 1912 13 made a determined effort to pass a bill for the construction of three battleships, but the opposition under Sir Wilfred Laurier keenly opposed it, and procured its rejection by the Senate. In the war sequel the main contribution of the Dominions, as of India, was to be on the military side.

Nothing could better exemplify the value of thinking as a basis for action than Haldane's work for the army It succeeded because he carefully mapped the needs before he set about meeting them. In particular he realized the prime importance of mobilization When he went to the war office, none of the various forces could be mobilized quickly, and many could not be at all Even the Aldershot Army Corps, which was the only large unit, was unfit to take the field without considerable delay. The cavalry lacked horses, the artillery lacked men, the regular units scattered over the country were not fully organized in divisions with the necessary staffs and commanders, and even if the infantry were brought together, artillery, transport, and hospital units would all be to seek. Behind them stood as a second line the militia; but they could not be called on to fight abroad, and the most for which their units were fit in war-time was to release the regulars from some garrison and depot duties at home The third line consisted of volunteers and yeomanry; who, in general and with some exceptions, had no unit above the battalion, and were quite incapable of action as a mobile force.

In contrast to this, on 3 August 1914 some twenty divisions of British troops (six regular and fourteen territorial) were mobilized punctually and without a hitch, complete in all arms, besides a cavalry division of regulars, and a 7th infantry division collected not long after A few weeks later very heavy initial casualties were made good by adequate reserves. Of the policies, by which Haldane wrought this marvellous change (chiefly in the years 1906–9), an outline has been given already.[1] With it all he saved money, and even in 1914 the army estimates were about £1 million less than in the year before he took office, although general prices had risen 18 per cent. in the interval. Some of his economies were no doubt reluctant, but the charges that he weakened the country in regard to either infantry or artillery will not bear examination [2]

Though his main ideas were his own, Haldane's work owed something to the existence of the Committee of Imperial Defence, set up two years earlier by Balfour [3] Balfour had derived much aid in this matter from Lord Esher, who now

[1] pp. 395–6

[2] See an able refutation of them by the Right Hon H T. Baker in the *Army Quarterly* for October 1928.

[3] p 361–2.

became one of Haldane's best helpers, being chairman of the committee to organize the territorial force. The Committee of Imperial Defence developed steadily its uses and importance. Its chairman being the prime minister, when that office devolved on Asquith, Haldane's part in it became especially prominent. Through sub-committees a long list of war-time problems were carefully gone through in advance, not only the duties of each department, as systematized in the 'War-Book',[1] but thorny questions like press censorship, treatment of aliens, and trading with the enemy, besides large aspects of imperial strategy. Summing it all, the country became incomparably better prepared for war than it ever had been in the nineteenth century. Many charges can justly be brought against the Asquith cabinet of 1908–14, but not that of war-unpreparedness. That the nation had nevertheless to do afterwards so much more than it had bargained was not due to falling-short on its own part or on that of its rulers.

Growth of Budgets, 1901–14

(Figures in £ millions)

Year	*Revenue budgeted for*	*Civil services' estimates*	*Fighting services' estimates*	*Navy*	*Army*
1901 . . .	132·25	23·60	60·90	30·87	30·03
1903 . .	144·27	26·56	60·11	30·45	29·66
1905 . .	142·45	28·61	63·20	33·38	29·81
1907 . . .	142·79	30·10	59·17	31·41	27·76
1909 . .	162·59	40·37	62·57	35·14	27·43
1911 . . .	181·62	46·78	72·08	44·39	27·69
1913 .	195·82	54·98	74·52	46·30	28·22
1914 . . .	209·45	57·06	80·39	51·55	28·84

[1] P. 433

XV

MENTAL AND SOCIAL ASPECTS 1901–14

In contrast with the last decade of the nineteenth century in England, the first decade of the twentieth showed a mood of sunrise succeeding one of sunset Among many educated young men who came of age between 1885 and 1895, the phrase *fin de siècle* had worked like a charm Similar young men between 1895 and 1905 reacted against it with violence. They felt themselves at the beginning, not at the end, of an age [1]

It was to be an age of democracy, of social justice, of faith in the possibilities of the common man There was little more room in it for Kipling's imperialism than for the *Yellow Book*'s decadence, and after the Boer war had deflated the one, as the Oscar Wilde case had earlier discredited the other, the way seemed open for new impulses of courage and idealism. The current, of course, was not confined to young people, older men had helped to start it; and exponents of many different tendencies fell in with it. Some were liberals, some socialists, many both, but there was also a strong element of implicit conservatism in the revived feeling for a traditional England

The full force of the current was felt between 1903 and 1910. Many, indeed, of the social and legislative changes to which it led came (as the last two chapters have shown) after the latter date. But in public life there is always a time-lag between ideas and embodiments. If we look at the ideas alone, we shall see that from about 1910 their movement weakened, and a new current set in

There was not now, as there had been in 1870, any solid core of agreed religious belief, round which the daily conduct of the nation as a whole shaped itself. Thirty years of the disintegrating influences traced above in Chapters V and X had completely destroyed the mid-Victorian evangelical unity. Creed sat lightly on the great majority in the middle and upper classes; the Bible lost its hold on them, and the volume of outward religious observance shrank steadily. At the same time the reader must not confuse in these respects pre-war with post-war. From the

[1] A capital description of the contrast in mood, written at the time by (as he then was) one of the prophets of the new outlook, will be found in a poem by G K Chesterton, beginning 'A cloud was on the mind of men'

beginning of the new century the week-end habit developed rapidly and made serious inroads on church-going, but the far greater inroads eventually made by the motor-car had scarcely begun by 1914. Preachers of any merit still drew large and attentive audiences everywhere, and a considerable number had what might be termed national reputations. It was still altogether exceptional for a couple on whose marriage no slur rested to get married in a registry office; and a majority of middle-class people every Sunday morning still put on 'Sunday clothes' and went in them to public worship, followed often in towns in fine weather by resort to some 'church parade', where the gentlemen lifted their silk hats to one another and the ladies took note of each other's costumes. Yet the practice waned, for the young people increasingly omitted it, and there was a great difference in this respect between 1901 and 1914

The chapels kept up their congregations better than the church of England; but the labour and socialist movement poached extensively on their preserves. Not only, as we saw earlier, did it provide careers on the platform for gifted men who would otherwise have found them in the pulpit, but the I L P, which made a practice of holding large indoor propaganda meetings on Sunday evenings, directly drew away the members of congregations. The ministers of the chapels, feeling the attraction which the new politics had for their people, very often went to meet it half-way. An institution which spread widely at this time was the 'P.S.A.' (Pleasant Sunday Afternoon), held as a rule in the chapel itself with the minister presiding, but, save for a short prayer and hymns, secular in character Usually there were songs or other solo music, but the main feature was an address by a layman on a secular subject, oftenest with a bias to humanitarianism of some kind. Popular authors, travellers, politicians, journalists, or socialist propagandists were in great request for these addresses—especially the last; and it is significant of the political trend of nonconformity in these years, that while few conservative politicians were invited to speak at P S A s and many liberals were not either, a leading socialist might spend practically every Sunday afternoon in them. The sects, however, differed somewhat in this respect, and the contacts of socialism were commoner and closer with the Congregational and Baptist chapels than with the Wesleyan

One way and another the rising labour movement owed an

immense debt to nonconformity. The fund of unselfish idealism, which sustained the early I.L P., came mostly from this source; and the methods whereby its branches were run and financed were borrowed directly by its members from their experience in religious organizations Broadly it was due to nonconformity that socialism in England never acquired the anti-religious bias prevailing on the Continent. The church of England rendered no comparable service, for the self-helping sections of the working class were a social stratum over which it had never obtained much hold Yet there was a socialistic school among its younger clergy, especially among the ritualists. They found their outlet mainly in slum mission work, where in dealing with classes below the self-helping level they were on the whole more successful than the nonconformists.

Outside these slum parishes, in which the pick of the young clergy graduated as curates, anglicanism began now to feel the effects of a declining recruitment The number of ordinands continued to fall year by year, and the shrinkage of ability was perceptible On the countryside the great race of parish clergy, as they dropped out one by one, too seldom found successors of the same calibre Similarly on the bench of bishops, though a few very able additions were made to it at this time, the losses outweighed the gains. The church's higher statesmanship was much preoccupied with political questions—with the position of the church schools, with the unsolved problem of ecclesiastical discipline, and with the disestablishment of the church in Wales. None of these problems were very wisely handled. That of church discipline, which the rapid spread of ritualism rendered more and more controversial, was remitted by the Balfour government of 1904 to a royal commission presided over by Lord St. Aldwyn Largely through the ability and influence of that eminent layman, the commission made in 1906 a unanimous report It proposed the repeal of Disraeli's Public Worship Regulation Act and the reform of the ecclesiastical courts on lines already recommended by another royal commission But its main propositions were two that the law of the church as enacted by parliament in the rubric ought to be suitably revised by the convocations, and that when revised it should be firmly enforced, the bishops meanwhile being given further powers to enforce it In accordance with this, letters of business were promptly issued to the convocations to take up the task; and had

they performed it within a reasonable time—say a year or even two years—there seems no reason why the St Aldwyn policy should not have succeeded. But having had the task of revision entrusted to them, the convocations in effect adjourned its performance till the Greek calends.[1] Meanwhile pending that performance the bishops, since the St. Aldwyn report had treated the existing rubric as needing revision, held themselves additionally justified in shirking its enforcement The result was that there was worse anarchy than ever, and Lord St Aldwyn's intentions were completely frustrated.

In the matter of church schools, and also in that of Welsh disestablishment, the anglican attitude, generally speaking, was neither magnanimous nor long-sighted. Churchmen had spent largely to create and maintain their schools, and had every right to fight hard for their continuance. But they ought to have made more effort to see the point of view of their opponents Had they done so, they could not have failed to recognize the hardship which nonconformity suffered in the single-school areas, and instead of seeking to take advantage of it, would have sought to redress it. Effective generosity in that sense would have prevented all the bitterness from 1902 onward, and have given the church a far greater influence over nonconformists than it could ever get by educating their children against their will. Similarly in regard to Welsh disestablishment. The bill, against which all the forces of churchmanship were organized to fight tooth and nail, became law under the Parliament Act in September 1914; but being deferred during the European war, did not actually come into force till March 1920. It has proved of the greatest benefit to the anglican church in Wales, which has now far more health and vigour than it had before. Foreseeing, as any one could, that this would be so, it might have seemed the wiser line for the church's leaders to recognize frankly that the case of Wales was peculiar, that disestablishment there and in England were two entirely different affairs; that a church *of* Wales could put itself right with Welsh nationalism as the Church *in* Wales never could, and that the only thing left was to seek in an atmosphere of goodwill for a measure of financial generosity. The line which they instead took of harping on the indissoluble unity of the church in Wales and England, and denouncing

[1] Eventually about twenty-two years elapsed between the issuing of the letters of business and the submission of a revised prayer book to parliament

disestablishment in the one as the thin end of the wedge for disestablishment in the other, showed an entire lack of sympathetic imagination; and the worldly party politicians, whom they got to voice it for them, did their religious authority nothing but harm.[1]

Outside the churches in this period—and to some extent inside most of them—the religious attitude regarding creeds was one of growing tolerance. To the evangelical the dogmas of his faith had seemed a condition of morality, because he ruled his own daily conduct by them.[2] A counter-intolerance was very common among the opponents of orthodoxy; they thought that any educated man who retained a creed must be guilty of at least intellectual dishonesty With the advent of the twentieth century this tendency to hard judgements became gradually blurred and softened. At the same time people lost interest in heated arguments as to whether the Gadarene swine were possessed by devils, or whether other miracles in the Bible were to be regarded as historical. Largely, no doubt, this was due to indifference; but partly also to a new perception that the permanent values of a religion need not stand or fall with its temporal accidents. A book published in 1902, which had a very wide vogue among educated people in the ensuing years, was *The Varieties of Religious Experience*, by William James. James, who held the chair of philosophy at Harvard, and whose brother Henry, the novelist, was settled in England, examined religion from the standpoint of a student of psychology. He was perhaps less an original thinker than a prince of expositors; but he showed to great numbers of his readers something which they had never seen before, and carried their thinking about religion on to a different plane from any to which they had been accustomed. This was the starting-point in England of a popular interest in psychology —an interest which later became more concerned with questions of conduct than with religion, and even before the war had begun to disturb materially the cut and dried conceptions of right and wrong. Studies like those of comparative religion and anthropology, which, as we shall see, were notably developed at the same time, reinforced both the foregoing tendencies.

[1] Here again a poem by G. K. Chesterton is an apt illustration—*Antichrist*, the well-known ode addressed to (as he then was) F E Smith

[2] The present writer can recall an active liberal politician saying (in 1892) that he could never vote for John Morley, because he did not see how an 'atheist' could at bottom be an honest man.

The press followed out the evolution determined in the previous period. Ownership became in all but a few cases commercialized It passed from the hands of individual proprietors, who could treat their newspapers to some extent as a personal trust, into those of companies or syndicates, who made public issues of shares and had to earn interest on them 'Twenty years ago', the Institute of Journalists was told by its president in 1913, 'the list of the London Stock Exchange did not contain a single newspaper corporation. Now twelve large companies, representing many millions of capital, figure in the quotations. Many other companies are dealt with publicly in a more restricted market.'[1] Money came before public policy under these conditions.

The ways to make it had been discovered by Newnes, the Harmsworths, and Kennedy Jones. To the *Daily Mail*'s technique for increasing circulation and consequently attracting advertisers, every popular paper, it seemed, must conform or perish. A few men early built up large newspaper businesses from nothing, as those pioneers had done. C. Arthur Pearson, a man of more energy than originality, worked in Newnes's office after Alfred Harmsworth had left it; then he went out and founded *Pearson's Weekly*, a close replica of *Tit-Bits* and *Answers*, and developed round it, just as they had, a lucrative swarm of little periodicals. Subsequently, still copying, he launched (1900) the *Daily Express* in imitation of the *Daily Mail* It never in his time attained any solid success; but for some years he exercised a certain force through it, particularly between 1903 and 1906, when he made it an organ of Chamberlain's Tariff Reform movement. The other largest concern of this kind was that of the Hultons at Manchester They had begun by publishing sporting papers—a distinct line, but not very paying, because unattractive to advertisers But they went on to copy exactly, like Pearson, the Harmsworth evolution; first making money by multiplying little papers, and then launching on their northern ground halfpenny evening and morning newspapers modelled on the *Evening News* and *Daily Mail*

These enterprises took away custom and advertisements from the old-established newspapers, not merely in London, but all over the country The large capital resources and pushing popular methods of the new-comers made them very hard to

[1] H A Taylor, *Robert Donald* (1934), p 266.

stand up against. Many old provincial proprietors succumbed and sold out to Harmsworth, Pearson, or Hulton, as the case might be In London a year of great changes was 1904. The *Standard* (from 1876 to 1900 under a great editor, W H. Mudford) had flourished exceedingly through most of Lord Salisbury's period as the leading conservative party paper, drawing intimate inspiration from the prime minister. But almost from the moment of the *Daily Mail*'s appearance its fortunes began to decline; and in 1904 it was sold to Pearson for £400,000, then thought a high figure. Pearson made a memorable failure with it; he changed it instantly to a paper of the new type, with the result that it lost its old readers overnight, before it could enlist new ones. It lingered moribund for some years and then died miserably. In the same year both the London liberal morning papers came down to a halfpenny. They had previously been very high-class penny political organs with circulations round about 30,000 apiece; now they were to bid for halfpenny circulations in six figures, which could only be had by copying Harmsworth-Pearson methods. For the large body of educated liberals in the south of England this was a real catastrophe. The conservatives after the *Standard*'s sale could still fall back on *The Times*, the *Daily Telegraph*, and the *Morning Post*; their opponents had no morning paper of similar weight nearer than the *Manchester Guardian* In 1906 a rich liberal tried to remove the reproach by founding in London the *Tribune* as a high-class morning newspaper. Following the great triumph of his party at the polls, he had a rare chance; but he knew nothing of journalism, and, like most who venture on it from the outside, came rapidly to grief. The lack of any London morning paper for educated liberal readers enhanced the already strong tendency for the party division in English politics to become a class division.

Meanwhile in the eventful year 1904 Alfred Harmsworth started the *Daily Mirror* as a woman's paper. It failed completely as such, but, with the wonderful agility which was half his genius, its creator switched it over to become the first of yet another new type, the cheap daily picture-paper After its change it appealed more to women than before, and soon made enormous profits as a kind of printed precursor of the cinematographic age. Then in 1908 came the greatest stroke of all. *The Times*, in spite of the unique standing which it held in the world, had for long been

half-strangled by anachronisms in the finance and constitution of its proprietary. By the end of 1907 it was at its last gasp; and the only question left was whether Pearson or Lord Northcliffe (as Alfred Harmsworth had now become) should buy it. Northcliffe won, and early in 1908 it passed into his hands. Too clever to repeat Pearson's mistake with the *Standard*, he did not affront the paper's old readers, and to the end remained aware that it was a different proposition from the halfpenny organs which he had himself founded. He sought, however, gradually to give it a more popular character, lowering its price by stages to a penny;[1] and also used it increasingly to put forward his personal opinions on public issues. Many of his changes were improvements, and it would be absurd to suggest that the able men who served him on it laboured all in vain. Nevertheless it was fundamentally a source of national weakness, that *The Times* should become a second mouthpiece for the creator of the *Daily Mail*.

But all this time the number of mouths behind the mouthpieces was growing fewer. In 1913 as compared with 1893 the proportion of newspaper readers to population had greatly increased, while that of newspapers had diminished, and that of newspaper ownerships had diminished still more. In their fierce race for circulation the halfpenny papers sought to extend their grasp ever more widely over the country. Their first means to this were trains; by going to press earlier they could catch more trains, and where this did not suffice, they ran specials. The time of going to press in London, which had been about 3 a.m., was moved forward for the early editions to 11 p.m. or earlier, the result was a hastier paper, which could no longer comment on important late news—the closing speeches, for instance, in a critical parliamentary debate, or the result of the division. The next device was to get beyond train-radius altogether by printing separately in some suitably remote city, to which the 'copy' was transmitted by private wire. The *Daily Mail* was the first to do this, when at the turn of the century it established a subordinate printing-office at Manchester. The *Daily News* copied it some years later; and other examples followed. These changes helped the process, whereby a multi-

[1] In 1855, when the penny press started, *The Times*'s price had been put down from 5*d.* to 4*d.*, and in 1861 to 3*d.* In February 1911 Northcliffe reduced it to 2*d* for subscribers, in May 1913 to 2*d.* all round, and in March 1914 to 1*d.* all round.

plying mass of readers took their news and views from a diminishing band of newspaper magnates They also extended the influence of the capital over the provinces. Hitherto the larger provincial centres followed each their own public opinion, often saner and less febrile than London's Now the passions of the metropolis infected the whole country.

Two reassuring features may, however, be noted. In the first place, a small number of the best penny provincial dailies held their ground Fortified by local advertising and entrenched in their monopolies of local trade news, they were able in a few instances to weather the storm better than their London contempories. The *Manchester Guardian*, *Scotsman*, *Yorkshire Post*, *Glasgow Herald*, *Liverpool Daily Post*, and *Birmingham Daily Post* became in some respects the best morning papers in the country. But they were the survivors of a great thinning-out. Manchester and Leeds had two penny dailies apiece; only one survived in each instance; and other cases were similar.

Secondly, the English halfpenny papers, despite their obvious vices, seldom sank quite so low as the American 'yellow' press, from which they had originally been copied Moreover from about 1909 a distinct movement to improve them was pioneered by the *Daily Mail* itself. Average readers were growing more educated, it was not necessary to be so snippety or so sensational. There was some revival of consideration for readers seeking knowledge and ideas. A serious leader-page was developed with signed articles by eminent writers on subjects of importance Here again one must beware of confusing post-war with pre-war. The pre-war popular newspaper misplaced many values; but it never came down to presenting a world where film stars are of more consequence than statesmen, and where business and politics alike become the merest sideshows to personal 'romance'. Since the European war popular papers have been above all shaped to attract the woman reader, but before the war they still mainly catered for men. The reasons were, partly that women had then no votes (and proprietors always care for political influence); and partly that the great discovery had not then been made, that women readers are incomparably the most valuable to advertise to.

Halfpenny evening papers, bought largely for betting, grew much and from many centres. But the old 'class' evening paper catering for the London clubs fell on bad days. Two such, it is

true, were at the end of the period conducted with the greatest distinction—the *Westminster Gazette* by J. A. Spender and the *Pall Mall Gazette* by J. L. Garvin—as leading oracles for the liberal and conservative parties respectively. But they did not pay, and were only kept going by money spent on them from political motives. A cheaper way for a rich man to become a maker of opinion was to publish a sixpenny weekly review. Publications of this class became now more numerous and various than ever before, and from first to last much of the period's best writing will be found in them. But only one (the unionist *Spectator*) paid solid dividends; the rest lived on their owners' money, and their careers were apt to be brief or chequered. They took the place, in some degree, of the monthly and quarterly reviews, whose prosperity and influence after about 1904 went fast downhill, though far from reaching their post-war level.

Educational advances were very rapid after the acts of 1902 and (for London) 1903. All elementary schools being now on the rates, there was a general levelling-up of those which had lagged behind. It was a strong point in the acts that, though the managers of 'non-provided' (previously 'voluntary') schools controlled the religious education in them, they were required in respect of secular instruction to carry out any direction of the local education authority. Teachers' salaries, though far below those of the post-war period, tended to move up as the county councils established regular scales. There was a persistent campaign to reduce the size of classes and get rid of the oversized; but the problem of buildings was involved here, and in London, where the scandalous cases were most numerous, a good many survived in the infants' departments beyond the latest years of this period.

The higher-grade schools, which had been illegally conducted by the school boards, were in most places made secondary schools. But in London the L.C.C. preferred to build new secondary schools, and developed what it had taken over from the school board as 'central' schools of a higher-elementary type. The policy of developing such schools within the elementary system came in a few years to be recommended by the board of education. The board under Morant made great exertions to increase and improve the facilities for secondary and technical education throughout the country. In 1905 the number of pupils

in grant-aided secondary schools was 94,000; in 1910, it was 156,000; in 1914 it was about 200,000. Though these figures were afterwards greatly exceeded in the secondary education boom produced by the war, they represented at the time a long step towards remedying England's most obvious weakness—her dearth of higher-educated personnel. Ability, too, was recruited more widely. In 1906 the liberal government started a policy leading to a great extension of scholarships It offered an additional grant to secondary schools which gave 25 per cent. 'free places' The effects of this were increasingly felt from 1907

The smaller historic grammar schools up and down the country, most of which from about 1890 had been modernized under the influence of the Technical Instruction Act, came after 1902 fully under the local authorities' umbrella as secondary schools. So did some of the larger ones, which had hitherto been members of the Headmasters' Conference; and questions of educational autonomy were raised, which led for a time to their being separated from it. The great non-local public schools, which formed the bulk of the conference, did not accept financial aid from public authorities. But they were not injured by the new competition; rather, they benefited by the educational boom; and this was the beginning for them of a period of unexampled prosperity

The universities went similarly ahead At Oxford the appointment (1907) of Lord Curzon as chancellor proved helpful to academic reform, in which he took a personal interest; Cambridge also made progressive changes. Both universities steadily increased the scope and variety of their provision for teaching, as well as the numbers of their undergraduates. But perhaps the most striking feature of the time was the growth of new universities. We saw above (p 321) how Birmingham university led the way in 1900 In 1903 the three constituent colleges of the Victoria university decided to part company and form a university apiece, Manchester and Liverpool received charters in that year, Leeds in 1904. Sheffield followed in 1905, and Bristol in 1909. In addition there were by 1914 outside London six English institutions ranked as university colleges, viz. those at Nottingham, Newcastle, Reading, Exeter, and Southampton, with the Manchester School of Technology. Add the continued growth of the three colleges forming the university of Wales, and

some idea will be formed of the increase at this time in local provision for university teaching south of the Tweed.

London, too, developed greatly as an educational centre, and fresh attempts were made to integrate its university organization At the beginning of 1907 University College was formally 'transferred to' the university itself, and just three years later a similar transfer was made of King's College, excepting its theological faculty. But, among many others, the institutions containing the two largest bodies of students retained their semi-detached status as 'schools of the university'. These were (*a*) the group of great medical schools attached to the leading London hospitals; (*b*) the Imperial College of Science and Technology, in which the City and Guilds Engineering College and the School of Mines were merged. The same status was that of the London School of Economics and Political Science, which, founded on a modest scale in 1895, grew up rapidly in the twentieth century as a specialized institution for studies that the older universities had been somewhat slow to develop Although even in 1914 it was a very much smaller institution than it has since become, it had nevertheless already attained a national, and indeed international, standing

University extension continued, and in 1904, as a novel and vigorous offshoot of it, was born the Workers' Educational Association. The four earliest W E.A. branches (all started between October 1904 and March 1905) were Reading, Derby, Rochdale, and Ilford. The movement, as these names suggest, cast a wide net from the first, its primary idea being that the adult working-class student must co-operate in his own education, and not be a mere listener at lectures But it was the success of the 'tutorial class' method, originally worked out at Rochdale in 1907, which gave practical shape to this aspiration In 1905 the W.E.A had eight branches and about 1,000 individual members. In 1914 it had 179 branches and 11,430 individual members. Drawn largely from active workers in the trade-union, co-operative, and socialist movements, its groups were at first almost solely concerned to study such subjects as economics and industrial history. But their horizons widened as it developed.

Another form of working-class education had started, when Ruskin Hall (afterwards Ruskin College) was opened at Oxford in 1899. The idea of the founders (who were Americans) was to provide a residential training college for the future leaders that

were to run the various working-class movements. Hitherto such men had been thrown to the top among their fellows, and after getting there had to pick up their knowledge and ideas as best they might. To interpose a period of residential study, even if only for six months or a year, seemed a plan sufficiently practical for a number of trade unions to subscribe to it. In the sequel it had rather unexpected results. Till then it had been usual for trade-union leaders to begin as extremists and gradually to be moderated by the contact with facts which responsible leadership entailed. Now, instead of that contact, they were thrown into a company of able young extremists like themselves for periods which, while often too short for serious study, were long enough to heat hot iron hotter. The consequence was the formation among them in 1908 of the Plebs League to urge 'independent working-class education on Marxian lines'; and in 1909 a secession from Ruskin College to a 'Central Labour College' in London, which was supported by certain unions, notably the South Wales Miners' Federation and the Amalgamated Society of Railway Servants. The number of individuals concerned in all this was not large, but as they were budding leaders, the effect on British trade-unionism was considerable. Plebs men were prominent in some of the 1911–12 strikes, and the trend towards syndicalism owed a great deal to them.

An interesting and little-known feature of this period was a revolution in the design of school buildings From 1885 a design then evolved had become stereotyped Its leading idea was that of a central hall, off which the class-rooms (usually with glass doors) radiated, this gave concentration and facilitated supervision. In modern practice it has been completely superseded. The idea that replaced it is that of 'an open spread-out line of class-rooms approached by corridors or open verandahs arranged to let the maximum amount of sunlight and fresh air into every part of the building'.[1] This was no impersonal or unpurposed discovery. Its features originated with Dr. George Reid, a leading authority on public health, who was medical officer for Staffordshire and based them on his hospital experience. But they might not have gone beyond a few experimental Staffordshire schools, if they had not been taken up and brilliantly developed by G. H. Widdows, architect to the adjoining education committee of Derbyshire, who applied them with great

[1] Sir Felix Clay, *Modern School Buildings* (1929 ed.), p. 3, cp p 27.

ingenuity to all sorts of varying circumstances. Between 1914 and 1922 school building was much in abeyance, but when it re-started, what these men had pioneered was found to have worked so well, that it was adopted as the normal type in new schools.

Art was still in a transition stage, but in some directions it began to feel more sure of itself. The influence of Morris and his school had banished the taste for machine-made ornament from among cultivated people, and the new impulses which he had given to craftsmanship went forward in many directions. One might instance the development of fine handwriting by Graily Hewitt, that of fine lettering on carved inscriptions by Eric Gill, that of fine printing by Emery Walker and T. J. Cobden-Sanderson in collaboration at the Doves Press, and afterwards by many others. The common trade level of design and colour in furniture and carpets had risen greatly since the mid-Victorian descent; and people of good taste and moderate means could enjoy inside their homes an environment of wholesome beauty such as it would have been very difficult for their parents to compass.

A great deal of building was done in these years, and new architects of distinction came to the front in them. They cannot be called a school, but if one takes some leading names—Lutyens, R. Blomfield, J. J. Burnet, E. A. Rickards, and E. Cooper[1]—common features can clearly be seen. Leaving behind not merely the Gothic fashion but that based on French sixteenth-century models which had succeeded it, they drew formal inspiration from the classical styles of the seventeenth and eighteenth centuries. Along a separate line the designing of houses went forward in the hands of men like Baillie Scott, C. F. Annesley-Voysey, C. R. Ashbee, and others, who followed Morris and Philip Webb in developing the Vernacular. The ground was still cumbered by some elements of tradition which had grown meaningless; but through their adherence to sound craftsmanship, structural beauty, native materials, and respect for the landscape and climate of Britain, they pointed the path to much of the best domestic architecture in post-war England. The

[1] Sir Herbert Baker did not design buildings in England at this period. He was towards the end of it appointed joint architect with Sir Edwin Lutyens for the new Delhi on the strength of his work in South Africa.

influence of a meteoric Scotsman, C R. Mackintosh[1] of Glasgow, helped to clear away ornamental irrelevance.

Apart from big country houses (which comprise the bulk of Lutyens's best work in these years), most of the period's largest structures are to be seen in London, though what perhaps forms its single finest group of public buildings stands at Cardiff—the city hall and law courts designed by E. A. Rickards.[2] Sir Edwin Cooper's Marylebone town hall and Sir J. J Burnet's northern elevation for the British Museum are good London examples of what the age could achieve by way of monumental effect Two of the largest public buildings undertaken at this time were put up to public competition, and so (as is likely to happen in that case) fell to young and untried architects The first instance was that of the Anglican cathedral at Liverpool; and the second that of the London county hall The former, since its construction was to proceed by stages and be spread over a long period of years, was well adapted to engage a youthful genius, the latter, an immense business building which needed to be completed as quickly as possible, was not In the one Sir Giles Gilbert Scott has been able to evolve a work of outstanding importance In the other the result was the present county hall designed by Ralph Knott, characterized by exceptionally bad internal planning, but showing towards the Thames an imposing elevation.

A common feature of all the secular buildings just mentioned was that, while built in the American manner on steel frames and only, as it were, veneered with the traditional materials, their elevations betrayed no sign of this new and revolutionary mode of construction. Nor were their forms obviously dictated by their various functions, but by the requirements of the style to which each conformed—'style' continuing thus to be a kind of fancy-dress. The first modern public building in Great Britain, of which this could not be said, was C. R. Mackintosh's

[1] Mackintosh (1869–1928) ranks high among 'inheritors of unfulfilled renown' In Great Britain he encountered so much disapproval that he obtained few commissions—too few to express his genius But in Austria, Germany, France, Belgium, Holland, and Scandinavia his ideas were received with enthusiasm between 1900 and 1914, and inspired the movement known as *l'art nouveau* He has been described by a recent critic as 'the first British architect since Adam to be a name abroad, and the only one who has ever become the rallying-point of a Continental school of design' (P Morton Shand in *The Architectural Review*, Jan. 1935).

[2] The splendid grouping of these great edifices with others designed later by different architects seems to have started in Great Britain the idea of the 'civic centre', followed since the war at Leeds, Southampton, and elsewhere

Glasgow School of Art (part built in 1899 and finished in 1909) Though constructed of traditional materials (stone and timber), it was, especially in its fenestration, a startling precursor of later fashions. But Mackintosh had little chance of applying his genius to steel; and it was left to Sir J. J. Burnet (also from Glasgow) to initiate by his Kodak building in Kingsway (1912) the franker treatment of steel structures on lines long familiar in their country of origin.

The improvement of design in houses began to extend downwards even to cottages Important leads were given by some of the garden city or garden suburb developments. Their speciality was layout, not architecture. But in the first of them, Port Sunlight, it was the object of Sir William Lever[1] (its creator) to obtain from the start not merely comfortable cottages, but elevations of beauty and charm. In the earlier work at Bournville and Letchworth this aim was less prominent. But the building of the Hampstead Garden Suburb carried it much farther under the guiding genius of Sir E. Lutyens, then generally regarded as the most gifted domestic architect in the country. The development of week-end cottages for the well-to-do—an early outcome of the twentieth-century week-end habit—helped also to attract eminent designers to the cottage problem It must not be supposed that in the spate of building between 1905 and 1910 high-class work formed any large proportion. Yet even the unarchitected 'builders' houses' caught something from example; while thanks to progressive by-laws their standards of sanitation, ventilation, and cubic air-space were steadily rising. Municipal housing schemes aimed in general (though not always) somewhat higher. The cottage estates of the L. C. C. designed by W. E. Riley take rank with the best work of the kind done in the period.

British painting still followed at a distance the progress of French. No single figure stood out, unless Sargent, who himself still changed and experimented. But the number and diversity of talents was large—possibly larger than ever before The vogue of subject-pictures waned decidedly, portraits and landscapes prevailed, the post-war taste for still life had not begun. Impressionism was the ruling influence, but older styles held popularity, and at the other end post-impressionism struggled for a foothold. In the late autumn of 1910 the holding of the first large London exhibition of French post-impressionist pictures marked a definite

[1] Afterwards Lord Leverhulme.

stage in the development of British taste. There was keen controversy,[1] but the innovators were ably championed in the press, and the holding of a second post-impressionist exhibition in 1912 confirmed their influence. Meanwhile the popular interest in painting was being steadily widened and deepened by the growth of public art-galleries In 1903 the National Art Collections Fund was formed, to which so many famous acquisitions have since been due. Before long it was to have a hard task saving British-owned masterpieces from going to the United States, under the double urge of death duties in England and acquisitive millionairedom in America. Holbein's *Duchess of Milan* hangs in the National Gallery to-day, because in 1909, when the duke of Norfolk wanted £72,000 for it and the treasury would only contribute £10,000, the National Art Collections Fund stepped in, and found an anonymous donor of £40,000 to make up the deficiency then outstanding. But in 1911, when an American offered Lord Lansdowne £100,000 for Rembrandt's *The Mill*, nothing could save it, and one of the three or four finest landscape paintings in the world left England for ever In 1912 other Rembrandts only less important were sold by Lord Wimborne to the same American for £200,000, and again nothing could be done. The action of these wealthy noblemen in ignoring the national loss which their sales involved may be variously estimated. Minor art-treasures crossed the Atlantic in a stream. Meanwhile the National Gallery, which in 1911 had been enlarged by five rooms, received in 1912 the great Layard Collection, the most valuable bequest till then ever made to it.

Music continued to develop rapidly. Any comparison of a typical London orchestral programme in 1910 or thereabouts with those of a quarter of a century earlier will show, by the form no less than by the contents, what a long advance in musical appreciation had been made by audiences, at any rate in the metropolis. Even opera went ahead. It remained (all of it, that is, which was performed with adequate orchestras) on its exotic society-function basis; but in the last years of the period it reached under Sir Thomas Beecham higher standards of musical interest than it had ever had in England before In a permanent

[1] Even Sargent took sides against the new-comers Of the pictures in the first exhibition he wrote: 'The fact is that I am absolutely sceptical as to their having any claim whatever to being works of art, with the exception of the pictures by Gauguin that strike me as admirable in colour—and in colour only'

aspect, however, the chief musical events of the period are two—the rescue and recording of English folk-song at the last moment before universal standardized education would have obliterated it, and the rise, headed by Elgar, of an important school of British composers.

The first serious collector of English folk-songs had been the Rev. S. Baring-Gould, a Devonshire country parson of the old highly cultivated type, who besides writing some successful novels and two of the best-known modern English hymns,[1] published in 1889 a collection of songs and tunes obtained from old singers in his native county. Before him it had been widely assumed that (save perhaps on the Scottish border) the English people, unlike the Germans, Scots, Welsh, and Irish, had no folk-songs worth mentioning. His discoveries were quickly followed by others in other parts of England. Collections by W. A. Barrett, F. Kidson, and Lucy Broadwood (with J. A. Fuller-Maitland) appeared within four years; and in 1898 the English Folk-Song Society was founded. Yet all this was but preliminary to the main effort. About 1903 the Rev. C. L. Marson, vicar of Hambridge in Somerset, discovered folk-songs among his parishioners, and in 1904 he brought down a musical friend from London, Cecil Sharp (1859–1924), to record them. The back parts of pastoral Somerset were then with similar parts of Lincolnshire—probably the most isolated in England. Sharp recorded nearly one hundred folk-songs in Hambridge alone, and by Marson's aid he was enabled to collect a great many more in the regions round. Five volumes edited by Marson and himself were the result. Thenceforward he made folk-music his life-work. Besides songs he collected dances, and having mastered the old dance-notation proceeded (after 1906) to launch the folk-dance movement also. In these ways a unique and precious heritage of the English people, both in music and dance, was saved from extinction within the narrowest possible margin of time. In the story of its rescue Sharp's name leads all the rest, for his wonderful energy and enthusiasm put him easily at the head of the achievement. But the first initiatives, it will be seen, came, as was almost inevitable in those days, from the cultivated country clergy. Had the work been done a century earlier, it might have made a contribution to English literature as well as to music. But words corrupt more easily than tunes; and the versions in which

[1] *Onward, Christian soldiers* and *Now the day is over*.

they survived, at that late stage in the dissolution of English country life, were mostly of little interest save to ballad specialists

Elgar, whom we saw completing *The Dream of Gerontius* in 1900, had between then and 1914 a period of exceptional productivity. Within it came his two other great oratorios, his two symphonies, his violin concerto, and his symphonic poem *Falstaff* These, though differing in value, were all works on a great scale and in the grand manner; and together with the best of the many lesser works which accompanied them they formed such a body of musical creation as no other Englishman had come near achieving in the two centuries of modern music. This was well recognized in England, and receptions like that of his first symphony (performed over 100 times in two years) had undoubtedly an encouraging effect on the younger generation of English composers. Vaughan Williams's *Sea Symphony* appeared in 1910, his *London Symphony* in March 1914 Rutland Boughton, working under great difficulties without an orchestra, completed *The Immortal Hour* in 1914, and it was given that year at Glastonbury with piano accompaniment; though for proper performances it had to wait till after the war. Holst and Bax also began publication, though only with minor works. The musical idiom of all these younger composers was influenced—in some cases greatly—by the folk-song discoveries; Elgar alone, having formed his style earlier, remained unaffected by them. Another composer very active at this time, and sometimes claimed for the English school, was Delius. Of German descent, but born in Bradford and brought up there as an Englishman till manhood, he had lived subsequently in America and Germany, and since 1890 in France. Down to 1908 none of his works were first performed in England. But in that year three important ones were, two under his own baton; and thenceforward his contacts with and influence on British music became considerable.

The striking feature on the side of books was the rapid growth in their numbers following the Balfour Education Acts. It parallels the rapid spread of secondary and university education. The annual total, which we saw to have been 5,971 in 1899, and which in 1901 (during the Boer war) dropped below 5,000 works, was 6,456 in 1904, 8,468 in 1910, and 9,541 in 1913. Because the *Publisher's Circular* changed its classification, there are some important classes, e.g. novels, whose increase it is not

possible exactly to determine as between 1901 and 1913. But books on science were enormously multiplied;[1] those on medicine more than doubled; history and biography rose from 438 to 933, poetry and drama from 202 to 466; and the books classed in 1901 as 'political economy, trade, and commerce', which then numbered 351, appear in 1913 to have had not less than 1,039 counterparts.

In point of literary distinction the drama easily takes first place. There now burst upon England in full flood the long-hoped-for theatrical renaissance; and the twenty years' struggle of the reforming critics and pioneers bore memorable fruit in the brilliant output of Bernard Shaw, Galsworthy, Barrie, and many others. For the first time since the age of Shakespeare the English stage led Europe in the quality of its authorship. English plays were translated into many languages, and acted in most of the leading cities of two continents

The virile and overflowing personality of Shaw set up from the first a strong current away from the drama that creates characters to the drama that discusses ideas. They were the ideas of the time[2]—removal of inequalities between the sexes and between classes; emancipation from traditional taboos; re-apportionment within the community of the fruits of modern science and industry; re-casting of the political structure to meet modern conditions; and, amid all iconoclasms, the recurring search for some religious outlook, which should restore meaning and purpose to life as a whole Shaw's own genius was corrosive and dissolvent; he succeeded much better as destroyer than as constructor, yet he believed himself to be most interested in the constructive side. Problems of property and marriage, socialism, imperialism, feminism, trade-unionism, Irish nationalism, syndicalism, Salvationism, and divorce—such were the typical *motifs* of Edwardian and early Georgian drama. Galsworthy, with a tidier and less discursive mind than Shaw and an outlook more definitely humanitarian, specialized also on a topic of his own, the reform of criminal justice and imprisonment Here the great work of the home office and Sir Evelyn Ruggles-Brise, described in the previous chapter, derived material help from

[1] In 1901 'arts, science, and illustrated works' covered 310 volumes In 1913 'science' alone accounted for 594 and 'technology' for 593. The influence of modernized education is very apparent in these figures.

[2] The stage did not merely reflect them as such It helped powerfully to make them such.

the dramatist, whose plays *The Silver Box* (1906) and *Justice* (1910) left their mark deeply on public opinion. Barrie, less concerned with argument and more with the play of a whimsical imagination, might in another age have forborne discussions altogether. It shows the strength of the current that he did not.

Along with the rise of dramatic composition went a reform in dramatic representation. Indeed the one was necessary for the other, since the old system of actor-manager stars had been carried to a pitch where it was normally incompatible with a good drama. For the new system, which brought into the theatre as its presiding genius the 'producer', nobody in England did more pioneering work than H Granville Barker. It was the Vedrenne-Barker management at the Court Theatre that first successfully presented Shaw; and under it all the greatest plays of his prime were given. But the old system died hard, ably incarnated by two great actor-managers—George Alexander, for whom Pinero and Henry Arthur Jones wrote notable plays, and H Beerbohm Tree, a true showman, in whose hands the stage with built-up scenery and realistic decoration reached a sort of finality. No more typical production in that kind could be cited than his of *The Tempest* in 1904. As the actor-manager played Caliban, the piece was drastically cut in order to render the monster, as far as possible, its hero; this would have made it impossibly short, but for the very long waits requisite to shift the solid scenery, which with the *ne plus ultra* of sumptuous realism displayed the varied wonders of Prospero's isle. Shakespeare went on being so treated till 1912, when Tree staged *Othello* on similar lines. But in that year Granville Barker invaded the field, and by his productions of *The Winter's Tale* and *Twelfth Night*, followed in 1914 still more brilliantly by *A Midsummer Night's Dream*, made the old method appear obsolete. The principles now generally followed in Shakespearian production—to play the author's text with as few cuts as possible, to say the verse as verse, to facilitate changes of scene by reducing built-up scenery to a minimum and playing short scenes on an apron-stage before a back-cloth, to forgo the attempt at realistic backgrounds and concentrate upon the stage picture itself, relying mainly on costumes and lighting—were here all practised for the first time together. Barker, of course, was not their sole inventor; most of the separate ideas had come from others, notably from the actor William Poel and the stage-designer Gordon Craig. But the revolution

was much more than technical, and went deeper than is now, perhaps, easily realized. It enabled Englishmen, for the first time for very many generations, to see worthily on the stage the same Shakespeare that they could read in the study, and in this way restored to them a lost heritage—almost as the rediscovery of folk-music and dancing had done.

Outside London the drama was developed at two independent centres—the Abbey Theatre in Dublin and, later, the Repertory Theatre in Manchester. Both were made possible by the generous enterprise of the same lady, Miss Annie Horniman. The Dublin theatre, while using the English language, had behind it the imaginative resources of a distinct though small nation. It produced a body of highly original literature, and formed a theatrical style of its own. The Manchester experiment disclosed rather the poverty of the English provinces in creative talent, owing to the drift of literary aspirants to London. It brought forward a number of plays by provincial writers; but only one of its successes—Stanley Houghton's *Hindle Wakes*—has since kept a permanent place

The stage's rival, the film screen, was born in this period, but had not developed very far by the end of it Till 1914 it was still mainly confined to a variety entertainment, its possibilities for story-telling and drama only slowly emerged. The performances, to which admissions were all very cheap, were held as a rule in small extemporized or adapted halls, and it was still debated whether 'cinema' should be spelt with a 'c' or a 'k', and on what syllable it should be accented. Such as they were, English films held their own fully against American. It was the closing of English studios during the war which gave the Americans their great subsequent lead

Apart from the drama, the novel was now the only popular literary form. Its monopoly had grown up with the growth of women readers, who had gradually become the larger portion of the reading public, and therefore the most attractive to publishers To an increasing extent it was coming also to be the product of women writers; though here, again, pre-war tendencies had not expanded to the post-war degree. The eminent novelists of the period—H. G. Wells, Arnold Bennett, Galsworthy, Conrad, and George Moore—were all men. But most of them were conscious of the sex of their audience. Themes of masculine adventure, such as had been prominent in the previous

generation, passed now into the background; the adventure of sex, seen increasingly through the heroine's rather than the hero's eyes, took their place Conrad is the exception, but Conrad, a foreigner who had come into English letters late in life,[1] remained in some ways a little archaic. A large proportion of the best novels reflected the keen interest of the time in social criticism and social reform Here Wells and Galsworthy led, the books of the former rivalling the plays of Bernard Shaw in their wide effect on educated public opinion. Wells, however, was more constructive than Shaw, he not merely swept away the old cobwebs, but indirectly in his novels and directly in his brilliantly written Utopias himself spun many new ones. The preoccupation of literature with politics culminated about 1910. After the exhausting conflicts of that year, with its two general elections, a sort of fatigue set in; and in the remaining years before the war 'pure' literature, as preached by writers like Henry James and George Moore, showed distinct signs of re-asserting itself. How far it was a gain, and whether even as English prose posterity will ultimately value Moore's work above the best of Shaw and Wells, it is too early to judge with finality

In the field of poetry there might well have been more good writers, if there had not till 1911 been virtually no audience for them. Between 1903 and 1908 Thomas Hardy published his epic verse drama, *The Dynasts*. It would have fallen totally flat but for his reputation as a novelist, and it was not until after the outbreak of the European war that its merits obtained any wide recognition. C. M. Doughty's poetry (nearly all published within this period) was neglected from start to finish So things went on till in 1911 a much younger man, John Masefield, issued the first of his longer narrative poems, *The Everlasting Mercy*, and it achieved real popularity. Others followed from him at no very long intervals—two of more merit and almost equally popular. The excitement they set up resembled (though on a smaller scale) that over Scott's and Byron's narrative poems about a century earlier, and rendered to new poetry generally the same vital service that those had in their day—that of causing the public to take notice of it Between then and the war a number of the younger writers secured some degree of recognition; and the first volume of *Georgian Poetry*, edited by Edward

[1] Born a Russian Pole, he entered the British merchant service in early manhood, and rose to be a captain in it, before retiring on his success as an English novelist.

Marsh in 1912, gave them a kind of collective prestige. The appointment in 1913 of Bridges to be poet laureate had also a stimulating effect; for (unlike his predecessor) he was a poet in whom his fellow poets felt their calling honoured.

The young school then arising, though not revolutionary by post-war standards, nevertheless began a departure greater than any in verse since the Renaissance reached England. Its character (still often misconceived) may be best seen from its causes. They were scholastic. From Henry VIII's reign to the end of Victoria's nearly all the chief English poets had in boyhood been taught Latin verse, and expected from their critical readers at least a grounding in the Graeco-Roman tradition. Down to 1890 that had been the portion of all the abler boys, not only in the public schools but in the dozens of ancient grammar schools scattered up and down the country After 1890 these last were generally modernized; laboratories were built, Greek disappeared and Latin shrank to its rudiments, chemistry, electricity, and physics were substituted. The new secondary schools started on similar lines; and early in the twentieth century, following the adoption of the school certificate system, most of the public schools themselves confined advanced classical study to a minority of their boys The work of poets like De la Mare and D. H. Lawrence reflects the change. Theirs are clearly attempts to develop English verse as if such ideas as iambuses and trochees, anapaests and dactyls, had never existed, and the very forms of verse-music must be wrought *de novo* out of rhythms and undertones in the spoken language. These tendencies (as also the cognate tendency to be interested in no poetry but lyric) were carried much farther after the war; but, as a matter of history, they began before it.

So did a very marked alteration in the language employed for ordinary English prose. Down to about 1900 this had been influenced especially by two facts—that most readers were saturated with the Bible, and that men with more than an elementary education had been taught Latin But the multitude of new readers out of whom the Harmsworths and their congeners made fortunes knew little Bible and no Latin, and had to be written for with a different and, save on the side of slang, much less copious vocabulary. Beginning at the halfpenny end of the press and soon spreading to novels, the new vocabulary gradually ousted the old, and, particularly by its de-Latinization,

has created a distinct barrier of language between the modern Englishman and most of his country's greater literature from Milton down through Burke to Macaulay. That barrier was not so high in 1914 as it is now, but it was already there, and was growing.

Among books of learning the tendency to specialization and so to co-operative effort grew now very marked The advance of general knowledge outstripped individual capacity, not merely in the natural sciences (where 'teams' of laboratory workers came into play), but in such fields as history, geography, or sociology The *Cambridge Modern History* (originally planned by Acton), the *Cambridge Mediaeval History*, and the *Cambridge History of English Literature*—each parcelling out its subject among a number of specialists—appeared at this time. So did two many-volumed *Histories of England*, each the work of a team of able authors The largest individual enterprise was the continuation of Sir J. G. Frazer's *Golden Bough*—carried eventually to eleven volumes and exerting, especially in its later phases, a profound influence on thought Among subjects that acquired new prominence now was the academic study of English literature: Courthope, Saintsbury, W. P. Ker, A. C. Bradley, and Walter Raleigh were all active in these years Among new subjects might be ranked the application of psychology to the study of politics, pioneered in England by Graham Wallas and W. McDougall, and earlier in France by G Tarde. In philosophy the English idealist school had passed its nineteenth-century prime. Pragmatism, psychology, and from about 1911 the teaching of Bergson, provided alternative channels of interest, and on a more popular level the attention paid to Nietzsche and Samuel Butler was not inconsiderable

On the whole pure philosophy lost ground as an influence on general thought, and the natural sciences, formidably abetted by the new psychology, revived their claims to be heard outside their immediate sphere. There came at this time a wave of fresh thought-disturbing discoveries Rontgen's (1895) of the X-rays and Madame Curie's (1900) of radium and radio-activity started the great twentieth-century advances in the science of physics, in which England took a substantial part through the work, in particular, of J. J. Thomson, E. Rutherford, and F Soddy. The atom ceased to be a rigid unit; matter was reinterpreted in terms of energy; the ultimateness of the chemical

elements disappeared, and prospects were opened up of their transmutation.[1] On quite another side mathematical physics developed in the hands of Minkowski the conception of a four-dimensional world with three co-ordinates for space and one for time. Minkowski's was a daring advance from the nineteenth-century work of Riemann, and has in turn an important relation to the work of Einstein. The latter reached his 'special' theory of relativity as early as 1905, but his 'general' theory was not developed till 1915. Already, however, just as radio-activity had destroyed the postulates of the chemists, so mathematical physics was destroying those not only of Euclid but of Newton.

Hardly less thought-disturbing was the progress made in physiology and in operative surgery. Science revealed many hidden secrets in the structure and working of the human body—the functions of ductless glands and hormones, and later the function of vitamins in food. The influence, that the hormones were shown to exert over mental activity and personality, seemed ominously to extend the mastery of the body over the mind. Simultaneously Pavlov, by his study of 'reflexes', was steadily widening the areas of conduct that can be explained by unreasoning reactions of the organism to physical stimuli. Moreover, in the hands of the psychologists mind itself was being explored by scientific analysis like any other phenomenon. From 1906 Freud was working at Vienna with Adler and Jung, and gradually building up his theory of the sub-conscious. His ideas did not become widely talked about till later than that; but they were getting known before the war.

The general effect of all these discoveries was to suggest, if not a material, at any rate a mechanistic universe, and to undermine traditional beliefs in the 'soul' as an entity. Parallel to the advance of psychology was that of anthropology; stimulated both by studies of contemporary savages, like those of the Australian blackfellows by Spencer and Gillen, and by the disinterment of dead civilizations, like that of Minoan Crete by Sir Arthur Evans. Religion itself came to be seen in a new light as the result of Sir J. G. Frazer's comparative study of myths and beliefs. It was shown that, however much religions might claim to differ, their sacred narratives, dogmas, and rituals conformed to a few simple *motifs* and patterns found all over the world, and highly-developed theologies were rooted in ideas associated with

[1] Which was not, however, actually demonstrated until 1919 (by Rutherford).

primitive magic. This outlook on creeds, though it did not disprove them and was equally compatible with belief and disbelief, tended to blunt intolerance on both sides. But while it caused the standpoints of men like Bradlaugh or even Huxley to appear obsolete, it equally helped to subvert the earlier disciplines, which had employed religious sanctions to maintain high standards of ethical conscientiousness.

The varied exploits of science, and such new exploits of technology as the conquest of the air, widened the range and scope of human power But paradoxically there went with this a growing sense of limitation and constriction. The rapid rise of populations helped it, the individual felt dwarfed by their mass, the vast urban cemeteries with their labyrinths of tombstones seemed fit end for a life as crowded, blurred, and impersonal as that of the old villages had been detached and distinct. It was the same thing with the world's geography; the map was getting filled up. Nearly everything worth exploring had been explored In 1909 the American, Peary, reached the North Pole, and in December 1911 the Norwegian, Amundsen, reached the South These were epic feats, and even more appealing to the imagination was the heroism of the English party under Captain R. F. Scott, who reached the South Pole thirty-three days after Amundsen, and perished in the blizzards on their way back [1] Yet Polar exploration, after all, was a barren affair compared with what had occupied Livingstone or Stanley; it became reduced almost to an exercise in heroism for heroism's sake The severe clashes between Great Powers over Fashoda and Morocco betoken on the international plane the same sense of constriction within a pre-empted world In England the annexationist imperialism of the nineties died down in the following decade, not merely owing to the disillusionment of the South African war, but also because people suddenly realized that little was left to annex, and that the problem for Great Britain, with her vast and much-envied possessions, was not to get but to hold

Chafing against the bars were many impulses of 'escape' One was the revolt against urbanism—with the slogan 'Back to the Land'. It took many social forms, from week-end cottages to the

[1] A famous incident in this story, the death of Captain Oates, illustrates the shifting of moral emphasis at this time. Oates committed suicide But because he did it in hope to save his fellows, his action was universally approved. Clergymen preached sermons in praise of it.

'simple life'; and many political forms, from passing a variety of not very successful Small Holdings Acts to penalizing with death duties the country landowners, who were regarded as blocking access to the soil. Another was the escape back to childhood, catered for by Kenneth Grahame's *Golden Age* (1895) and still more by Barrie's play *Peter Pan* (1904), the 'boy who never grew up'. *Peter Pan* and a host of boys' books exemplify yet another escape—that to the wild, to the life of the scout and the frontiersman, and the primitive sensations that civilization, in proportion as it holds sway, eliminates. Based on this was Sir R. S. S. (afterwards Lord) Baden-Powell's enormously successful invention, the Boy Scout movement. Baden-Powell's starting-point was the Boys' Brigade, in which he became interested about 1905, when it was already twenty-one years old and numbered 54,000 boys. The Brigade satisfied boys' taste for drilling and playing at soldiers; but he saw that for providing an 'escape', as also for building up a resourceful character, the scout was a much better model than the drilled soldier. His book *Scouting for Boys* (1906) was the result; scout troops were started about 1907; in 1909 no less than 11,000 boy scouts paraded at the Crystal Palace. In that year the Girl Guide movement was added by the founder. Thenceforward, despite the interruptions of the European war, the two movements each progressed, till they have gone far beyond Great Britain and been adopted in one form or another by every civilized people. We saw in Chapter V how England invented the outdoor games, lawn tennis and football, whose cult is now world-wide. The Boy Scouts and Girl Guides may count as an English contribution to world civilization hardly less remarkable, though the credit for their invention and development belongs far more to one man.

Costume continued to grow more rational and hygienic. For men the convenient lounge coat grew almost universal. Homespun tweeds came into fashion, and the wearing of grey flannels extended its range. Longer coats and top hats were on week-days practically confined to London. From 1906 onwards the morning tail-coat gradually superseded the frock-coat save for a few ultra-formal occasions; though in 1905 a frock-coat was still more or less *de rigueur* for a luncheon-party at a large London house. The sartorial habits of the house of commons elected in 1906 influenced this and other changes. Lounge coats and lower hats

were still thought too informal for well-dressed gatherings; though barristers and some other professional men developed the wearing of a black lounge coat with top-hat, and a similar replacement of tails by the lounge form produced for evening wear the dinner-jacket. This last only became general, however, after 1910; and till some time after 1914 there was no rigorous division between a white-tie and a black-tie *ensemble*, such as now compels gentlemen to keep two sets of evening dress.[1]

Women's clothes for everyday wear became lighter and less restrictive. The disappearance of heavy petticoats was now followed by a reduction in whalebone corseting, as wasp waists went out of fashion. Skirts came higher off the ground than they had been within the life of any one then living; and elderly people early in the century were fond of complaining that they exposed not only the ankle but two or three inches above it. This was a real gain for activity; and though a fashion for tightening the skirt about the knee (the so-called 'hobble' skirt) somewhat offset it, the more extravagant forms of this were not universal, and their effects were soon mitigated by pleats.

Taking the wear of both sexes, but especially that of women, the greatest feature of the period was the immense development of ready-made clothes. These were so much improved in quality, that they no longer differed obtrusively from the bespoke garments worn by richer people; while their cheapness enabled all the poorer classes to raise their standards of clothing. Although it remained for the war to level up the dress of people in all classes to the democratic degree which has since been ordinary in England, a distinct start was observable some years before 1914 Its importance will not be under-estimated by any one who remembers what a cruel and unescapable badge of inferiority clothes had till then constituted

In social life these thirteen years must indeed be recorded as years of enlightenment and progress There went on through them a vast, silent supersession of the old snobbish class-contempts. After 1906 the hitherto ruling ranks in society, however unwise some of their political reactions may have been, realized increasingly in their private relations the need for being less

[1] The much earlier predecessor of the dinner-jacket was the smoking-jacket. Though coloured, frogged, and sometimes of rich effect, this was a far less formal garment, being originally not worn at dinner but slipped on in the smoking-room afterwards. In French the dinner-jacket has inherited its name—*un smoking*.

exclusive, and for meeting the trend to equality half-way. And already before 1914 the spread of education made this more possible. There resulted (as perhaps is inevitable in such cases) a decay of polished manners at the top; but against this must be set the rise in the general level.

In domestic relations there was some decrease of clannishness. Smaller families entailed fewer cousins. The progress of women towards equality stimulated a demand for reform of the divorce laws. In 1909 the first Lord Gorell, who had been president of the probate, divorce, and admiralty division of the high court, moved a motion in the house of lords which resulted in his being appointed chairman of a strong royal commission on the subject. In 1912 the commission produced two reports. The minority, consisting of an archbishop and two other strict anglicans, was against granting divorce on any ground save adultery, and consequently opposed all major changes; though they agreed that newspaper reports of divorce proceedings should be restricted, that women should be entitled to divorce on the same terms as men, and that a Poor Persons' Procedure should be introduced to render divorce no longer beyond the means of the great majority of people—recommendations which were subsequently adopted in 1926, 1923, and 1922 respectively. The majority—a very weighty body—went farther; they urged that cruelty, desertion for three years, and (with certain provisos) habitual drunkenness, incurable insanity, and a life sentence of imprisonment, should each be a ground for divorce. These recommendations corresponded to the best non-ecclesiastical opinion at the time; but it must not be thought on that account that divorce was then as lightly regarded as now. Adultery remained a ground for social ostracism; and persons divorced for it, or co-respondents, were just as liable to be driven from politics as Parnell or Dilke had been. The subsequent laxer view came in with the war as the result of war-marriages, and is one of the relatively few changes that the war may be said to have originated.

Elsewhere, and to sum up these immediate pre-war years, it may be said, so far as England is concerned, that most of the familiar post-war tendencies were already developing in them. The war altered direction less than is often supposed. It accelerated changes—at least for the time being; but they were germinating before it. It may be that some would have been carried through more wisely but for the war's revolutionary

atmosphere. It may be, on the other hand, that an undistracted concentration upon home issues would itself have bred some kind of revolution—a view to which the pre-war loss of balance about home rule lends a certain colour. All that is now a matter of speculation What is not, is the seething and teeming of this pre-war period, its immense ferment and its restless fertility.

APPENDIX A

Gladstone's Attitude to Home Rule before the General Election of 1885

THE obvious dilemma which any student of Gladstone's evolution towards home rule has to meet is this If he was not a home ruler till after the general election had shown that he could only obtain a majority by becoming one, the taunt of corrupt and hasty opportunism would seem justified. If, on the other hand, he was a home ruler before the election, why did he leave Parnell so much in the dark that the latter cast the Irish vote on the conservative side, and thereby, as it turned out, made the passage of home rule impossible?

We know now from overwhelming documentary evidence that the charge of corrupt haste—though in the light of the knowledge vouchsafed to them at the time his enemies can scarcely be blamed for entertaining it—was in fact entirely untrue It remains therefore to examine the other horn of the dilemma Why did Gladstone conceal his thoughts before the general election?

The enormous collection of the Gladstone Papers is now in the Department of Manuscripts at the British Museum Lord Morley had them all available to him when he wrote his *Life*, but, on this episode, he did not cite some of the most significant. His account of it, while not exactly misleading, seems rather needlessly confusing. Gladstone's attitude was in reality tolerably simple. It is believed that the version given briefly above in Chapter III is correct, but the reader may welcome further detail. What follows is based mainly, it will be seen, on the unpublished Gladstone Papers, which, since the immense task of arranging them is still in progress, can only be cited at present by the dates of the separate documents The italics used —save in two instances, which are noted—are the present author's

The correspondence between Gladstone and Mrs O'Shea took an interesting turn early in August. She had written and offered to send him a 'paper' by Parnell, setting forth the terms which the Irish leader would wish that the liberal leader might propose for Ireland. In reply he wrote on the 8th (the italics here and below are not his but the present writer's):

> 'You do not explain the nature of the changes which have occurred since you sent me a spontaneous proposal, which is now, it appears, superseded. The only one I am aware of is the altered attitude of the Tory party, and I presume its heightened bidding *It is right I should say that into any counter-bidding of any sort against Lord R. Churchill I for one cannot enter*
>
> '*If this were a question of negotiation*, I should have to say that in

considering any project which might now be recommended by Mr Parnell I should have to take into view the question whether, two or three months hence, it might be extinguished like its predecessor on account of altered circumstances.

'*But it is no question of that kind*, and therefore I have no difficulty in saying it would ill become me to discourage any declaration of his views for Ireland by a person of so much ability representing so large a body of opinion I have always felt, and I believe I have publicly expressed, my regret that we were so much in the dark as to the views of the Home Rule or National party, and the limit I assign to the desirable and allowable is one which I have often made known in Parliament and elsewhere I should look therefore to such a paper as you describe and appear to tender as one of very great public interest.'

Here we see the formula by which he took his stand The conservatives, who are the government, are bidding actively to prolong Parnell's alliance He declines to 'counter-bid' against them Therefore, though he would be glad to read Parnell's paper as 'of very great public interest', he will not negotiate on it

This was a high-minded attitude, but, of course, of no use to Parnell; who was busy negotiating with the other side, and had seen Lord Carnarvon just a week before. He therefore did not send his paper at that time. In October, however, as the general election drew nearer, he tried again. On the 23rd, sixteen days after Lord Salisbury's Newport speech, Mrs O'Shea wrote to Gladstone seeking to get a liberal seat in Ulster for Captain O'Shea, and at the end of a long letter slipped in the remark that she had the paper before mentioned ready whenever he cared to receive it. By return of post Gladstone replied, referring the O'Shea matter to his chief whip, Lord Richard Grosvenor, but adding as to the paper that he would 'be happy to receive' it. On the 30th Mrs O'Shea forwarded it to him, enjoining the strictest confidence.

To this remarkable missive Gladstone drafted two different replies, which both still exist in his own handwriting. The first of them is perhaps the clearest expression of his attitude which we have. In it he says:

'*You are already aware that I could not enter into any competition with others* upon the question how much or how little can be done for Ireland in the way of self-government Before giving any practical opinion, I must be much better informed as to the facts and prospects on both sides of the water, and must know with whom and in what capacity I am dealing

'Further I have seen it argued that Mr Parnell and his allies *ought to seek a settlement of this question from the party now in office, and I*

am not at all inclined to dissent from this opinion, for I bear in mind the history of the years 1829, 1846, and 1867, as illustrative of the respective capacity of the two parties to deal under certain circumstances with sharply controverted matters. In this view no question can arise for those connected with the Liberal party, until the Ministers have given their reply upon a subject which they are well entitled to have submitted to them.'

This too revealing draft, to which we must return in a moment, was never sent. Instead, a second draft, seemingly made at the same time, was, as would appear from a note on it in Gladstone's handwriting to Lord Richard Grosvenor and pencil adaptations in Lord Richard's, sent in the form of a letter from Lord Richard as follows:

'Mr. Gladstone wishes me to thank you for the paper which you have sent him containing the views of Mr Parnell on the subject of Irish Government. The important subject to which it relates *could but be considered by the Government of the day*, but all information in regard to it is of great interest to him. He will strictly observe your injunction as to secrecy and intends to take a very early opportunity in Midlothian of declaring my [*sic*] views of the present position of the Liberal and Conservative parties in relation to Mr. Parnell and his friends, and to the policy they may propose to pursue.'

This evasive reply and Gladstone's equally evasive public utterances were all that Parnell had to go on before the general election. He held the door open till almost the last moment, and then threw the Irish vote on the conservative side.

The first draft shows plainly how Gladstone had pondered the precedents of catholic emancipation, the repeal of the corn laws, and the democratization of the franchise, and was casting Lord Salisbury for the part played in 1829 by Wellington and Peel, in 1845-6 by Peel, and in 1867 by Disraeli. This is the key to certain passages in the documents quoted by Morley, e.g. Gladstone's letter to Granville of 5 October 1885 (*Life*, bk. ix, c. 1), which without it are almost enigmas, as also to some sentences in the Midlothian speeches. Deeply aware of the advantages accruing to the public on the previous occasions, he perhaps thought too little of the penalties which the role had in each case entailed on the player. Yet the whole situation created by the Salisbury-Carnarvon alliance with Parnell pointed to the analogy, and we know now that Salisbury and Carnarvon were themselves thinking of it.

Thus Sir A. Hardinge's *Life of Carnarvon* records (iii. 164) of July 1885, when Carnarvon was mooting his plans to meet Parnell:

'A serious discussion ensued with Lord Salisbury, the latter thought that many of the Party would be ready to accept a "forward policy", but he himself could not play Peel's part in 1829 and 1845.'

Nor was this the only occasion on which it crossed their minds. A memorandum by Carnarvon (Hardinge, *op cit.* iii 199) of a conversation with Salisbury on 20 November 1885 shows that the same point was raised by Salisbury then, and Carnarvon tried to parry it by saying that circumstances were different Salisbury's reluctance to play Peel's part may be the more readily explained, if we remember (1) that he had not by that time any assured position as leader of his party, such as Peel had, and he himself acquired later; (2) that just below him stood the ambitious Lord Randolph Churchill, who was modelling his career on Disraeli, and who, despite having been to the fore in the June compact with Parnell, must have seemed obviously cast to play against his leader the part played in 1845–6 by Disraeli against Peel

Gladstone was not wholly uninformed about what the conservative premier was thinking. In 1884 Canon Malcolm MacColl had been a go-between between the two men in the redistribution controversy. In the latter part of 1885 he tried to be one in regard to home rule. And as late as 22 December 1885 he wrote in a letter to Gladstone (G W. E. Russell, *Malcolm MacColl. Memoirs and Correspondence*, 122)

> 'I found Lord Salisbury, as I gathered, prepared to go as far probably as yourself on the question of Home Rule; but he seemed hopeless as to the prospect of carrying his party with him.'

In the same letter he reports Salisbury as saying that his followers and colleagues would 'devour' him Yet even later, on 28 December 1885, he wrote to Salisbury (*op. cit* 126).

> 'The two points on which he [Gladstone] seemed to feel most strongly were that an honest attempt to settle the question in this Parliament—or rather to deal with it in this Parliament—could not be avoided without danger, and *the most hopeful way of dealing with it would be that your Government should take it up on lines which he could support as Leader of the Opposition* This would enable you to deal with it more independently, than if you were obliged to rely on the Irish vote'

Whatever else Gladstone wanted at that time, he obviously was not eager for office

It remains briefly to trace the subsequent correspondence between him and Mrs. O'Shea (for Parnell) in that year. On 10 December she wrote to him to complain that she had still no reply about the 'paper', adding that she had private information that Parnell was to see 'Lord C' in a day or two. [In the event he did not.] Gladstone replied (12 December 1885) saying:

> 'I am glad to hear that Mr. Parnell is about to see "Lord C" (Carnarvon, as I read it). *I have the strongest opinion that he ought if*

he can to arrange with the Government, for the plain reason that the Tories will fight hard against any plan proceeding from the Liberals all or most of the Liberals will give fair play, and even more to a plan proceeding from the Tories.'

After some other remarks he added that

'. . . no such plan can properly proceed from any *British* [*sic*] source but one, viz the Government of the day.'

And he closed by propounding five questions on specific points for Parnell to answer.

On 15 December Mrs O'Shea wrote back that she was authorized to reply in the affirmative to Gladstone's five questions, and enclosed a long answer from Parnell, addressed to herself and dated the 14th In it the Irish leader refers to details in the previous scheme, which prove it to have been much more moderate than the 1886 Home Rule Bill He says that he had always felt Gladstone to be the only living statesman who had both the will and the power to carry a settlement that it would be possible for him to accept and work with, adds that he doubts Lord Carnarvon's power to do so, though he knows him to be very well disposed, and ends by saying that, if neither party can offer a solution of the question, he would prefer the conservatives to remain in office, as under them they could at least work out gradually a solution of the land question.

Gladstone's rejoinder was written on 16 December 1885, the day before the first publication of his son's unlucky disclosure In it he shows himself still pre-occupied by the delicacy of his position·

'I do not know that my opinions on this great matter are unripe. but my position is very different from that of Mr. Parnell He acts on behalf of Ireland, I have to act for Ireland inclusively, but for the State. (Perhaps I should rather say *think* or *speak*) [*sic.*] He has behind him a party of limited numbers for whom he is a plenipotentiary fully authorised. I have a large party behind me whose minds are only by degrees opening, from day to day I think, to the bigness and the bearings of the question, and among whom there may be what the Scotch call "division courses".

'*I must consider my duties to the Government* on the one side, to Ireland as represented by him, on the other '

He concludes, still in very hypothetical vein·

'Supposing the time had come when the question had passed legitimately into the hands of the Liberals, I should apprehend failure chiefly from one of two causes

'1. If it could be said that the matter had been settled by negotiation with Mr Parnell before the Tories had given their reply

'2 If the state of Ireland as to peace, or as to contracts, were visibly worse than when Lord Spencer left it.'

Three days later, the day after his son's disclosures appeared in all the papers, came a further letter from him. In it (19 December 1885) he is still loath to give 'some development of the ideas I have so often publicly expressed', and thinks that

> '*duty to the Government (as and while such)*, duty to my own party, and duty to the purpose in view, combine to require that I should hold my ground, should cherish the hope that the Government will act, and that Mr Parnell as the organ of what is now undeniably the Irish party should learn from them, whether they will bring in a measure or proposition to deal with and settle the whole question of the future government of Ireland.'

On Christmas Eve Gladstone wrote again enclosing a memorandum, 'private and confidential'. It begins

> 'My wish and hope still are that Ministers [i e. Lord Salisbury's Government] should propose some adequate and honourable plan for settling the question of Irish Government and that the Nationalists should continue in amicable relations with them for that purpose.'

And farther on he says:

> 'The slightest communication of plans or intentions from me to Mr Parnell would be ineffaceably[1] stamped with the character of a bribe given to obtain the dissolution of the Alliance'

But thereafter followed a clear rupture between Parnell and the conservatives, and two memoranda from Parnell to Gladstone dated 28 December 1885 and 6 January 1886 (still addressed in form to Mrs O'Shea and forwarded by her) mark the first steps to the Gladstone-Parnell alternative.

[1] The MS has 'irrefaceably', but it is not holograph, and the word seems a slip of the copyist

APPENDIX B

The Private Background of Parnell's Career

It is impossible to understand Parnell's extraordinary career without some knowledge of the harem story. Mrs. Parnell's book, which threw half-lights on it, appeared in 1914; but the main final source of elucidation (*Parnell Vindicated*, by Captain Henry Harrison), not till 1931. The chief persons involved besides Parnell were: (1) Katharine O'Shea, *née* Wood, daughter of an English baronet, sister of Sir Evelyn Wood, V.C., afterwards Field-Marshal, niece of Lord Chancellor Hatherley and cousin of Sir George Farwell, the first lord justice of that name; (2) Captain W. H. O'Shea, an Irish ex-officer of Hussars, with dashing extravagant habits, who since his marriage had squandered his money and been through the bankruptcy court; (3) Mrs. Benjamin Wood, a childless, pious, and very rich widow living in a large house and grounds at Eltham (then a Kent village), Katharine O'Shea's maternal aunt and paternal great-aunt, who had been born in 1792, but did not die till 1889. In 1880, when Parnell and Katharine O'Shea fell in love at first sight, the latter had for years ceased matrimonial relations with her husband, to whom earlier she had borne three children. By agreement she lived at Eltham in a smaller house belonging to her aunt (then already 88 years of age), and he in a West End flat which the aunt paid for; he was to visit Eltham on Sundays only, to see his children, and she in return for non-molestation was to help his career on the social side. The externals of a married state were preserved to please Mrs. Benjamin Wood. On the bounty of this aged aunt, whom the niece visited and cared for daily, the whole O'Shea family depended. Mrs. O'Shea obtained from her up to £3,000 a year, and had no hope of future support outside her will.

When the Parnell attachment was formed, the natural thing was for Katharine O'Shea to divorce her husband and marry Parnell; as he was a protestant no great difficulty would have arisen. This was not done because of Mrs. Benjamin Wood. The two lovers, who from 1881 onwards called each other husband and wife and to whom three children were born (February 1882, March 1883, and November 1884—all girls, and none now surviving), settled down to living for the greater part of the year together in the smaller Eltham house, while O'Shea, who suffered no more deprivation of his wife than before, and who had interests of his own elsewhere, put in enough visits to preserve appearances. It was the surprising longevity of Mrs. Wood which prolonged a temporary makeshift for nearly a decade. When she died in 1889 she left £144,000 to her

niece. O'Shea, having for about twenty years lived on money obtained from his wife, had by then become, in effect, a blackmailer He could have been bought off and divorced for £20,000. But the will was disputed at law by some other Woods (including Sir Evelyn Wood), Parnell's own estates were past raising any such sum on; so the money was not forthcoming, and O'Shea brought his divorce suit One result of it was to give him the legal right of custody over Parnell's two surviving daughters, who had been born while the O'Shea coverture lasted. This was a whip-hand which he used even after Parnell's death to extort both money and silence from the widow.

The nine years (1881–90), during which Parnell's relations with Mrs. O'Shea were unknown to the world at large, were those of his greatest public influence, though not, in the main, of his greatest political activity. His haughty reserve and complete refusal to admit his political colleagues into his private life (it must be remembered that nearly all of them belonged to a different stratum of society) helped to keep the secret. Sir W. Harcourt as home secretary was probably the first minister to know that there was a liaison, for his secret service men watched Parnell constantly; and on 17 May 1882 in reference to Kilmainham he told some colleagues (Gwynn and Tuckwell, *Life of Sir Charles Dilke*, i 445 Dilke's record says 'the cabinet', but on this there are some reasons for doubting its accuracy) that Mrs O'Shea was 'Parnell's mistress'. In the years following the Irish leaders who fretted against Parnell's inaction often attributed it to her influence, and the rage of Biggar and Healy in February 1886, when Parnell insisted on Captain O'Shea's being candidate at the Galway by-election, was born of long resentment. Had they read a letter from Mrs. O'Shea to Gladstone in the previous October (which is preserved in the Gladstone Papers) offering to him on Parnell's behalf the Irish catholic vote in four important constituencies, if only he would get O'Shea adopted as liberal candidate for an Ulster seat, they might have been still more indignant For it shows plainly that O'Shea was using the personal situation in order to levy from Parnell political blackmail, which the latter could not choose but pay

Mr Barry O'Brien in his classical biography of Parnell has discussed how far Parnell's long inactivity after Kilmainham, and again after 1886, was due to the liaison He points out that there were two other justifications for it—sound policy, and also the state of Parnell's health, but he grants that the pleasures of Mrs O'Shea's society were a factor. To understand what sort of a factor one must appreciate the nature of the relation. Mrs O'Shea was not a Cleopatra, nor Parnell an Antony. But whereas before 1881 his

psychology had been that of an Irishman living in Ireland, who only visits England on business, after 1881 it became more like that of an Irishman who has settled in England and married an English wife.

Parnell's conduct may be variously estimated. Before he joined Mrs. O'Shea, he had to Healy's knowledge (T. M. Healy, *Letters and Leaders of My Day*, pp 90, 93, 108–10) committed certain acts of profligacy. But his relation to Mrs. O'Shea seemed to the public in 1890 to reflect much more gravely on his character than it really did, since only O'Shea's version of it was heard in the divorce court. The incriminated pair durst not reply, because, once O'Shea had brought his action, their sole chance ever to be free from him was that he should succeed. And in order that he should, it became necessary for him to make out that he had been 'deceived' during a period of no less than nine years. It was this unmerited imputation of special and prolonged duplicity, quite as much as that of immorality, which damned Parnell with the English nonconformists.

APPENDIX C

QUESTIONS OF FOREIGN POLICY

1. *The Role of King Edward*

THOUGH the contrary is still sometimes asserted, the historical evidence seems overwhelming, that King Edward did not exercise over British foreign policy during his reign the influence often popularly attributed to him Attributions, however, may have some importance, even when they are false; and that was the case here

A well-known letter written by the late Lord Balfour to the late Lord Lansdowne in January 1915 (Lord Newton, *Lord Lansdowne*, 293) shows expressly what was the view of its author, and by inference that of its recipient It was that to attribute the policy of the Entente to the king was 'a piece of foolish gossip', and that 'so far as I remember, during the years which you and I were his ministers, he never made an important suggestion of any sort on large questions of policy'. From the king's accession in January 1901 till Balfour's resignation on 4 December 1905 there was no question in foreign policy which did not pass through the hands of one or both of these two ministers, so that their testimony, even if it stood alone, would be impressive. But it does not; all the documentary evidence supports it. Messrs Gooch and Temperley's second volume shows the genesis of the Entente clearly enough It was the work of Cambon (primarily), Lansdowne, and Delcassé King Edward only came in as a late, though very useful, coadjutor in the task of winning over the French people to a policy already embraced by French ministers.

Equally strong is the confirmation by *British Documents* of Lord Balfour's wider proposition. Any one reading the king's rare and brief minutes with an open mind must be struck by their relative unimportance Nor is it in the least surprising. One can see from the volumes of *Queen Victoria's Letters* and from more than one incident in Sir Sidney Lee's *King Edward VII,* how comparatively crude his views on foreign policy were, how little he read, and of what naive indiscretions he was capable. A single episode will illustrate the two last points. In the first August of his reign he was to meet the Kaiser at Homburg, and the foreign office furnished him with a highly confidential brief, setting out the British view of various topics on which the monarchs were expected to converse The king—evidently without taking the trouble to read it—actually handed this confidential document over to the Kaiser. Fortunately no great harm was done, as the points involved were not of first-class importance, and the document was not uncomplimentary, but the incident speaks for itself

The king's reputation as a diplomatist arose largely from his habit

of sojourning abroad and visiting foreign courts. He had all his life enjoyed travel, and liked splendid ceremonies, and these royal tours satisfied both tastes. His usual programme, when he settled down to it, was to spend from three to six weeks at Biarritz in the early spring, seeing French ministers on his way there and back, and perhaps some Spanish royal personage across the frontier. Next, about May he would make a round of royal visits and calls, usually based on a yachting tour, oftenest in the Mediterranean, and later again in August he would go for his cure to Marienbad, commonly contriving to meet a few crowned heads or leading ministers there or by way of excursion This programme, which was carried out every year from 1903 to 1909 inclusive, with a good many important 'extras' thrown in, enabled him to visit (besides the French President and ministers) the Kaiser, the Emperor of Austria, the Tsar, and the kings of Italy, Spain, Portugal, Greece, Denmark, Sweden, and Norway. He met the Kaiser oftener than any other crowned head; but before the Bosnian dispute of October 1908 he had paid specially assiduous court to the aged Emperor Francis Joseph He never went to Belgium, owing to the attempt on his life there in 1900, when he was Prince of Wales. The return visits of the foreign potentates were usually arranged either for the interval between his May tour and his cure, or for that between the cure and Christmas.

Such regular rounds of international intercourse no British monarch had attempted before, nor indeed any monarch in Europe except William II. The Kaiser seems rather to have felt that his uncle was infringing his copyright, and he was the more vexed, because King Edward's visits usually left a much pleasanter impression than his own. For the king's skill and gusto on the social side were quite unmatched, as a mere emissary of friendship nobody bettered him. That was primarily how he conceived his role He scarcely himself attempted serious diplomacy, though in certain instances important negotiations were carried on by the foreign office through ambassadors or other representatives in his suite. Some of his ministers' broader policies, it is true, corresponded to prior inclinations of his—notably that of friendship with Russia, which he had desired, off and on, ever since he visited the Russian court in 1874 for the marriage of his brother, the Duke of Edinburgh

The main drawback to all these comings and goings was that they looked so much more important than they were. Everybody knew that, though from time to time their meetings were quite cordial, the king and the Kaiser disliked each other. The differences were largely temperamental, and first became conspicuous in the nineties during William II's yachting visits to Cowes. But the Kaiser in foreign affairs was entitled to a large measure of personal rule, his voice was

Germany's; and by a natural illusion he assumed other crowned heads to be in a corresponding position. He could never get it out of his mind that King Edward was; and that, when the king went to visit, say, the King of Italy or the Emperor of Austria, it was the director of Great Britain's foreign policy trying to seduce Italy or Austria from the Triple Alliance. Such misconceptions percolated right down through the German population, and gave rise to the baseless legend of *Einkreisung*, whereby England was held guilty of trying to 'encircle' Germany with a ring of hostile Powers This myth, it is clear, arose directly out of King Edward's visits; but for them, it could scarcely have carried so much conviction. And in so far as it helped to create in Germany that spirit of nervousness which —in psychological alliance with the spirit of violence—helped to put the war party in the saddle, it made a definite contribution to the eventual catastrophe

King Edward's long stays abroad had, incidentally, a domestic outcome. By removing him for large parts of each year from regular and daily contact with ministers, they made it impracticable for his wishes to be consulted in such detail as Queen Victoria's had been This tended materially to lessen the personal influence of the monarch within the constitution.

2. *The Final Authority at Berlin 1912–14*

Just as the Germans in 1901–10 exaggerated King Edward's influence over British foreign policy by regarding him as the analogue of their own Emperor, so the liberal government and liberal party in England exaggerated the influence of the German chancellor and foreign office in 1911–14 by regarding them as the analogues of the prime minister and foreign office in Great Britain. This they were far from being.

The chancellor was, under the Emperor, the head of the civil administration of the Reich, and as such controlled the foreign office. Indeed since wide spheres of Germany's domestic administration were not federal but devolved on the federated states, foreign affairs engaged a much larger proportion of his attention than in the case of a British prime minister Prior to Bethmann-Hollweg's advent, the holder of the chancellorship had always, save during the four years of Caprivi's tenure, been a diplomatist with ambassadorial experience

But the chancellor did not, as the British prime minister did, control the army and navy Although, as the Kaiser's representative in the Reichstag and the Bundesrat, it would be his duty, in conjunction with the war minister, to get the necessary monies voted and bills carried, he had a very limited voice in determining what those

demands should be. For the heads of each service were, like the chancellor himself, directly responsible to the Emperor. Thus it was not in the chancellor's power to co-ordinate military or naval policy with foreign; that belonged to the Emperor alone. It is true that Bismarck himself came in effect to do so, but his authority was exceptional. Even he had trouble at times with the Prussian military chiefs, but from the foundation of the Reich his prestige was so great that he usually got his way. It was otherwise with his successors William II was determined to be war lord, and insisted on the principle that the heads of his army acknowledged no superior but himself He took the same line with the navy, to whose chief he habitually referred as '*mein* Tirpitz'. Hence when divergence appeared between the interests of military or naval policy, on the one hand, and those of diplomatic policy, on the other—as in the case of the German naval programme, which by 1911 had shown itself to be almost certainly incompatible with the diplomatic *rapprochement* towards England—it was always the Kaiser who decided, not the chancellor. And William II, who had an intense craving to be the hero of his armed forces, had little courage for saying 'No' to the chiefs of either.

A good illustration of this system is afforded by the general staff's adoption at the end of 1905 of the Schlieffen Plan. In its military aspects this plan (however marred in its execution by the younger Moltke in 1914) was a very great conception; and opinion in the general staff was so unanimous in its favour, that they decided to rely on it and have no other Yet it was of the essence of the Plan that it involved violating Belgian neutrality, not merely on a fractional scale, but to the largest extent possible It was therefore bound to provoke war with Great Britain The general staff did not mind the prospect; the chancellor, at least when he was Bethmann-Hollweg, did. Yet the latter had scarcely a say in the matter. In the 1914 crisis, as he shows in his *Betrachtungen zum Weltkriege*, he had no alternative here but to comply with the wishes of the general staff What they would be, he had known for a long time, and apparently the best that he could do was to multiply counter-inducements for British abstention, in the hope that when the crash came a very pacific British cabinet and parliament might perhaps keep their country out

From 1908 onwards the dominance of the general staff over policy grew The personal authority of the Emperor, which was the only check on it, received a shattering blow from the publication of the *Daily Telegraph* interview in the autumn of that year, and when Bulow retired in the following summer, the choice of his successor meant in itself a lessening of civilian weight in the balances. For Bethmann-Hollweg, who did not belong to the Prussian nobility, but derived from a patrician family at Frankfort, was really no more than

an accomplished official in the domestic administration, the type of man who in the last analysis does not shape national decisions but complies with them. He was an expert in subjects like social policy and local government, but not in diplomatic nor in army matters, an enlightened but essentially a subordinate personality.

Subsequent international crises, in which the Kaiser rattled the sword without drawing it, still further weakened his authority over the military chiefs. There was open talk in Berlin of their preference for the Crown Prince, and of their readiness, if the father gave trouble, to make him abdicate in the son's favour. The Kaiser, who behind his bounce and bluster was very sensitive, became sufficiently aware of the army's attitude to be intimidated by it. When the first Balkan war occurred the army's displeasure found many voices. While her sovereign and diplomats were asleep, it was said, Germany's enemies had stolen a march on her. True, the army itself was unready for the challenge, but that too was the Kaiser's fault, in his enthusiasm for *die neue Flotte* he had neglected *das alte Heer*. Instant preparation must be made to retrieve the position.

The power of the soldiers was shown thereupon in their forcing on the civilians the scheme for the enormous *Wehrbeitrag* of 1,000 million marks All the different arrangements for collecting and spending this utterly unprecedented sum converged towards a common date—the late summer of 1914. Of this the Kaiser and Bethmann-Hollweg must both have been well aware Yet neither took any steps to forestall trouble at Vienna or to check it when it arose, on the contrary, when Francis Joseph wrote to him after Serajevo, the Kaiser said exactly what his general staff would have liked him to say, and the same is true of Bethmann-Hollweg's attitude at that date What else could they do? Already in May, as Colonel House found, the mastery of the soldiers in Berlin was complete. House's evidence is exceptionally convincing, because he was armed with personal letters from President Wilson, which enabled him to pass through doors closed to ordinary diplomatists, and to watch the state of things in the highest quarters with his own eyes.

That there was a dualism in the government of Germany in 1914, as between the civilian and the military sections, could not be unknown to British diplomatists either there or in London But in general they failed to attach anything like sufficient importance to it. Grey recognized its significance in retrospect (*Twenty-Five Years*, ii. 26), but his actions hardly suggest that he did at the time. Certainly neither the British cabinet nor its diplomatic advisers were on the look-out for a war in August 1914; though to not a few private observers the signs seemed unmistakable. The probable explanation is a natural one, men following an occupation like diplomacy fix

their gaze on their opposite numbers. To the foreign office in London the foreign office in Berlin seemed to hold the keys of Germany's war and peace; though in 1914 it really did not The mistake has its counterpart among historians to-day. Not a few of them seem to think that the roles played by each nation in the 1914 war-crisis can be deduced entirely from the diplomatic papers. In the case of Germany that is certainly not so.

3. *Grey and the Liberals*

Whatever be thought on other grounds of Sir Edward Grey's foreign policy, it was a source of weakness that the bulk of the party behind him neither understood nor liked it On the brink of the European war most liberals were, in effect, pro-German and anti-French; and had not the Germans violated Belgium, it seems probable that the foreign secretary would have failed to carry with him either the cabinet or the party, when the critical question was posed of supporting France or leaving her to her fate

How had this come about? What was the mind of these liberals? The more intelligent of them, e.g. C. P. Scott, the famous editor of the *Manchester Guardian*, were really isolationists, they wished Great Britain to revert to an attitude of impartiality between the Powers. It may not have been a practicable ideal; but, if it had been, its recommendations to them were obvious. They thought it would leave the country free and untrammelled to assert in all foreign disputes the pure liberal doctrines of free trade, the open door, international justice, and the rights of nationalities. But as the entanglements deprecated happened to be entanglements with France and Russia, the argument, even as developed in these highest-minded quarters, tended to run a good deal in anti-French and anti-Russian channels. The less intelligent rank and file of the party, when they thought about foreign affairs at all, commonly did so in terms of quite crude traditional prejudice against the French people and the Russian empire. They never forgot that the abandonment of isolation was the policy of a conservative government, and by instinct felt aggrieved with Grey for not automatically reversing it. The feeling was fortified among radicals by memories of earlier distrust towards Grey, Asquith, and Haldane as liberal imperialists Lord Loreburn, the lord chancellor till 1912, who did a great deal to egg on liberal editors to attack the foreign policy of his colleagues, habitually characterized the latter as 'a Cabinet of Liberal Leaguers'. Lastly among the extremely few liberal M P s who paid any continuous attention to foreign affairs, a high proportion were Englishmen of that generous type which falls in love with some (usually small and afflicted) foreign nationality -- Persians, it might be, or Bulgars, or Greeks, or Moors, or Poles, or

Finns, or even exiled revolutionary Russians It is rarely possible for a foreign secretary, taking the wider view which his task necessitates, to go all the way with such enthusiasts; and Grey, through his Entente with Russia, had often to appear especially disappointing.

How did Grey deal with this hostility? Generally speaking, by leaving it alone until something like a serious revolt threatened, and then coming to the house of commons and delivering a speech, which by its tact and moderation and the obvious loftiness and nobility of the man behind it swept the assembly off its feet and silenced criticism for the time being. But these speeches rarely instructed their hearers in the realities of the situation, nor was it often possible that they should. A foreign secretary, who made a habit of stating in public the real considerations which motived his action, would be like a man exposing naked lights in a fiery mine. Grey was very adroit in avoiding such perils, as a single instance may show. In the spring of 1913 he threw the weight of Great Britain on the side of the view that Scutari, which the Montenegrins besieged and eventually reduced, must go not to them but to the Albanians Now his real motive for doing this was to save the peace of Europe. Russia having stolen a march on Austria-Hungary through the success of the Balkan League, Austria-Hungary had retorted by insisting on the creation of an independent Albania, to keep the Slav kingdoms off the Adriatic. For such an Albania Scutari was conceived as essential, and had Grey not supported the Austrian demand against Russia, there might probably have been war It was a boldly pacific step; it proved the turning-point in the London Conference; and it disproved, if any fact could, the German legend of British 'encirclement'. But Grey did not say those things to the house of commons. He said (what was the case) that Scutari was a genuinely Albanian town, and told the house, to the heart-felt satisfaction of the liberal benches, that in this matter he was on the side of the rights of nationality. Thus he scored a great parliamentary success without saying anything that was dangerous or anything that was not in itself true. But at the same time his party was left uninstructed as to the real mainsprings of the policy pursued.

How ought Grey to have made this defect good? By realizing—as neither he nor Asquith ever did realize—that parliament was not everything, and that to keep democracy in step with their policy it was essential to educate it through the press. Both these men exerted a consummate mastery over the house of commons, and both perpetually made the mistake of thinking that a debating victory, which carried the house, carried the country also. There was only one liberal journalist—the editor of a paper with an influential but very small circulation—whom either of them ever ordinarily deigned to

see; and in Grey's case no provision whatever was made for keeping what should have been the friendly press informed. At each international crisis it was the easiest thing in the world for any highly placed London journalist to discover just what view the German or the French government wanted to put forward; indeed these views would constantly be pressed on him from all sorts of unexpected quarters. But to get reliable knowledge of what the British government thought, or wanted to be thought, was far more difficult. As a rule it was eventually obtained, if at all, by leakage from cabinet ministers; but as those who recognized the importance of journalism nearly all belonged to the left in the cabinet, it was apt to come with a strong anti-Grey bias.

If it be said that, despite this failure to keep reasonable touch in regard to foreign policy either with their party in the country or with M.P.s or even with the majority of their cabinet, Grey and Asquith nevertheless brought an all but unanimous nation and Empire into the war, the answer is that they owed their success almost entirely to the supervening issue of Belgian neutrality. But for that they would never have attained it.

4 *British Policy and Belgian Neutrality*

Gladstone's views on this topic, as expressed in 1870 (Hansard, III. cciii. 1787, 1788), may be summarized as follows. (*a*) there is no absolute obligation on a guarantor to act 'irrespectively altogether of the particular position in which it may find itself at the time when the occasion for acting on the guarantee arises' ('The great authorities upon foreign policy', he went on, 'to whom I have been accustomed to listen, such as Lord Aberdeen and Lord Palmerston, never to my knowledge took that rigid and, if I may venture to say so, that impracticable view of the guarantee'); (*b*) the existence of the guarantee is nevertheless 'an important fact and a weighty element in the case'; (*c*) a further consideration, 'the force of which we must all feel most deeply', is 'the common interests against the unmeasured aggrandisement of any Power whatever'; (*d*) Belgium has set Europe a fine example of good and stable government associated with wide liberty and 'looking at a country such as that, is there any man who hears me who does not feel, that if, in order to satisfy a greedy appetite for aggrandisement, coming whence it may, Belgium were absorbed, the day that witnessed that absorption would hear the knell of public right and public law in Europe?' (*e*) the Gladstonian appeal to the concept of justice. 'We have an interest in the independence of Belgium which is wider than that which we may have in the literal operation of the guarantee. It is found in the answer to the question whether, under all the circumstances of the case, this country, en-

dowed as it is with influence and power, would quietly stand by and witness the perpetration of the direst crime that ever stained the pages of history, and thus become participators in the sin.'

Nine days before Gladstone spoke thus, the policy of supporting Belgian neutrality had been urged in the House of Commons by Disraeli. What he, however, emphasized was the historic British interest. Of the original treaty he observed that 'the most distinguished members of the Liberal party negotiated and advised their Sovereign to ratify it amid the sympathetic applause of all enlightened Englishmen'. They had been 'influenced in the course they took by the traditions of English policy. They negotiated the treaty for the general advantage of Europe, but with a clear appreciation of the importance of its provisions to England. It had always been held by the Government of this country that it was for the interest of England that the countries on the European coast extending from Dunkirk and Ostend to the islands of the North Sea should be possessed by free and flourishing communities, practising the arts of peace, enjoying the rights of liberty, and following those pursuits of commerce which tend to the civilization of man, and should not be in the possession of a great military Power, one of the principles of whose existence necessarily must be to aim at a preponderating influence in Europe' (Hansard, III. cciii. 1289).

Having, as they had, these utterances before them, it is remarkable that the majority of the 1914 cabinet were so slow to take the view which most of them eventually took regarding the importance of the Belgian issue. Gladstone's arguments (*c*) and (*d*) had each more and not less application in 1914 than in 1870; and Disraeli's perennial principle had only increased its validity since the advent of long-range artillery, 30-knot warships, aeroplanes, and submarines. The fact seems to be that the members of the cabinet were too busy wrangling about the Ententes to spare much time to think about Belgium. (Such, at least, is Lord Morley's account: *Memorandum on Resignation*, 3.) It was not till 3 August—when, following the German ultimatum of the previous day, the king of the Belgians addressed a personal appeal to King George—that opinion both in the cabinet and in the country swung right round on this issue The main motive in the revulsion, perhaps, was not any clearer perception of Gladstone's and Disraeli's arguments, but the stripping of a veil off the character of Germany. For years past the liberals (latterly much fortified by the attractive personality of Lichnowsky) had been making it an article of party faith that militarist Germany was not so black as it was painted. Now in a flash it seemed to them self-revealed as much blacker.

BIBLIOGRAPHY

GENERAL

For the history of this period the wealth of sources and authorities is a greater embarrassment than their occasional deficiency. No one has attempted an exhaustive catalogue, though for the years down to 1901 there is a bibliography (1907) in the 12th volume (by Sidney Low and I.l. C Sanders) of *The Political History of England.* Classified lists, covering the whole period and several decades on each side of it, will be found at the end of Sir J A R. Marriott's two volumes, *England since Waterloo, 1815–1900* (1913) and *Modern England (1885–1932): a History of My Own Times* (1934). The fullest English guidance to books is afforded by the *Catalogue* and *Subject Indexes* of the British Museum. The latter are printed for periods covering publications in the years 1881–1930 inclusive, and may be consulted at other important libraries; the index for the years since 1930, which is in process of compilation, can be seen at the Museum itself. The 3rd edition (1910–31) of W. A. Sonnenschein's *Best Books*, is also useful; especially the later volumes, whose publication was deferred till after the European War. The one-volume American publication *A Guide to Historical Literature*, by W H. Allison, S B Fay, A. H. Shearer, and H. R. Shipman (New York, 1931) is convenient and compact.

Much bibliographical information can be obtained from the various general encyclopaedias, which will naturally be often otherwise required for reference purposes At least five of them may be consulted with advantage in one case or another--the *Encyclopaedia Britannica* and *Chambers's Encyclopaedia* in English, those of Brockhaus and Meyer in German, and the large Larousse in French. For the historical student earlier editions of these, reflecting more immediately the times in which they were compiled, are often more useful than the current editions of to-day In this way the 11th edition (1910) of the *Encyclopaedia Britannica* is worth going back to for the latter half of the period, while for the earlier half, the 14th edition of Brockhaus (1894-5) will often be found the best book of reference, even on British subject-matters.

Among general sources, the most important are British official publications, including the *Public General Acts*, the *London Gazette*,

the *Official Reports* of debates in parliament (usually referred to as *Hansard*), and the *Parliamentary Papers* (often referred to as 'blue-books' or 'white-papers', according to the colour of their exterior). The Stationery Office issues temporary indexes with the *Parliamentary Papers* as they come out, and every year (earlier for periods of years) a permanent index is issued consolidating these. As no library which files the *Papers* will fail to have the indexes, it suffices to know the name of the item and the year of publication, in order to ascertain the number of the volume in which any particular item will be found. Some official publications of special importance will be mentioned in different sections below. The category covers a great variety of documents—official returns; accounts and estimates; correspondence; the text of treaties; the findings of parliamentary committees, departmental committees, and royal commissions, and the evidence given before them, and other items. Their value as evidence varies with their nature and subject. Where a parliamentary paper states an official fact officially, it is a primary authority for that fact; e g., where a Census Report records that a certain population was enumerated in a certain area on a certain date. But many official papers deal with many facts only at second-hand; and where what are presented are calculations or inferences or theoretical matter of any kind, the officials responsible only differ from other experts in virtue of occupying an exceptional vantage-ground for collecting and checking data It should, however, be said that the statistical work of the British government departments—especially that of the board of trade from the eighties onwards—was on a very high level. It was not only able, but well above party 'tendency'; which is more than can be said of official figures in some of the neighbouring foreign countries during the same period. Lastly, one must remember that, even where a blue-book's contention may be found wrong, the mere circumstance that it was advanced is an historic and sometimes an important fact The same may be said of the evidence recorded before commissions or committees.

The other most important category of general sources comprises the files of newspapers and periodicals, presenting an all-round picture of their age more copious than can be obtained of any earlier one. For public speeches made outside parliament their reports supply our sole record, and in the case of great journals were during this period made with the utmost care.

Files of *The Times*, with its invaluable though sometimes inadequate *Index*, normally suffice in the first instance; but speeches or events localized at a distance from London and in the sphere of some great provincial paper will often be found more fully recorded in the latter. Papers of the popular type introduced by Lord Northcliffe can too seldom be relied on for their distinctive evidence regarding facts, but are of value as mirroring social history and illustrating currents of opinion. Ideas among the governing classes were best reflected in the monthly reviews—the *Fortnightly* and *Contemporary* throughout the period, the *Nineteenth Century* from 1877, the *National Review* from 1883; after 1890 a good many shorter-lived magazines attracted from time to time much of the best writing and thought. The two old quarterlies still ran, but were relatively in the background. Visual pictures of how people dressed and looked are supplied by the illustrated journals; and after the advent of the process-block (in the early nineties) these were based increasingly on photographs instead of drawings.

A third category is that of almanacs and periodical reference books. The most generally useful of these—*Whitaker's Almanack*, *The Statesman's Year Book*, and *Who's Who*—have no official status, but high standards of reliability, though even in the last-named, where the biographies were furnished by the persons biographized, serious mis-statements may occur if those persons so desired. *Who's Who* has published two memorial volumes, *Who Was Who, 1897–1916* and *1916–1928*, which are of service for this period. Other useful annuals in the same class are the *Directory of Directors* (from 1879), the *Municipal Year Book* (from 1897), and the *Year Books* issued in the Edwardian period and after by the *Daily Mail* and the *Daily News*. On a rather different footing are those annuals, which, covering the personnel of a particular profession or association, have for it a more or less official character. Such are the *Law List* (for judges, barristers, and solicitors), *Crockford's Clerical Directory* (for the Anglican clergy), the *Medical Register* (statutory and official for medical practitioners), the *Calendars* of the various universities, &c. *Dod's Parliamentary Companion* should perhaps be included under this type rather than the other.

Two secondary authorities of wide general value for this period are the *Annual Register* and the *Dictionary of National Biography*. The former might almost be classed with the newspapers; for, in effect, it is a comprehensive annual journal on a level of quality

corresponding to *The Times*, and its judgements, emphases, or omissions, may often, like those of a newspaper, be in themselves of historical interest. Similarly, though in less degree, a quality of contemporaneity may often be noted in the *Dictionary*, where it deals with persons deceased since 1880.

POLITICAL HISTORY

GENERAL AND DOMESTIC. The leading English text-books, each of which covers part of the period, are the three volumes first mentioned above. Designed on a much larger scale and admitting far more detail are the two concluding volumes of Élie Halévy's *Histoire du peuple anglais*. These treat the last nineteen years (the volumes to cover 1870–95 being not yet published); viz. *Épilogue I 1895–1905* (1926) and *Épilogue II. 1905–14* (1932). Among earlier books are Herbert Paul's *History of Modern England* (5 vols., 1904–6; epigrammatic and sometimes luminous, but marred by Liberal partisanship), which reaches 1870 in the middle of vol. iii and goes down to 1895; Justin McCarthy's *History of Our Own Times* (popular in its day, but not of much permanent value), the last of whose 5 vols. (1899) goes down to 1897; J. Franck Bright's *History of England*, whose last volume (1904) covers the period 1880 to 1901 on a scale quite different from that of its school-book predecessors and, though nominally attached to them, is, in effect, a distinct and meritorious essay in contemporary political history; and vol. xii (1910) of the *Cambridge Modern History*, which ends substantially with the year 1905, though glancing for some purposes a little beyond it. Prof. G. M. Trevelyan's *British History in the Nineteenth Century, 1782–1901* (1922) gives much less than 30 per cent. of its attention to the years after 1870, yet at not a few points suggests valuable lines of thought; and others may be gathered from the relevant pages in Dr. J. A. Williamson's *Evolution of England* (1931).

The principal sources, other than those described in the general section, are biographies, autobiographies, collections of letters, and collections of speeches. The number bearing on this period is very large indeed, and only some of the most important will be mentioned here.

For our first two sub-periods an exceptionally rich source is *Queen Victoria's Letters* (which include large extracts from her Journal); those relevant here are the last 5 vols., all edited by G. E. Buckle (1926, 1928, 1930, 1931, and 1932). Sidney Lee's

Queen Victoria (revised edition, 1904) also contains a good deal of first-hand material. Lytton Strachey's *Queen Victoria* (1921), and E. F. Benson's *Queen Victoria* (1935) are well-known secondary authorities, the former apt to be opinionated, the latter able to draw at some points on family records and experiences. Frank Hardie's *The Political Influence of Queen Victoria, 1861–1901* (1935) seems to be the first attempt made to estimate that side of the queen separately. In the case of King Edward VII, no mass of documents corresponding to the Queen's *Letters* has yet seen the light, if indeed it exists; but a large literature has been written round him, some of it embodying original knowledge. The leading source of material is Sir Sidney Lee's *Life* (2 vols., 1925 and 1927); others are Edward Legge's *King Edward in his True Colours* (1912), Viscount Esher's *The Influence of King Edward* (1915), Lord Redesdale's *King Edward VII* (1915), and Sir Lionel Cust's *King Edward and his Court* (1930). Notable secondary authorities are H. E. Wortham's *The Delightful Profession* (1931), and E. F. Benson's *King Edward VII* (1933). The relations between the king and his mother have been specially studied in Hector Bolitho's *Victoria the Widow and Her Son* (1934).

For Disraeli, vols. v and vi of his official *Life* (both by G. E. Buckle, 1920) throw very broad lights on our first decade. Supplementing them are *The Selected Speeches of Lord Beaconsfield*, ed. by T. E. Kebbel (1882, 2 vols.), and *The Letters of Disraeli to Lady Bradford and Lady Chesterfield*, ed. by Lord Zetland (1929, 2 vols.). For Gladstone, besides the official *Life* by Lord Morley (3 vols., 1903), there is a collected edition of *Gladstone's Speeches*, ed. by A. Tilney Bassett with a valuable descriptive index and bibliography (1916). The enormous mass of the Gladstone Papers, of which some use has been made in the present work, are now housed in the British Museum and in process of being arranged; among several recent books specially based on them the most important for this period is P. Guedalla's *The Queen and Mr. Gladstone* (2 vols., 1933). For Gladstone's last premiership a valuable source is *The Private Diaries of Sir Algernon West*, ed. by H. G. Hutchinson (1922), West having served his chief at that stage as a political factotum. Other books which supply special Gladstoniana are Viscount (H. J.) Gladstone's *After Thirty Years* (1928), the *Reminiscences* of Lord Kilbracken (1931); Lord Rendel's *Personal Papers* (1931); the second volume of the eighth Duke of Argyll's *Autobiography and Correspondence*, ed. by his widow

(1906); G W. E Russell's *Malcolm MacColl, Memoir and Correspondence* (1914); and F. W. Hirst's *Gladstone as Financier and Economist* (1931), which contains an interesting chapter of recollections by Lord (H. N.) Gladstone. For Lord Salisbury, the main source is the *Life* by his daughter, Lady Gwendolen Cecil, of which four volumes (1921, 1931, and 1932) have appeared; the fifth is yet to come. The most important sidelights are those in Lord Balfour's *Chapters in Autobiography* (1930). The great *Life of Joseph Chamberlain*, by J. L. Garvin, of which three volumes (1932–3–4) have appeared (with a fourth to come), is as rich in political information as any source of the kind for this period. It may be supplemented by the collected edition of *Mr Chamberlain's Speeches* (by C. W Boyd, 2 vols., 1914). Three official biographies—of Lord Rosebery by Lord Crewe (2 vols., 1931), of Sir William Harcourt by A G. Gardiner (2 vols., 1923), and of Campbell-Bannerman by J. A Spender (2 vols , 1923)—show the main currents of Liberal politics in the nineties, the last takes us far into the Edwardian epoch. Of Balfour no corresponding account has yet appeared; but that of Asquith by J A. Spender and Cyril Asquith (2 vols., 1932) is the leading biographical document for the eight years before the War. Asquith himself wrote a good deal in his old age—*The Genesis of the War* (1923), *Fifty Years of Parliament* (1926), *Memories and Reflections* (posthumous, 1928), beside which may be recalled the *Autobiography of Margot Asquith* (1920). Of Mr. Lloyd George's pre-war career there is no satisfactory record, but his best speeches down to the end of the Budget struggle may be read in a collected volume (*Better Times*, 1910).

Other books in this class include the following lives (an asterisk marks the more important): **The Fourth Earl of Carnarvon*, by Sir A. H. Hardinge, 3 vols., 1925; *Lord Sherbrooke* (Robert Lowe), by A. Patchett Martin, 1893; *Gathorne Hardy*, by A. E Gathorne Hardy, 2 vols., 1910, **H C E Childers*, by E S E. Childers, 2 vols , 1901; *Lord Playfair* (Lyon Playfair), by Sir T. Wemyss Reid, 1899; *James Stansfeld*, by J L and B. Hammond, 1932, *Sir George Otto Trevelyan*, by G. M. Trevelyan, 1932; *Thomas George, Earl of Northbrook*, by Bernard Mallet, 1908; **The Second Earl Granville*, by Lord Fitzmaurice, 2 vols., 1905; **Memorials of Roundell Palmer, Earl of Selborne*, 4 vols., 1896–8; **Lord Randolph Churchill*, by Winston S. Churchill, 1906, *W H. Smith*, by Sir Herbert Maxwell, 1893; **Viscount Goschen*, by A R. D. Elliot, 2 vols., 1911;

Sir C. W. Dilke, by Stephen Gwynn and Gertrude M. Tuckwell, 1917; *Lord Wolverhampton* (Sir H. H. Fowler), by Edith H. Fowler, 1912; **Sir Michael Hicks Beach, Earl St. Aldwyn*, by Lady Victoria Hicks Beach, 2 vols, 1932; **The Milner Papers*, ed. by Cecil Headlam, 2 vols., 1931–3; **The Eighth Duke of Devonshire*, by Bernard Holland, 2 vols., 1913, *Parliamentary Reminiscences and Reflections*, by Lord George Hamilton, 2 vols., 1916–22; **Lord James of Hereford*, by Lord Askwith, 1930; *George Wyndham*, by J. W. Mackail and Guy Wyndham, 1925; *Journals and Letters of Viscount Esher*, ed. by M. V. Brett, 2 vols., 1934; **Lord Lansdowne*, by Lord Newton, 1929; **Recollections*, by Lord Morley, 1917, **Autobiography*, by Lord Haldane, 1929; **C. P. Scott*, by J. L. Hammond, 1934; *Lord Courtney*, by G. P. Gooch, 1920, *Letters to Isabel* (autobiographical), by Lord Craigmyle, 1931; *Memoirs*, by Sir Almeric Fitzroy, 1925

The early courses of labour politics must be traced largely from sources of their own. Among the few attempts to record them historically are A. W. Humphrey's *History of Labour Representation*, 1912; E. R. Pease's *History of the Fabian Society*, 1916, the second volume (1920) of Max Beer's *History of British Socialism*; the third volume of G. D. H. Cole's *Short History of the Labour Movement*; and Lord Elton's *England, Arise!* (1929).

Important sources are the reports of the public conferences held annually by the Trade Union Congress (from 1870), the I.L.P. (from 1893), and the Labour party (from 1900), these reflect constantly the active influence of the moment. The records of the Social Democratic Federation are only of national significance in the eighties. The early Socialist newspapers, whose files are of most value, are the *Commonweal*, *Justice*, the *Labour Leader*, and the *Clarion*. The most interesting source of pamphlets was the Fabian Society, whose monthly bulletin, *Fabian News*, is also useful for reference. Among biographical and autobiographical sources are the following (others are listed later in the Economic section). W. Stewart's *J. Keir Hardie*, 1921; Tom Mann's *Memoirs*, 1923; A. P. Grubb's *John Burns*, 1908, Henry Broadhurst's *Story of His Life*, 1901, Will Thorne's *My Life's Battles*, 1925; George Haw's *Will Crooks*, 1907; G. Lansbury's *My Life*, 1928; W. S. Sanders's *Early Socialist Days*, 1927; the second volume of J. W. Mackail's *William Morris*, 1899; J. Bruce Glasier's *William Morris and the Early Days of the Socialist Movement*, 1921; H. M. Hyndman's (vivid but often inaccurate)

Record of an Adventurous Life, 1911, and *Further Reminiscences*, 1912, R. Blatchford's *My Eighty Years*, 1931; Mrs. Mary A. Hamilton's *Mary Macarthur*, 1925, and *Sidney and Beatrice Webb*, 1933, and Mrs. Sidney Webb's *My Apprenticeship*, 1926.

On the women's suffrage movement the best general authorities are Dame M. G. Fawcett's *The Women's Victory and After*, 1920, and Miss Sylvia Pankhurst's *The Suffragette Movement*, 1931; but the subject has a considerable literature.

FOREIGN RELATIONS. Among the *Parliamentary Papers* may be found (*a*) the texts of treaties, (*b*) the *British and Foreign State Papers*, forming a collection of the diplomatic reports and correspondence, that have been laid before parliament. The latter, however, though covering much ground, seldom reveal the springs of diplomatic action. For the fact that official dispatches might be printed led during the nineteenth century to a practice of duplicating correspondence between the foreign secretary in Downing Street and the various ambassadors abroad; the dispatches being kept colourless, while the real business was transacted through private letters This is what adds peculiar importance to biographies like Lady Gwendolen Cecil's of her father or Lord Fitzmaurice's of Lord Granville.

But for the period between 1898 and 1914 the great series of *British Documents on the Origins of the War*, edited (from 1927 onwards—one volume is still to come) by Dr. G. P Gooch and Prof. H. W V. Temperley, give a vastly fuller picture of British official policy. Not only dispatches are printed, but also the confidential minutes written on them, together with letters and intimate papers of various kinds. This publication was preceded by, and to a considerable extent modelled on, the even greater one made in Germany, entitled *Die Grosse Politik der europaischen Kabinette*; which appeared in 1922–6, covering the whole period 1871–1914 in 40 nominal and 54 actual volumes. A selection of some of the more interesting documents in *Die Grosse Politik* has been translated into English by E. T. S. Dugdale in 4 vols. (1928–31) entitled *German Diplomatic Documents* Similar disclosures of diplomatic documents, but for a much shorter period, have since been made at Vienna, entitled *Oesterreich-Ungarns Aussenpolitik 1908–1914* (9 vols., 1930); for the earlier period, starting from the first Austro-German alliance, the chief authority is A. F. Přibram's, *Die politischen Geheimvertrage Oesterreich-Ungarns* (1920), of which the English version (2 vols., 1920) is

entitled *The Secret Treaties of Austria-Hungary, 1879-1914*. For France there is an official series of *Documents diplomatiques français 1871–1914* issued by a 'commission de publication' (from 1929). Parallel to all these, but not quite analogous (because presented with an air of propaganda) is the Bolshevik publication of Russian documents, *Un livre noir: Diplomatie d'avant-guerre d'après les documents des archives russes* (Paris, 2 vols., 1922 and 1923). Lastly it may be noted that during the European War most of the leading governments published sets of dispatches covering the events that immediately preceded their becoming belligerents. The original British set, which was the first, is often referred to simply as the White Paper of 1914. The best collection of all the sets is that of J. B. Scott (New York, 2 vols., 1916). A smaller but useful collection in 1 vol. was published by H.M Stationery Office in 1915—*Collected Diplomatic Documents relating to the Outbreak of the European War.*

Of the English secondary authorities surveying the mass of material, the best in many respects is J A Spender's brilliant *Fifty Years of Europe* (1933). G. P Gooch's *History of Modern Europe, 1878–1919* (1923) has also high merits, but suffers from having been written and published before most of the documents just mentioned had seen the light The same is true of the treatment of the period in vol. iii (1923) of the *Cambridge History of British Foreign Policy*, though the defect is naturally felt more in the later chapters contributed by Dr. Gooch himself than in the admirable chapters on the years 1874 99 written by W. H. Dawson. Dr. Gooch's *Recent Revelations of European Diplomacy* (4th edn., 1930) and his *Studies in Modern History* (including essays on Holstein and on Bismarck) form, therefore, an important supplement to his work Asquith's (i.e the late Lord Oxford's) *Genesis of the War* (1923) and Haldane's *Before the War* (1920) are in part secondary authorities, in part autobiographical Of many American historical works on the same subject the best known is Prof. S. B Fay's *The Origins of the World War* (2 vols., 1929) From the Continent comes Prof. A F Přibram's *England and the International Policy of the European Great Powers 1871–1914*, which within its moderate compass is singularly just and discerning.

In this field, as in that of domestic politics, much material must be sought in biographies, autobiographies, and letters. Besides those of Queen Victoria, King Edward, Disraeli, Gladstone, Granville, Dilke, Salisbury, Chamberlain, Lansdowne,

and Asquith already enumerated, which combine foreign with domestic interest, there are others concerned mainly or solely with the foreign side. Records of statesmen include Viscount (Sir Edward) Grey's indispensable *Twenty-Five Years, 1892–1916* (2 vols., 1925), Earl Loreburn's *How The War Came* (1919), and Lord Morley's *Memorandum on Resignation* (1928). Essential lights are thrown upon certain incidents by vol 1 (1933) of the *War Memoirs of Lloyd George* Among records of diplomatists the most valuable is the *Life of Lord Carnock* (1930) by Harold G. Nicolson, especially for the decade ended by the War. In studying earlier decades reference should be made to *Lord Lyons* (1913) by Lord Newton (for the earlier Anglo-French relations); *Sir William White* (1902) by H Sutherland Edwards (for Balkan events between 1875 and 1891); and *Lord Pauncefote* (1929) by R. B. Mowat (for the course of Anglo-American relations in the years before and after Mr. Cleveland's Message). Lord Zetland's *Lord Cromer* (1932) might be added for the story of Anglo-French relations under Gladstone's second ministry and the negotiation of the Anglo-French Agreement during 1903–4. The *Diplomatic Reminiscences* of Lord Augustus Loftus (4 vols , 1892–4), and the *Further Recollections of a Diplomatist* (1903) and *Final Recollections* (1905) of Sir Horace Rumbold (covering 1873–85 and 1885–1900 respectively), are autobiographical works more often, perhaps, of value for 'atmosphere' than for contributions to our knowledge of events To these records of British diplomatists three should be added of Americans W R. Thayer's *John Hay* (2 vols , 1915); Burton J. Hendrick's *Walter H Page* (2 vols., 1922–5), and *The Intimate Papers of Colonel House* (4 vols., 1926–8).

Some special topics can be studied in monographs of exceptional quality. A case in point is Dr. R. W Seton-Watson's *Disraeli, Gladstone, and the Eastern Question* (1935); which examines the events, that preceded and culminated in the Congress of Berlin, by the light not merely of British but of Russian secret documents, and brings together a greater mass of evidence than can be found in any previous writing on the subject. Another is the monograph on British policy regarding arbitration, which now forms ch. 2 of the late Sir James Headlam-Morley's *Studies in Diplomatic History* (1930). Another is the exhaustive examination of the Anglo-German naval rivalry in E L. Woodward's *Great Britain and the German Navy* (1935). On a limited scale, but of value still is a famous monograph on the Bagdad Railway

negotiations in the *Quarterly Review* for October 1917. Some pre-War books of special authority, such as H. Wickham Steed's *The Hapsburg Monarchy* (1913), W. Miller's *The Ottoman Empire* (1913), or E. G. Browne's *The Persian Revolution* (1910), may be mentioned with these.

Foreign authorities for the period are extremely numerous Partly because Germany was the leading continental power, and partly because the courses that she took came to determine Great Britain's, the German literature is the most important for us. Writings by public men include Prince Bismarck's *Gedanken und Erinnerungen* (2 vols., 1898; English version entitled *Bismarck the Man and the Statesman*); Prince Hohenlohe's *Denkwürdigkeiten* (2 vols., 1907; Eng. version entitled *Memoirs*); Prince Bülow's *Deutsche Politik* (1914; Eng. version entitled *Imperial Germany*), his 3 volumes of *Reden* (not translated), his 4 volumes of *Denkwürdigkeiten* (Eng. version, *Memoirs*), Count von Bethmann-Hollweg's *Betrachtungen zum Weltkriege* (2 vols, 1919 and 1921; Eng. version of vol. i only, entitled *Reflections on the World War*), William II's *Briefe an den Zaren 1894-1914*, ed. by Walter Goetz (1920; Eng. version, *Letters to the Tsar*); his *Ereignisse und Gestalten* (1922; Eng. version, *Memoirs*); Prince Lichnowsky's *My Mission to London* (1918; see above, p 408, n. 1); G. von Jagow's *Ursachen und Ausbruch des Weltkrieges* (1919); Baron von Eckardstein's *Lebenserinnerungen und politische Denkwürdigkeiten* (3 vols., 1919; Eng. version—of selections only—*Ten Years at the Court of St James*); Alfred von Tirpitz's *Erinnerungen* (1919; Eng version, *My Memories*); and his *Politische Dokumente* (1927). On the side of the general staff the book of most authority is General H. J. von Kuhl's *Der deutsche Generalstab in Vorbereitung und Durchführung des Weltkrieges* (1920); there are also the younger Moltke's *Erinnerungen, Briefe, Dokumente* (1922); for Schlieffen and his Plan, see Wolfgang Foerster's *Graf Schlieffen und der Weltkrieg* (1921), and also Baron von der Lancken's *Meine dreissig Dienstjahre* (1931) Of German histories on this period the best is Erich von Brandenburg's *Von Bismarck zum Weltkriege* (1924; Eng. version, *From Bismarck to the World War*). Among others are Otto Hammann's *Der neue Kurs* (1918), *Zur Vorgeschichte des Weltkrieges* (1918), *Bilder aus der letzten Kaiserzeit* (1922), *Deutsche Weltpolitik 1890 1912* (1925); E. Fischer's *Holsteins grosses Nein* (1925); Johannes Haller's *England und Deutschland um die Jahrhundertswende* (1929) and his *Die Aera Bülow* (1922); H. Lutz's

Lord Grey und der Weltkrieg (1927; Eng version, *Lord Grey and the World War*); K. F. Nowak's *Das dritte deutsche Kaiserreich* (2 vols., 1929–31, Eng. version of vol. i, *Kaiser and Chancellor*, of vol. ii, *Germany's Road to Ruin*); and Theodor Wolff's *Der Krieg des Pontius Pilatus* (1934; Eng version, *The Eve of 1914*).

On the French side, A Debidour's *Histoire diplomatique* (last 2 vols., 1916) is still worth consulting. For our earliest sub-period there are G. Hanotaux's *Histoire de la France contemporaine* (4 vols., 1903–9; Eng. version, *Contemporary France*), which runs to 1882; Paul Deschanel's *Gambetta* (1919; Eng version 1920); and C. de Freycinet's *Souvenirs 1878–93* (1914). For the later stages there are *Les origines et les responsabilités de la grande guerre*, by E. Bourgeois and G. Pagès (1922); R. Poincaré's *Les origines de la guerre* (1921; Eng version *The Origins of the War*); A Tardieu's *La France et les alliances* (1908); J. Caillaux's *Agadir* (1919); and Élie Halévy's *The World Crisis of 1914–1918* (1930) A short list of important books from other countries might include: (*a*) Russian—Count S. J. Witte's *Memoirs* (Eng. version 1921), A. P. Isvolsky's *Memoirs* (Eng. version, 1921), and A. Nekludoff's *Diplomatic Reminiscences* (Eng. version, 1920); (*b*) Austrian—*Aus meiner Dienstzeit* (4 vols, 1921–5) by Baron F Conrad von Hotzendorf (former Austro-Hungarian Chief of Staff); (*c*) Belgian—*Albert of Belgium* by E. Cammaerts (1935); (*d*) Bulgarian—*The Balkan League* (1915) by I. E. Gueshoff (one of its chief artificers); (*e*) Japanese—Viscount Hayashi's *Secret Memoirs* (ed by A. M Pooley, 1915).

There is also a mass of important material scattered about in leading European periodicals. To most of this, however, references will be found in one or other of the secondary authorities cited above.

LEGAL AND CONSTITUTIONAL

Three years before the period of this volume begins, Walter Bagehot published his classical *The English Constitution* (1st edn. 1867; 2nd, revised, 1872). It defines the point from which subsequent changes start. Their effect was shown near the end of the period by another standard authority, *The Government of England*, by A. Lawrence Lowell (1908); which not only passes in detailed review all the chief external features of government and administration, but devotes special attention to more intimate matters like the growth of the party system. With it may

be compared Sidney Low's *Governance of England* (1904), a slighter book but in some respects very acute Some broader characteristics of legal development between 1870 and the end of the Unionist supremacy are indicated in A V Dicey's *Lectures on the Relation between Law and Public Opinion in England during the Nineteenth Century* (1905).

On the legal side of the constitution, the text-books and editions used during the period will in general be better guides to what was then the law than those in use now. Of Sir W. R. Anson's well-known *Law and Custom of the Constitution* the earlier portion, *Parliament*, first appeared in 1886 and went into a 4th edition before the War; the later, *The Crown*, dates from 1892, and a third edition was issued in two parts, published in 1907 and 1908 *Parliament* has since been carefully re-edited (1922) by Sir Maurice Gwyer, *The Crown* (1935) by Prof A. B. Keith A text-book of more restricted scope, but very useful within its limits, is D. Chalmers and Cyril Asquith's *Outlines of Constitutional Law* (4th ed , 1930). Of May's *Law, Privileges, Proceedings, and Usage of Parliament* the best edition for our period is the 12th, edited by Sir T. L. Webster (1917). T P Taswell-Langmead's much-used but rather slipshod *English Constitutional History* originally appeared in 1875, when far less was known of its subject than now; and seven subsequent editions only tinkered with its revision But the 9th (1929), edited and practically rewritten by A. L. Poole, is a much more satisfactory authority. *Legislative Methods and Forms* (1901) by Sir Courtenay Ilbert (then parliamentary counsel to the treasury) contains detailed accounts of the procedures under which laws were drafted and piloted through Parliament at the end of the queen's reign.

Of the development of the central departments in Whitehall H. D Traill's *Central Government*, published in 1881, gives an interesting brief description down to that date. In 1908 a revised edition by Sir Henry Craik carried some of the facts 17 years farther. The Reports of the Royal Commission on the Civil Service towards the end of our period (Cd 6209 of 1912, and Cds 6434 and 6739 of 1913) show in a much more substantial way for the different chief departments the further development then reached.

Of the central government's developing activities in the prevention and detection of crime no one has written a satisfactory history covering this period George Dilnot's *Scotland Yard* (1926)

is the best of its class. Prison administration, on the other hand, is the subject of a copious and serious literature. Three books—*English Prisons under Local Government* (1922) by Sidney and Beatrice Webb, *The Punishment and Prevention of Crime* (1885) by Sir Edmund du Cane, and *The English Prison System* (1921) by Sir Evelyn Ruggles-Brise—cover the period between them (Du Cane and Ruggles-Brise were successively chairmen of the prison commission, each for over 20 years). In addition there are the annual official reports and statistics of the commission from 1878

On the side of local government the best systematic treatise on things as they were at the beginning of the twentieth century is *Local Government in England* by J. Redlich and F. W. Hirst (2 vols, 1903). A much briefer but very clear description is *An Outline of English Local Government* by E. Jenks (1st edn 1894, 2nd edn. revised, 1907) The best law text-book for that period is the 13th edn of 'Glen's *Public Health*', edited by A. Glen, A. F. Jenkins, and R. Glen (3 vols, 1906). Published annually from 1899, *Local Government Law and Legislation* contains for each year (*a*) the relevant statutes, (*b*) a digest of cases; (*c*) circulars, orders, and other official information Other important sources for the historian are the periodicals devoted to local government; they include the *Justice of the Peace* (from 1837), the *Local Government Chronicle* (from 1872; earlier since 1855 as *Knight's Public Advertiser*), the *Local Government Journal* (from 1892; earlier since 1872 as the *Metropolitan*), the *Sanitary Record* (from 1874, but in its present form from 1880); the *Municipal Journal* (from 1899, founded as *London* in 1893), and (last but not least) the annual *Municipal Year Book* (from 1897).

ECCLESIASTICAL

The main currents of official policy in the church of England during the period are well shown in the biographies of successive archbishops of Canterbury—the *Life of Archbishop Tait* (2 vols., 1891), by Dean Randall Davidson and Canon Benham, the *Life of Archbishop Benson* (1899), by A. C. Benson; the *Memoirs of Archbishop Temple* (2 vols, 1906), edited by Archdeacon Sandford, and *Randall Davidson Archbishop of Canterbury* (2 vols., 1935), by Dr. G K. A. Bell (bishop of Chichester) Chapters X and XI of *Church and People 1789–1889* (1933), by Dean S. C Carpenter, contain good accounts of the bishops and clergy prominent

in the seventies and eighties, and especially of the church's extended social work. *Henry Scott Holland* (1921), by Stephen Paget, and *Brooke Foss Westcott* (2 vols., 1903), by Arthur Westcott, throw light on the best High and Broad Church tendencies respectively; the sketch of *The Evangelical School in the Church of England* (1901) by H. C. G. Moule gives an idea of the Low. No full biography of Charles Gore has yet appeared, though the sketch by Gordon Crosse (1932) is good within its limits. Nor is there any adequate account of the considerable progress made in England at this time by Roman catholicism, but the much-discussed *Life of Cardinal Manning* (2 vols., 1896), by E. S. Purcell, throws into prominence some features of it.

On the Free Church side, a history of the British Methodist churches down to the end of the nineteenth century will be found in the last of the three vols. on *British Methodism* in the *History of Methodism* by J. Fletcher Hurst (1901). *The Methodist Church: Its Origin, Divisions, and Re-union* (1932) by A. W. Harrison (Wesleyan), B. Aquila Barber (Primitive Methodist), G. G. Hornby (United Methodist), and E. Tegla Davies (Welsh Methodist) contains historical sketches of all the four bodies now re-united. The largest of them, the Wesleyans, was very notably rejuvenated during this period. *Hugh Price Hughes* (1904), by Dorothea P. Hughes, and *Mark Guy Pearse* (1930), by Mrs. George Unwin and John Telford, are biographies of the two men most concerned in the process. The too brief *Reminiscences* (1928) of Dr. J. Scott Lidgett forms also a valuable document. For the Congregationalists Albert Peel's *History of the Congregational Union of England and Wales 1831–1931* is an official record of the Union published (1931) for its centenary. Nothing similar has been done for the Baptists, but their progress may be studied in the biographies of their great preachers. C. H. Spurgeon's *Autobiography* (4 vols., 1897–1900) is rambling and egotistical, but full of material. Among many other books on him is a recent biography (1933) by J. C. Carlile. Dr. John Clifford is another leading Baptist figure, round whom much has been written; the official *Life* is by Sir James Marchant (1924). That of *Alexander Maclaren* (1910), by David Williamson, commemorates the greatest Baptist preacher in the north of England. For the Society of Friends the second volume of Rufus Jones's *The Later Periods of Quakerism* (1921) goes down to 1900, and interesting statistics of the Society's membership in 1913, with some lights on

its relative position at that period, will be found in J. W. Graham's *The Faith of a Quaker* (1920).

Of the Salvation Army, which was the most important religious body originating within the period, the best account, at any rate for its founder's lifetime, is in *God's Soldier: General William Booth* (2 vols., 1934) by St. John G. Ervine.

MILITARY

The changes made in army organization by Cardwell were thoroughly discussed in parliamentary debates, for which see Hansard. The useful book on them is *Lord Cardwell at the War Office* (1904) by General Sir R. Biddulph, who as a young officer had been one of his private secretaries. The next stages of advance are shown in the biography of Hugh Childers by Edmund Childers (1901); and later the fruits of 17 years' progress are described by Lord Wolseley in his extended contribution to T. H. Ward's *Reign of Queen Victoria* (1887). In 1888 came the (Hartington) Royal Commission 'on the Civil and Professional Administration of the Naval and Military Departments', whose main report is Cd. 5979 of 1890. Most of the chief campaigns earlier than the South African War are recorded either in Lord Wolseley's *Story of a Soldier's Life* (1903) and his biography by Sir Frederick B. Maurice and Sir George Arthur (1924), or in Lord Roberts's *Forty-One Years in India* (1897) and his biography by Sir G. W. Forrest (1914). Of the exceptions, the Majuba campaign is described in Sir W. F. Butler's *Life of Sir G. Pomeroy-Colley* (1899), and the reconquest of the Egyptian Sudan in the *Life of Lord Kitchener* (1920) by Sir George Arthur.

For the South African War itself the leading authority is the official *History of the War in South Africa 1899–1902*; 4 vols. of text (1906–7–8–10) and 5 of maps. Sir J. Frederick Maurice's name appears on the title-page of the first 2 vols.; the others are 'compiled under the direction of H.M. Government'. With it may be compared *The War in South Africa. Prepared by the Historical Section of the Great General Staff, Berlin*; which is an English version in 2 vols. (1904 and 1906) of *Aus dem sudafrikanischen Kriege 1899 bis 1902*, describing the war mainly as seen from the Boer side. Equally important in another way are the publications of the Royal Commission on the War in South Africa. Its Report is Cd. 1789 of 1904, and vol. i of the *Evidence* is Cd. 1790. Lord Newton's *Lord Lansdowne* throws some lights on the war office

side, and more can be obtained from the debates in Hansard. The latter sufficiently explain the various attempts at army reform sponsored by the Balfour government. A good deal about the Esher Commission, and also about the development of the Committee of Imperial Defence, can be learned from the *Journals and Letters of Viscount Esher* (1934), as listed above. H. Spenser Wilkinson's autobiography, *Twenty-Five Years* (1933), presents a vivid record of hopes and fears for the army during this long season of incubation.

The Haldane army policy was also fully discussed in reported speeches, and Haldane collected some of his into a small volume (*Army Reform*, 1907). *The Territorial Force* (1909) by H. T. Baker (an intimate adherent) shows how carefully that part of his policy had been thought out. Sir Ian Hamilton's *Compulsory Service* (1910) exhibits the reasons which motived Haldane and his military advisers in opposing the conscription policy of Lord Roberts. Haldane's own *Autobiography*; J. A. Spender and C. Asquith's *Life of Asquith*; Sir C. E. Callwell's *Sir Henry Wilson Life and Diaries* (2 vols., 1927), Sir William R. Robertson's *From Private to Field-Marshal* (1921); and the *Life of Sir John French, First Earl of Ypres* (1931), by Major the Hon. G. French, illustrate the developments of the closing years, after the Expeditionary Force took firm shape and the use of it on the Continent became the subject of regular conversations with the French general staff. A recent expert re-appreciation of Lord Haldane's work will be found in Sir Frederick B. Maurice's *Fifth Annual Haldane Memorial Lecture* (1933).

Much miscellaneous information about the pre-war Regular army can be gathered from Rudyard Kipling's works, and also from such books as Sir C. E. Callwell's *Service Years and Memories* (1912) and *Recollections* (1923), or Sir G. Arthur's *Septuagenarian's Scrap Book* (1933). And there are striking reminiscences of life as a private soldier and N.C.O. at a very interesting transition period, 1871–8, in Robert Blatchford's *My Eighty Years* (1931).

NAVAL

The changes in the design of warships after the abandonment of 'wooden walls' may be traced by experts in the *Transactions* (since 1860) of the Institution of Naval Architects. Attempts to describe them for the public have not been numerous. In 1869 Sir Edward Reed, designer of the *Devastation* and till 1870 Chief

Constructor to the British navy, published *Our Ironclad Ships*, explaining fully the principles of warship construction down to the stage then reached. In 1888, with E. Simpson, he wrote *Modern Ships of War*. But for the work of his principal successor, Sir William White, see the *Life* (1923) by Frederic Manning. In 1903 Sir W. Laird Clowes published the last of 7 vols of composite authorship on the history of *The Royal Navy*, and in a chapter on its civil history, 1856–1900, surveyed the technical changes between the Crimean War and the end of the century By that time there were already being issued the two annuals, which are the chief guides for the rest of the period—*Brassey's Naval Annual* (from 1886) and F T Jane's *All the World's Fighting Ships* (from 1898)

One other biography is of high value as throwing light on the developments—that of *Lord Fisher of Kilverstone* (2 vols , 1929) by Admiral Sir R. H. S Bacon.

ECONOMIC

(*a*) GENERAL. The best general economic history that touches the period is the 2nd vol (1933) of Prof. J H. Clapham's *Economic History of Great Britain* Unfortunately it only accompanies us to 1886 Dr. Gilbert Slater's *Growth of Modern England* (1932—a much enlarged revision of an earlier book) has also great merits, it is not, however, solely an economic history, but is concerned rather to depict the interplay between industrial and political movements Both the late Dr. Lilian C A. Knowles's *The Industrial and Commercial Revolutions in Great Britain during the Nineteenth Century* (2nd edn., revised, 1922), and Dr. C. R Fay's *Great Britain from Adam Smith to the Present Day* (1928) are books of high quality One can also, for this period, refer to the files of the *Economist* all through, and from 1878 to those of the *Statist*.

Government sources for economic facts were before 1886 relatively meagre, after that they rapidly and progressively became copious. The turning-point was the Royal Commission on the Depression of Trade and Industry, whose *Reports* are Cds. 4621, 4715, 4797, and 4793 of that year (each of the last three with *Evidence* and *Appendices*). The board of trade's statistical activities were thenceforward greatly expanded under Sir Robert Giffen and H (afterwards Sir H.) Llewellyn Smith; the annual *Abstract of Labour Statistics* began its invaluable career in 1889 The depression of 1892–4 and the organization of the labour

department of the board of trade led to further extensions, but as from 1886 the foundations had been laid. Thus in the important report (Cd. 6889 of 1893–4) *On the Wages of the Manual Labour Classes in the United Kingdom*, the tables of wages and hours given are for 1886 and 1891. In the first *Statement Showing Production, Consumption, and Export, of Coal, and the Number of Employees in Coal Production, in the Principal Countries of the World* (No. 317 of 1894—it subsequently became annual) the retrospective starting-point is 1883. The next expansions resulted from the raising of the fiscal issue The 'fiscal blue-books' properly so-called are three—Cd. 1761 of 1903, Cd 2337 of 1904, and Cd. 4954 of 1909; but there are two other great blue-books, No. 294 of 1907 and No 218 of 1914, which are of similar scope and importance, and only differ in that they were *Returns*, that had been moved for in parliament One might add Cd. 2145 of 1904, the very interesting *Charts illustrating Statistics of Trade, Employment, and Conditions of Labour in the United Kingdom*, which were prepared for the St Louis Exhibition; and Cd. 321 of 1903, the board of trade *Report on Wholesale and Retail Prices*, which gives prices from 1871 Then in 1910 comes the *Preliminary Report* (Cd. 5463) of the Census of Production, the subsequent reports are Cd. 5813 of 1911 and Cds 6277 and 6320 of 1912–13. Of the many unofficial writers who since the publication of this wealth of blue-books have tried to elucidate or supplement their results, the most conspicuous is Prof. A. L. Bowley, whose works on *The Change in the Distribution of the National Income 1880 1913* (1920) and *The Division of the Product of Industry* (1919) more particularly concern us here

For knowledge of the period before 1886 we have to depend more on private enterprise. The *Journal* of the Royal Statistical Society makes throughout an important contribution. A. Sauerbeck's *Course of Average Prices of General Commodities in England* (1908) gives computations from 1815 to 1907 Sir Robert Giffen's *Essays in Finance* (1879 86) range over the whole of our first sub-period Giffen, who as comptroller-general of the commercial, labour, and statistical department of the board of trade afterwards took an important part in the earlier expansion of its work, had till 1876 been a financial journalist. His later writings include *The Growth of Capital* (1890) and *The Case Against Bimetallism* (1892). A convenient and reliable channel for much information covering foreign as well as British

statistics is M G Mulhall's *Dictionary of Statistics* (4th edn., 1899). A valuable continuation of it, the *New Dictionary of Statistics* by A. D Webb, appeared in 1911.

(*b*) POPULATION The primary sources are the decennial census reports and the annual reports of the registrar-general. With the development of public health administration, however, the study of death-rates and, to a less extent, of birth-rates became local as well as national; and much may be learned from the annual reports of the more enterprising local medical officers of health as well as (after 1908) from those of the medical officer to the Local Government Board. Useful books are: *The Population Problem* (1922), by A. M. Carr-Saunders; *Population* (1923) by Harold Wright; and *The Declining Birth-Rate* (1916) edited by Sir James Marchant. The last gives the *Report* and *Evidence* of a non-official but very influential 'National Birth-Rate Commission', which sat during 1913–15 and heard highly important witnesses; and includes a bibliography of French, German, and some American writings. In addition there is an extensive literature on the subject termed eugenics, starting from F. Galton's *Hereditary Genius* (1869) and continued most notably by him and by Prof. Karl Pearson; see the publications of the Eugenics Education Society, and K. Pearson's periodical *Biometrika*

(*c*) BANKING AND FINANCE. For the ways of finance in the City during this period, the best general authority is Ellis T Powell's *The Evolution of the Money Market* (1915). The standard account of the Bank of England by A. Andreades does not come down far enough in the century to help us. But there is a more recent book which does—*The Bank of England from Within* (2 vols , 1931) by W. Marston Acres, vol. ii gives some details about Goschen's conversion scheme and about the Baring crisis In regard to the joint-stock banks, no general history of the amalgamation movement, which so greatly reduced their numbers and increased their scale, has yet been written. There are, however, histories of individual banks; e g. P. W Matthew's *History of Barclay's Bank* (1926) and Neil Munro's *History of the Royal Bank of Scotland* (1928).

During the eighties and nineties bimetallism attracted serious attention in England, though it never (as in the U S.A) became a popular issue. The *Report* of the Royal Commission on Gold and Silver is Cd. 5512 of 1888.

(*d*) INDUSTRIAL AND TECHNICAL. This side is covered pretty

fully by Prof. Clapham down to 1886. For Gilchrist Thomas and his discovery, see R. W. Burnie's *Memoir and Letters of Sidney Gilchrist Thomas* (1891). For iron and steel generally, see Sir Isaac Lowthian Bell's essay on 'The Iron Trade and Allied Industries' in T. H. Ward's *Reign of Queen Victoria* (1887). For the period 1886–1900 Talbot Baines's *The Industrial North* (1928), a reprint of articles which originally appeared in *The Times* in the late nineties, surveys the industries of iron and steel, shipbuilding and engineering, armaments, Sheffield manufactures, West Riding cloth, Lancashire cotton, coal-mining, and chemicals. In the following decade a corresponding description of the Lancashire, Yorkshire, and West Riding industries may be found in Dr. A. Shadwell's *Industrial Efficiency* (1906); accompanied by comparative studies of corresponding industries in Germany and America. Practically contemporary is Sir Sydney J. Chapman's important monograph, *The Lancashire Cotton Industry* (1904). Railways and railway management (which altered relatively little during the period) may be studied in Sir W. M. Acworth's *The Railways of England* (5th edn. with supplementary chapters, 1900). The best general account of nautical developments down to nearly the end of the nineteenth century is in R. J. Cornewall Jones's *The British Merchant Service* (1898); see also A. C. Hardy's *Merchant Ship Types* (1924). J. T. Critchell and Joseph Raymond's *History of the Frozen Meat Trade* (1912) is the standard work on its subject, but it does not cover chilled beef, for which see G. E. Putnam's *Supplying Britain's Meat* (1923). For the early history of the bicycle and also for that of the motor-car the most reliable general authority is H. O. Duncan's encyclopaedic book, *The World on Wheels* (1926).

(*e*) AGRICULTURE. The *Reports* of the Royal Commission on 'the Depressed Condition of the Agricultural Interest' are Cd. 2778 of 1881 and Cd. 3309 of 1882. There were also published a vast mass of assistant commissioners' reports, evidence, and appendices, which will all be found indexed for the years 1881 and 1882. The (later) Royal Commission 'on Agricultural Depression' issued its first *General Report* in 1894 (Cd. 7400), its second in 1896 (Cd. 7981), and its *Final Report* in 1897 (Cd. 8540). Twenty reports of assistant commissioners appeared in the years 1894–6, the *Evidence* is Cd. 7400 of 1894 and Cds. 8021 and 8146 of 1896; and the *Appendices* are Cds. 8541 and 8300 of 1897. A most valuable report by A. Wilson Fox on the *Wages and Earnings*

of Agricultural Labourers is Cd. 346 of 1900, a second report by him on the same subject is Cd. 2376 of 1905. Much subsequent information about agricultural labourers' wages was given in the annual *Abstract of Labour Statistics* A report by Sir H. Rew on the *Decline of the Agricultural Population 1881–1906* is Cd. 3273 of 1906. The agricultural results of the census of production are given in Cd. 6277 of 1912–13 A return listed above, No. 218 of 1914, includes detailed comparisons of British, German, and American agricultural development. The German comparison was carried further in Sir T H. Middleton's *Recent Development of German Agriculture* (Cd. 8305 of 1916).

The best-known book which surveys farming through the period is *English Farming Past and Present* (1912; 4th edn. 1927), by Rowland E. Prothero (Lord Ernle). *Agriculture After the War* (1916), by Sir A. Daniel Hall, gives also a lucid review of the pre-war developments; the same author's *Pilgrimage of British Farming* (1912) records the actual faces of British farms as seen by an expert traversing the country not long before. Dr. W. Hasbach's *Die englischen Landarbeiter in den letzten hundert Jahren* (1894) is a careful German monograph; partly brought up to date, it was translated by Ruth Kenyon (1908) as *A History of the English Agricultural Labourer*. The small holdings policy, of which so much was heard in the 1906–10 parliament, was reported on in 1906 by a departmental committee. The best unofficial survey of English small holdings at the time was *Small Holdings* (1907) by L. Jebb.

(*f*) MUNICIPAL ENTERPRISE. The *Report* from the joint select committee of the house of lords and the house of commons on Municipal Trading (1900) was accompanied by *Evidence* and an *Appendix* containing a wide range of information More was embodied in the annual publications of the local government board Unofficial writings on the subject during the period were nearly all vitiated by strong prejudices for or against. Almost the only objective study is Douglas Knoop's *Principles and Methods of Municipal Trading* (1912).

(*g*) POVERTY The rival *Reports* of the Royal Commission on the Poor Law fill Cd 4499 of 1909, a gigantic blue-book with some 1238 folio pages, in which the main facts about pauperism in the period are fully stated and analysed See also the *Report* of the departmental committee on Vagrancy (vol. i is Cd 2852 of 1906). The *Report* of the select committee on Home Work is No 246 of

1908. The most important studies of poverty undertaken by private enterprise were Charles Booth's *Poverty*, which forms the First Series (4 vols.) in his *Life and Labour of the People of London* (collected edn., 1904), and B. Seebohm Rowntree's *Poverty: A Study of Town Life* (1901); above at p. 513, n. 4, is given a select list of later books like them. Sir W. H. Beveridge's *Unemployment* (1909) is in a class apart. A book with exceptional influence on contemporary opinion was Sir L. G. Chiozza Money's *Riches and Poverty* (1905). Mrs. Bernard Bosanquet's *Social Work in London 1869–1912* (1914) is a history of the Charity Organization Society; Sir C. S. Loch's composite *Methods of Social Advance* (1904) applies the society's principles in various fields. General William Booth's *In Darkest England and the Way Out* (1890) is the most famous social manifesto of the Salvation Army.

(*h*) Housing. The *Report* (1885) of the Royal Commission on the Housing of the Working Classes was the starting-point for systematic study of the problem. Details of all the chief municipal housing schemes adopted in the ensuing 17 years will be found in W. Thompson's *Housing Handbook* (1903), and much classified information covering the whole topic Local housing reports for the larger towns are legion Two special historical volumes issued by the London County Council are *The Housing Question in London 1855–1900* (1900) and *Housing of the Working Classes 1855–1912* (1913); they cover the whole housing record of the metropolis down to two years before the War. See also C E. Maurice's *Life of Octavia Hill* (1913). For the influence of German town-planning ideas, see T C Horsfall's *The Example of Germany* (1904); and for the history of the Garden City idea see Dugald Macfadyen's *Sir Ebenezer Howard and the Town Planning Movement* (1933)

(*i*) Trade Unionism. The standard book is *The History of Trade Unionism* by Sidney and Beatrice Webb (original edn, 1894, revised edn, 1920); with which goes their *Industrial Democracy* (1898). For the changes in the law, see *The Legal History of Trade Unionism* (1930), by R. Y. Hedges and A Winterbottom. Useful biographies of trade-union leaders in addition to those listed above in the Political section are *Memories of a Labour Leader* (1910), by John Wilson (of the Durham Miners), *Life of Thomas Burt* (of the Northumberland Miners), by Aaron Watson (1908); and *Labour, Life and Literature* (1913), by F Rogers (of the Vellum Binders). For a general review of the advanced movements in

trade-unionism at the close of the period, see G D. H Cole's *World of Labour* (1913). For Syndicalism, see the eleven numbers of Tom Mann's *Industrial Syndicalist*, beginning July 1910, Rowland Kenny's 'The Brains Behind the Labour Revolt' in the *English Review* (March 1912), and the famous pamphlet, *The Miners' Next Step*, published at Ton-y-pandy in 1912.

RELATIONS WITH IRELAND

For most of the last thirty-five years in this period the Irish question was so strongly to the fore in British politics that this section must largely be regarded as continuing the Political section above. Many books there cited are greatly concerned with it; and conversely the biographies of *C. S. Parnell*, by Barry O'Brien (1899), *John Redmond* (1932), by Denis Gwynn, and the 2nd vol. (by Ian Colvin, 1934) of the *Life of Lord Carson*, are just as necessary for English as for Irish political history.

For the agrarian revolution certain *Parliamentary Papers* are important, viz. the *Report* of the Duke of Richmond's Commission (1881); the *Report* of Lord Bessborough's Commission (1881); and later that of Lord Cowper's Commission (1887). For the story of the Land League generally there is the *Report of the Special* (i.e. Parnell) *Commission with the Evidence and Speeches taken verbatim before the Judges* (12 vols., 1896). For the part played by the Irish-American secret societies, see also Henri Le Caron's *Twenty-five Years in the Secret Service* (1892). Michael J. F. McCarthy's *The Irish Revolution* (1912) treats the period from 1879 to 1886 with wide knowledge, much of it first-hand, and an historic sense for the really important currents and under-currents. G Locker Lampson's *Consideration of the State of Ireland in the Nineteenth Century* (1907) is also worth referring to. Justin McCarthy's *Reminiscences* (2 vols., 1899) supply evidence at certain points regarding Parnell's fall and the developments in the nineties For the early twentieth-century developments, see Hansard and the biographies of Asquith, Redmond, and Carson. For the whole period 1880–1914 much interesting, though not always reliable, information may be gained from T M. Healy's *Letters and Leaders of My Day* (2 vols., 1928).

OVERSEA POSSESSIONS

(*a*) General. Almost the whole British Empire is covered by the *Historical Geography of the Dominions beyond the Seas* designed by

Sir Charles P. Lucas and written chiefly by him or by H. E. Egerton (1888–1923: all but Canada, Newfoundland, Australia, India, and the Introduction, appeared in the nineteenth century). 'Dominions' is there used in the wider sense; it is used in the narrower sense in A. B. Keith's *Responsible Government in the Dominions*, the 1912 edition of which (3 vols.) is authoritative for the constitutional development down to the War of what is now the British Commonwealth. See also his *Selected Speeches and Documents on British Colonial Policy, 1763–1917* (2 vols., 1918). The consolidations of Canada, Australia, and South Africa, which had gone forward during the period, were treated by H. E. Egerton in *Federations and Unions within the British Empire* (1911). For the Colonial and early Imperial Conferences, see Richard Jebb's *The Imperial Conference* (2 vols., 1911), and cf. his *The Britannic Question* (1913), also W. P. Hall's *Empire to Commonwealth* (1928).

(*b*) South Africa. The events from Lord Carnarvon's return to the Colonial Office down to the London Convention with the Transvaal are dealt with in vols. x and xi (1919) of G. M. Theal's *History of South Africa*. For Shepstone's annexation of the Transvaal, see also H. Rider Haggard's *Cetewayo and His White Neighbours* (1882); for Frere's conduct, John Martineau's *Life and Correspondence of Sir Bartle Frere* (2 vols., 1895); for the Zulu war, the *Narrative of the Field Operations connected with the Zulu War of 1879*, published (1881) by the Intelligence Division of the War Office. For the Jameson Raid and its circumstances the Report of the Select Committee (Cd. 311 of 1897) is the principal source, but the biographies of Harcourt and Chamberlain throw much additional light. Of Rhodes there are many biographies: an official one by Sir L. Michell (1910), and others by Basil Williams (1921), J. G. Macdonald (1927), Sarah G. Millin (1933), and J. G. Lockhart (1933). For further events up to the South African War, see the list of authorities given above at p. 248, n. 1. For authorities on the war see the Military section above, and for the settlement of 1906–7 see J. A. Spender's *Life of Sir Henry Campbell-Bannerman* (1923).

(*c*) Tropical Africa. For the British acquisitions generally, see J. Scott Keltie's *The Partition of Africa* (2nd edn., 1895) and Sir H. H. Johnston's *History and Description of the British Empire in Africa* (1910). For Stanley's decisive explorations, see his *How I Found Livingstone* (1872), *Through the Dark Continent* (1878), *In Darkest Africa* (1890), and *Autobiography* (1909). For British policy

in East Africa, see Sir F. (afterwards Lord) Lugard's *The Rise of Our East African Empire* (2 vols., 1893); Sir Gerald Portal's *The British Mission to Uganda* (1894); and Sir H. H Johnston's *The Uganda Protectorate* (2 vols., 1902). For West Africa, see Sir W. N. M. Geary's *Nigeria under British Rule* (1927); Lady Gerald Wellesley's *Sir George Goldie* (1934), and Lord Lugard's *The Dual Mandate in British Tropical Africa* (1922).

(*d*) EGYPT, though not at this time a 'possession', became a very important part of the British Imperial system. See Lord Cromer's *Modern Egypt* (1908), Lord Milner's *England in Egypt* (1892), and Lord Kitchener's biography as above For the Gordon episode, see B. M. Allen's *Gordon and the Sudan* (1931) and the biographies of Gladstone, Wolseley, and the Duke of Devonshire; for the Mahdist story as a whole, Sir F. Wingate's *Mahdism and the Egyptian Sudan* (1891).

(*e*) INDIA. For the frontier policies of the seventies and eighties, see Lady Betty Balfour's *History of Lord Lytton's Indian Administration* (1899); Martineau's *Frere* (as above); Lucien Wolf's *Marquess of Ripon* (2 vols., 1921), and the biographies of Disraeli, Salisbury, and Gladstone. For later events, see Sir A. Lyall's *Lord Dufferin* (2 vols., 1905), Lord R. Churchill's biography, and the the *Life of Lord Curzon* by the Marquess of Zetland (3 vols., 1928). For the evolution of the Morley-Minto reforms, see *India, Minto, and Morley. 1905–10* (1934), by Mary Countess of Minto.

(*f*) AUSTRALIA. C. E. Lyne's *Life of Sir Henry Parkes* (1897) describes the movement which led to the National Australasian Convention of 1891 For the achievement of Australian federation see J Finney's *History of the Australian Colonies* (1901) and W. H Moore's *The Constitution of the Commonwealth of Australia* (1902).

LITERATURE, THOUGHT, AND SCIENCE

The chief writers and thinkers dying between 1870 and 1900 (or those who at the end of that period appeared such) will be found catalogued and discussed in vol. 4 (by Edmund Gosse, 1903) of R Garnett and E. Gosse's large *English Literature Illustrated*—a useful index to the taste of its time Later surveys of more recent authors must naturally be regarded as more provisional; perhaps the best is that by Louis Cazamian forming the extension of the last part of Émile Legouis and Louis Cazamian's

History of English Literature (1933 edn.). F. A. Swinnerton's *The Georgian Literary Scene* (1935) describes with insight some features of the last pre-war period. Biographical works worth consulting include H. G. Wells's *Autobiography* (2 vols., 1934), Archibald Henderson's *Bernard Shaw, Playboy and Prophet* (1932), S. M. Ellis's *George Meredith* (1919), Sir Graham Balfour's *Robert Louis Stevenson* (2 vols., 1901), Florence E. Hardy's *Thomas Hardy* (2 vols., 1933), Ford Madox Ford's *Joseph Conrad* (1924); and the same author's critical study of *Henry James* (1913).

The development of the Press during the period has not yet been adequately recorded. R. A. Scott-James's *The Influence of the Press* (1913) and G. Binney Dibblee's *The Newspaper* (1913) give the best general accounts. Many books have been written about Lord Northcliffe; the best is Hamilton Fyfe's biography (1930); others, by Sir Max Pemberton, Sir J. A. Hammerton, and Tom Clarke, each add something to the rest. J. L. Hammond's biography of *C. P. Scott* (1934) portrays the editor most successful in maintaining the best qualities of the older journalism against the tendencies for which Northcliffe stood.

The progress of science during the period can be accurately traced by two sets of records, the *Proceedings* of the Royal Society and the *Annual Reports* of the British Association—the first designed for the scientists themselves, the second for the larger educated public. Corresponding to these were two standard periodicals—*Nature* (from 1870) and the *Popular Science Monthly* (from 1872). Among the few attempts made to survey the progress of science as a whole at this time, and to describe its impacts on the mind of the generation, perhaps the best is in Sir W. C. D. Dampier-Whetham's *History of Science* (2nd edn. revised, 1930). That in Gerald Heard's *These Hurrying Years* (1934) is by comparison rather superficial. A. N. Whitehead's *Science in the Modern World* (1926) and Lord Haldane's *Philosophy of Humanism* (1922) each throw certain lights on the subject.

THE ARTS AND MUSIC

(*a*) ARCHITECTURE. Quite the best sources of information are the files of the contemporary periodicals concerned with it, notably, for this period, the *Architectural Review* (from 1896), the *Architect* (since 1869), and the *Builder* (since 1843) besides others later. There are informative lectures and discussions in the *Journal of Proceedings* of the Royal Institute of British Architects.

A special number of the *Studio* entitled *Modern British Domestic Architecture* (1901), and special issues of the *Architectural Review* entitled *Recent English Domestic Architecture* (1908–10), all largely illustrated, show the tendencies to smaller houses and simpler, more vernacular styles, which set in from the late nineties Hermann Muthesius's *Das englische Haus* (3 vols., 1904) is the best illustrated book on English domestic architecture down to its own date. The architecture of public buildings is illustrated in Sir Banister Fletcher's *History of Architecture* (7th edn., 1924) and A. D F. Hamlin's *History of Architecture* (revised 1922), but in these historical and cosmopolitan works not much space can be given to a short period of a single country For churches see *Recent English Ecclesiastical Architecture* (1912) by Sir Charles Nicholson and C. Spooner.

(*b*) Painting and Sculpture. There were no equally good periodicals for these arts, until the introduction of process-blocks made it possible to reproduce pictures and sculptures from photographs. But after the starting of the *Studio* in 1893 we have a good running record for the rest of the period. For earlier dates we have A. Grave's *Dictionary of Artists who have exhibited works in the principal London exhibitions from 1760 to 1893* (1895). The *Annual Register* habitually included a short critical record of the exhibitions of the Royal Academy and a few others We can also refer to biographies, among which may be cited the 'official' *Lives* of *James McNeill Whistler* (1908) by Joseph and E R Pennell, *Sir J. E. Millais* (1899) by J. G. Millais, *George Frederick Watts* (3 vols , 1912) by Mary S. Watts (his widow); and the exquisite *Memorials of Edward Burne-Jones* (1904) by 'G.B.-J.' (his widow). With the last may be associated J W. Mackail's *Life of William Morris* (1899); which is more particularly important for the early history of the Arts and Crafts movement Sir Wyke Bayliss's *Five Great Painters of the Victorian Era* (1902) is interesting as showing how these men appeared to contemporary critics (the five are Leighton, Millais, Burne-Jones, Watts, and Holman Hunt). M. H. Spielmann's *Millais and his Works* (1898) has the same sort of interest, it contains a revealing chapter of 'Thoughts on the art of to-day' by Millais himself.

(*c*) Music. Vol. vii (1934) of the *Oxford History of Music* contains a long and valuable chapter by H. C. Colles on English musical history from 1850 to 1900. English music, both before and after that date, is likewise fully handled under different

headings in the 3rd edn. (5 vols., 1927–8) of Sir G. Grove's *Dictionary of Music and Musicians*. The following biographical or critical works may also be mentioned: *Life of William Sterndale Bennett* (1907), by J. R. S. Bennett; *Hubert Parry* (1926), by C. L. Graves; *Charles Villiers Stanford* (1935), by H. Plunket Greene; *The Music of Parry and Stanford* (1934), by J. A. Fuller-Maitland; *Elgar: His Life and Works* (1933), by B. Maine, *Cecil Sharp* (1933), by A. H. Fox Strangways and Maud Karpeles. Sir A. C. Mackenzie's autobiography, *A Musician's Narrative* (1927), gives a lively picture of what working conditions in the musical world during this period were like.

SOCIAL LIFE AND EDUCATION

Future historians of the manners of this period may rely not a little on the novelists. They are good guides, except that they tend to draw on their memories and describe states of society somewhat earlier than the generation in which their readers are living: this is noticeably true of George Eliot, Meredith, Hardy, and Galsworthy, less so of Bennett and Wells, and not at all of Mrs. Humphry Ward. But the best sources are actual letters, diaries, and other biographical matter. The number published which emanate from 1870–1914 is already large. Three may be named, which illustrate the life of different sections of the governing class: *Mary Gladstone: Her Diaries and Letters*, ed. Lucy Masterman (1930); the *Autobiography of Margot Asquith* (1920), and Mrs. Sidney Webb's *My Apprenticeship* (1926). *Memories and Notes* (1927) by Anthony Hope (Sir A. H. Hawkins) exhibits the change in London from the period of the barouche and the hansom to that of the motor-car. George Sturt's *The Wheelwright's Shop* (1923) describes the passing of an old industry from a craft to a commercial basis, and from dependence on local to dependence on non-local custom.

Another source will be the newspapers. R. H. Gretton's *Modern History of the English People 1880–1922* (originally in 3 vols., 1912, 1914, and 1929) seems largely based on them, and is an interesting attempt to exhibit from year to year how the world of events and people appeared to newspaper readers. Not the least informative feature in old newspaper files are the advertisements. Illustrated periodicals are the main authorities for costume.

Education down to the Balfour Act is well described in two books: Sir Graham Balfour's *The Educational Systems of Great Britain*

and Ireland (2nd edn., 1903) and J. W. Adamson's *English Education 1789–1902* (1930). No authoritative general account covers all the developments since; but much may be learned from a great variety of board of education reports. The best recent account of the growth of technical education is A. Abbott's *Education for Industry and Commerce in England* (1933), for some of its earlier phases, see the biography of *Quintin Hogg* (1904) by E. M. Hogg. Of the expansion of the public schools in the latter half of the nineteenth century to meet the vast increase in the number of people desiring to send their sons to them, much may be learned from Sir G. R. Parkin's *Life of Edward Thring*; where the origins of the Headmasters' Conference are shown The origins and passing of the Balfour Act are well shown in B. M. Allen's *Sir Robert Morant* (1934); which also describes the nine subsequent years of rapid educational expansion, while Morant remained head of the board.

LIST OF CABINETS 1870–1914

1. GLADSTONE'S FIRST CABINET

(formed December 1868)

First lord of the treasury: W. E. Gladstone.
Lord chancellor: Lord Hatherley (Sir W. Page Wood).
Lord president: Earl de Grey (cr. Marquess of Ripon 1871).
Lord privy seal: Earl of Kimberley.
Chancellor of the exchequer: Robert Lowe.
Home secretary: H. A. Bruce.
Foreign secretary: Earl of Clarendon.
Colonial secretary: Earl Granville.
Secretary for war: E. Cardwell.
Secretary for India: Duke of Argyll.
First lord of the admiralty: H. C. E. Childers.
President of the board of trade: John Bright.
Chief secretary for Ireland: Chichester Fortescue.
Postmaster-general: Marquess of Hartington.
President of the poor law board: G. J. Goschen.

Changes

July 1870: W. E. Forster, vice-president (education), entered the cabinet; Lord Granville became foreign secretary (following Lord Clarendon's death); Lord Kimberley became colonial secretary, and Lord Halifax (Sir C. Wood) lord privy seal. *December 1870*: Chichester Fortescue succeeded John Bright (resigned) as president of the board of trade, Lord Hartington became chief secretary for Ireland (the new postmaster-general, W. Monsell, was not in the cabinet). *March 1871*: G. J. Goschen succeeded H. C. E. Childers (resigned) as first lord of the admiralty; James Stansfeld became president of the poor law board. *August 1872*: H. C. E. Childers rejoined the cabinet as chancellor of the duchy of Lancaster. *October 1872*: Lord Selborne (Sir Roundell Palmer) succeeded Lord Hatherley (resigned) as lord chancellor. *August 1873*: H. A. Bruce (cr. Lord Aberdare) succeeded Lord Ripon (resigned) as lord president of the council, Robert Lowe succeeded Bruce as home secretary, W. E. Gladstone succeeded Lowe as chancellor of the exchequer (combining the office with the premiership). *September 1873*: John Bright rejoined the cabinet as chancellor of the duchy of Lancaster, in place of Childers (resigned).

2. DISRAELI'S SECOND CABINET

(formed February 1874)

First lord of the treasury: Benjamin Disraeli.
Lord chancellor: Lord Cairns (cr. Earl 1878).
Lord president: Duke of Richmond.
Lord privy seal: Earl of Malmesbury.
Chancellor of the exchequer: Sir Stafford Northcote.

Home secretary: R. A. Cross.
Foreign secretary: Earl of Derby.
Colonial secretary: Earl of Carnarvon.
Secretary for war: G. Gathorne Hardy.
Secretary for India: Marquess of Salisbury.
First lord of the admiralty: G. Ward Hunt.
Postmaster-general: Lord John Manners.

Changes

August 1876: B. Disraeli succeeded Lord Malmesbury (resigned) as lord privy seal (combining the office with the premiership), and went to the lords as Earl of Beaconsfield. *February 1877:* Sir Michael Hicks Beach, chief secretary for Ireland, entered the cabinet. *August 1877:* W. H. Smith succeeded Ward Hunt (deceased) as first lord of the admiralty. *February 1878:* Sir M. Hicks Beach succeeded Lord Carnarvon (resigned) as colonial secretary (James Lowther succeeded Hicks Beach as Irish secretary, but without a seat in the cabinet). The Duke of Northumberland took the post of lord privy seal. *April 1878:* Lord Salisbury succeeded Lord Derby (resigned) as foreign secretary. Gathorne Hardy (cr. Viscount Cranbrook) succeeded Lord Salisbury as secretary for India, being himself succeeded as secretary for war by F. A. Stanley. Viscount Sandon, on succeeding C. B. Adderley as president of the board of trade, was brought into the cabinet.

3. GLADSTONE'S SECOND CABINET

(*formed April 1880*)

First lord of the treasury:
Chancellor of the exchequer: } W. E. Gladstone.
Lord chancellor: Lord Selborne (cr. Earl 1881).
Lord president: Earl Spencer.
Lord privy seal: Duke of Argyll.
Home secretary: Sir William Vernon Harcourt.
Foreign secretary: Earl Granville.
Colonial secretary: Earl of Kimberley.
Secretary for war: H. C. E. Childers.
Secretary for India: Marquess of Hartington.
First lord of the admiralty: Earl of Northbrook.
President of the board of trade: Joseph Chamberlain.
President of the local government board: J. G. Dodson.
Chief secretary for Ireland: W. E. Forster.
Chancellor of the duchy of Lancaster: John Bright.

Changes

May 1881: Lord Carlingford (Chichester Fortescue) succeeded the Duke of Argyll (resigned) as lord privy seal. *April 1882:* Lord Spencer, while retaining his seat in the cabinet, became Irish viceroy. Forster resigned the Irish secretaryship, which went to Lord Frederick Cavendish and after Cavendish's murder to G. O. Trevelyan—neither having a seat in the

cabinet. *July 1882*: Bright resigned the chancellorship of the duchy of Lancaster, and Lord Kimberley combined it with his office of colonial secretary. *December 1882*. Gladstone resigned the chancellorship of the exchequer to Childers, Lord Hartington succeeded Childers at the war office; Lord Kimberley succeeded Lord Hartington at the India office; he himself was succeeded as colonial secretary by Lord Derby and as chancellor of the duchy of Lancaster by J. G. Dodson; Dodson was succeeded at the local government board by Sir Charles Dilke. *March 1883*: Lord Carlingford succeeded Lord Spencer as lord president, combining the office with that of lord privy seal. *October 1884*: G. O. Trevelyan succeeded Dodson (resigned) as chancellor of the duchy of Lancaster, being himself succeeded in the Irish secretaryship by H. Campbell-Bannerman (without a seat in the cabinet). *February 1885*: G. J. Shaw-Lefevre, postmaster-general, was brought into the cabinet. *March 1885*. The Earl of Rosebery was brought into the cabinet, taking over from Lord Carlingford the office of lord privy seal.

4. LORD SALISBURY'S FIRST CABINET

(formed June 1885)

Premier and foreign secretary. Marquess of Salisbury
First lord of the treasury: Earl of Iddesleigh (Sir Stafford Northcote).
Lord chancellor: Lord Halsbury (Sir Hardinge Giffard).
Lord president: Viscount Cranbrook
Lord privy seal: Earl of Harrowby
Chancellor of the exchequer: Sir Michael Hicks Beach.
Home secretary: Sir R. A. Cross.
Colonial secretary: Sir F. A. Stanley
Secretary for war: W. H. Smith
Secretary for India: Lord Randolph Churchill
First lord of the admiralty: Lord George Hamilton
President of the board of trade. Duke of Richmond.
Irish viceroy. Earl of Carnarvon
Postmaster-general: Lord John Manners
Vice-president (education): Hon. E. Stanhope
Lord chancellor of Ireland: Lord Ashbourne

Changes

August 1885: the Duke of Richmond was appointed secretary for Scotland, and E. Stanhope succeeded him at the board of trade. *January 1886*: W. H. Smith, while retaining his seat in the cabinet, became chief secretary for Ireland, succeeding Sir W. Hart Dyke, who had been outside the cabinet.

5. GLADSTONE'S THIRD CABINET

(formed February 1886)

First lord of the treasury. } W. E. Gladstone
Lord privy seal }
Lord chancellor: Lord (Sir Farrer) Herschell.
Lord president: Earl Spencer

Chancellor of the exchequer: Sir William Vernon Harcourt.
Home secretary: H. C. E Childers.
Foreign secretary: Earl of Rosebery.
Colonial secretary: Earl Granville.
Secretary for war. H Campbell-Bannerman.
Secretary for India. Earl of Kimberley.
Secretary for Scotland. G. O. Trevelyan.
Chief secretary for Ireland· John Morley.
First lord of the admiralty. Marquess of Ripon
President of the board of trade. A. J. Mundella
President of the local government board· J. Chamberlain.

Changes

April 1886 Chamberlain resigned, and was succeeded by J Stansfeld; Trevelyan resigned, and was succeeded by the Earl of Dalhousie (but without a seat in the cabinet).

6 LORD SALISBURY'S SECOND CABINET

(*formed August 1886*)

First lord of the treasury Marquess of Salisbury.
Lord chancellor Lord Halsbury
Lord president Viscount Cranbrook.
Chancellor of the exchequer Lord Randolph Churchill.
Home secretary Henry Matthews
Foreign secretary Earl of Iddesleigh.
Colonial secretary. Hon. Edward Stanhope.
Secretary for war W. H. Smith
Secretary for India. Viscount (Sir R A) Cross
Chief secretary for Ireland: Sir Michael Hicks Beach.
First lord of the admiralty Lord George Hamilton
President of the board of trade. Lord (Sir F. A) Stanley.
Chancellor of the duchy of Lancaster Lord John Manners.
Lord chancellor of Ireland Lord Ashbourne.

Changes

November 1886 A. J Balfour, secretary for Scotland, was brought into the cabinet *January 1887* G J. Goschen succeeded Lord Randolph Churchill (resigned) as chancellor of the exchequer Lord Salisbury succeeded Lord Iddesleigh as foreign secretary. W H. Smith succeeded Lord Salisbury as first lord of the treasury. Stanhope succeeded Smith as secretary for war Lord Knutsford (Sir Henry Holland) succeeded Stanhope as secretary for the colonies. *March 1887*. A J. Balfour succeeded Sir M. Hicks Beach as Irish secretary (Hicks Beach resigned, but remained in the cabinet) The Marquess of Lothian succeeded Balfour as secretary for Scotland *May 1887*· Earl Cadogan, lord privy seal, and C T. Ritchie, president of the local government board, entered the cabinet. *February 1888*· Sir M Hicks Beach succeeded Lord Stanley (appointed governor of

Canada) as president of the board of trade. *October 1891*: A. J. Balfour succeeded W. H. Smith deceased as first lord of the treasury, relinquishing the Irish secretaryship to W. L. Jackson.

7. GLADSTONE'S FOURTH CABINET

(*formed August 1892*)

First lord of the treasury }
Lord privy seal } W. E. Gladstone.

Lord chancellor: Lord Herschell.

Lord president: }
Secretary for India } Earl of Kimberley.

Chancellor of the exchequer: Sir William Vernon Harcourt.

Home secretary: H. H. Asquith.

Foreign secretary: Earl of Rosebery.

Colonial secretary: Marquess of Ripon.

Secretary for war: H. Campbell-Bannerman.

Secretary for Scotland: Sir G. O. Trevelyan.

Chief secretary for Ireland: John Morley.

First lord of the admiralty: Earl Spencer.

President of the board of trade: A. J. Mundella.

President of the local government board: H. H. Fowler.

Chancellor of the duchy of Lancaster: James Bryce.

Vice-president (education): A. H. D. Acland.

First commissioner of works: G. J. Shaw-Lefevre.

Postmaster-general: Arnold Morley.

8. LORD ROSEBERY'S CABINET

(*formed March 1894*)

First lord of the treasury }
Lord President } Earl of Rosebery.

Lord chancellor: Lord Herschell.

Lord privy seal: }
Chancellor of the duchy of Lancaster } Lord Tweedmouth.

Chancellor of the exchequer: Sir William Vernon Harcourt.

Home secretary: H. H. Asquith.

Foreign secretary: Earl of Kimberley.

Colonial secretary: Marquess of Ripon.

Secretary for war: H. Campbell-Bannerman.

Secretary for India: H. H. Fowler.

Secretary for Scotland: Sir G. O. Trevelyan.

Chief secretary for Ireland: John Morley.

First lord of the admiralty: Earl Spencer.

President of the board of trade: James Bryce.

President of the local government board: G. J. Shaw-Lefevre.

Vice-president (education): A. H. D. Acland.

Postmaster-general: Arnold Morley.

9. LORD SALISBURY'S THIRD CABINET

(*formed June 1895*)

Premier and foreign secretary: Marquess of Salisbury.
First lord of the treasury: A. J. Balfour.
Lord chancellor: Earl of Halsbury.
Lord president: Duke of Devonshire.
Lord privy seal: Viscount Cross.
Chancellor of the exchequer: Sir M. Hicks Beach.
Home secretary: Sir Matthew White Ridley.
Colonial secretary: Joseph Chamberlain.
Secretary for war: Marquess of Lansdowne.
Secretary for India: Lord George Hamilton.
Secretary for Scotland: Lord Balfour of Burleigh.
Irish viceroy: Earl Cadogan.
First lord of the admiralty: G. J. Goschen.
Chancellor of the duchy of Lancaster: Lord James of Hereford.
President of the board of trade: C. T. Ritchie.
President of the local government board: H. Chaplin.
President of the board of agriculture: Walter Long.
Lord chancellor of Ireland: Lord Ashbourne.
Commissioner for works: A. Akers-Douglas.

Changes

October 1900 Lord Salisbury relinquished the foreign office, and became lord privy seal, Lord Cross retiring from the cabinet. Lord Lansdowne succeeded him as foreign secretary, being himself succeeded at the war office by the Hon. St John Brodrick. Goschen retired from the cabinet, and was succeeded as first lord of the admiralty by the (second) Earl of Selborne. Sir M. W. Ridley retired from the cabinet, and was succeeded as home secretary by C. T. Ritchie. Ritchie's place as president of the board of trade was filled by G. W. Balfour (till then since 1895 chief secretary for Ireland without a seat in the cabinet). Chaplin retired from the cabinet, and his place there as president of the local government board was filled by Walter Long, whose place as president of the board of agriculture went to R. W. Hanbury. The cabinet was enlarged by taking in the postmaster-general, the Marquess of Londonderry succeeding the Duke of Norfolk in that office. As Lord Cadogan, the Irish viceroy, remained in the cabinet, the new chief secretary for Ireland, George Wyndham, was outside.

10. BALFOUR'S CABINET

(*formed July 1902*)

First lord of the treasury: A. J. Balfour.
Lord chancellor: Earl of Halsbury.
Lord president: Duke of Devonshire.
Lord privy seal:
President of the board of education: } Marquess of Londonderry.

Chancellor of the exchequer: C. T. Ritchie.
Home secretary: A. Akers-Douglas.
Foreign secretary: Marquess of Lansdowne.
Colonial secretary: Joseph Chamberlain.
Secretary for war: Hon. St John Brodrick.
Secretary for India. Lord George Hamilton.
Secretary for Scotland. Lord Balfour of Burleigh.
Chief secretary for Ireland: George Wyndham.
First lord of the admiralty: Earl of Selborne.
Chancellor of the duchy of Lancaster: Lord James of Hereford.
President of the board of trade: G. W. Balfour.
President of the local government board: Walter Long.
President of the board of agriculture: R. W. Hanbury.
Lord chancellor of Ireland: Lord Ashbourne.
First commissioner of works: Lord Windsor (cr. Earl of Plymouth, 1905).
Postmaster-general. Austen Chamberlain.

Changes

August 1902 Lord James of Hereford retired from the cabinet, and was succeeded as chancellor of the duchy of Lancaster by Sir William Walrond (cr. Lord Waleran 1905). *May 1903* the Earl of Onslow succeeded R. W. Hanbury (deceased) as president of the board of agriculture. *September 1903* Chamberlain resigned and was replaced as colonial secretary by the Hon. Alfred Lyttelton. Ritchie resigned, and was replaced as chancellor of the exchequer by Austen Chamberlain. Lord George Hamilton resigned, and was replaced as secretary for India by St John Brodrick, whose post as secretary for war went to H. O. Arnold-Forster. Lord Balfour of Burleigh resigned, and was replaced as secretary for Scotland by Graham Murray. The duke of Devonshire resigned, and was replaced as lord president of the council by Lord Londonderry, who retained the presidency of the board of education, but was followed as lord privy seal by the (lately succeeded) Marquess of Salisbury. *March 1905* Lord Selborne left the cabinet to become governor-general of South Africa, and his place as first lord of the admiralty was taken by Earl Cawdor. George Wyndham resigned, and his place as chief secretary for Ireland was taken by Walter Long. Long was succeeded at the local government board by G. W. Balfour, who himself was succeeded at the board of trade by Lord Salisbury. Lord Onslow resigned, and was succeeded as president of the board of agriculture by the Hon. Ailwyn Fellowes (cr. Lord Ailwyn, 1921).

11. CAMPBELL-BANNERMAN'S CABINET

(formed December 1905)

First lord of the treasury: Sir Henry Campbell-Bannerman.
Lord chancellor: Lord Loreburn (Sir R. T. Reid).
Lord president: Earl of Crewe.
Lord privy seal: Marquess of Ripon.
Chancellor of the exchequer: H. H. Asquith.

Home secretary: Herbert J. Gladstone.
Foreign secretary: Sir Edward Grey.
Colonial secretary Earl of Elgin.
Secretary for war R. B Haldane.
Secretary for India· John Morley.
Secretary for Scotland John Sinclair
Chief secretary for Ireland· James Bryce.
First lord of the admiralty· Lord Tweedmouth.
Chancellor of the duchy of Lancaster· Sir Henry H. Fowler.
President of the board of trade: D. Lloyd George.
President of the local government board: John Burns.
President of the board of agriculture. Earl Carrington.
President of the board of education· Augustine Birrell.
Postmaster-general. Sydney Buxton.

Changes

January 1907. Bryce being appointed ambassador at Washington Birrell succeeded him as chief secretary for Ireland, and R McKenna succeeded Birrell as president of the board of education. *March 1907*. L. V Harcourt, first commissioner of works, was brought into the cabinet

12 ASQUITH'S FIRST CABINET

(*formed April 1908*)

First lord of the treasury H. H Asquith
Lord chancellor Lord (cr Earl 1911) Loreburn.
Lord president Lord Tweedmouth
Lord privy seal Marquess of Ripon
Chancellor of the exchequer· D. Lloyd George.
Home secretary. Herbert J Gladstone.
Foreign secretary. Sir Edward Grey
Colonial secretary Earl of Crewe
Secretary for war R B. (cr Viscount 1911) Haldane
Secretary for India: Viscount (John) Morley.
Secretary for Scotland John Sinclair (cr Lord Pentland 1909).
Chief secretary for Ireland Augustine Birrell.
First lord of the admiralty R McKenna
Chancellor of the duchy of Lancaster: Sir H H. Fowler (Viscount Wolverhampton)
President of the board of trade Winston S Churchill.
President of the local government board· John Burns.
President of the board of agriculture Earl Carrington
President of the board of Education. Walter Runciman.
Postmaster-general· Sydney Buxton
First commissioner of works· Lewis Vernon Harcourt.

Changes

(down to August 1914)

September 1908: Lord Tweedmouth was succeeded as president of the council by Sir Henry Fowler, who was created Viscount Wolverhampton

Fowler was succeeded as chancellor of the duchy of Lancaster by Lord Edmund Fitzmaurice, who was created Lord Fitzmaurice. *October 1908*: Lord Ripon was succeeded as lord privy seal by Lord Crewe, who combined the post with that of colonial secretary. *June 1909*: Lord Fitzmaurice was succeeded as chancellor of the duchy of Lancaster by Herbert Samuel. *February 1910*: Herbert Gladstone (appointed governor-general of South Africa) was succeeded as home secretary by Winston Churchill, who was himself succeeded as president of the board of trade by Sydney Buxton. Herbert Samuel succeeded Buxton as postmaster general, and was himself succeeded as chancellor of the duchy of Lancaster by J. A. Pease. *June 1910*: Lord Wolverhampton was succeeded as lord president of the council by Earl Beauchamp. *November 1910*. Lord Morley became lord president of the council, being succeeded as secretary for India by Lord Crewe. Lewis Harcourt succeeded Crewe as colonial secretary, and Earl Beauchamp succeeded Harcourt as first commissioner of works. *October 1911*: Winston Churchill replaced R. McKenna as first lord of the admiralty, and R. McKenna replaced Winston Churchill as home secretary. Lord Carrington became lord privy seal, being succeeded as president of the board of agriculture by Walter Runciman. Runciman was succeeded as president of the board of education by J. A. Pease, and Pease as chancellor of the duchy of Lancaster by C. E. Hobhouse. *February 1912*: Lord Carrington retired (as Marquess of Lincolnshire), his post as lord privy seal reverting to Lord (now Marquess of) Crewe. Lord Pentland (appointed governor of Madras) was succeeded as secretary for Scotland by T. McKinnon Wood. *June 1912*: Lord Loreburn retired, and Lord (R. B.) Haldane succeeded him as lord chancellor. Col. J. E. B. Seely (cr. Lord Mottistone 1934) succeeded Haldane as secretary for war. Sir Rufus Isaacs, attorney-general since October 1910, came now into the cabinet, being the first law-officer to do so. *February 1914*: Buxton (appointed governor-general of South Africa) was succeeded as president of the board of trade by John Burns, who was himself succeeded as president of the local government board by Herbert Samuel. Samuel was succeeded as postmaster-general by C. E. Hobhouse, who himself was succeeded as chancellor of the duchy of Lancaster by C. F. G. Masterman. *March 1914*: Seely resigned, and was succeeded as secretary for war by Asquith, who combined the office with that of prime minister. *August 1914*: Lord Morley resigned, and was succeeded as lord president by Earl Beauchamp. John Burns resigned, and was succeeded as president of the board of trade by Runciman, who himself was succeeded as president of the board of agriculture by Lord Lucas. Asquith relinquished the post of secretary for war, to which Earl Kitchener was appointed.

INDEX

1. THE BALKANS

2. AFGHANISTAN ABOUT 1880

7 EASTERN SUDAN
Boundaries at the close of the 19th century

4 SOUTH AFRICA, 1899–1902

Socotra (Br)
MADAGASCAR
Ste Marie (Fr)
Mauritius (Br)
Réunion (Fr)
Lourenço Marques
SWAZILAND
ZULULAND
KAFFRARIA
English Miles

AFRICA, 1871
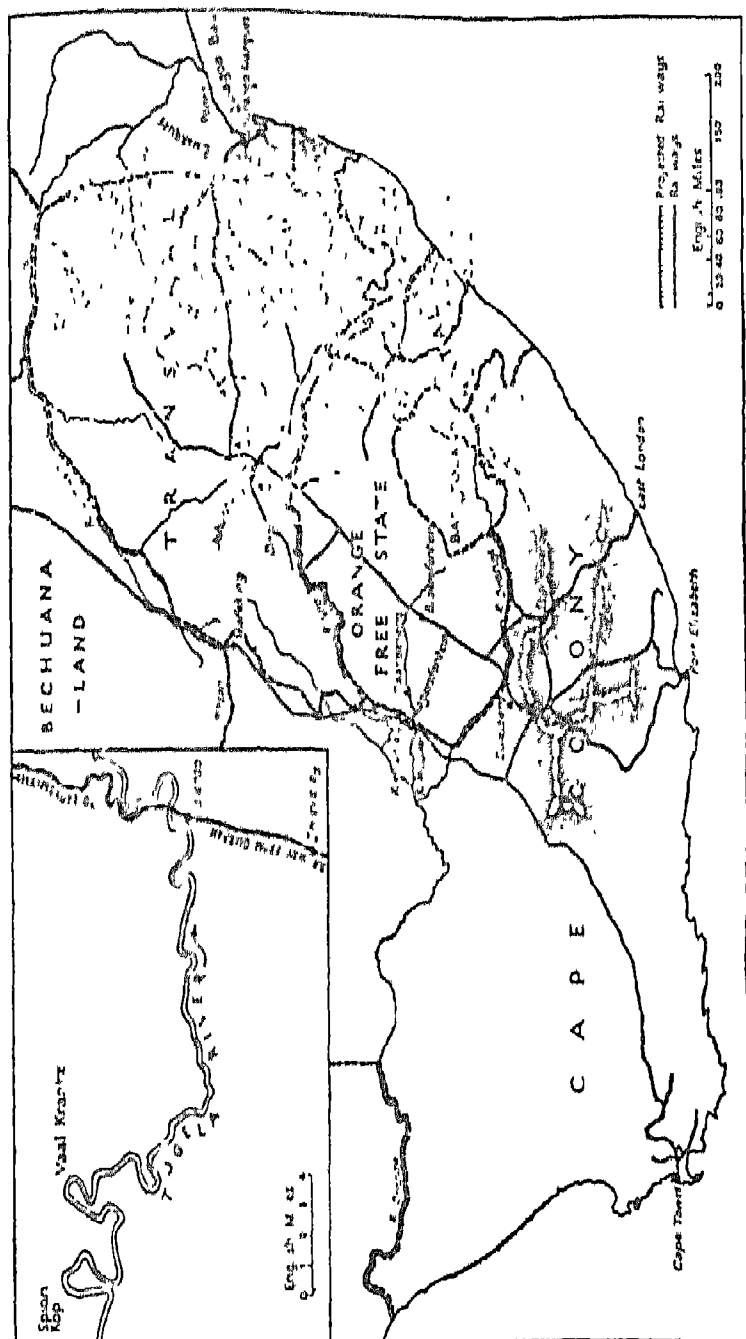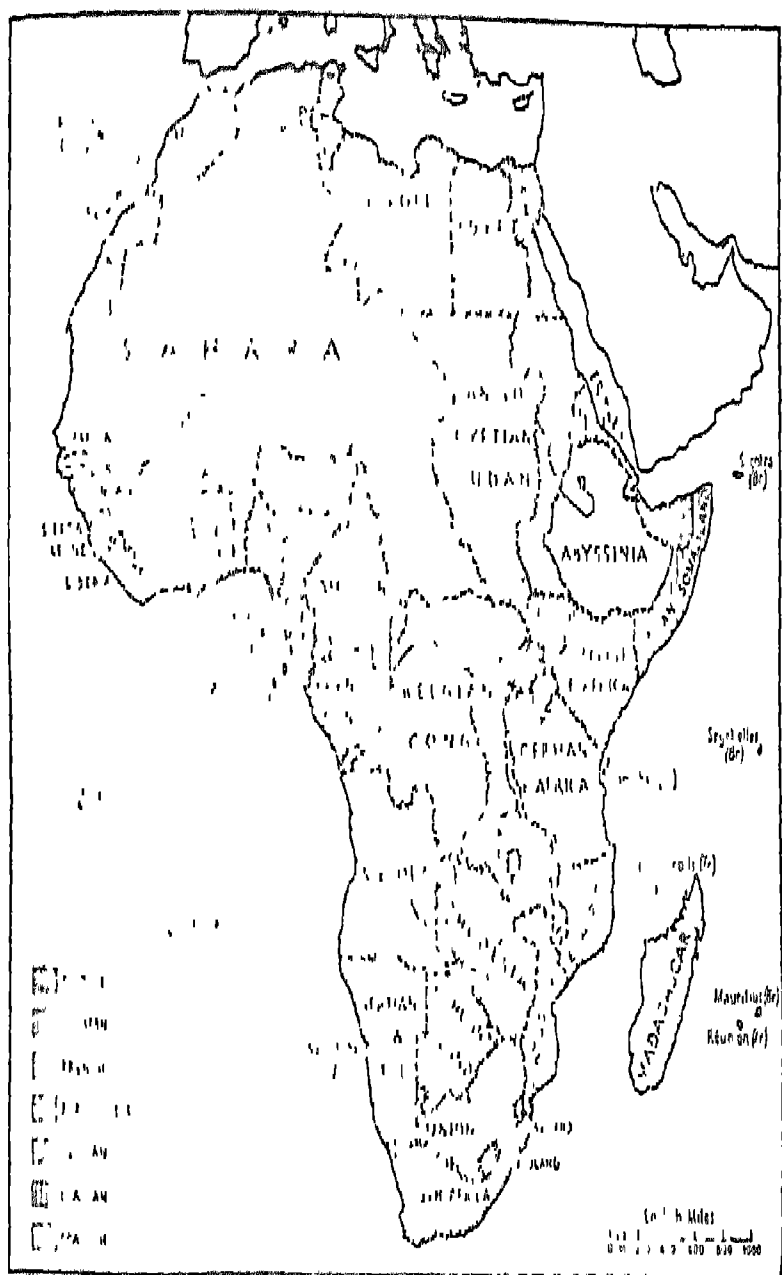
6 AFRICA, 1914
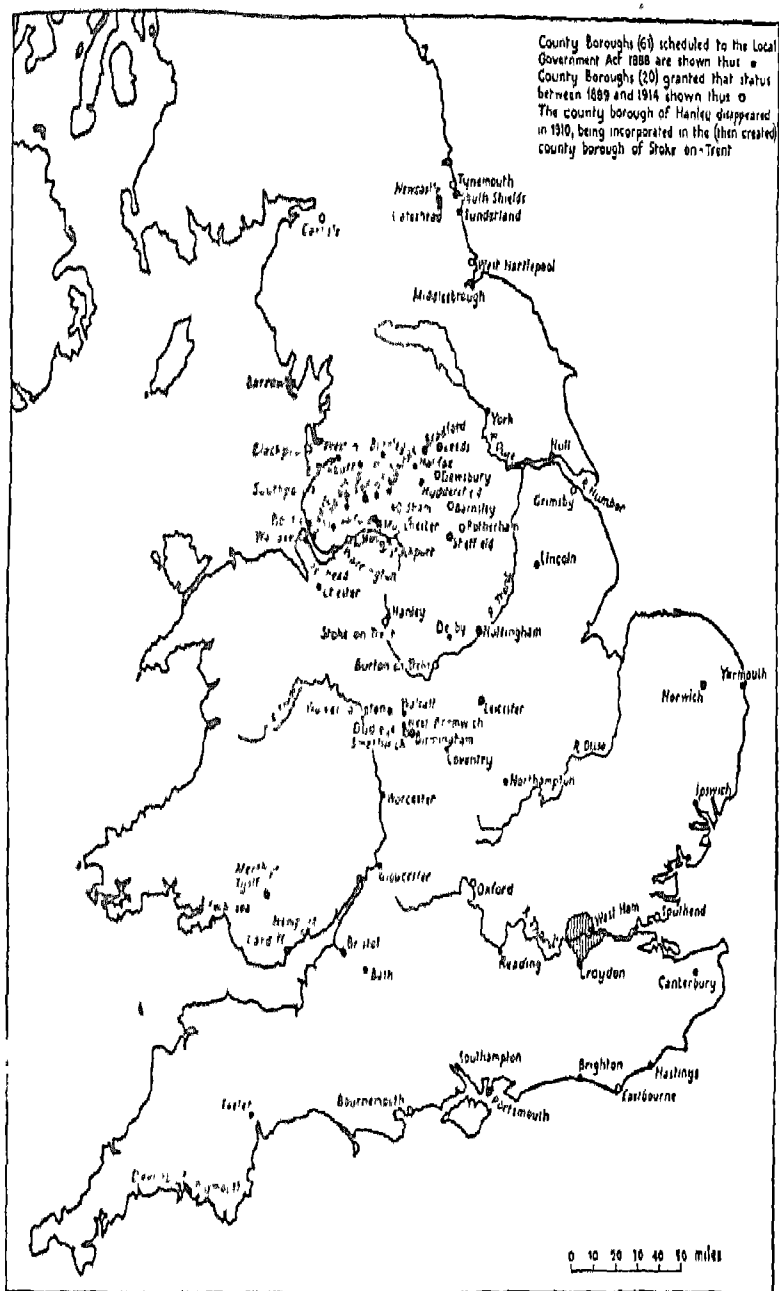
7 COUNTY BOROUGHS, 1888–1914